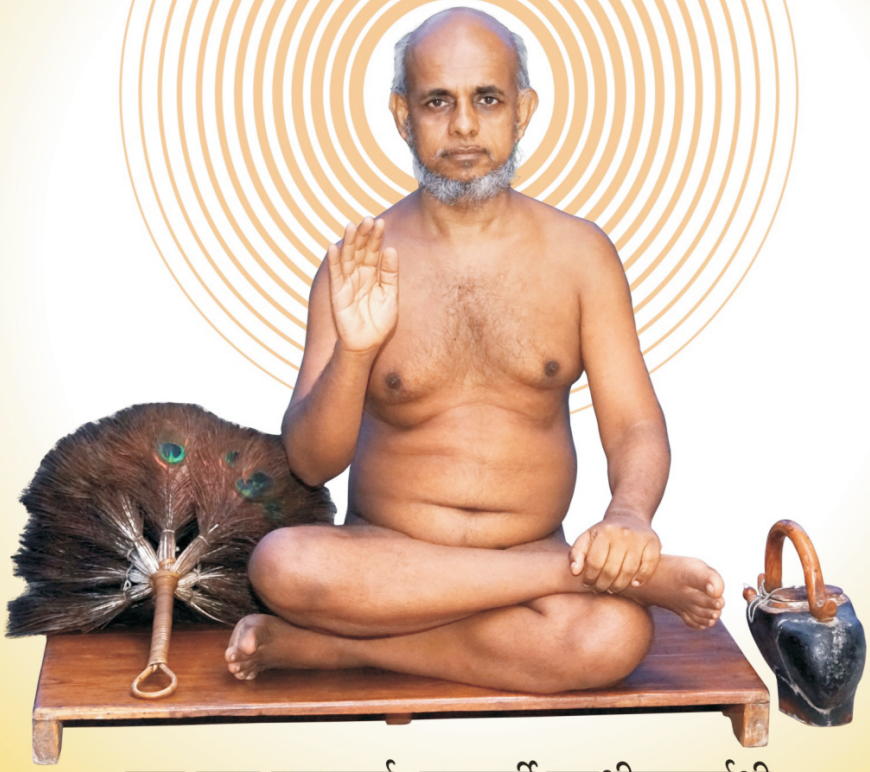

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सिद्धान्तसार संग्रह

ग्रन्थकार

आचार्यश्री नरेन्द्रदेव जी महाराज

अनुवादक–सम्पादक

जिनदास फडकुले

प्रकाशक

जीवराज जैन ग्रन्थमाला

(परम्परानायक)

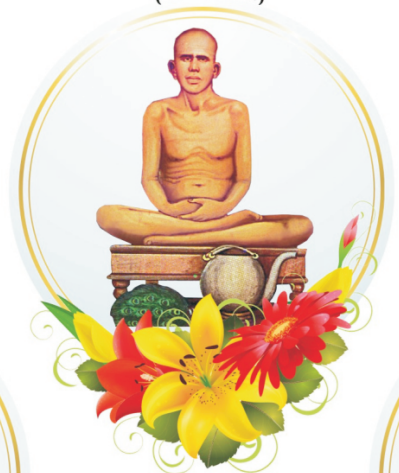

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

1998

श्री.

जीवराज जैन ग्रन्थमालायाः पञ्चमो ग्रन्थः ।

ग्रन्थमालायाः संपादकौ

डॉ. आदिनाथ उपाध्यायः डॉ. हीरालालो जैनः

नरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः

सिद्धान्तसारसंग्रहः

(जीवाजीवादिसप्ततत्त्वप्रतिपादकः संस्कृतपद्यग्रन्थः)

षोडशपुरनिवासिना 'न्यायतीर्थ', 'आगमभक्तिपरायण' पदभूषितेन

फडकुलेइत्युपाह्वाधारिणा जिनदासशास्त्रिणा

पाठान्तरैः संयोज्य हिन्दीभाषान्तरेण सह संपादितः ।

द्वितीया आवृत्तिः

सन १९७२

मूल्य रुपये २०/-

वीरनिर्वाणसंवत् २४९८
विक्रमसंवत् २०२८

जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूर

संपादकीय

सिद्धान्तसारसंग्रहका प्रस्तुत संस्करण द्वितीय बार प्रकाशित किया जा रहा है। विषयकी दृष्टिसे यह ग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र व गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी परम्पराका है। इसमें सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय तथा जीवादि सात तत्त्वोंका स्वरूप विधिवत् सरल रीतिसे समझाया गया है जिसकी रूपरेखा विषयपरिचयसे जानी जा सकती है। संस्कृत पद्यात्मक इस ग्रंथके रचयिता आचार्य नरेन्द्रसेन हैं जिनका प्रतिष्ठादीपक नामक एक और ग्रंथ पाया जाता है तथा जिनका काल विक्रम संवत्की बारहवीं शतीका मध्यभाग सिद्ध होता है।

प्रस्तुत ग्रंथका संस्करण पं. जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री द्वारा तैयार किया गया है। उन्होंने मूल पाठ दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों परसे किया है, उसका हिन्दी अनुवाद भी किया है, प्रस्तावनामें विषयपरिचय, ग्रंथके कर्तृत्व व रचनाकालादिका विवेचन किया है, तथा अनुक्रमणिकादि भी तैयार की है जिसके लिये हम उनके अनुगृहीत हैं।

इस ग्रंथका संस्करण और प्रकाशन करानेमें संस्कृति संरक्षक संघके संस्थापक ब्रह्मचारी जीवराज भाईकी विशेष रुचि थी। किन्तु हमें अत्यन्त दुःख है कि ग्रंथका मुद्रणकार्य पूर्ण होनेसे पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। हमें आशा है कि अब भी इस ग्रंथके प्रकाशनसे स्वर्गीय आत्माको संतोष लाभ होगा।

इस ग्रंथमाला का जो यह संशोधन–प्रकाशन कार्य विधिवत् चल रहा है उसमें संघकी ट्रस्ट कमेटी तथा प्रबन्ध समितिके समस्त सदस्योंका हार्दिक सहयोग ही प्रधानतः कारणीभूत है। इसके लिये हम उन सब के कृतज्ञ है। हमें विश्वास है कि इस ग्रंथके स्वाध्यायसे पाठकोंको जैन सिद्धान्तकी समस्त व्यवस्था समझनेमें सुलभता होगी।

संतोषभवन,
शोलापूर
१९७२

ग्रंथमालाके सम्पादक–
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये
हीरालाल जैन

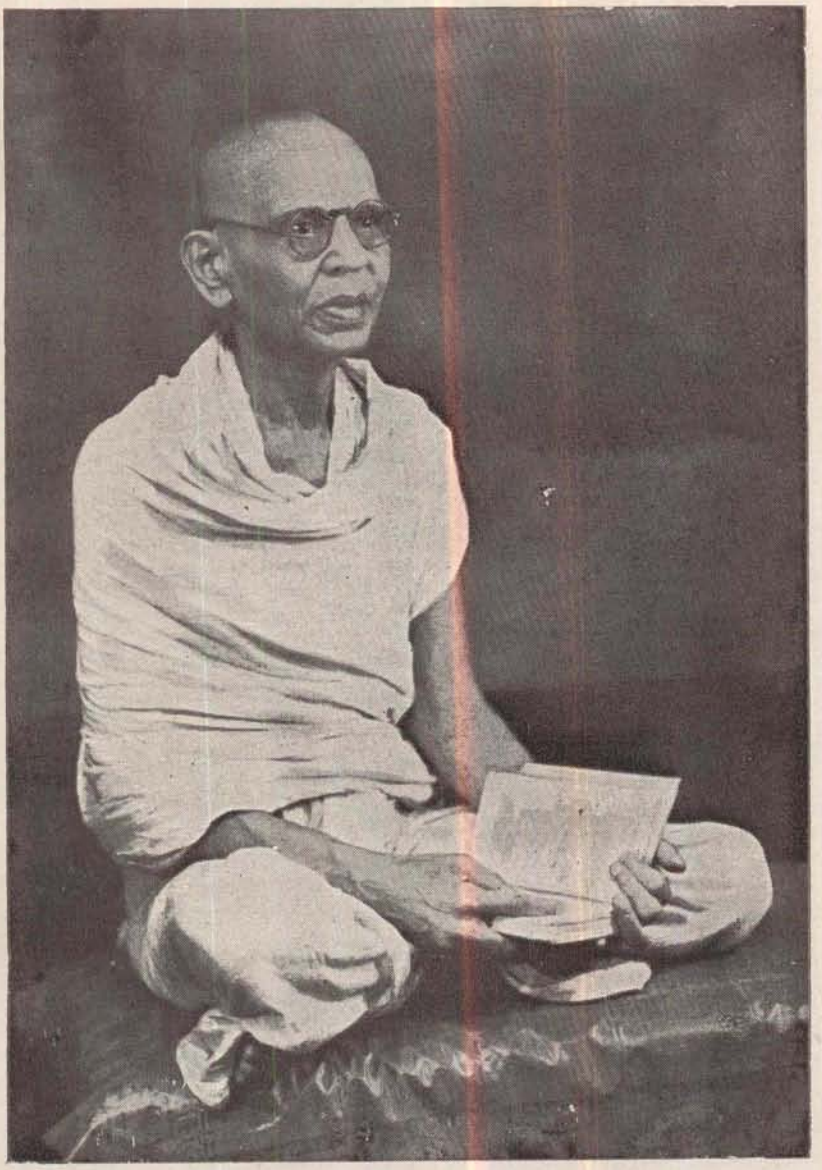

स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंद्रजी दोशी

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर.

प्रस्तावना

१. ग्रन्थका नाम

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य हैं। इन्होंने इस ग्रन्थके पहले अध्यायके चौथे श्लोकमें 'तत्वार्थसंग्रहं वक्षे' इस चरणसे जीवादिक सप्त तत्त्वार्थोंका संग्रह कहनेकी प्रतिज्ञा की है। ग्रन्थके प्रत्येक परिच्छेदकी पुष्पिकामें 'सिद्धान्तसारसंग्रह' नामसे इस ग्रन्थका उल्लेख किया है। 'सिद्धः अन्तः निश्चयो स सिद्धान्तः' ऐसी सिद्धान्त शब्दकी निरुक्ति है। तदनुसार जीवादिक सप्ततत्त्वोंका निश्चय प्रमाण और नयोंके द्वारा करके, उसका सारसंग्रह इस ग्रन्थमें किया है। इसलिये इसका 'सिद्धान्तसारसंग्रह' यह सार्थक नाम है।

२. विषयपरिचय

इस ग्रन्थके बारह परिच्छेदोंमें क्रमशः निम्नोल्लेखित विषय हैं।

पहले परिच्छेदमें सम्यग्दर्शनका सुविशद वर्णन है। "रत्नत्रयधर्मसे मनुष्य जीवन सफल होता है। तथा वह समन्तभद्राचार्यके वचनके समान प्राप्त करना कठीन है।" ऐसा ग्रंथकारने लिखा है। "रत्नपरीक्षक रत्नकी परीक्षा कर उसे ग्रहण करते हैं। वैसे धर्मकी भी परीक्षा कर उसे ग्रहण करना चाहिये।" "कुलक्रमसे प्राप्त हुए कुष्ठरोगको मनुष्य जैसे औषध सेवनसे नष्ट करते हैं वैसे कुलक्रमसे प्राप्त हुए अधर्मको भी विवेकी पुरुष छोडते है। कुलधर्मको नहीं छोडनेसे यशोधरादिक राजाओंके समान अविवेकी लोक दुर्गतिको प्राप्त हुए है।" यहां हिंसात्मक कुलधर्मका आश्रय करनेसे यशोधर राजाको दुर्गतिमें भ्रमण करना पडा यह दृष्टान्तसे दिखाया है, जिससे मिथ्या कुलधर्मकी त्याज्यता सिद्ध होती है।

तदनन्तर सम्यग्दर्शन और उसके आनुषङ्गिक संवेग निर्वेगादिक गुणोंका उल्लेख कर सम्यग्दर्शनसे नरकतिर्यग् गति, भवनत्रिकदेवपद, स्त्रीत्व, नपुंसकत्व आदिकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा दिखाया है।

सम्यग्दर्शनके बिना चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती, सम्यग्दृष्टिजन गुणोंको ग्रहण करते है। साधर्मिकोंके दोषोंको ग्रहण नहीं करते तथा उनके ऊपर अवर्णवाद कदापि नहीं करते हैं। इस प्रकारसे वर्णन कर प्रथम दर्शनाराधना पूर्ण की है।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ऐसे पांच भेदोंका विशद विवेचन है। पहले तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे कुज्ञान होते हैं और सम्यक्त्वसे सम्यग्ज्ञान होते है। जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके सदाचारको चारित्र कहते हैं। चारित्रका मूल कारण सम्यग्ज्ञान है।

आचार्य नरेन्द्रसेनने इस अध्यायके अन्तिम श्लोकमें प्रथमादि आठ विभक्तियोंमें ज्ञान शब्दका प्रयोग कर अपनी रचनाचातुरी व्यक्त की है।

तीसरे परिच्छेदमें ग्रन्थकारने सामायिकादि पांच चारित्रोंका उल्लेख किया है। तदनन्तर पांच पापोंसे विरक्त होना यह व्रतका लक्षण कहा है। हिंसादिक पांच पापोंसे इस लोक और पर लोकमें दुःखकी प्राप्ति होती है। देव, अतिथि, मन्त्रसाधन तथा यज्ञादिकके लिये जो प्राणिहिंसा की जाती है वह अहिंसा नहीं हिंसा ही है। हिंसा करनेवाले जीव बालमृत्युसेही मरते हैं। एकेन्द्रियावस्थासे पञ्चेन्द्रियावस्थातक जितने क्षुद्रजन्म और मरण हैं वे सब हिंस्त्र प्राणियोंको ही प्राप्त होते हैं।

" यज्ञमें जो हिंसा होती है वह मंत्रसे पवित्र होनेसे पापका कारण नहीं है " ऐसे याज्ञिक विचारका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारने उसको एक छोटेसे वाक्यमें उत्तर दिया है अर्थात् " यदि तां प्रवर्तयेन्मन्त्रः पापात्मा च कथं न हि। " अर्थात् यदि वह मन्त्र हिंसाका प्रवर्तन करनेवाला है तो वह भी पापमन्त्र ही है। इसके अनन्तर असत्य, चोरी आदि पापोंका वर्णन कर सत्यादि व्रतोंकी जैनागमसे अविरुद्ध आत्महितकारिता दिखलाई है।

कर्मनोकर्मका संग्रह आत्मा प्रतिसमय करता है, परंतु वह किसीने नहीं दिया है, अतः यह चोरी है, इस शंकाका उत्तर आचार्यने यह दिया है " कर्मनोकर्मके ग्रहणमें दानादानादि व्यवहार नहीं होता अतः इसमें चोरीका प्रसंग नहीं। अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे उनका ग्रहण स्वयं ही होता रहता है "।

शून्यगृह, नगर, ग्रामादिकमें प्रवेश करने परभी साधुओंके मनमें प्रमत्तयोग न होनेसे उन्हें चोरीका दोष नहीं लगता। ब्रह्मचर्य व्रतका रक्षण करनेके हेतुसे साधुगण रसयुक्त पुष्टिकारक, कामोत्पत्ति करनेवाला आहार ग्रहण नहीं करते।

धनधान्यादिकोंमें साधुओंको ममत्वबुद्धि न होने पर भी उनके मनमें ' ज्ञानदर्शनादिक मेरे हैं ' ऐसा संकल्प उत्पन्न होता है अतः उन्हें परिग्रहदोष क्यों नहीं होता इस शंकाका उत्तर आचार्यने यह दिया है ' ज्ञानदर्शनादिक भाव आत्माके स्वभाव तथा सत्यसुखके हेतु होनेसे त्याज्य नहीं हैं। अतः उनकी परिग्रह संज्ञा नहीं है। किन्तु कर्मोदयवश आत्मामें जो रागद्वेष तथा परपदार्थोंमें ममत्वभाव उत्पन्न होते हैं वे परिग्रहरूप होनेसे त्याज्य हैं। इस प्रकार साधुगण पांच पापोंके त्यागी होनेसे महाव्रती हैं। हिंसादिक पांच पापोंका त्याग कर जो साधु चारित्र पालते हैं उनको आत्माका शुद्धस्वरूप प्राप्त होता है।

चतुर्थ परिच्छेदमें माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंका त्याग करनेसे अहिंसादि भावोंको अणुव्रतपना तथा महाव्रतपना प्राप्त होता है यह बतलाया गया है।

मिथ्यात्वशल्यके वर्णनमें कहा गया है कि जीवादि पदार्थोंको सर्वदा और सर्वथा नित्य एवं अनित्य, गुणोंसे सर्वथा भिन्न वा अभिन्न आदि मान्यता प्रमाण सिद्ध नहीं होनेसे श्रद्धामें विपरीतता लाती है। तथा आत्मादिक पदार्थोंमें जो कर्मबन्ध, संसार–भ्रमणादिक दिखते हैं वे सिद्ध नहीं होते और व्रतोंका पालन, दोषत्याग, गुणकी प्राप्ति, आत्माकी कथंचिन्नित्यानित्यता जीवतत्त्व नहीं माननेसे सिद्ध नहीं होंगे। इसलिये मिथ्यात्व शल्यका त्याग करना चाहिये।

इसी मिथ्यात्व शल्यके प्रकरणमें ग्रन्थकारने बौद्धोंका क्षणिकवाद, चार्वाकका जडवाद, सांख्यका प्रकृतिवाद व अकर्तृत्व, मीमांसकका असर्वज्ञत्ववाद, वेदोंका अपौरुषेयत्ववाद, नैयायिक वैशेषिकका ईश्वरसृष्टिकर्तृत्व तथा श्वेताम्बरोंका कवलाहार व स्त्रीमुक्ति इन मान्यताओंका खण्डन किया है।

तदनन्तर मायाशल्य और निदानशल्यके भेद देकर प्रशस्त निदान—अन्य भवमें जिन-धर्मकी प्राप्तिके लिये योग्य देश, काल, क्षेत्र, भव तथा भाव और ऐश्वर्यकी चाह करना योग्य है ऐसा दिखाया है। इस प्रकार तीन निदानोंका वर्णन त्यक्तव्यकी दृष्टिसे इस परिच्छेदमें किया है। जो मुनिराज गुरुवचनरूपी संडसीसे ये तीन शल्य अपने हृदयसे निकालकर फेक देते हैं उनका चारित्र निर्मल होता है तथा वे स्वर्गवैभवको भोगकर मोक्षको प्राप्त करते हैं।

पांचवें परिच्छेदमें जीवका ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग लक्षण बताकर नयोंकी अपेक्षासे मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, भोक्तृत्व, व्यापकत्व, देहप्रमाणत्व आदिक भावोंका विवेचन आचार्यने किया है। तथा जो आत्माको सर्वथा अमूर्तिक, सर्वथा शुद्ध, सर्वथा व्यापक, सर्वथा अकर्ता आदि स्वरूप मानते हैं उनका खण्डन किया है। पांच प्रकारके संसार परिवर्तनके अनन्तर संसारी जीवके त्रस स्थावरादि भेदोंका खुलासा ग्रन्थकारने किया है। विग्रहगतिमें जीवका स्वरूप दिखाकर चार गतिओंमें चौरासी लाख योनियोंमें जीवके परिभ्रमणका वर्णन किया है। त्रसस्थावर जीवोंके आयु, गुणस्थान, तथा मार्गणाओंका वर्णन कर पञ्चमाध्यायकी समाप्ति की हैं।

छठ्ठे परिच्छेदमें अधोलोकस्थित सप्तनरकोमें नारकियोंके देहोंकी ऊंचाई, उत्कृष्ट जघन्य आयु तथा लेश्याओंका वर्णन किया है।

सातवे परिच्छेदमें मध्यलोकका वर्णन है। इस लोकमें असंख्यात द्वीप तथा सागर एक दुसरेको वेष्टित करते हुए स्थित हैं। ठीक मध्यमें जम्बूद्वीप है। उसे लवणसागरने घेरा है। उसको धातकी खण्डने, उसे कालोद समुद्रने, कालोदको पुष्करद्वीपने-उसको पुष्करवर-समुद्रने इस प्रकार घेरकर द्वीपसमुद्र मध्यलोकमें स्थित हैं।

सर्व द्वीपसमुद्रोंके बीचमें जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तारका गोलथाली के समान है। इसमें हिमवदादिक छह पर्वत, और भरतादिक सप्त क्षेत्र हैं। भरतक्षेत्र मेरुपर्वतके दक्षिणमें है। वह विजयार्धपर्वत और गंगा-सिंधु दो नदियोंसे विभक्त होनेसे षट्खण्ड हुआ है। जिसे पांच म्लेच्छखण्ड तथा एक आर्यखण्ड कहते हैं। आर्यखण्ड भरतक्षेत्रके बीचमें है। इस जंबूद्वीपमें भरत, विदेह और ऐरावत ये तीन क्षेत्र कर्मभूमि हैं। तथा हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह शाश्वत भोगभूमियां हैं।

विदेहके सीता तथा सीतोदा नदी, वक्षारपर्वत तथा विभंगा नदियोंसे बत्तीस विभाव हुए हैं। उन्हें देश कहते हैं। वह प्रत्येक देश पांच म्लेच्छखण्ड तथा एक आर्यखण्ड ऐसे छहों विभागोंसे युक्त है। भरतखण्डके समान एक विजयार्ध और दो नदियोंसे इन बत्तीस देशोंमें छह छह विभाग हुए हैं।

ढाई द्वीपोंमें पांच मेरुसंबंधी पांच भरत, पांच विदेह और पांच ऐरावत ऐसी पंद्रह कर्मभूमियां हैं। विदेहक्षेत्रके आर्यखण्डोंमें सदा मोक्षमार्ग चालू है। परंतु पांच भरत तथा पांच ऐरावतोंमें अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें तथा उत्सर्पिणीके तीसरे कालमें मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। अन्य कालमें भोगभूमिका स्वरूप इन क्षेत्रोंको प्राप्त होता है। ग्रंथकारने इन ढाई द्वीपोंमें नदी, पर्वत, द्रह, मनुष्य, उनकी आयु, इत्यादिक अनेक विषयोंका खूब विस्तारसे वर्णन किया है।

आठवे परिच्छेदमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा स्वर्गीयदेवोंके इन्द्रादि दशभेद, इनके जघन्यादि आयुर्भेद, लेश्या देहोत्सेधआदि का वर्णन है। ज्योतिष्क देवोंके भ्रमणसे यहां ढाई द्वीपोंमें दिवस, रात्रि, घटिका, मास, वर्षादि विभागरूप व्यवहार कालका प्रवर्तन हो रहा है। इसी प्रकरणमें सूर्य चन्द्रके ग्रह, नक्षत्र, तारकादि परिवारका भी वर्णन ग्रन्थकारने किया है। ब्रह्मलोकान्तवासी अर्थात् लौकान्तिक देव, सौधर्म स्वर्गका इन्द्र, उसकी पट्टमहिषी-शची, सौधर्मेन्द्रको लोकपाल सोम, कुबेर, यम, वरुण तथा इशान, दक्षिणेन्द्र ये सब स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्यभव धारण कर उसी भवमें कर्मक्षयसे मुक्त होते हैं। मुक्तजीवोंको जरामरणवर्जित अव्याबाध ऐसा अनन्तसुख सदैव प्राप्त होता है। देव तथा नारकियोंके चार, पशुओंको पांच, तथा मनुष्योंको चौदह गुणस्थान हैं। इस प्रकार वर्णन कर इस अध्यायकी समाप्ति आचार्यने की है।

नौवे परिच्छेदमें अजीव आस्रव तथा बन्धतत्वका वर्णन किया गया है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंको जीवन गुणरहित होनेमें अजीव कहते हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी ही है और अन्यद्रव्य बहुप्रदेशी हैं। बहुप्रदेशी द्रव्योंको तथा पुद्गलाणुओंको 'अस्तिकाय' कहते हैं। एक पुद्गलाणु अन्य पुद्गलाणुसे तथा स्कन्धसे जब मिल जाता है तब वह बहुप्रदेशी होता है। उस समय उसको काय कहते हैं।

जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि ये चार स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। ये पुद्गलकी ही अवस्थाविशेष हैं। मन भी स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, भावमन जो कि ज्ञानस्वरूप होनेसे जीवमें अन्तर्भूत है और द्रव्यमन अष्टदल कमलाकार पुद्गलावस्था-विशेषरूप होनेसे पुद्गलमें अन्तर्भूत है।

वायु, मन तथा जलादिकोंमें पुद्गलपनाकी सिद्धि युक्तिसे आचार्यने दिखायी है।

शब्द आकाश गुण है ऐसा अन्यवादी कहते हैं परंतु शब्दभी पुद्गल है क्यों कि, शब्दमें स्थूल सूक्ष्मतादि धर्मोंके साथ अभिघातादि धर्म हैं। जो कि पुद्गलके सिवाय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते है। आकाशके समान यदि शब्द अमूर्तिक होता तो वह श्रवणयोग्य नहीं होता। उसमें भाषात्मकता नहीं आ सकती। दिशाकाभी आकाशमें अन्तर्भाव होता हैं क्योंकि आकाशके प्रदेशोंमेंही चन्द्र सूर्यादिके उदयादिसे पूर्व पश्चिमादि व्यवहार होते हैं। अतः जैनागममें छहही द्रव्य कहे हैं।

पुद्गलादि द्रव्योंको लोक कहते हैं उनको आश्रय देनेवाले आकाशको लोकाकाश कहते हैं। तथा जहां ये द्रव्य नहीं हैं केवल आकाशही है उसे अलोकाकाश कहते हैं। ऐसे आकाश-द्रव्यके दो भेद हैं।

धर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुत्वादिक लक्षण कहकर उनके उपकारोंका वर्णन कर संसारी जीवको पहचाननेके हेतु जो प्राणापान हैं वे वायु अर्थात् पुद्गलद्रव्यके अवस्थाविशेष हैं यह बतलाया गया है। तदनन्तर आस्रवतत्त्वका वर्णन किया गया है।

आत्मामें कर्मके आगमनको आस्रवतत्त्व कहते हैं। वह मन, वचन तथा कायके स्पंदनसे होता है। इस स्पन्दनको योग कहते हैं। और उससे प्राणिहिंसनादि अशुभ कार्य तथा देवपूजनादि शुभ कार्य होनेसे उनको क्रमसे अशुभयोग तथा शुभयोग कहते हैं। आस्रवके इन्द्रिय, कषाय, अविरति तथा क्रियाओंसे पांच, सोलह, बारा और पच्चीस ऐसे क्रमसे भेद होते हैं। कषायरहित जीवके आस्रवको ईर्यापथ और कषायसहित जीवके आस्रवोंको सांपरायिक कहते हैं।

ज्ञानावरणादिक कर्मास्रवोंके विशेष कारणोंका वर्णन करनेके अनंतर बन्धतत्त्वका और संवरतत्त्वका संक्षेपसे वर्णन कर नौवा अध्याय समाप्त किया है।

दशवे अध्यायमें सविपाका और अविपाका निर्जराका वर्णन है। संसारी प्राणीके आत्मप्रदेशके साथ बंधे हुए कर्मके निषेक प्रतिसमय उदयमें आकर अपना फल देकर खिर जाते हैं। उसको कालकृत निर्जरा अथवा सविपाका निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा चतुर्गतिके प्राणियोंको होती है। उस समय रागद्वेष उत्पन्न होनेसे नये कर्म बंधते हैं। दूसरी अविपाका निर्जरा वीतराग मुनियोंके कर्मका उदयकाल प्राप्त होनेके पूर्वही तपश्चरणसे होती है। इस निर्जराके समय आत्मा रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता। तपश्चरणको उपक्रम कहते हैं। इसके प्रभावसे होनेवाली निर्जराको औपक्रमिकी निर्जरा कहते हैं।

इसके अनन्तर तपकी निरुक्ति और उसके हेतु दिखाकर वृत्तिपरिसंख्यानादि बाह्य तपोंका वर्णन आचार्यने किया। तदनन्तर अभ्यन्तर तपोंमेंसे पहले प्रायश्चित्त तपका अतीव विस्तारसे १५० श्लोकोंमें वर्णन किया है।

यह प्रायश्चित्त तप मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका दोषानुसार आचार्यके पास जाकर अपना दोष कह कर धारण करते हैं। काल, क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे तथा तीव्र मन्दादि परिणामोंकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त अनेक प्रकारसे न्यूनाधिक धारण करना पडता है। जो दोष मुनिसे हुआ वही दोष क्षुल्लक ऐलकसे होनेपरभी प्रायश्चित्त समान नहीं होता। दोष लगनेसे चारित्र नष्ट होता है। उसके नाशसे कर्मनाश नहीं होता। कर्मके सद्भावसे मुक्ति प्राप्त नही होती। अतएव दोषके नाशार्थ मुनिवर प्रायश्चित्त तप करते हैं। कोई दोष कायोत्सर्गसे नष्ट होते हैं। जिनवन्दनाको जाते समय ईर्यापथशुद्धिमें यदि असावधानता होगी तो कायोत्सर्गसे वह

दोष नष्ट होता है। मलोत्सर्ग करनेपर कायोत्सर्गसे शुद्धि होती है। एक कायोत्सर्गमें नौ पंच-नमस्कार होते हैं। कौनसा दोष कितने कायोत्सर्गोंसे नष्ट होता है इस विषयका विवेचन कायोत्सर्गके प्रकरणमें है। कुछ दोष प्रतिक्रमणसे नष्ट होते हैं जैसे जूं, खटमल आदिक जन्तुओंको मुनि पकडे तो प्रतिक्रमणसे उनकी शुद्धि होती हैं। उष्णकालमें दोषका प्रायश्चित्त जघन्य होता है। वर्षाकालमें मध्यम तथा शीतकालमें उत्कृष्ट होता है।

इस प्रायश्चित्ततपके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना, पारंचिक ऐसे दश भेद हैं। इनका आचार्यने खुलासा इस विभागमें किया है। इस प्रकार दसवे अध्यायमें निर्जरा और प्रायश्चित्तका वर्णन आचार्यने किया हे।

ग्यारहवे अध्यायमें आचार्यने आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मज्ञान और शुक्लध्यानका वर्णन कर शुक्लध्यानसे सब कर्मोंका नाश होनेसे मोक्षप्राप्ति होनेका प्रतिपादन किया है। इस अध्यायके प्रारम्भमें विनयतपका वर्णन करते हुए आचार्यने उसके चार भेदोंका निरूपण किया है।

तदनंतर वैयावृत्त्यतपके कथनमें आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दशविध मुनियोंका वर्णन किया है। उनकी सेवाशुश्रूषा करना महापुण्य प्राप्तिका कारण है।

स्वाध्यायसे व्रतोंका निरतिचार पालन होता है। स्वाध्यायमें मन, नेत्र, आदिक इन्द्रियोंके लगनेसे संयमकी प्राप्ति होती है। स्वाध्यायसे धर्म और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है जिससे कर्मका क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

स्वाध्यायके अनन्तर ध्यानका लक्षण लिखकर आर्तरौद्र ध्यानके भेदोंका वर्णन किया है। ये ध्यान संसारभ्रमणके कारण हैं। इसलिये इनको अप्रशस्त कहते हैं। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान प्रशस्त हैं। इनसे जीवको स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है। आर्तध्यान मिथ्यात्व-गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तगुणस्थानतक होता है। तथा रौद्रध्यान मिथ्यात्वसे लेकर संयतासंयतान्त-पांचवे गुणस्थानतक होता है।

धर्मध्यानके चार भेदोंमेंसे पहला भेद आज्ञाविचय है। उपदेशके अभावसे, जीवादि तत्त्वोंके सूक्ष्मस्वरूपका ज्ञान अपनी स्थूलबुद्धीसे नहीं होता अतः सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर तत्त्वोंके अर्थका निश्चय करना आज्ञाविचय कहलाता है। अपायविचय-- जो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञकी आज्ञा न मानकर रत्नत्रय मार्गसे हट गये हैं--च्युत हुए हैं उनको किस प्रकार रत्नत्रय-मार्गमें लगाना चाहिये इस प्रकारके चिन्तनको अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। विपाकविचय-- ज्ञानावरणादिक कर्मोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावादिकारणोंसे विपाक होता है तथा उनका नानाविध फल मिलता है ऐसा बार बार चिन्तन करना विपाकविचय है। लोकसंस्थान विचय-- लोककी आकृतिका बार बार विचार करनेको संस्थानविचय कहते हैं। ये चार प्रकारके धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थानतक होते हैं। ये चार धर्मध्यान योगियोंको अनन्तानन्त सुखकी प्राप्तिके कारण हैं।

शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियासंपाति, तथा समुच्छिन्नक्रिय ऐसे चार भेद हैं, पहिले दो भेद श्रुतकेवलीको होते हैं। उत्तर दो भेद सयोग-केवलीको तथा अयोगकेवलीको होते हैं। शुक्लध्यानके इन चार भेदोंका ग्रंथकारने विस्तारसे वर्णन किया है। इन चार ध्यानोंसे यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति होती है। यह चारित्र साक्षान्मोक्षका कारण है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म हैं। इनसे ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व तथा शक्तिका घात होनेसे इन्हें घातिकर्म कहते हैं। बन्धके कारणभूत मिथ्यात्वादिकोंका नाश होनेसे तथा संपूर्णतया कर्मनिर्जरा होनेसे मोक्ष होता है। उस समय शरीरोंका अभाव होकर अनन्तसौख्यादिक–भावयुक्त आत्मा बन जाता है। इस अवस्थाका कभीभी नाश नहीं होता।

इस अध्यायके अन्तमें समन्तभद्राचार्यके वचनोंकी प्रशंसा की है। आचार्यके वचन भव्योंको भ्रान्तिरहित करते हैं। उनके वचन सुननेवालोंको दो-तीन भवोंसे मुक्तिप्राप्ति होती है। तथा जो मन, वचन, कायसे भक्ति करता है उसे इच्छितसिद्धि शीघ्र होती है।

बारहवे परिच्छेदमें प्रथमतः पंचपरमेष्ठियोंका स्वरूप लिखा है। तदनन्तर संक्षेपसे अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप लिखा है। तदनन्तर ग्रन्थकारने पंडित-पंडितादि पांच मरणोंका उनके भेदप्रभेदोंके साथ विशदतया वर्णन किया है। पंडितपंडितमरण– क्षायिकज्ञानादि नवकेवल-लब्धियोंके धारक केवली इस मरणसे कर्ममुक्त होते हैं। पण्डितमरण– महाव्रत, समिति, गुप्तियोंके पालकमुनियोंको यह प्राप्त होता है। रत्नत्रयपरिणतबुद्धिको पण्डा कहते हैं। मुनियोंमें रत्नत्रयपरिणतबुद्धि होनेसे उनको पण्डित कहना योग्यही है। बालपण्डितमरण– संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं। बालमरण– सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये दो गुण जिनमें हैं किन्तु जो सर्वथा चारित्ररहित हैं, उनको बाल कहते हैं। उनके मरणको बालमरण कहना चाहिये। बालबालमरण– मिथ्यादृष्टियोंके मरणको बालबालमरण कहते हैं। आवीचिमरणादि और भी भेद हैं। सब मिलकर सत्रह प्रकारके मरण हैं।

संन्यासमरणके विषयमें आचार्य नरेन्द्रसेन ऐसा कहते हैं–आयुष्यका क्षय होनेसे प्राणी मरता ही है। उस समय वह अधीर हो या धैर्यवान् हो मरणसे अपनेको नहीं बचा सकता। इसलिये धैर्य धारण कर प्राणत्याग करनेसे उसके संसारदुःखका नाश होता है। संन्यास मरणके समय जो क्रियाकाण्ड किया जाता है उसके चालीस अधिकार हैं। उनका वर्णन अतिविस्तारसे शिवकोट्याचार्यने मूलाराधनामें किया है। परंतु उनके केवल यहां आचार्य नरेन्द्रसेनजीने नाम दिये हैं। उनके आधारसे आराधना की जानी चाहिये अन्यथा प्राणी मिथ्यात्वाराधनासे हीन हो जावेगा।

जब संयमको नष्ट करनेवाला असाध्य महाव्याधि उत्पन्न होता है, अतिशय भयंकर दुर्भिक्ष उत्पन्न होता है, अथवा निःप्रतीकार उपसर्ग होता है तब वह साधु सल्लेखनाके योग्य

होता है। मरणभय छोडकर, मनको शान्तिमें रखकर कान्दर्पी, किल्बिषी आदिक पांच अशुभ भावनाओंको छोडकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यादिकोंकी भावना करनी चाहिये जिससे वह साधु शुभगतिको प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्णन कर ग्रन्थकारने अन्तमें सज्जन-दुर्जनका वर्णन कर ग्रन्थरचनाके विषयमें अपनी लघुता प्रगट की है।

३. ग्रन्थकारकी आचार्यपरंपरा, काल व रचना।

ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्तिपद्य दिये हैं उनके प्रारंभके दो श्लोकोंमें लाडबागड संघकी उत्पत्तिका उन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है। श्रीवर्धमान जिनेश्वरके इन्द्रभूत्यादि ग्यारह गणधरोंमेंसे मेदार्य नामके दसवे गणधर थे। वे जिस देशमें थे वहां की भूमि उनके प्रभावसे स्वर्गतुल्य हुई थी तथा वहांके लोग हार केयूरादि भूषणोंसे समृद्धभूषित होनेसे वे झाट (लाट) हुए और उनसे वागडोंकी उत्पत्ति हुई जिससे यह संघ लाडबागड (?) नामसे प्रसिद्ध हुआ।

लाडबागड संघकी उत्पत्तिके विषयमें 'धर्मरत्नाकर' श्रावकाचारके रचयिता श्रीजयसेनाचार्यकाभी यही अभिप्राय है। श्रीजयसेनाचार्यने धर्मरत्नाकरके अन्तमें जो प्रशस्ति लिखी है उसके 'भञ्जन्वादीन्द्रमानं' 'यत्रास्पदं विदधती' 'उत्पत्तिस्तपसां' ये तीन श्लोक नरेन्द्रसेनाचार्यकी प्रशस्तिमेंभी पाये जाते हैं।

धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमें धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन और भावसेन, ऐसे आचार्योंके क्रमसे नाम दिये हैं। जयसेनाचार्य भावसेनाचार्यके शिष्य थे। जयसेनाचार्यने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख करके धर्मरत्नाकरकी प्रशस्ति–समाप्ति की है। इस प्रशस्तिके आगे नरेन्द्रसेनाचार्यने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मसेन, वीरसेन तथा गुणसेन इन तीन और आचार्योंका उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता नरेन्द्रसेन गुणसेन आचार्यके शिष्य हुए हैं।

गुणसेन आचार्यके नरेन्द्रसेनके समान गुणसेन, उदयसेन और जयसेन ऐसे अन्य तीन शिष्य थे। प्रथम गुणसेनके पट्टपर ये द्वितीय गुणसेन आरूढ होकर आचार्यपद भूषित करने लगे। इस प्रकार नरेन्द्रसेनाचार्यकी प्रशस्ति है।

श्रीजयसेनविरचित धर्मरत्नाकरका समय।

जिन्होंने धर्मरत्नाकरकी रचना की वे जयसेनाचार्य नरेन्द्रसेनाचार्यके पूर्ववर्ती हैं। उन्होंने अपना ग्रन्थ 'सबलीकरहाटक' नामक ग्राममें वि. सं. १०५५ में रचकर पूर्ण किया है। इसका खुलासा आगेके श्लोकमें उन्होंने किया है।—

बाणेन्द्रियब्योमसोममिते संवत्सरे शुभे। ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सबलीकरहाटके॥

इसमें बाण और इन्द्रियशब्द पांच अंकके वाचक हैं, ब्योमशब्द शून्यका तथा सोमशब्द एक अंकका। अतः धर्मरत्नाकर ग्रन्थ वि. सं. १०५५ में रचा है ऐसा सिद्ध होता है। इसके पश्चात् उक्त तीन आचार्यों अर्थात् ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेनका काल यदि हम १०० वर्षभी मानले तो नरेन्द्रसेनाचार्यका काल लगभग वि. सं. ११५० सिद्ध होता है। सिद्धांतसारके अन्तःपरीक्षणसेभी उसकी रचनाका यही काल सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थमें 'शब्दकी नित्यता, वेदकी अपौरुषेयता, केवलिकवलाहार, स्त्रीमुक्ती, ईश्वरका सृष्टिकर्तृत्व आदिविषयोंके खण्डनमें प्रभाचन्द्राचार्य तथा अनन्तवीर्याचार्यद्वारा दी हुई युक्तियोंका आश्रय लिया गया है। उसके कुछ उदाहरण—

१) देवैर्दीप्तगुणैर्विचार्य विविधवत्सङ्ख्याततेः संग्रहात्। (अनन्तवीर्याचार्य)

१) देवैर्दीप्तगुणैर्दृष्टमिष्टमत्राभिनन्दतु (नरेन्द्रसेनाचार्य)

२) न चाध्यक्षमशेषज्ञविषयं, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात्। सम्बद्धवर्तमानविषयत्वाच्च। न चाशेषवेदी संबद्धो वर्तमानश्च। न च सर्वज्ञसद्भावाविनाभाविकार्यलिङ्गं वा संपश्यामः। तज्ज्ञप्तेः पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्स्वभावाविनाभाविनो निश्चेतुमशक्यत्वात्। नाप्यागमात्तत्सद्भावः स हि नित्योऽनित्यो वा तत्सद्भावं भावयेत्। न तावन्नित्यः तस्य अर्थवाद रूपस्य कर्मविशेष संस्तवनपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात्। अनादेरागमस्यादिमत्पुरुषवाचकत्वाघटनाच्च। नाप्यनित्य आगमः सर्वज्ञं साधयेत्। तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्निश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिश्चयादितरेतराश्रयत्वाच्च। प्रमेयरत्नमाला अ. ३ रा पृष्ठ ३३

२) वदन्त्यन्ये न सर्वज्ञो वीतरागोऽस्ति कश्चन। प्रमाणपञ्चकाभावादभावेन विभावितः॥
तथा ह्यध्यक्षतः सिद्धिः सर्वज्ञे नोपजायते। रूपादिनियतानेकविषयत्वेन तस्य च॥
सम्बद्धवर्तमानत्वपरत्वान्नास्य साधकम्। तत्प्रत्यक्षमसंबद्धवर्तमानत्वतः सदा॥
नैवानुमानतः सिद्धिः सर्वविद्विषया क्वचित्। यल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रजायते॥
स्वभावकार्यरूपं वा न तल्लिङ्गं विलोक्यते। ततस्तस्य कुतः सिद्धिरनुमानुपपत्तिता॥
आगमादपि नो सिद्धिर्जायते सर्ववेदिनः। स च नित्यो ह्यनित्यो वा तत्स्वभावे विभावयेत्॥
नानित्योऽनादिरूपत्वादर्थवादप्ररूपणात्। आदिमत्पुरुषेणास्य वाचकत्वविरोधतः॥
तदुक्तानुक्तभेदाभ्यामनित्यो नास्य साधकः। अन्योन्याश्रयतस्तस्य प्रामाण्याभावतस्ततः॥
—— सिद्धान्तसारसंग्रह अ. ४ पृष्ठ ८१–८२

हमने यहां एक विषयमेंही नरेन्द्रसेनाचार्यके पद्योंमें अनन्तवीर्याचार्यके उपर्युक्त गद्यांशका अनुकरण दिखाया है। इसी तरह वेदकी अपौरुषेयता आदिक विषयोंके विकल्पोंके खण्डनमण्डनमेंभी अनन्तवीर्याचार्यका अनुकरण स्पष्ट दिखाई देता है। अतः अनन्तवीर्याचार्यके उत्तरवर्ती ये नरेन्द्रसेनाचार्य हुए हैं ऐसा निश्चय अयुक्त नहीं है।

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य भोजराजाके राज्यमें अर्थात् धारानगरीमें रहते थे। उन्होंने भोजराजाके समयमें परीक्षामुख नामक ग्रन्थकी 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक टीका रची है। भोजनृपका समय इतिहासज्ञोंने वि. सं. १०७० से १११० पर्यन्त माना है। अतः प्रमेयकमल-

मार्तण्डकी रचना १०७० से १११० के बीचमें हुई होगी। तथा अनन्तवीर्याचार्यने प्रमेयकमल-मार्तण्डका समीचीनरीतीसे अध्ययन कर तदनन्तर प्रमेयरत्नमाला बनाई है। अतः प्रमेयरत्नमालाकार उनके उत्तरवर्ती तथा सिद्धान्तसारसङ्ग्रहकर्तासे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

नरेन्द्रसेनाचार्यका प्रतिष्ठादीपक।

नरेन्द्रसेनाचार्यने 'सिद्धान्तसारसङ्ग्रह' तथा 'प्रतिष्ठादीपक' ऐसे दो ग्रन्थ रचे हैं। प्रतिष्ठादीपकके अन्तमें 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः प्रतिष्ठादीपकः समाप्तः' ऐसा उल्लेख है। तथा—

सर्वग्रन्थानुसारेण संक्षेपाद्रचितं मया। प्रतिष्ठादीपकं शास्त्रं शोधयन्तु विचक्षणाः॥

ग्रन्थारम्भमें मंगल श्लोक इस प्रकार है—

विश्वविश्वम्भराभारधारिधर्मधुरन्धरः। देयाद्वो मङ्गलं देवो दिव्यं श्रीमुनिसुव्रतः॥
नमस्कृत्य जिनाधीशं प्रतिष्ठासारदीपकम्। वक्ष्ये बुद्ध्यनुसारेण पूर्वसूरिमतानुगम्॥

इस प्रतिष्ठासारदीपकमें जिनमूर्ति, जिनमंदिर आदिकोंके निर्माणमें तिथि, नक्षत्र, योग आदिकका विचार करना चाहिये ऐसा कहकर किस तिथ्यादिकोंमें इनकी रचना करनेसे रचयिताका शुभाशुभ होता है इत्यादि वर्णन किया है। यह ग्रन्थ साडेतीनसौ श्लोकोंका है। इस ग्रन्थके अन्तमें प्रशस्ति नहीं है। इस ग्रन्थमें स्थाप्य, स्थापक और स्थापना ऐसे तीन विषयोंका वर्णन हैं। पञ्चपरमेष्ठी तथा उनके पञ्चकल्याण और जो जो पुण्यके हेतुभूत हैं वे स्थाप्य हैं। यजमान इन्द्र स्थापक हैं। मंत्रोंसे जो विधि की जाती है उसे स्थापना कहते हैं। तीर्थंकरोंके पञ्चकल्याण जहां हुए हैं ऐसे स्थान तथा अन्य पवित्रस्थान, नदीतट, पर्वत, ग्राम, नगरादिकोंके सुंदरस्थानमें जिनमंदिर निर्माण करने चाहिये।

आरंभसे हिंसा होती है, हिंसासे पाप लगता है, तोभी जिनमंदिर बान्धनेमें किये जानेवाले आरंभसे महापुण्य प्राप्त होता हैं, जिनधर्मकी स्थिति जिनमंदिरके विना नहीं रहती। तथा जिनमंदिर मुक्तिप्रासादमें प्रवेश करनेमें सोपानके समान सहायक है। अतः जिनमंदिरकी रचना करनी चाहिये ऐसा हेतु आचार्यने प्रदर्शित किया है। वे ऐसा कहते हैं—

यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसम्भवः। तथाप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते॥
निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्। मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः॥

इस प्रतिष्ठा ग्रन्थकी रचना देखनेसे आचार्य ज्योतिःशास्त्रमें निष्णात थे ऐसा सिद्ध होता है। अस्तु।

प्रस्तुत सिद्धान्तसारसंग्रहकी प्रेसकापी, अनुवाद, संशोधन आदि दो प्रतियोंसे किया है। एक प्रति यहांके गुरुकुलके पुस्तकालयमें थी। तथा दुसरी आमेर भाण्डारमें थी। दोनो प्रतियाँ प्रायः शुद्ध हैं।

यदि अनुवादमें जहां कहीं प्रमादवश दोष लग गया हो उसे सुधार लेनेकी व सूचना देनेकी मैं विद्वान् पाठकोंसे प्रार्थना करता हूं।

सिद्धान्तसारसंग्रहका विषयानुक्रम

पृष्ठसंख्या

प्रथमपरिच्छेद १–१६

मङ्गलस्तुति १–२
ग्रन्थरचना-प्रतिज्ञा २
रत्नत्रयसे जीवितसाफल्य ३
समन्तभद्राचार्यके वचनोंकी दुर्लभता ३
धर्मसेही सुखप्राप्ति ३
परीक्षापूर्वक धर्मग्रहण ४
मिथ्याकुलधर्मकी हेयता ४
सम्यग्दर्शनका स्वरूप ५
देव, आगम–गुरुका लक्षण ५–६
सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोषोंका सविस्तर कथन ६–८
निसर्गजादि सम्यग्दर्शनभेदोंका स्वरूप ८–१०
काललब्धियोंका वर्णन १०
सम्यग्दर्शनकी श्रेष्ठता ११–१२
संवेगादिक आठ गुणोंका स्वरूप १२–१३
सम्यग्दृष्टि दोषदृष्टि नहीं हैं १४
सम्यग्दृष्टि जीव कहां उत्पन्न नहीं होते ? १५–१६

द्वितीय परिच्छेद १७–४८

सम्यग्ज्ञानका लक्षण १७
सन्निकर्ष प्रमाणका खण्डन १७–१९
सम्यग्ज्ञानके भेद १९
मतिज्ञानका सविस्तर वर्णन २०–२३
बुद्धिऋद्धिरूपमतिज्ञानका वर्णन २३–२५
बारह अंग और चौदह पूर्वोकी पदसंख्या और उनके विषयोंका वर्णन २५–३३
पदभेदोंका वर्णन ३३
सामायिकादि चौदह अङ्गबाह्य श्रुतका वर्णन ३४–३६

पृष्ठसंख्या

श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्यायसमासादिक वीसभेदोंका वर्णन ३६–३९
अवधिज्ञानका विवरण ३९–४०
देशावधिज्ञानके भेद और स्वामी ४०–४२
अवधिज्ञानके तीन भेदोंका कथन ४२
मनःपर्ययज्ञानके भेद और उनके स्वरूपका कथन ४२–४४
केवलज्ञानके स्वरूपका वर्णन ४४–४५
मत्यादिक ज्ञान और कुज्ञान कैसे होते हैं ? ४६–४७
प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञानका वर्णन तथा सम्यग्ज्ञानकी महिमा ४७–४८

तृतीय परिच्छेद ४९–६७

महावीर–जिनस्तुति ४९
चारित्रका लक्षण और उसके भेद ४९–५०
हिंसा और हिंसाके भेद ५०–५१
हिंसासे इहपरभवमें दारुणदुःखकी प्राप्ति– ५१–५२
मन्त्रपूर्वक पशुहिंसा शान्ति करनेवाली है इस विषयका खंडन ५३
देव, अतिथि और गुरुके निमित्त की गयी हिंसाभी हिंसाफलकोही देती है ५४
अहिंसाका फल तथा उसकी पांच भावनाओंका वर्णन ५४–५५
असत्यवचनका लक्षण और उसके भेद ५५–५७
सत्यभाषणका शुभ फल तथा उसकी भावनाओंका वर्णन ५७–५८
अचौर्यव्रतका लक्षण, धन बाह्य प्राण है, चोरसे अधिक पापी कोई नहीं है ५८
अचौर्यव्रतकी भावनाओंका वर्णन ५९

पृष्ठसंख्या

कर्मनोकर्मग्रहण भी चोरी है ऐसी शंकाका उत्तर ५९–६०
नगरादिमार्ग तथा श्रावकगृह आदिक अदत्त होनेसे उसमें प्रवेश करनेसे मुनियोंको चौर्यदोष लगता है इस शंकाका उत्तर ६०
ब्रह्मचर्यव्रतका लक्षण ६०
ब्रह्मचारी धन्यवादका पात्र है ६१
स्त्री रात्रि, नदी, दृष्टिविषासर्पिणी तथा वह्निज्वालाके समान है ६१–६२
ब्रह्मचारीको निरंतर सुखकी प्राप्ति ६२
ब्रह्मचर्यकी पांच भावनाओंका वर्णन ६३
मुनिजन कामोन्मादक आहार नहीं लेते हैं ६३
परिग्रहविरति–व्रतका वर्णन ६४
ज्ञानादिक भाव परिग्रह क्यों नहीं ? इसका उत्तर ६५
रागद्वेषोंके अभावसेही व्रतपालन ६५
सज्जन संपत्ति आपत्तिओंमें हर्षविषाद रहित होते हैं ६६
गुरु कैसा होना चाहिये ६६–६७

चतुर्थपरिच्छेद ६७–११०

शल्यके निरुक्तिपूर्वक भेद ६८
मायाशल्यका वर्णन ६९
मिथ्यात्वशल्यके भेदोंका प्रतिपादन ७०
आत्मा नित्य माननेमें दोष ७१
आत्मा क्षणिक माननेमें दोष ७१–७३
आत्मा नामक पदार्थ नहीं है ऐसा चार्वाकका पूर्वपक्ष ७३–७४
आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेवाला जैनोंका सिद्धान्तपक्ष–उत्तरपक्ष ७४–७६
शरीर पूर्वकर्मकृत है तथा अचेतन है तथापि उसमें हर्ष विषादादि उत्पन्न करनेवाले नाना स्वभाव हैं ७७

पृष्ठसंख्या

आत्मा नित्य, व्यापी, अकर्ता अमूर्तिक है ऐसा सांख्योंके मतका खण्डन ७७
प्रकृति सर्वज्ञ, जगन्निर्मात्री तथा सर्व संहार कारिणी है ऐसा सांख्यका पूर्वपक्ष ७८
प्रकृतिवादका खण्डन तथा सांख्यमतमें अहिंसाव्रतके सिद्धचभावका कथन ७९–८१
कोई आत्मा सर्वज्ञ नहीं होता ऐसा मीमांसकोंका पूर्वपक्ष ८१–८३
कोई आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है ऐसा जैनोंका सिद्धान्तपक्ष ८३–८५
प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे शब्द नित्य, व्यापी तथा वर्णसहित होनेसे अपौरुषेय है ऐसा मीमांसकोंका पूर्वपक्ष८५
वेदकी अपौरुषेयताका खण्डन ८५–८७
कान ध्वनियोंसे संस्कृत होकर शब्द ग्रहण करते हैं इस विषयका खण्डन ८७
वेदकी प्रवाहनित्यताका खण्डन ८७–८९
ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ हैं ऐसा नैयायिक वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष ९०–९१
ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता ऐसा जैनोंका सिद्धान्तपक्ष ९१–९५
जिनेश्वर कवलाहार करते हैं ऐसा श्वेताम्बरोंके कथनका खण्डन ९५
आहारग्रहणसे सुख होता है ऐसे कथनका दिगंबरोंसे खण्डन ९५
लोग आहार रागभावसे ग्रहण करते हैं केवलि जिनेशमें रागभाव नहीं अतः वे भोजन नहीं करते हैं । वे पूर्ण वीतराग हैं ९६
कवलाहारके बिना केवलीकी देहस्थिति नहीं अतः वह आहार ग्रहण करते हैं इसका उत्तर ९६–९७

पृष्ठसंख्या

अरिहन्त औदारिक देहवाले हैं इसलिये कवलाहारसे उनकी देहस्थिति होती है इस मतका दिगंबर जैन निराकरण करते हैं ९७–९८

वेदनीय कर्मका केवलियोंमें सद्भाव होनेसे वे आहार लेते हैं इस कथनका खण्डन ९८–९९

शुद्ध अशुद्धका स्मरण न करते हुए हम भोजन करते हैं वैसे केवलीभी भोजन करते हैं इस मतका निराकरण १००

केवलियोंको क्षुधा तृषादि ग्यारह परिषद होते हैं ऐसा आगमके 'एकादश जिने' इस सूत्रमें कहा है इस आक्षेपका उत्तर १०१

"स्त्रियोंको अविकल कारण होनेसे मुक्ति होती है जैसे पुरुषको होती है" इस श्वेताम्बर मतका निरसन १०३–१०४

शरीरकी उष्णतासे हवामें रहने–वाले जन्तुओंका नाश होता है परंतु वस्त्र ग्रहणसे उनका नाश नहीं होता अतः आर्यिकायें वस्त्रग्रहण करती है। वे रागा-दिभावसे ग्रहण नहीं करती हैं, इस अभिप्रायका खण्डन— १०४–१०५

नग्नतासे स्त्रियोंके मनमें लज्जा उत्पन्न होती है इसलिये मुनियोंको नग्नता धारण करना योग्य नहीं है इस आक्षेपका दिगम्बराजैनोंके द्वारा निरसन १०५–१०६

पृष्ठसंख्या

आचेलक्य दश स्थितिकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प सर्व व्रतोंका अधिष्ठान है। स्त्री परिषहभग्न पाखंडी लोग इसे धारण करनेमें असमर्थ हैं। इत्यादिक वर्णन १०६–१०७

निदानशल्यके प्रशस्त निदान और अप्रशस्त निदान ऐसे भेदोंका वर्णन १०७

प्रशस्त निदानके संसार— निमित्तक और मोक्षनिमित्त भेदोंका वर्णन १०७–१०८

अप्रशस्त निदानके भोगहेतुक और मानहेतुक निदान ऐसे दो भेद हैं और ये दोनोंभी संसारके कारण हैं १०८–१०९

पञ्चम परिच्छेद १११–१४३

जीवशब्दकी निरुक्ति १११

उपयोगका स्पष्टीकरण ११२

जीवके अमूर्तिकत्व, मूर्तिकत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्वका नयोंके द्वारा विवेचन ११३

आत्माकी व्यापकता और देह–परिमाणता, सोपाधिकत्व और निरुपाधिकत्व का नयदृष्टिसे वर्णन ११३

आत्माके संसारित्व, मुक्तत्व, सिद्धत्व तथा असिद्धत्व, उर्ध्वगति और संसारभ्रमणका नयदृष्टिसे वर्णन ११४

	पृष्ठसंख्या
चार्वादिक अन्यमतोंका निरास करने के लिये जीव, उपयोगमय, कर्ता, भोक्ता आदि आधिकारोंका वर्णन	११५
आत्माके अकर्तृत्वमें दोषकथन	११५
आत्माके व्यापित्वका निरसन	११६
कर्मफल–भोक्तृत्व जीवमें नहीं है ऐसे कहनेवाले बौद्धमतका निराकरण	११६
आत्मा सदामुक्त है ऐसे सदाशिव मतका निरसन	११६
आत्माको मुक्तिप्राप्ति नहीं होती है ऐसा भाट्ट और कौलके मतका निराकरण	११६
मुक्तजीव सतत उर्ध्वगमन करते हैं ऐसा कहनेवाले मण्डलीक मतका निराकरण	११७
पञ्चप्रकार–संसारोंका वर्णन	११७–१२१
संसारीके समनस्क अमनस्क भेद	१२२
स्थावर जीवोंमें पृथिवी, पृथिवीकाय तथा पृथिवीकायिकादिक तीन भेदोंका वर्णन	१२२–१२३
स्थावरोंके सूक्ष्मादि छह भेद	१२३
एकेन्द्रियादि जीवोंके प्राणोंका वर्णन	१२३–१२४
द्रव्येन्द्रियादिके उपकारणादिक भेदोंका वर्णन	१२४–१२६
चौदह जीवसमासोंका वर्णन	१२७
संज्ञी असंज्ञी जीवोंके लक्षण	१२७
पर्याप्त तथा अपर्याप्त जीवोंका कथन	१२८
भव्य तथा अभव्य जीवोंका लक्षण	१२९
नामादिक निक्षेपोंसे जीवके चार भेद	१३०
विग्रहगतिमें कार्मणकाययोगका सविस्तर कथन	१३१
चौरासी लक्ष योनियोंका कथन	१३२–१३४
सर्व संसारिजीवोंके कुल कोटियोंका तथा उनके आयुका कथन	१३४–१३६
संसारिजीवोंके देहोंकी ऊंचाई तथा गर्भादि जन्मोंका वर्णन	१३६–१३७
मार्गणाका लक्षण और उसके भेद	१३७
औदारिक पांच शरीरोंका वर्णन	१३७–१३९
जीवोंका लिंगनिर्णय	१३९
अनपवर्त्यायुष्क जीवोंका वर्णन	१३९–१४०
चौदह गुणस्थानोंका कथन	१४०–१४१
छह लेश्याओंका कथन	१४२

छट्ठा परिच्छेद **१४४–१५४**

नारकियोंका आधारभूत स्थान	१४४
तीन वातवलयोंका विस्तार	१४४
नरकभूमियोंमें बिलोंकी संख्या	१४५
रत्नप्रभादि नरकभूमियोंकी मोटाईका कथन	१४५
रत्नप्रभाके खरभागादि तीन विभागोंका वर्णन	१४६
खरभाग तथा पङ्कभागमें भवनवासी तथा व्यन्तरदेवोंके निवासस्थान	१४६
अब्बहुलभागमें नरकवासोंका कथन	१४६
नरकपटलोंका वर्णन	१४७
नारकियोंके देहोंकी ऊंचाई	१४७–१४९
नारकियोंके आयुका पटलोंकी अपेक्षासे कथन	१४९–१५०
नारकियोंकी लेश्याओंका वर्णन	१५०–१५१

पृष्ठसंख्या

नरकबिलोंकी शीतोष्णताका वर्णन १५१
कौन कौन जीव किसकिस नरकमें उत्पन्न होते हैं इसका कथन १५१–१५२
किस नरकसे निकलकर जीव कौनसी अवस्थाको प्राप्त करता है ? १५२
नरकोंमें नारकियोंको प्राप्त होनेवाले दुःखोंका वर्णन १५३

सप्तम परिच्छेद १५५–१८५

(तिर्यङ्ग महालोकका वर्णन)
द्वीपसमुद्रोंका वर्णन १५५–१५६
कालोदादिक तीन समुद्र जलस्वाद युक्त हैं १५६
वारुणीवर–समुद्र जलका मदिरा-स्वादके समान है १५६
क्षीरोदकवर–समुद्रजल शर्करा-मिश्रितदूधके समान है १५७
घृतोदकवर–समुद्रजल घृतस्वाद युक्त है १५७
अवशिष्ट समुद्रोंका जल मधु और इक्षुरसके समान है १५७
इन द्वीप समुद्रोंपर व्यन्तरोंके निवास हैं १५७
लवणोद, कालोद और स्वयंभूरमण समुद्रमें ही मत्स्यादिक हैं १५७
जम्बूद्वीपके क्षेत्र, पर्वत और ह्रदोंका वर्णन १५७–१५९
विजयार्धपर्वत तथा उसके दोनो श्रेणियोंका वर्णन १५९–१६०
भरतक्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन १६०

पृष्ठसंख्या

हिमवान्, महाहिमवान्, निषध पर्वतोंका तथा उनके ऊपर पद्मादि सरोवर और हैमवत, हरिवर्षका वर्णन १६०–१६३
मेरुपर्वत, विदेहक्षेत्र, उसके देश, वक्षारपर्वत, विभङ्गानदियां आदिकोंका वर्णन १६३–१६९
मेरुके उत्तर दिशाके क्षेत्रादिकोंका संक्षिप्त कथन १६९–१७०
धातकीखंडका संक्षेपसे कथन १७०–१७१
पुष्करद्वीपका संक्षेपसे कथन १७१
मनुष्यक्षेत्र कहांतक है ? १७१
स्वयंभूमरणद्वीपके आधे भागमें नागेन्द्र पर्वत वलयाकार है १७१
मानुषोत्तर पर्वतके आगे असंख्यात द्वीपसमुद्रोंमें व्यन्तर और तिर्यंच रहते हैं १७२
आर्योंके भेदप्रभेदोंका कथन १७२–१७७
कर्मभूमिज, म्लेच्छभूमिज और अन्तरद्वीपज म्लेच्छोंका वर्णन १७७–१७८
कर्मभूमिका स्वरूप १७९
मनुष्यका उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु १८०
पल्योपमके भेदोंका वर्णन १८०–१८१
अवसर्पिणी उत्सर्पिणीके भेदोंका वर्णन १८१–१८२
तिर्यंच, मनुष्य, मत्स्य, सर्प तथा पक्षियोंके आयुका वर्णन १८२–१८३
मत्स्योंकी शरीरावगाहना १८३
पृथ्वीजलादिके आकार १८३
वनस्पति, त्रस तथा नारकियोंके आकार १८३
मिथ्यादृष्टि मरकर कहां उत्पन्न होते हैं? १८४
निर्ग्रन्थमुनि और श्रावक कहां उत्पन्न होते हैं १८४–१८५

पृष्ठसंख्या

आठवा परिच्छेद १६८–२०३

देवोंके चार भेद तथा पहले तीन भेदोंमें लेश्याओंका कथन १८६–१८७
भवनवासि तथा व्यन्तरोंके भेदवर्णन १८७
ज्योतिष्क देवोंके अवान्तर भेद १८८
ढाईद्वीपके बाहर ज्योतिष्क देवस्थिर हैं १८९
जम्बूद्वीपमें तथा लवणसमुद्रमें चन्द्रसूर्योंका चारक्षेत्र १८९
कर्कटसङ्क्रान्तिके समय सूर्यका पहले मार्गपर आना १८९
दक्षिणायनमें रात्रि-दिनका प्रमाण १९०
चन्द्रका तारका-ग्रहनक्षत्रादि परिवार १९०
चन्द्र और सूर्यके वलय १९१
ज्योतिष्कोंका उत्कृष्ट और जघन्य आयु १९१
चन्द्रसूर्यके विमानोंका प्रमाण १९१–१९२
ऋतुविमान कहां है १९२
स्वर्गयुगलोंका वर्णन १९२–१९३
ऊर्ध्वलोकके अन्तिम एकरज्जु प्रदेशमें नवग्रैवेयकादिक तथा सिद्ध जीव हैं १९३–१९४
भवनवासिदेव तथा व्यन्तरदेवके आयुका वर्णन १९४
सौधर्मादि सर्वार्थसिद्धयन्त देवोंके आयुका वर्णन १९४–१९५
इन्द्रादिक दशभेदोंका वर्णन १९५–१९६
इन्द्रादि दशभेदोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवोंमें लोकपाल और त्रायस्त्रिंश ये भेद नहीं है १९६
प्रवीचारयुक्त तथा अप्रवीचार युक्त देवोंका निरूपण १९७

पृष्ठसंख्या

देवोंके मूलदेहों की ऊंचाई १९७–१९८
सौधर्मसे सर्वार्थसिद्धितक देवोंकी लेश्यायें १९८
कल्पवासी तथा कल्पातीत लौकान्तिक देवोंका स्वरूप आयु तथा भेद १९८–१९९
देवोंके द्विचरमत्वका निरूपण १९९–२००
देवदेवीयोंके उपपाद स्थान २००
भवनत्रिक, कल्पवासी तथा कल्पातीत देवोंके अवधिज्ञानोंमें विशेषता २००–२०१
नारकियोंके अवधिज्ञानका कथन २०१
एकभव धारण कर मुक्त होनेवाले देव २०१
मोक्षसुखका कथन २०१–२०२
चतुर्गतिमें गुणस्थान २०२

नववां परिच्छेद २०४–२३९

धर्माधर्मादि द्रव्योंका लक्षणकथन २०४–२०५
पुद्गलका लक्षण, अन्नद्रव्योंका कायपना तथा कायका अकायत्व २०५
जीवपुद्गलोंका साधारण लक्षण २०६
पुद्गलोंमें स्निग्धरूक्षत्वसे बन्ध तथा जीवमें रागादिस्नेहसे कर्मबन्ध २०६
पृथिव्यादिकोंमें पुद्गलत्वसिद्धि २०७–२०८
भावमन आत्मरूप तथा द्रव्यमन पुद्गलरूप हैं २०८
शब्द भी पौद्गलिक ही है २०८–२०९
पुद्गलोंके स्थूलादिक छह भेद २०९
भाषात्मक शब्दके भेद २०९–२१०
दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव २१०
आकाश तथा पुद्गलोंके प्रदेश २११
परमाणुका स्वरूप २११

पृष्ठसंख्या

लोकाकाशका स्वरूप–निरूपण २१२
जीव लोकाकाशके कितने प्रदेशोंमें रहता है उसका स्पष्टीकरण २१३
धर्मादिक द्रव्योंका जीव पुद्गलपर उपकार २१४
प्राणापानोंका स्वरूप तथा उनकी मूर्तिकता, पुद्गलके और भी उपकार २१५–२१६
जीवके ऊपर जीवके उपकार २१६
आस्रवका लक्षण तथा उसके भेद २१६–२१८
कषायकी निरुक्ति, भेद और स्वरूप २१८
इन्द्रियास्रव तथा क्रियास्रवके भेद २१९–२२२
तीव्रभावादिक आस्रवविशेष २२२–२२३
ज्ञानदर्शनावरणोंके आस्रवकारण २२३–२२४
असद्वेद्य तथा सद्वेद्य कर्मास्रवके कारण २२४–२२५
दर्शनमोहास्रवके कारण २२५–२२६
चारित्रमोहके आस्रवकारण २२६–२२७
नरकायु आदिक आस्रवके कारण २२८–२२९
अशुभ तथा शुभनामास्रवके कारण २२९–२३०
तीर्थंकर कर्मास्रवके कारण २३०–२३१
नीच गोत्र उच्चगोत्रास्रवके कारण २३१
अन्तरायास्रवके कारण २३१
एक समयमें कितनी कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होता है २३१–२३२
मिथ्यात्वके भेदप्रभेद २३२–२३४
कषाय बंधके कारण २३४–२३५
कर्मकी उत्तर प्रकृतियां २३५–२३६
स्थितिबंधादिक चार बंधोंका स्वरूप २३६–२३७
संवर तथा उसके भेदोंका निरूपण २३७–२३८

पृष्ठसंख्या

दशम परिच्छेद २४०–२६२

निर्जराके दो भेदोंका वर्णन २४०
बाह्यतपके भेद २४१–२४२
अन्तर्गततपके भेद २४२
प्रायश्चित्तकी निरुक्ति २४३
प्रायश्चित्तके अज्ञाता आचार्य २४३
प्रायश्चित्तोंके नाम २४३
पंचकल्याण प्रायश्चित्तका स्पष्टीकरण २४३
उपवासका लक्षण २४४
प्रायश्चित्त प्रकरणमें छह बातें २४४
प्रायश्चित्तके सोलह दोष २४५
कायोत्सर्गसे निवृत्त होनेवाले दोष २४५–२४६
पुरुमण्डल प्रायश्चित्तके दोष २४६
अनन्तकायिक वनस्पतिका लक्षण २४६
त्रसजीवके नाशका प्रायश्चित्त २४७
मिथ्याकारसे शुद्धि २४८
संघकार्यकेलिये वर्षाकालमें गमन प्रायश्चित्तार्ह नहीं २४८
मैथुनसेवन–दोषका प्रायश्चित्त २४८
ज्ञानादिमदसे साधर्मिकका अपमान करनेसे प्रायश्चित्त २४९
कषाय करनेवालेको प्रायश्चित्त २४९
तर्कादि अध्ययन पार्श्वस्थादि मुनियोंसे करनेवालेको प्रायश्चित्त २४९
प्राणीको मारते हुए देखनेसेभी मुनिको प्रायश्चित्त २४९
संघपालनार्थ राजस्नेह करना प्रायश्चित्त नहीं है २५०
कालकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त २५१
दश क्षेत्रोंके नाम २५१
उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कहां देना ? २५२

पृष्ठसंख्या

आहारकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त २५२
गर्व करनेवालाभी प्रायश्चित्तार्ह है २५२
प्रायश्चित्तके दशभेद २५३
दीक्षाच्छेद कब किया जाता है ? २५३–२५४
पारञ्चिक प्रायश्चित्त २५५
क्षेत्रकालादिकोंकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त २५५
साधु, श्रावक, बालक आदिके घातका प्रायश्चित्त २५६–२५७
असत्यभाषणादिकका प्रायश्चित्त २५७–२५८
मिथ्यादृष्टिसे कलह करनेका प्रायश्चित्त २५८
निद्रामेंसे उठाना आदि विषयोंमें प्रायश्चित्त २५८
संघापराध प्रकट करनेवालेको प्रायश्चित्त २५९
औद्देशिक प्रायश्चित्त तथा मिथ्यात्वी साधुके साथ विहार करनेका प्रायश्चित्त २५९
शिलादिकोंमें सूत्र लिखकर पढनेका प्रायश्चित्त २५९
अश्रावकोंके यहां आहारका प्रायश्चित्त २५९
ज्ञानोपकरणादिकोंके निषेधका प्रायश्चित्त २६०
चाण्डालस्पर्शका प्रायश्चित्त २६०
जिनदीक्षाके अधिकारी २६०
वस्त्रप्रक्षालनका प्रायश्चित्त २६०
यतिके साथ अकीर्तिको प्राप्त हुई आर्यिकाका नामभी ग्रहण न करे २६१
रजस्वला आर्यिकाकी शुद्धि २६१
स्नानके प्रकार २६१
श्रावकके प्रायश्चित्त २६१–२६२

पृष्ठसंख्या

जीवके मंद मध्यमादि भावोंके अनुसार प्रायश्चित्तके कोमल तीव्रादि भेद २६२

ग्यारहवा परिच्छेद २६३–२७८

विनयतपके चार भेद २६४
वैयावृत्त्यके दशभेद २६४–२६५
स्वाध्यायके भेदोंका कथन २६५–२६८
ध्यानका लक्षण तथा उसके भेद २६८
आर्तध्यानके चार भेद २६८–२६९
रौद्रध्यानके चार भेद २६९–२७०
धर्मध्यानके चार भेद २७०–२७१
शुक्लध्यानके स्वामी और भेद २७२
पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानके व्यञ्जन-सङ्क्रान्त्यादिकका स्पष्टीकरण २७२–२७४
एकत्ववितर्कध्यानका विषयविवरण २७४
सूक्ष्म क्रियाप्रतिपातिध्यान २७५
यथाख्यात चारित्र और मोक्षतत्त्वका निरूपण २७५–२७६
सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप २७६
जिनमतका श्रद्धान संसारनाशका कारण है २७७
समन्तभद्रका वचन मुक्तिका कारण है २७७
जिनशासनभक्तिसे इच्छितसिद्धि २७८

बारहवां परिच्छेद २७८–२९६

आराध्य, आराधना तथा अर्हदादि-पंच–परमेष्ठियोंका स्वरूप २७९–२८०
भव्यजीवका स्वरूप तथा उसकी अनुप्रेक्षाचिन्तना २८०–२८२
पण्डितपण्डित मरणादि पांच मरणोंका विवरण २८२–२८३

	पृष्ठसंख्या
पण्डितपण्डित मरणसे मुक्ति	२८३
पण्डितमरणके तीन भेद	२८४
बालमरण तथा बालबालमरणका स्वरूप	२८४–२८५
आवीचिमरण, अवधिमरण, आद्यन्त मरण, सशल्यमरण, समुत्सृष्टमरण, गृद्धपृष्टमरण, विघ्रासमरण, प्रशस्त-मरण आदिका वर्णन	२८५–२८६
सविचारभक्त प्रत्याख्यानके अर्ह, लिंग शिक्षा विनयादि चालिस सूत्रपदोंका विवरण	२८६–२८९
सल्लेखनाधारण करनेकी अवस्थाका निरूपण	२८९
सल्लेखनाधारकका जिनमंदिरमें निवास	२९०
कन्दर्पभावनादि पांच भावनाओंका स्वरूप	२९०–२९१
प्रशस्तभावनायुक्त मुनिको शुभगतिप्राप्ति	२९१
ग्रन्थकारकी नम्रताव्यक्ति	२९१
दुर्जनके स्वभावका कथन	२९२–२९३
पञ्चमकालका दोष	२९३
ग्रन्थकर्ताकी आचार्यपरम्परा	२९४–२९६

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः

सि द्धा न्त सा र :

भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथं त्रिगुणात्मत्रयात्मकम् । त्रिभिः [1]प्राप्तपदं त्रेधा वन्दे त्रुटितकल्मषम् ॥ १
नित्याद्येकान्तविध्वंसि मतं मतिमतां मतम् । यस्य स श्रीजिनः श्रेयान्श्रेयांसि वितनोतु नः ॥ २
[2]श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् । देवैर्दीप्तगुणैर्दृष्टमिष्टमत्राभिनन्दतु ॥ ३

जिन्होंने पापोंको–ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मोंको नष्ट किया, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप तीन गुणोंसे युक्त हैं, अर्थात् ये तीन गुण जिनके स्वभाव हैं तथा जो अर्हत्केवलित्व, गणधरकेवलित्व और सामान्यकेवलित्वको धारण करते हैं, जो क्षायिक, औदयिक तथा पारिणामिक भाव धारण करते हैं, जिन्होंने रत्नत्रयकी पूर्णतासे कैवल्यपद धारण किया हैं, जो भू (अधोलोक) भुवर् (मध्यलोक) तथा स्वर् (स्वर्गलोक) के स्वामी-त्रिलोकनाथ हैं ऐसे अर्हत्परमेष्ठीको मैं मन, वचन तथा शरीरके द्वारा वन्दन करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ–जिनेश्वरमें नव केवललब्धिरूप अनन्तज्ञानादिक क्षायिक भाव हैं । भव्यत्व, जीवत्वरूप पारिणामिक भाव हैं । मनुष्यगति, तीर्थकरत्व, परमशुक्ललेश्या आदि शुभकर्मोंका उदय होनेसे औदयिक भाव हैं । ऐसे तीन भाव होनेसे जिनेश्वर त्रयात्मक हैं । कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भावको क्षायिक भाव, कर्मके क्षय, उपशम, उदयादिके विना होनेवाले जीवभावको पारिणामिक भाव तथा कर्मके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते हैं ॥ १ ॥

जिनका अनेकान्तरूप मत [3]नित्याद्येकान्तमतोंका निरसन करता है, तथा जो बुद्ध्यादि-ऋद्धियोंके धारक गणधरादिकोंको मान्य है, जो अनेकान्तनायक, दुर्जन-कठिन घातिकर्मोंको जीतने-

१ आ. प्राप्तपरं धाम. २ आ. श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्रस्य.

३ जीवादिक वस्तु सर्वथा नित्य–एकस्वरूप–अपरिणामी समझनेवाला जो मत उसे नित्यैकान्त कहते हैं। जीवादिक वस्तुओंको सर्वथा क्षणिक माननेवाला मत अनित्यैकान्त है । गुण गुणी सर्वथा भिन्न माननेवाला भेदैकान्त मत है तथा उनको सर्वथा अभिन्न माननेवाला अभेदैकान्त मत है ।

जैनीं द्विसप्ततिं नत्वातीतानागतवर्तिनीम् । तत्त्वार्थसंग्रहं वक्ष्ये दृष्ट्वागमपरम्पराम् ॥ ४
श्रीमतो जिननाथस्य वचोऽनन्तगुणं[1] यतः । कथं तत्र मतिं कुर्वन्न यास्याम्युपहास्यताम् ॥ ५
अथवा तत्र भक्तिर्मे यदि स्यात्सहकारिणी । तदा कार्यमिदं किञ्चित्सिद्धं समधिगच्छति ॥ ६
अथ श्रीजिनसिद्धान्तभक्तिभारवशीकृतः । ततोऽहमपि मूढात्मा करिष्ये स्तुतिमात्मनः ॥ ७

वाले, श्रीके–अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख तथा शक्तिरूप अनन्तचतुष्टयके धारक हैं वे जिन-ऋषभादिक तीर्थंकर आराधक भव्य ऐसे हम लोगोंका कल्याण करें ॥ २ ॥

श्रीसे अनन्तचतुष्टयरूपी अन्तरंगलक्ष्मी और समवसरण, प्रातिहार्य आदि बहिरंग लक्ष्मीसे शोभनेवाले, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावोंको संपूर्णतया जाननेवाले अर्थात् सर्वज्ञ, श्रीवर्धमान भगवान्का शासन–स्याद्वादमत उज्ज्वल सम्यग्दर्शनादिक गुणोंके धारक गणधरदेवोंने जाना है अर्थात् द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुतको उन्होंने अपने मनमें धारण किया है। प्रभुका यह शासन भव्योंको इष्टप्रिय है, अतएव यह नित्य वृद्धिगत होवें ॥ ३ ॥

(तत्त्वसंग्रहकथन–प्रतिज्ञा) भूतकालीन, भविष्यत्कालीन तथा वर्तमानकालीन ऐसे बाहात्तर जिनेन्द्रोंको नमस्कार कर, तथा गौतमादि गणधरोंसे चली आई हुई आगम-परंपराको देखकर मैं 'तत्त्वार्थसंग्रह' नामक ग्रंथकी रचना करता हूँ। जिसका दूसरा नाम 'सिद्धान्तसंग्रह' भी है ॥ ४ ॥

भावार्थ–गत उत्सर्पिणी–कालचक्रके तृतीय आरेमें–दुषमसुषमामें निर्वाण, सागर आदिक चोबीस भूतकालीन तीर्थंकर हो चुके हैं। तदनंतर इस अवसर्पिणी–कालचक्रके चतुर्थ आरेमें ऋषभादि वर्धमानान्त चोबीस तीर्थंकर हुए। इस समय वीरजिनेशका शासन चल रहा है। आगामी उत्सर्पिणी कालचक्रके तृतीय आरेमें पद्मनाभादि अनन्तवीर्यतक चोबीस तीर्थंकर होनेवाले हैं ॥ ४ ॥

अनन्तचतुष्टयसे विराजमान जिनेश्वरका वचन (आगम) अनंत गुणोंसे भरा हुआ है। इस लिये उसमें अपनी बुद्धि प्रवृत्त करनेवाला मैं उपहासको क्यों नहीं प्राप्त होऊंगा ? अर्थात् गणधरादिकोंकेद्वारा निर्वाह्य आगमकी रचना करनेमें मैं प्रवृत्त हुआ हूं। इसलिये मेरा उपहास होगा तो भी मेरे अन्तःकरणमें जो आगमभक्ति वास करती है वह इस रचनामें मुझे सहायक होगी, जिससे मेरा यह कार्य कुछ सिद्ध होगा ॥ ५–६ ॥

जिनेश्वरकथित सिद्धान्तोंमें मेरी उत्कट भक्ति होनेसे मैं मूढ होकरभी उनका कथन करूंगा। यह मैंने अपनीही स्तुति की है ऐसा आप समझे ॥ ७ ॥

---

१ आ गुणा.

संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसंकुले । संतो रत्नानि गृह्णन्ति परे मज्जन्ति लोष्ठवत् ॥ ८
तत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं[1] हितम् । तद्वन्तः सर्वदा संतः कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ ९
लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् । येनावाप्तामिदं पूतं रत्नत्रयमनिन्दितम् ॥ १०
श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् । प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११
सुदुर्लभमपि प्राप्तं[2] तत्कर्मप्रशमादिह । न ये धर्मरता मोहाद्धा हता हन्त ते नराः ॥ १२
धर्मादवाप्तसत्सौख्या न धर्मं कथितं पुनः । शतशोऽपि विजानन्ति ये ते किं न विजातयः ॥ १३
विषयेषु रता दीना यथा क्लिश्यन्त्यहर्निशम् । धर्मार्थं क्लिश्यतां तद्वत्क्षणेनापि न किं सुखम् ॥१४
स्वर्गापवर्गसौख्यानां कारणं परमं मतः । धर्म एव सतां मान्यो मन्यन्ते तमतो बुधाः ॥ १५

जो सम्यग्दृष्टि सज्जन हैं वे नाना दुःखरूप तरंगोंसे भरे हुए भयानक संसारसमुद्रमें सम्यग्दर्शनादि गुणरत्नोंको ग्रहण करते हैं परंतु जो दुर्जन हैं वे उसमें मिट्टीके डलेके समान डूबते हैं ॥ ८ ॥

(रत्नत्रयसे जीवितसाफल्य) इसलिये इस संसारमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रयही आत्माका हित करता है । जो भव्यजीव इसे धारण करते हैं उन्हें जिनेश्वर सज्जन कहते हैं । जिसने यह पवित्र और प्रशंसनीय रत्नत्रय प्राप्त किया है उसे मनुष्यजन्मका फल प्राप्त हुआ और उसका जीवित सार्थक हुआ है ॥ ९-१० ॥

(समन्तभद्राचार्यके वचनकी दुर्लभता) जैसे प्राणियोंको मनुष्यजन्म दुर्लभ है वैसे गणधरतुल्य समन्तभद्राचार्यका पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित वचनभी दुर्लभ है । परंतु कुछ अशुभकर्म शान्त होनेसे उनका सुदुर्लभ वचन पाकरभी जो मनुष्य मिथ्याकर्मके उदयसे धर्ममें तत्पर नहीं होते हैं । हा ! वे मोहसे मारे गये हैं ॥ ११-१२ ॥

पूर्वार्जित धर्मसे जिन्हें उत्तम सुख प्राप्त हुआ है ऐसे मानव, धर्माचार्यसे धर्मस्वरूप सौ बार कहा जानेपर भी उसे नहीं जानते हैं वे क्या विजाति नहीं हैं ? वि-पक्षीके जाति-जाति-वाले नहीं हैं ? अर्थात् ऐसे मनुष्य पक्षियोंके समान हैं ॥ १३ ॥

(धर्मसेही सुख-प्राप्ति) विषयासक्त दीन लोग विषय-प्राप्तिके लिये जैसे हमेशा दुःख सहते हैं, धर्मके लिये यदि वे वैसा दुःख एक क्षणतकभी सहेंगे तो क्या वे सुखी नहीं होंगे? धर्म, स्वर्ग और मोक्षसुखका प्रधान कारण है । सज्जनोंको धर्मही मान्य होता है अतः विद्वान् लोग उसे मानते है उसका स्वीकार करते हैं ॥ १४-१५ ॥

---

१ आ सम्यग्दर्शनसंज्ञान. २ आ प्राप्य.

तं परीक्ष्यात्र गृह्णन्ति प्रेक्षावन्तः प्रयत्नतः । वञ्चनाभयतो रत्नं यथा रत्नपरीक्षकः ॥ १६
अधर्मोऽपि मतो धर्मो मत्यज्ञानादिदोषतः । अत [1]एव परीक्ष्येमं न गृह्णन्ति महाधियः ॥ १७
हेयोपादेयबुद्धीनां सतामानन्दवर्तिनाम् । न पारम्पर्यतो धर्मः प्रमाणं जातु जायते ॥ १८
कुलायातमपि त्याज्यमवद्यमतिनिन्दितम् । [2]मूर्खापवादमात्रोक्तदोषोऽनन्तगुणा गुणाः ॥ १९
धर्मे धर्मफले रागो द्वेष (रागं द्वेषं) स्तदितरे महान् । यःकरोति नरःप्राज्ञःसफलं तस्य [3]जीवनम् ॥२०
सर्वसौख्याकरं सम्यगैश्वर्यमविनिन्दितम् । लब्ध्वा सन्तस्त्यजन्त्येव कुलदौःस्थित्यमञ्जसा ॥ २१
कुलजोऽकुलजो वापि धर्मो ग्राह्यः सतां मतः । न च पक्षवशादेष लभ्यते केनचित्क्वचित् ॥ २२
कुलायातं महाकुष्ठं सर्वाङ्गानां विनाशकम् । नीरोगत्वं समासाद्य त्यज्यते किं न धीमता ॥ २३
कुलधर्मरता दीना विचारातिगता भुवि । के के न दुर्गतिं प्राप्ता यशोधरनृपादयः ॥ २४
गुरूणां गुरुबुद्धीनां निःस्पृहाणामनेनसाम् । विचारचतुरैर्वाक्यैः सोऽपि संगृह्यते बुधैः ॥ २५

(परीक्षापूर्वक धर्म–ग्रहण) जैसे रत्नपरीक्षक वञ्चनाकी भीतिसे परीक्षा करके रत्न-ग्रहण करते हैं वैसेही बुद्धिमान् लोक धर्मकी परीक्षा कर प्रयत्नसे उसे ग्रहण करते हैं । कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ज्ञानके द्वारा लोग अधर्मको भी धर्म समझते हैं । इसलिये महाबुद्धिमान् लोग अधर्मकी परीक्षा कर उसे छोड देते हैं । ग्राह्याग्राह्यका निर्णय करनेवाले लोग कुलपरंपरासे चले आये धर्मको आँख मीचकर कभीभी ग्रहण नहीं करते हैं । उसे प्रमाण नहीं मानते हैं । कुलपरंपरासे जो अतिशय निन्द्य द्यूतादिक पाप चले आये हैं उनको छोडनाही चाहिये । और मूर्खके अपवाद वचनकाही जिसमें दोष है ऐसा अनन्त गुणवाला धर्म नहीं छोडना चाहिये ॥ १६–१९ ॥

(विवेकी जीवन सफल) जो धर्ममें तथा धर्मसे प्राप्त सुखादिक फलोंमें प्रीति रखता है तथा अधर्म और उसके फलको त्याज्य समझता है वह पुरुष प्राज्ञ–विवेकी समझना चाहिये उसका जीवनही सफल है ॥ २० ॥

(अप्रमाण कुलधर्मकी हेयता) सर्व प्रकारके सुख देनेवाला वैभव प्राप्त होनेपर सज्जन कुलपरंपरासे चले आये दारिद्र्यको शीघ्रही छोडते हैं । सज्जन जो धर्म मानते हैं वह कुलपरंपरासे प्राप्त हो या न हो उसे ग्रहण करना चाहिये । ऐसा प्रशंसनीय धर्म किसी दुष्पक्षवश होनेसे कही नहीं मिलेगा । आरोग्य प्राप्त होनेपर आनुवंशिक तथा हाथ पांव आदिक अवयवोंको गलानेवाले महाकुष्ठरोगको क्या विद्वान् नहीं छोडेंगे ? तात्पर्य-कुलपरंपरासे आया हुआ अधर्म भी कुष्ठरोगके समान छोडनाही चाहिये । कुलधर्मका पालन करनेवाले, दीन, विचारहीन ऐसे यशोधर राजा आदि कितनेही लोग दुर्गतिको प्राप्त हुए ॥ २१–२४ ॥

(गुरु कैसे हो ?) जो निःस्पृह और पापरहित हैं, और जो हेयादेय समझनेवाली विशाल बुद्धिके धारक हैं, ऐसे गुरुओं के विचारचतुर उपदेशोंसे बुधजन धर्मको-आत्महितकर धर्मको ग्रहण करते हैं । सत्यपदार्थ स्वरूप जाननेवाले गुरुओंका दुर्लभ उपदेश सुननेवाले संसारी

१ आ. एवा. २. आ. मात्रोऽत्र दोषः. ३ आ. जीवितम्.

वैभवं सकलं लोके सुलभं भववर्तिनाम् । तत्त्वार्थदर्शिनां दृष्ट्वा[1] गुरूणां दुर्लभं वचः ॥ २६
अज्ञानान्धतमस्तोमविद्ध्वस्ताशेषदर्शनाः । भव्याः पश्यन्ति सूक्ष्मार्थान्गुरुभानुवचोंऽशुभिः ॥ २७
मिथ्यादर्शनविज्ञानसन्निपातनिपीडनात् । गुरुवाक्यप्रयोगेण सर्वे मुञ्चन्ति मानवाः ॥ २८
संसारार्णवमग्नानां कर्मयादोऽभिभाविनाम् । भविनां भव्यचित्तानां तरण्डं गुरवो मताः ॥ २९
भववार्द्धिं तितीर्षन्ति सद्गुरुभ्यो विनापि ये । जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ॥ ३०
अन्तर्मुहूर्तकालेऽपि विविधासु च योनिषु । भ्रमन्ति भविनो नित्यं गुरुवाक्यविमोचिनः ॥ ३१
सर्वशास्त्रविदो धीराः सर्वसत्त्वहितंकराः । रागद्वेषविनिर्मुक्ता गुरवो गरिमान्विताः ॥ ३२
सद्दृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकैः । कथितः परमो धर्मः कर्मकक्षक्षयानलः ॥ ३३
श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिङ्गिनाम् । मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं दृष्टिं दृष्टिविदो विदुः ॥ ३४
अष्टादशमहादोषविमुक्तं मुक्तिवल्लभम् । ज्ञानात्मपरमज्योतिर्देवं वन्दे जिनेश्वरम् ॥ ३५

जीवोंको इस जगतमें संपूर्ण वैभव सुलभतासे प्राप्त होता है। अज्ञानरूप अंधःकारसमूहसे वस्तुओंको अवलोकन करनेकी जिनकी शक्ति नष्ट हुई है ऐसे भव्य जीव गुरुरूपी सूर्यके वचनकिरणोंसे सूक्ष्म पदार्थोंको देखते हैं। गुरूपदेशके प्रयोगसे सर्व मनुष्य मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूपी सन्निपातज्वरकी पीडासे मुक्त हो जाते हैं। संसारसमुद्रमें डूबे हुए, तथा कर्मरूपी मगर मत्स्यादिकोंसे पीडित हुए भव्यजीव जो कि भव्यचित्त–रत्नत्रयप्राप्ति योग्य मनके धारक हैं उन्हें गुरु नौकाके समान संसार–तारक होते हैं ॥ २५–२९ ॥

सद्गुरुके विनाभी जो संसारसमुद्रसे तैर जानेकी इच्छा करते हैं वे मूढ जीव आयुकर्मसे रहित होकर भी जीनेकी इच्छा करते हैं। जिन्होंने गुरूपदेशका उल्लंघन किया है वे लोग अन्तर्मुहूर्त कालमेंभी सतत अनेक योनियोंमें क्षुद्रभव धारण कर भ्रमण करते हैं। (वे क्षुद्रभव छ्यासठहजार तीनसौ छत्तीस होते हैं) ॥ ३०–३१ ॥

वे सद्गुरु सर्वशास्त्रोंके ज्ञाता, धीर, सर्व प्राणियोंको हितका उपाय कहनेवाले, रागद्वेषरहित, तथा सत्य, अहिंसा, शील आदि गुणोंके गौरवको धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

(परमधर्म) रत्नत्रयधारी सद्गुरूओंने सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रात्मक उत्तम धर्म कहा है जो कि कर्मवनको दग्ध करनेके लिये अग्नि के समान है ॥ ३३ ॥

(सम्यग्दर्शनका स्वरूप) सम्यग्दर्शनके ज्ञाता शुद्धस्वभावको धारण करनेवाले जिनदेव, उन्होंने कहा हुआ आगम-शास्त्र और शुद्ध आचारणवाले गुरु इन विषयमें लोकमूढतादि-दोषोंसे रहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ३४ ॥

(देवका स्वरूप) जो क्षुधा, प्यास, वृद्धावस्था, रोग आदि अठारह दोषोंसे सर्वथा-रहित, जो कर्मोंका नाश कर मुक्तिपति हुए हैं, जो सर्वोत्कृष्ट, अप्रतिहत केवलज्ञानरूप प्रकाशके धारक हैं ऐसे जिनेश्वर परमार्थ (सच्चे) देव हैं, उनको मैं वंदन करता हूं ॥ ३५ ॥

---

१ आ. दिष्ट्वा.

श्रीजिनेन्द्रवचोऽनेकरचनारुचिरं महत् । आगमो[1] गमको गम्यः सतामानन्ददायकः ॥ ३६
बाह्याभ्यन्तरभेदेन निर्ग्रन्थं ग्रन्थसंयुतम् । कर्मणा[2] लघुमप्युच्चैर्गुरुं हि गुरवो विदुः ॥ ३७
षोढानायतनं मूढत्रयं शङ्कादिकाष्टकम् । मदाष्टकमसी दुष्टा दोषाः सद्दर्शनोज्झिताः ॥ ३८
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयं तथा । तद्वन्तः पुरुषाः प्राज्ञैरनायतनमीरितम् ॥ ३९
कामक्रोधमहालोभमानमायाविनोदनान्[3] । देवान्दैत्यादिदुर्वृत्तान्मन्यते[4] मूढदृष्टिकः ॥ ४०
वीतरागं सरागं च निर्ग्रन्थं ग्रन्थसंयुतम् । सगुणं निर्गुणं चापि समं पश्यन्ति दुर्धियः ॥ ४१
मूढात्मानो न जानन्ति को वन्द्यो वन्दकश्च कः । गूथयूथाशनां नो चेद्वन्दन्ते गां कथं नराः ॥ ४२

(आगमलक्षण) जिसको गणधरादि यति जानते हैं, जो सज्जनोंको आनन्द देता है, जो अनेक रचनाओंसे सुन्दर और महान् है ऐसे जिनेन्द्रवचनको आगम कहते है । वह भव्योंको जीवादि–वस्तुओंका स्वरूप दिखलाता है ॥ ३६ ॥

(गुरुका लक्षण) धनधान्यादिक दश प्रकारके बाह्य परिग्रह तथा क्रोधादिक अन्तरंग चौदह परिग्रहोंके त्यागी, अर्थात् निर्ग्रन्थ, तथा जो ग्रन्थसे–शास्त्रसे युक्त हैं अर्थात् स्वपरमतके ज्ञाता है, जो कर्मभार नष्ट होनेसे लघु हुए हैं अर्थात् मोहकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होनेसे सम्यग्ज्ञानादि गुणोंसे जो भारी हुए हैं–उच्च हुए हैं, उनको गणधरदेव गुरु कहते हैं ॥ ३७ ॥

(सम्यग्दर्शनके दोष) छह अनायतन, तीन मूढतायें, शंकादिक आठ दोष, और आठ गर्व ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं । क्योंकि ये सम्यग्दर्शनको मलिन करते हैं ॥ ३८ ॥

(अनायतनस्वरूप) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इनके धारक अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुरुष, मिथ्याज्ञानी पुरुष, तथा मिथ्याचारित्रवाला तपस्वी, इन छहोंको विद्वानोंने अनायतन कहा है । ये छह वस्तुयें सम्यग्दर्शनके आयतन–आश्रयस्थान नहीं हैं, क्योंकि इनके संसर्गसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है ॥ ३९ ॥

(कुदेवस्वरूप) जिसकी दृष्टि-श्रद्धा मूढ हो गई है ऐसा विवेकहीन पुरुष जिनमें काम, क्रोध, महालोभ, गर्व, कपट और विनोद, हास्य, रति आदिक दोष हैं ऐसे दुराचारी दैत्यादिकोंको देव समझता है । ऐसी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन मलिन होता है ॥ ४० ॥

विवेकहीन पुरुष वीतराग जिनदेवको तथा सराग हरिहरादिकोंको, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित जैनगुरुको और परिग्रहधारी मिथ्यात्वी गुरुको, गुणसहित तथा गुणरहित पुरुषोंको समान देखते हैं ॥ ४१ ॥

मूर्खपुरुष वन्दने योग्य कौन हैं और अवन्द्य कौन हैं इनका भेद नहीं जानते । यदि उनको भेदज्ञान होता तो विष्टा भक्षण करनेवाली गौको वे कैसा वन्दन करते ? ये मूढ लोग पृथ्वी, अग्नि,

१ आ. आगमो गम्यगमकः　२ आ. कर्मणो　३ आ. घनान् ।　४ आ. देव्यादिदुर्वित्तान्.

पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकम् । देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता ॥ ४३
पाखण्डिनः प्रपञ्चाढ्यान्मिथ्याचारविहारिणः । रण्डाश्चण्डाश्च मन्यन्ते गुरूंश्च गुरुमोहिनः ॥४४
हिंसाद्यारम्भकत्वेन सर्वसत्त्वदयाभयावहान् । समयान्मन्यते मूढः सत्यं स समयेष्विह ॥ ४५
यं यं दुष्टमदुष्टं वा पुरः पश्यति मानवम् । तं तं नमति मूढात्मा मद्यपायीव निस्त्रपः ॥ ४६
एकेनैव हि मौढ्येन जीवोऽनन्तभवी भवेत् । अपरस्य द्वयस्येह फलं किमिति संशयः ॥ ४७
ज्ञानं कुलं बलं पूजां जातिमैश्वर्यमेव च । तपो वपुः समाश्रित्याहङ्कारो मद इष्यते ॥ ४८ ॥
शङ्काकाङ्क्षान्यदृष्टीनां प्रशंसा संस्तवस्तथा । विचिकित्सेति ये दोषास्तेऽपि वर्ज्याः सुदृष्टिभिः ॥४९

पानी, देहली, पीपल आदिकोंको देव समझते हैं । इनका विचार विद्वान् करें अर्थात कुदेव तथा सुदेवादिकोंका स्वरूपभेद जानकर अपना सम्यग्दर्शन निर्मल रखें ॥ ४२–४३ ॥

(गुरुमूढता) गुरुके स्वरूपको न जाननेवाले पुरुष मिथ्याचारित्रधारियोंको गुरु समझते हैं । जटाजूट रखना, पंचाग्नितप करना, नदीमें स्नान करना इत्यादिक मिथ्याचार हैं । मिथ्यात्वी गुरु हिंसा तथा आरंभोंमें तत्पर रहते हैं । विधवा स्त्रीको रण्डा कहते हैं तथा जिनके परिणाम क्रूर, हिंसामय होते हैं, जो यज्ञमें पशुवधका उपदेश देते है, उनको चण्ड कहते हैं, ऐसे लोगोंको गुरु समझना गुरुमूढता है ॥ ४४ ॥

(समयमूढता) जिनमें हिंसादिक आरंभोंका वर्णन होनेसे जो सम्पूर्ण प्राणियोंको भय उत्पन्न करते हैं, ऐसे शास्त्रोंको जो मानते हैं और उनकी श्रद्धाको आदरणीय समझते हैं, वह उनकी समयमूढता है । मद्यपायी के समान निर्लज्ज और मूढ मनुष्य अपने आगे आये हुए जिस किसी मनुष्यको देखता है, वह दुष्ट हो चाहे अदुष्ट, उसको वंदन करता है ॥ ४५–४६ ॥

एक मूढताहीसे यह जीव अनन्त संसारमें घूमनेवाला होता है फिर अन्य दो मूढताओंका फल क्या मिलेगा ऐसा मनमें संशय उत्पन्न होता है ॥ ४७ ॥

(आठ प्रकारके मद) ज्ञान, पितृवंश, शक्ति, मातृवंश, धनधान्यादिक संपत्ति, लोगोंसे प्राप्त होनेवाली मान्यता, तप और शरीर–सौंदर्य, इनके आश्रयसे जो अहंकार उत्पन्न होता है उसे गर्व कहते है (ऐसे गर्वसे धार्मिक लोगोंका अनादर करनेसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है) ॥ ४८ ॥

(शङ्कादिक दोष) शंका, कांक्षा, अन्यमिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा, संस्तव, तथा विचिकित्सा ये दोषभी सम्यग्दृष्टियोंसे त्याज्य हैं । देव, गुरु और शास्त्रोंका जो सत्यस्वरूप है वह वही है या अन्यथा है ऐसा मनमें जो संशय उसे शंका कहते हैं । कांक्षा-जो कर्मपरवश है, नाशशील है, जिसके बीचमें दुःखकी उत्पत्ति है ऐसे पापकारण सुखमें अभिलाषा होना कांक्षा है । विचिकित्सा–स्वभावतः अपवित्र परंतु रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे धार्मिकोंके शरीरकी ग्लानि करना उनके गुणोंमें प्रेम न करना विचिकित्सा है । अन्यदृष्टिप्रशंसा–मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्रको मनमें अच्छा समझना । अन्यदृष्टिसंस्तव–मिथ्यादृष्टियोंके विद्यमान अविद्यमान गुणोंकी वचनसे

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं श्रद्धानं तत्त्वगोचरम् । दर्शनं दर्शनीयाश्च कथयन्ति यतीश्वराः ॥ ५०
निसर्गाधिगमाभ्यां च तद्द्वेधा कथितं जिनैः । उपशमादिभेदेन पुनस्त्रेधोपलभ्यते[1] ॥ ५१
प्रागुपात्तेन भावेन स्वात्मन्यात्मात्मना पुनः । स्वभावं[2] लभते शुद्धं दर्शनं तन्निसर्गजम् ॥ ५२
यत्प्रमाणनयैरन्तःप्रस्फुरज्ज्योतिरुज्ज्वलम् । सम्यक्त्वं लभते जीवोऽधिगमात्तन्निगद्यते ॥ ५३

.....

स्तुति करना । इन दोषोंसे रहित ऐसी जो तत्त्वविषयक श्रद्धा उसे दर्शनीय अर्थात् गुणसुंदर और शरीरसुंदर ऐसे मुनिनाथ गणधर सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ४९–५० ॥

(सम्यग्दर्शनके दो और तीन भेद) जिनदेवोंने सम्यग्दर्शन निसर्ग–सम्यग्दर्शन और अधिगमसम्यग्दर्शन ऐसा दो प्रकारका कहा है। पुनः वह उपशमादिभेदसे तीन प्रकारका उपलब्ध होता है । अर्थात् उसके औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेदभी होते हैं । ॥ ५१ ॥

(निसर्ग सम्यग्दर्शन) यह आत्मा अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा जो पूर्वभवमें ग्रहण किये हुए भावसे अपना शुद्ध दर्शन स्वभाव प्राप्त करता है उसे निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ५२ ॥

(विशेषार्थ) दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, तथा सम्यक्मिथ्यात्व ये तीन प्रकृतियां और चारित्रमोहकी अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ मिलकर सात प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर परोपदेशके विना आत्माकाही आत्मामें आत्माके द्वारा जो श्रद्धान होता है उसे निसर्गसम्यक्त्व कहते हैं।

इस निसर्गसम्यक्त्वमें गुरुका उपदेश कारण पडता है परंतु उपदेश देनेमें गुरुको प्रयत्न नहीं करना पडता है । क्योंकि जिसमें सम्यक्त्व उत्पन्न होनेवाला है उसे पूर्वभव सुनना, वेदनाका अनुभव, धर्मश्रवण, जिनप्रतिमाका अवलोकन, महामहोत्सव देखना, महर्द्धि प्राप्त आचार्योंकी वन्दना इत्यादि कारणोंसे मनःखेदके बिना जीवादिक–पदार्थोंमें यथार्थ श्रद्धा प्राप्त होती है । परंतु अन्तरंग कारण दर्शनमोहादि सप्तप्रकृतियोंके उपशमादिक यदि नहीं हो तो उपर्युक्त बाह्य कारण मिलनेपरभी वह प्राप्त नहीं होगा ॥ (य. ति. चं. ६ आश्वास)

(अधिगमजसम्यग्दर्शन) गुरुसे प्रमाण–नयद्वारा जीवादि पदार्थोंका कहा गया स्वरूप सुनकर जो जीव उसका मनन-चिन्तन करता है, तब उसके मनमें वृद्धिगत होनेवाली उज्ज्वल ज्योति अर्थात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । गुरूपदेशपूर्वक होनेसे उसे अधिगमसम्यक्त्व कहते हैं ॥ ५३ ॥

---

१ आ. त्रेधोपलाल्यते.　२ आ.सुभावं.

शुद्धाशुद्धविमिश्राणां तथानन्तानुबन्धिनाम् । चतुर्णां हि कषायाणां प्रशमात्प्रथमं भवेत् ॥ ५४
दृग्घातिनां क्षयाज्ज्ञेयं क्षायिकं क्षीणकल्मषैः । क्षायोपशमिकं तावदुभयेनोभयात्मकम् ॥ ५५
सप्तानां प्रकृतीनां च क्षयात्क्षायिकमुत्तमम् । साध्यं साधनभूतं तु पूर्वं द्वयमुदाहृतम् ॥ ५६

अधिगमजमें अन्तरंग कारण दर्शनमोहादिकोंका उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होनेसे बाह्य कारणरूप गुरुका बारबार उपदेश होता है। संशयादिक–दोष–रहित जीवादि पदार्थ जानना प्रमाण है। तथा वस्तुके नित्यत्वादि धर्मोंमेंसे एकधर्मको जानना नय है। नय जिस धर्मको जानता है उसे मुख्यता और अन्यधर्मोंको गौणता प्राप्त होती है। प्रमाण पूर्ण वस्तुको जानता है अतः उसमें गुणमुख्यताका प्रश्नही नही ॥ ५३ ॥

(वचनभेद, नयवाद और परसमय) जितने वचनभेद हैं उतने नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं उतने परसमय हैं। ब्रह्मवाद, भेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद आदिक परसमय हैं। ये परसमय वस्तुओंको सर्वथा नित्य, अनित्य,एक अनेकरूप मानते हैं इस लिये मिथ्या हैं। परंतु जब सर्वथा पक्ष छोडकर कथञ्चित्पक्षसे वस्तुको कथञ्चित् नित्यानित्यादि रूप मानेंगे तब उनमें सत्यता-प्रामाणिकता आती है। उनका मिथ्यापना नष्ट होता है ॥ १ ॥

(उपशम सम्यग्दर्शन) सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्र-सम्यक्मिथ्यात्व इन तीन दर्शनमोहप्रकृतियोंका तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका जब उपशम होता है तब जैसे कतक–द्रव्यसे मैला पानी निर्मल होता है वैसा सम्यग्दर्शनभी निर्मल होता है। उस पहले सम्यग्दर्शनको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषार्थ– मिथ्यादर्शन अनंत संसारका कारण है इसलिये उसे 'अनंत' कहते हैं। उसके संबंधी जो कषाय हैं उन्हें अनंतानुबंधी कहते हैं। मिथ्यात्व प्रकृति सम्यग्दर्शनको नष्ट करती है। सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति जीवमें एक समयमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिश्र परिणाम उत्पन्न करती है। तथा सम्यक्त्वप्रकृति जीवमें सम्यग्दर्शनको तो प्रकट करती है परंतु चलमलिनादिदोषोंको साथ जोड देती है। परंतु इन सातों प्रकृतियोंके पूर्ण उपशमसे प्रगट हुए सम्यक्त्वमें ये दोष नहीं रहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शनको उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें जीवादितत्त्वोंका श्रद्धान निर्मल होता है ॥ ५४॥

(क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन–घाती सातो प्रकृतियोंका पूर्ण नाश होनेसे प्रकट हुआ सम्यग्दर्शन सदा निर्मल रहता है। ऐसे सम्यग्दर्शनमें शंकादिक दोष नहीं रहते हैं। प्रक्षीण–पापवाले जिनदेव उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्षय और उपशम होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उभयात्मक होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्व तथा सम्यङ्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय होनेसे तथा आगामि कालमें उदयमें आनेवाली इन प्रकृतियोंका उपशम होनेसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघातिस्पर्धकोंका उदय होनेसे जो तत्त्वार्थमें श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन या वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ५५–५६ ॥

लब्धपञ्चेन्द्रियो जीवस्तथा कालादिलब्धिकः । भव्यश्च लभते साक्षाद्दर्शनं[1] न तथा परः ॥ ५७
कल्याणपञ्चकं यस्माल्लभ्यते[2] क्षणतोऽपि सत् । सिद्धौ निदानभूतं तु दर्शनं किं न दुर्लभम् ॥ ५८

उपर्युक्त सात प्रकृतियोंका क्षय होनेसे उत्तम क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। इसका कभी भी नाश नहीं होनेसे यह साद्यनन्त है । औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन साधनभूत हैं । अर्थात् इनकी उत्पत्ति नहीं होगी तो क्षायिक सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होगा । प्रथमतः संसारीजीवोंको औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । तदनंतर क्षायोपशमिक होता है । इसके अनंतर क्षायिक होता है । क्षायिककी उत्पत्तिमें ये दोनो सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिक सम्यक्त्व साध्यरूप है ॥ ५५–५६ ॥

(सम्यग्दर्शन किस जीवको उत्पन्न होता है ?) जिसको स्पर्शनादि पांच इंद्रियोंकी प्राप्ति हुई है तथा जिसे कालादिलब्धियां प्राप्त हुई हैं, ऐसे भव्यको साक्षाद्दर्शन प्रगट होता है । पंचेन्द्रियां और कालादिलब्धियां नहीं प्राप्त होनेपर भी भव्यता रहती है । तथापि वह अकेली सम्यग्दर्शनको प्रगट नहीं कर सकती । (विशेष स्पष्टीकरण-अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्रतिबंधक प्रकृतियोंका उपशम कालादिलब्धियां प्राप्त होनेसे होता है। कर्मोंसे घिरी हुई भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन–अवशिष्ट रहनेपर प्रथमसम्यक्त्वकाल प्राप्ति–योग्य होती है। पुद्गलपरिवर्तनके कर्मद्रव्य पुद्गलपरिवर्तन तथा नोकर्मद्रव्यपुद्गलपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं। उनमेसे किसी एककोभी अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल कहते हैं। जिसका संसारमें रहनेका काल इससे अधिक होगा उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता । यह प्रथम काललब्धि है ।)

२ कर्मस्थितिकाललब्धि–जीवमें जब कर्म उत्कृष्ट स्थितिके अथवा जघन्यस्थितिके होते हैं तब उसको प्रथम सम्यक्त्व नहीं होता अर्थात् जिस जीवमें बध्यमान कर्मसमूह विशुद्ध परिणामोंसे अन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणवाला होता है तथा पूर्वबद्ध कर्म जिसमेंसे संख्यात सागरोपमसहस्र कम होकर अन्तःकोटिकोटीकी स्थितिमें आता है उसको उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता प्राप्त होती है ।

३ भावापेक्षासे उसको काललब्धि अर्थात् भव्यता, पंचेन्द्रियपना, पर्याप्तकता, प्राप्त हुई है ऐसे सर्व विशुद्ध जीवको सम्यग्दर्शन होता है । इतरोंको नहीं । सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें जातिस्मरण, गुरूपदेश, वेदनानुभवादिक अनेक कारण पडते है ॥ ५७ ॥

जिस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे क्षणमें अन्तर्मुहूर्तमें त्रिलोकवन्द्यकल्याणपंचककी प्राप्ति होती है अर्थात् तीर्थंकरपदका बंध होनेसे गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ऐसी पंचकल्याणोंकी

१ आ. पुण्याद्दर्शनं न परो नरः　२ आ. लभते.

ज्ञानचारित्रयोराद्यं तन्मूलत्वात्तयोर्द्वयोः । दर्शनं दर्शनाधारा निगदन्ति गदातिगाः ॥ ५९
तस्याणुव्रतनामापि विद्यते न कदाचन । दृग्विशुद्धिर्न यस्यास्ति किं पुनस्तन्महाव्रतम् ॥ ६०
तप्तोऽपि तीव्रतपसा ग्लप्तदेहः प्रतिक्षणम् । दर्शनेन विशुद्धात्मा नरो वेद्यस्य वेदकः ॥ ६१
पदार्थानखिलांल्लोके यथार्थान्नैव पश्यति । कुदृष्टिरत एवादौ दृग्विशुद्धिर्विधीयते ॥ ६२
न दर्शनसमं किञ्चिद्विद्यतेऽपि जगत्त्रये । यस्य स्पर्शनमात्रेण संसृतिं हन्ति मानवः ॥ ६३
दृष्टिं विना गतिं पूतां गच्छतोऽप्यतियत्नतः । चरित्रेऽप्यस्खलद्वृत्तेरधःपातो भवेद्ध्रुवम् ॥ ६४

प्राप्ति होती है तथा मोक्षप्राप्तिके लिये जो कारण है वह सम्यग्दर्शन क्या दुर्लभ नहीं है ? अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है । प्राप्त होनेपर यदि वह नहीं छूटेगा तो जीवको अवश्य मोक्षप्राप्ति कर देता है ॥ ५८ ॥

ज्ञान और चारित्रके आदिमें सम्यग्दर्शन है क्यों कि वह उन दोनोंका मूल है । अर्थात् ज्ञान और चारित्रको सम्यग्दर्शनसेही समीचीनपना प्राप्त होता है । जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसी समय ज्ञानको और चारित्रको सम्यक्पना आजाता है संसाररोगको उल्लंघन करनेवाले, सम्यग्दर्शनको आधारभूत ऐसे गणधरादिक मुनीश ऐसा कहते हैं ॥ ५९ ॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे रहित अर्थात् मूढता, मद, अनायतन, और शंकादिकोंसे मलिन हुए भव्योंको नाममात्रभी अणुव्रत नहीं फिर महाव्रत कैसे प्राप्त होगा ? अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग अथवा संपूर्ण त्याग होता है अन्यथा नहीं ॥ ६० ॥

(तपसेभी सम्यग्दर्शनकी श्रेष्ठता) तीव्र तपसे तप्त होनेसे जिसका देह क्षीण हुआ है ऐसा मुनिराज जब सम्यग्दर्शनसे निर्मल होता है तब उसे आत्माका अनुभव आता है । अर्थात् सम्यग्दर्शनसेही आत्मानुभूति होती है तपसे नहीं । अकेला तप शरीरको क्षीण करेगा परंतु वह आत्माको आत्मानंदसे वंचित रखता है अतः सम्यग्दर्शन तपसे श्रेष्ठ है ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्वके उदयसे कुदृष्टिको कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास, तथा भेदाभेदादि-विपर्यास होते हैं जिनसे वह संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता है । इस लिये दर्शनविशुद्धि प्रथम कही है । तात्पर्य—दर्शनविशुद्धिसे स्याद्वाददृष्टि उदित होती है जिससे भव्यात्मा आत्मानुभवके साथ वस्तुओंकी कथंचित् नित्यानित्यात्मकता जान सकता है ॥ ६२ ॥

इस जगत्त्रयमें सम्यक्त्वके समान कोई अमूल्य पदार्थ नहीं है, क्यों कि इसको धारण करनेसे मनुष्य संसारनाश करता है । तात्पर्य—सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर नष्ट होनेपरभी मनुष्य दीर्घ संसारवाला रहता नहीं । क्यों कि उसका संसार अर्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक रहता है, अनंतर वह मुक्त होता है । और यदि सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ तो वह पुरुष थोडे भव धारण कर मुक्त होता है ॥ ६३ ॥

सम्यग्दर्शनके विना देव गति प्राप्त होनेपरभी तथा चारित्रमें अतिप्रयत्नसे अप्रतिहत प्रवृत्ति करनेपरभी निश्चयसे मुक्त होता नहीं । तात्पर्य—सम्यक्त्वरहित जीव चारित्रके बलसे

प्राणिनः संसृतेर्दुःखमनन्तमनतिक्रमम् । न क्रामन्ति क्रियायुक्ता अपि दर्शनवर्जिताः ॥ ६५
ज्ञानं सच्चरणं वापि येनोज्झितमनिन्दितम् । अज्ञानमचरित्रं च भववृद्धिकरं भवेत् ॥ ६६
दर्शनं परमो धर्मो दर्शनं शर्म निर्मलम् । दर्शनं भव्यजीवानां निर्वृतेः कारणं परम् ॥ ६७
शासनं जिननाथस्य भवदुःखैकनाशनम् । यस्याधिवासनामेति स कृती कृतिनां वरः ॥ ६८
सद्रत्नमिदमत्युद्यं हृदये गुणसंयुतम् । यो दधाति श्रियो रामाः स्वत एव श्रयन्ति तम् ॥ ६९
धर्मे धर्मफले शास्त्रे साधौ संगविवर्जिते । निश्चलो योऽनुरागोऽयं संवेगः स निगद्यते ॥ ७०
माद्यन्मित्रकलत्राद्याः सर्वे संयोगसंभवाः । मुक्त्वा रत्नत्रयं पूतमिति निर्वेदमादिशेत् ॥ ७१

नवमग्रैवेयकतक जाता है परंतु वह भवसमुद्रमें भ्रमण करता है । सम्यग्दर्शनके साथ अप्रतिहत चारित्र पालनेवाले मुनिराज सर्वार्थसिद्धिमें जाकर दूसरे भवमें मुक्त भी होते हैं ॥ ६४ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शनरहित हैं वे कितना भी घोर चारित्र पालें, तथापि जिसका उल्लंघन–नाश करना शक्य नहीं है ऐसे अनंत सांसारिक दुःखोंका पार वे नहीं लगा सकते । तात्पर्य-सम्यग्दर्शन नावके समान है उसका आश्रय छोडकर जो केवल चारित्र ही पालता है वह मुक्त नहीं होता । जैसे नौकाका आश्रय छोडकर आजतक समुद्रके दूसरे किनारेको अपने बाहुओंके द्वारा कोई भी नहीं जा सका ॥ ६५ ॥

(सम्यक्त्वरहित ज्ञान तथा चारित्र, अज्ञान और अचारित्र है)सम्यग्दर्शनसे रहित ज्ञान और निर्मल चारित्र प्रशंसायुक्त होनेपर भी अज्ञान और अचारित्र होते हैं, तथा संसारवर्धक होते हैं ॥ ६६ ॥

इस लिये सम्यग्दर्शन परम-उत्कृष्ट धर्म है । सम्यग्दर्शनही निर्मल सुख है । तथा वह भव्य जीवोंकी मुक्तिका उत्तम कारण है ॥ ६७ ॥

संसार दुःखोंका मुख्यतया अन्त करनेवाला यह जिनेश्वरका शासन जिसके हृदयमें रहता है वह विद्वद्गणमें श्रेष्ठ है । जिसके मनमें एकवार सम्यग्दर्शनकी वासना उत्पन्न होती है वह नर सर्वजनोंमें श्रेष्ठ होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

निःशंकादिक अष्टगुणोंसे युक्त यह सम्यग्दर्शन एक उत्कृष्ट रत्न है । इसे जिसने अपने हृदयमें धारण किया है उसके पास चक्रवर्ति आदि सर्व प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ६९ ॥

(संवेगका लक्षण) रत्नत्रयरूप धर्म, अभ्युदयनिश्रेयसादि प्राप्तिरूप धर्मफल, जिनेश्वर कथित तथा गणधरादि–प्रणीत शास्त्र, परिग्रहरहित रत्नत्रयाराधक मुनिवर्ग इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है उसे संवेग कहते हैं ॥ ७० ॥

(निर्वेगका लक्षण) रत्नत्रयरहित पुरुषको उन्मत्त मित्र, पुत्र, और स्त्री आदिक सर्व सामग्री मिथ्या कर्मके संयोगसे प्राप्त होती है । सिर्फ रत्नत्रयही आत्माका स्वभाव हैं ऐसा चिन्तन निर्वेगका लक्षण हैं ॥ ७१ ॥

(निन्दाका लक्षण) जब आत्मा कषायसे व्याकुल होता हैं तब वह सज्जननिन्द्य कार्य करता हैं। परंतु जब कषायका वेग कम होता हैं तब मैंने अयोग्य कार्य किया हैं ऐसा जो मनमें अनु-

कषायाकुलितो जीवः कार्यमार्यविनिन्दितम्। कृत्वानुतायते[1] चान्ते सा निन्दा निन्द्यनाशिनी ॥ ७२
जातेऽत्र दुष्कृते घोरे रागद्वेषादिदोषतः। आलोचना मता गर्हा गुरूणामग्रतो बुधैः ॥ ७३
कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे गरीयसि। नान्तः क्षुभ्यति कस्मिंश्चिच्छान्तात्मासौ निगद्यते ॥ ७४
देवे संघे श्रुते साधौ कल्याणादिमहोत्सवैः। निर्व्याजाराधना ज्ञेया भक्तिर्भव्यार्थसाधिका ॥ ७५
चतुर्विधस्य संघस्य वैयावृत्यमगर्हितम्। अन्नौषधादिभिर्दिव्यं वात्सल्यमभिधीयते ॥ ७६
कर्मपाकभवानेकदुःखानुभवभाविषु। जीवेष्वार्द्रतमो भावोऽनुकम्पा कथिता जिनैः ॥ ७७
गुणाञ्जनप्रयोगेण सद्दृष्टिर्निर्मलीकृता। यथाभिलषितं देशं प्राणिनं प्रापयत्यसौ ॥ ७८

ताप होता है उसे निन्दा कहते हैं। यह निन्दा नामक सम्यक्त्वगुण निन्द्य-पापका नाश करनेवाला है ॥ ७२ ॥

(गर्हाका लक्षण) रागद्वेषादिदोषोंके अधीन होकर जब पाप उत्पन्न होता है तब गुरुके आगे उसकी आलोचना करना यह सम्यक्त्वका ' गर्हा ' नामक गुण है, ऐसा बुद्धिमान लोग मानते हैं। अपने दोषोंका स्वयं अनुताप करना निन्दा है तथा गुरुके आगे अपने दोषोंका पश्चात्तापपूर्वक वर्णन करना गर्हा है ॥ ७३ ॥

(प्रशमका लक्षण) कोई दुर्निवार तथा बडा कलुषताका कारण उत्पन्न होनेपर जिसका मन क्षुब्ध होता नहीं, वह भव्यजीव शान्तात्मा अर्थात् प्रशमगुणका धारक है ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ७४ ॥

(भक्तिगुण) दोषरहित जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकारका संघ, रत्नत्रयाराधक मुनि, तथा गर्भजन्मादि पांच कल्याणोंका महोत्सव इत्यादि प्रसंगोंमें सम्यग्दृष्टि अन्तःकरणपूर्वक इच्छा और कपटरहित जो आराधना करता है वह उसका भक्तिनामक गुण कहा जाता है। यह गुण भव्य अर्थकी अर्थात् पुण्यफलरूप संपत्तिकी प्राप्ति करनेवाला है। परिणामोंकी निर्मलतासे जो देवादिकोंपर अनुराग किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं ॥ ७५ ॥

(वात्सल्यगुण) अन्न, औषध आदिके द्वारा चार प्रकारके संघकी जो प्रशंसनीय सेवाशुश्रूषा मनवचनकायसे की जाती है उसको वात्सल्यगुण कहते हैं ॥ ७६ ॥

(अनुकम्पागुण) असातावेदनीय, और अंतरायादि अशुभ कर्मोंके उदयसे प्रगट हुए दारिद्र्य, रोग, चिन्ता वगैरेह दुःखोंसे पीडित हुए जीवोंपर दयार्द्र भाव उत्पन्न होना उसे जिनेश्वर अनुकम्पाभाव कहते हैं। परपीडाको देखकर मानो वह पीडा अपनेकोही हो रही है ऐसा समझ उसे दूर करना अनुकंपागुण है ॥ ७७ ॥

इन आठ गुणरूपी अंजनप्रयोगसे सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र जब निर्मल होता है तब वह जीवको अभिलाषितस्थानके प्रति ले जाता है ॥ ७८ ॥

---

१ आ. तप्यते.

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भवं भावं विविच्य यः । सद्दर्शनमहारत्नमादत्ते स विदग्रणीः[1] ॥ ७९
सम्यक्त्वेन विशुद्धात्मा भवी स[2] भवति क्षमः । ग्रहीतुं चरणं चारु तद्विना[3] न मनागपि ॥ ८०
निर्दूषणा सती दृष्टिर्ददाति विपुलं फलम् । सुविशुद्धं यथा क्षेत्रं कर्षितं हि कुटुम्बिना[4] ॥ ८१
उपस्थितं कियद्भूरि कर्मणां पाकहेतुजम् । सुदृष्टिः साधुदोषं न पश्यतीति महाद्भुतम् ॥ ८२
विद्यमानं महादोषं परकीयं महाधियः । प्रकाशयन्ति नो जातु स्वसिद्धिमुपलिप्सवः ॥ ८३
निमज्जन्ति भवाम्भोधौ यतीनां दोषतत्पराः । किं चित्रं यद्धुवेन्मृत्युः कालकूटविषाशनात् ॥ ८४
भुक्त्वा दुःखशतान्युच्चैः सर्वासु श्वभ्रभूमिषु । निगोतेऽभिपतन्त्येते[5] यतिदोषपरायणाः ॥ ८५

जो भव्यजीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप संसारसे विविक्त होकर सम्यग्दर्शन-महामणिको ग्रहण करता है वह विद्वानोंमें अग्रणी (श्रेष्ठ) होता है ॥ ७९ ॥

(सम्यग्दृष्टिको चारित्रग्रहण–योग्यता) जिसका आत्मा सम्यग्दर्शनसे निर्मल हुआ है ऐसा संसारीजीव उत्तम-निर्दोषचारित्र ग्रहण करनेके लिये पात्र होता है । यदि सम्यग्दर्शन-प्राप्ति नहीं हुई हो तो वह चारित्रग्रहण करनेकोभी असमर्थ है । जैसे किसानोंद्वारा खेत हलसे कर्षित होनेपर वह विपुल धान्य देता है वैसा निर्मल सम्यग्दर्शन जीवको विपुल सुखसंपत्ति देता है ॥ ८०–८१ ॥

(सम्यग्दृष्टि दोषदृष्टि नहीं है) अनेक विपुल कर्मके उदयरूपी कारणको पाकर साधुमें उत्पन्न हुए दोषको सम्यग्दृष्टि नहीं देखता यह महाश्चर्य है ॥ ८२ ॥

आत्मसिद्धिकी इच्छा करनेवाले महाबुद्धिमान महापुरुष दूसरेके विद्यमान महादोषोंको कभीभी प्रगट नहीं करते । तात्पर्य-उनके पास जब अपराधी पुरुष (मुनि या श्रावक) आकर अपना दोष कहते हैं तब वे गुरु–आचार्य उसको अपने हृदयमें रखते हैं, किसीसे नहीं कहते । यदि कहेंगे तो जैनधर्म की निंदा होगी और बडी अप्रभावना होगी, अतः वह उपगूहनांगके धारक उस अपराधीको योग्य प्रायश्चित्त देकर उसके व्रतोंकी शुद्धि करते है । इसतरह सम्यग्दर्शनके उपगूहन अथवा उपबृंहण अंगका पालन करते हैं ॥ ८३ ॥

(दोषग्रहण संसारवर्धक है) जो यतियोंके दोषग्रहणमें तत्पर होते हैं वे संसार–समुद्रमें डूबते हैं । योग्य ही है कि कालकूट विषको भक्षण करनेसे मृत्यु प्राप्त होती है । इसमें क्या आश्चर्य हैं ॥ ८४ ॥

जो यतियोंके दोषग्रहणमें तत्पर होते हैं, उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषोंको जगतमें फैलाते हैं वे दोषभावनासे तीव्र और बहुत पापसंग्रह करके संपूर्ण नरकभूमियोंमें उत्पन्न होकर वहां सैंकडो दुःखोंका अनुभव लेते हैं । तथा पुनः वे निगोदमें जाते हैं ॥ ८५ ॥

---

१ आ. संविदग्रणीः　२ आ. संभवति　३ आ. तदृते　४ आ. कुटुम्बिनः　५ आ. निपतन्त्येते.

विज्ञायेति महादोषान्देवतागमलिङ्गिनाम् । नापलापं प्रजल्पन्ति मनागपि विपश्चितः ॥ ८६
षट्स्वधोभूमिभागेषु भावनव्यन्तरेषु च । ज्योतिर्नपुंसकस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते ॥ ८७
मिथ्यात्वकारणेष्वेषु तिर्यगादिषु जातु[1] न । उत्पद्यते च सद्दृष्टिर्बद्धायुश्चेन्न तिष्ठति ॥ ८८
मिथ्यात्वान्धतमो घोरं हत्वा सम्यक्त्वभानुना । स्वमार्गे[2] गच्छतां प्राप्तिः स्वसिद्धिनिलये[3] सताम् ॥ ८९
निरयनगरावासायासप्रकाशपरम्परम्परा – परिचयपरां वृत्तिं हत्वा नरो निलये कृतः ।
बहुगुणगणैरन्तःस्फूर्जत्प्रबन्धपटीयसीम् । नटयति पुरः सिद्धिं शुद्धः सुदृष्टिविभूषितः ॥ ९०

.....

दोषग्रहणका फल जानकर जिनदेव, जिनागम तथा जैनमुनि इनके असत्य दोषोंका अल्पभी वर्णन विद्वान् नहीं करते ॥ ८६ ॥

(सम्यग्दृष्टि कहां उत्पन्न नहीं होते) पहला नरक छोडकर सम्यग्दृष्टि जीव शर्करा प्रभादि महातमःप्रभान्त छह नरकभूमियोंमें नहीं जन्मते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, तथा ज्योतिष्क देवोंमें सम्यग्दृष्टि जन्मग्रहण नहीं करता तथा नपुंसक और स्त्रियोंमें वह उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य–जिसको नरकायुका बंध होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता वह जीव पहले नरकमेंही उत्पन्न होता हैं। देवायुका बन्ध होनेपर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ हैं वह जीव सौधर्मादि स्वर्गोंमें महर्द्धिक देव होता है ॥ ८७ ॥

जिनको मिथ्यात्व कारण है ऐसे एकेन्द्रिय विकलत्रयमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। तिर्यगायुका बंध होनेपर सम्यग्दर्शन जिसको प्राप्त हुआ हैं ऐसा मनुष्य भोगभूमीका पुल्लिगी तिर्यंच होकर जन्म लेता है। तथा मनुष्यायुका बंध होनेपर जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ ऐसा कर्मभूमिज मनुष्य अथवा पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच भोगभूमीमें पुरुष होकर उत्पन्न होता है। स्त्रीपर्यायमें उसकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ८८ ॥

सम्यक्त्वरूपी सूर्यके द्वारा मिथ्यात्वरूप गाढ अंधकारका नाश कर मोक्षमार्गमें जानेवाले महापुरुषोंको आत्मसिद्धिका घर ऐसा जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥

(शुद्ध सम्यग्दृष्टिके आगे मोक्षलक्ष्मी नाचती है) निर्मल परिणामवाला तथा सम्यग्दर्शन भूषित पुरुष नरक-नगरमें निवास करनेसे उत्पन्न हुई खेदकी प्रकाश-परम्पराके परिचयकी प्रवृत्तिको नष्ट कर तथा स्वर्गमें रहकर अनेकगुणसमूहोंसे अन्तःकरणमें वृद्धिगत हुआ जो परिचय उससे अतिशय चतुर ऐसी सिद्धि-लक्ष्मीको अपने आगे नचाता है ॥ ९० ॥

.....

१ आ. वा पुनः २ आ. सुमार्गे ३ आ. निलयीकृतः

आद्यामाराधनां तां विशदतरगुणग्रामयुक्तां सुगुप्तो । दृष्टि सद्दृष्टिहृष्टः कलयति
कलिताशेषतत्त्वैकसत्त्वः ।
योऽसौ भुक्तोत्तमाङ्गस्फुरदमलरमारम्यलीलामलोलः । कल्याणानां क्षणेनावहति
सुरपतेरर्चनामर्चनीयः ॥ ९१

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे[1] आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते
सम्यग्दर्शननिरूपणे प्रथमः परिच्छेदः ॥ १

जो मिथ्यात्वसे दूर रहा है, जो सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे आनंदित हुआ हैं, जिसने संपूर्ण जीवादि तत्त्वोंका मुख्य अस्तित्वगुण जाना हैं तथा उत्तम शरीरसे सुंदर और निर्मल ऐसी लक्ष्मीकी लीलाका भोग लिया हैं, जो निरिच्छ है ऐसा पुरुष अतिशय निर्मल संवेगादिकी गुणसमूहसे युक्त सम्यग्दर्शनाराधनाको धारण करता हैं । जिससे वह पूज्य महात्मा इन्द्रके द्वारा की जानेवाली पंचकल्याण पूजाको उत्सवके साथ धारण करता हैं ॥ ९१ ॥

आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचितसिद्धान्तसारसंग्रहमें सम्यग्दर्शनका
निरूपण करनेवाला पहिला परिच्छेद समाप्त हुआ ।

१ आ. नरेन्द्रसेनविरचिते सिद्धान्तसारसंग्रहे प्रथमः परिच्छेदः ।

(द्वितीयोऽध्यायः)

सम्यग्ज्ञानं परंज्योतिः स्वपरार्थावभासकम् । आत्मस्वभावमाभाव्यं भावयन्ति भवातिगाः ॥१
बोधो बुद्धिस्तथा ज्ञानं प्रमाणं प्रमितिः प्रमा । प्रकाशश्चेति नामानि मन्यन्ते मुनयोऽन्वयात् ॥२
ज्ञानं प्रमाणमित्येतन्मन्यन्ते न मनागपि । नैयायिकादयो दर्पात्सन्निकर्षादिवादिनः ॥ ३
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्निकर्षादिवादिनाम् । अप्रमेया भवन्त्येव तत्सम्बन्धाद्यभावतः ॥ ४

(दूसरा अध्याय)

(सम्यग्ज्ञानका लक्षण)—सम्यग्ज्ञान यह आत्माका स्वभाव है । यह उत्कृष्ट प्रकाश-स्वरूप है, अर्थात् इससे अपना स्वरूप जानता है तथा परपदार्थका स्वरूप जानता है । जिन्होंने संसारका नाश किया है ऐसे सिद्धपरमेष्ठी अनुभवन-योग्य इस ज्ञानकी भावना करते हैं अर्थात् वे सतत केवलज्ञानमय हैं । उनका ज्ञान प्रतिसमय अनन्तानन्त पदार्थोंको तथा उनके त्रिकालवर्ती अनंतानन्त पर्यायोंका साथ जानता है । सम्यग्ज्ञानको बोध, बुद्धि, ज्ञान, प्रमाण, प्रमिति, प्रमा, प्रकाश ऐसे नाम मुनि मानते हैं । क्योंकि सबमें अर्थकी अन्वयता (सार्थकता) है अर्थात् ये सब नाम ज्ञानके एकार्थवाचक है । ज्ञानकेही ये नाम हैं । दीपक जैसा अपनेको और घटादि पदार्थोंको प्रकाशित करता है वैसा ज्ञानभी स्व और परस्वरूप जानता है ॥ १–२ ॥

नैयायिकादिक दर्पसे सन्निकर्षादिकोंको प्रमाण मानते हैं । उन्होंने 'ज्ञान प्रमाण है' ऐसा अल्पतयाभी नहीं माना है । तात्पर्य—नैयायिक और यौग सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं । सांख्य इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानते हैं । मीमांसक ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानते हैं । बौद्ध निर्विकल्पज्ञानको प्रमाण मानते हैं । इस प्रकार सन्निकर्षादिकोंको प्रमाण माननेवाले नैयायिकादिकोंने ज्ञानको प्रमाण नहीं माना है । परंतु सन्निकर्षादिक बिना ज्ञानकेभी होते हैं और वे अचेतन हैं । अचेतन पदार्थोंमें जाननेका सामर्थ्य नहीं है । अन्यथा घटपटादिक पदार्थभी जमीन आदिके साथ सम्बध होनेसे-सन्निकर्ष होनेसे जानेंगे । परंतु उनमें वह जाननेका धर्म सन्निकर्षसेभी उत्पन्न हुआ नहीं दीखता । तथा सन्निकर्ष जगतके सभी पदार्थोंके साथ नहीं होता है, क्योंकि सूक्ष्मादि पदार्थोंका इन्द्रियोंसे संबंध नहीं होता है ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ३ ॥

सन्निकर्षादिवदियोंने सूक्ष्मपदार्थ, अन्तरितपदार्थ, दूरपदार्थको अप्रमेय माना हैं क्योंकि उनके साथ इंद्रिय सम्बन्धादिकोंका अभाव है ॥ ४ ॥

विशेष स्पष्टीकरण—आत्मा, इंन्द्रिय, मन और घटादिक पदार्थ इनका संबंध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसे संबंधको संनिकर्ष कहते हैं । जैसे घटमें रूपका ज्ञान होता है, यहां आत्माका मनसे संबंध होता है, मनका नेत्रेन्द्रियके साथ संबंध होता है और नेत्रका घटरूपके साथ संबंध होता है तब यह घट काला है, यह घट पीला है इत्यादि ज्ञान होता है । अतः ज्ञान सन्निकर्षसे

तदभावे ह्यनिष्टोऽपि सर्वज्ञाभाव इष्यते । तेषामतो वचश्चारु तदीयं न कदाचन ॥ ५
तदेतत्कथमित्येवं शंकनीयं न धीधनैः । न ह्यतीन्द्रियविज्ञानं सर्वज्ञं साधयन्ति ते ॥ ६

होता है । उपर्युक्त घटका रूपज्ञान चक्षुःसन्निकर्षसे हुआ । सुखादिकमें त्रिसन्निकर्षज ज्ञान है । आत्माका मनसे संबंध होता है और मनका सुखसे संबंध होकर सुख जाना जाता है । योगिओंको आत्मा और मनका संबंध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा सन्निकर्षवादी कहते हैं ।

आचार्य इसका खंडन इस प्रकार करते हैं–सन्निकर्ष होनेसेही यदि ज्ञान होता, तो घटके समान आकाशादिकके साथभी चक्षुका संबंध है तथापि वह सन्निकर्ष आकाशविषयक ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है । सन्निकर्ष संशयादिकोंमेंभी होनेसे ऐसे सन्निकर्षकोभी प्रमाण मानना पडेगा । कज्जलसे नेत्रका संनिकर्ष होनेपरभी कज्जल–विषयक ज्ञान वह उत्पन्न नहीं करता है । आम्रफलके रूपके साथ चक्षुका जैसा सम्बंध है, वैसा उसके रसके साथभी है, तोभी रसका ज्ञान नहीं होता है । अतः सन्निकर्ष ज्ञानका असाधारण कारण नहीं है, इसलिये वह प्रमाण नहीं है । सन्निकर्षसे ज्ञान होता, तो उसमें क्रमवर्तिपना मानना पडेगा परन्तु एकही समयमें चंद्रका और शाखाका ज्ञान होता है । तथा सन्निकर्ष होनेसे यदि ज्ञान हो जाता तो सूक्ष्म परमाणुकाभी ज्ञान होना चाहिये क्योंकि आपने उनके साथ चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष माना है । सन्निकर्षसे यदि ज्ञान होता है तो व्यवहित पदार्थोंका ज्ञान नहीं होना चाहिये परंतु भूमिके अन्तर्गत पदार्थोंको उनके साथ सन्निकर्ष न होनेपरभी अञ्जनसहित नेत्र देखता है । तथा सूक्ष्म-परमाणु, देशान्तरित-मुठ्ठीमें रखा हुआ पदार्थ, दूरार्थ-मेरु आदिक, कालान्तरित–रामरावणादिक सन्निकर्ष वादियोंको अप्रमेय होंगे अर्थात् उनके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धादिकोंका अभाव है ॥ ४ ॥

नैयायिक, यौग, सांख्योंने संपूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ माना है परंतु सन्निकर्षको प्रमाण माननेसे संपूर्ण पदार्थोंके साथ आत्मा, इन्द्रिय और मनका सम्बंध होना शक्य नहीं है, अतः सर्वज्ञाभाव होगा, जो कि उनको अनिष्ट है। सन्निकर्ष वर्तमानकालीन पदार्थोंकाही हो सकता है, वहभी जगतके संपूर्ण पदार्थोंके साथ होना नितरां असंभव है । ऐसी अवस्थामें वर्तमान कालीन पदार्थभी–संपूर्णतया नहीं जाने जाते हैं । भविष्यत्कालीन पदार्थ–उत्पन्न होनेवाले होनेसे वर्तमान कालीन इंद्रियोंका उनके संबंध होना असंभव है, भूतकालीन पदार्थ नष्ट होनेसे इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध हो नही सकते हैं, अतः भूतभविष्यके संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे नैयायिकादिकोंके मतमें सर्वज्ञत्वका अभाव होगा । इसलिये सन्निकर्षवादी नैयायिकादिकोंका सन्निकर्षवाद सुंदर–प्रामाणिक नहीं हैं ॥ ५ ॥

नैयायिकादिकोंने सर्वज्ञ माना है अतः आप सर्वज्ञाभावका दोष उनको क्यों देते हैं ऐसीभी बुद्धिमानोंको शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानवाले सर्वज्ञको वे सन्निकर्षवादी सिद्ध

न हीन्द्रियादिविज्ञानं सूक्ष्माद्यर्थावभासकम् । तेषामनवभासेषु क्व सर्वज्ञः कुतः प्रमा ॥ ७
ततश्च ज्ञानमेवैतत्प्रमाणमभिधीयते । तत्र विप्रतिपन्ना ये न ते तत्त्वार्थदर्शिनः ॥ ८
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमुत्तमम्[1] । मनःपर्ययविज्ञानं कैवल्यमिति पंचधा ॥ ९
भावान्तरगता भावि[2] सम्यग्ज्ञानगता ह्यमी । सामान्येनावगन्तव्या विशेषेण पुनः परैः[3] ॥ १०

नहीं कर सकते हैं । इन्द्रियादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सूक्ष्म, अन्तरित और दूरके पदार्थोंको नहीं जानता है, और वे नहीं जाने गये तो सर्वज्ञ और उसका ज्ञान कैसे होगा ? ॥ ६–७ ॥

भावार्थ–अतः सन्निकर्षमें प्रमाणता नहीं है ज्ञानही प्रमाण है । इन्द्रियोंमें और मनमें जो जाननेका सामर्थ्य आया है वह आत्माके ज्ञानगुणसे आया है । उसके साहाय्यसे आत्मा जानता है । सामर्थ्य होनेसेही पदार्थका स्वरूप आत्मासे जाना जाता है, वह सामर्थ्य यदि नहीं होता तो सन्निकर्षका होना व्यर्थ पड जाता । अतः योग्यताही साधकतम है, सन्निकर्ष नहीं है । वह योग्यता प्रतिबंधक-ज्ञानावरणादि-कर्मोंका आवरण हट जानेसे उत्पन्न होती है, इसलिये योग्यता प्रतिबन्धकापायरूप है । योग्यता होनेसे स्वपरार्थावभासक ज्ञान होता है और वह नहीं होनेसे नहीं होता है । अतः वह योग्यता साधकतम है । जैसी कुल्हाडी वृक्षको काटनेमे साधकतम है, उसके बिना वृक्ष नहीं काटा जाता । वैसी योग्यता होनेपर पदार्थज्ञान होता है । उसके विना वह उत्पन्न नहीं होता है । इसलिये ज्ञानको जैनाचार्योंने प्रमाण माना है । ज्ञानके विषयमें जो मूढ हैं वे जीवादिक तत्वोंको नहीं जानते है । यहांतक ज्ञानकोही प्रमाण मानना चाहिये ऐसा विवेचन आचार्यने किया ॥ ८ ॥

(सम्यग्ज्ञानके भेद)– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे सम्यग्ज्ञानके पांच भेद कहे हैं । स्पष्टीकरण–सम्यग्ज्ञानमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं रहते हैं । संशयमें अनेक कोटियोंका अवलंबन होता है, परंतु कोईभी कोटि निश्चित नहीं रहती है । इसलिये वह ज्ञान प्रमाणरूप नहीं है । विपर्यय–कुछ सादृश्यसे एक वस्तुमें उससे भिन्न स्वरूप वस्तुका निर्णय होना, जैसे चांदीमें चमकीलापन देखकर सीपके तुकडेमें चांदीका भ्रम होनेसे उसे चांदी कहना व जानना । अनध्यवसाय–यह कुछ है ऐसा ज्ञान होना यानी पदार्थकी विशेषता ज्ञात न होना । ऐसे तीन ज्ञानोंको अप्रमाण ज्ञान कहते हैं । "प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् " संशयादिक जिसमें उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा वस्तुका जो यथार्थ निर्णय उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं । उपर्युक्त पांचही ज्ञान संशयादिकोंसे रहित होते हैं ॥ ९ ॥

ये पांच भेदयुक्त ज्ञान अपने अपने विषयभूत अन्य पदार्थको जाननेवाले हैं । और ये सब सम्यग्ज्ञान है, ये सम्यग्ज्ञानके पांचभेद सामान्यसे कहे हैं । विशेषसे पुनः दुसरे अनेक भेद होते हैं ॥ १० ॥

---

१ आ. श्रुतं २ आ. भावा ३ आ. परे

मतिज्ञानं भवेत्पूतमिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवम् । षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदं[1] भव्यसत्त्वसुखावहम् ॥ ११
अवग्रहेहावायानां धारणायाश्च भेदतः । मतिज्ञानमिदं दिव्यं चतुर्विधमुदीरितम् ॥ १२
सम्यग्ज्ञानार्थयोराद्यसङ्ग्रहोऽवग्रहो मतः । तत्तद्विशेषकाङ्क्षायामीहामीहाविदो विदुः ॥ १३
विशेषव्यवसायात्मा स त्ववायो निगद्यते । अर्थाविस्मृतिरूपं तु धारणाज्ञानमञ्जसा ॥ १४
बहुश्च बहुधा क्षिप्रश्चानुक्तोऽनिसृतो ध्रुवैः । सेतरैश्चापि भिन्नः सोऽवग्रहो द्वादशप्रमः ॥ १५

(मतिज्ञानके कारण और भेद)– मतिज्ञान पवित्र है वह इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होता है । उसके तीनसौ छत्तीस भेद हैं और वह भव्य-प्राणियोंको सुखदायक है । क्योंकि उससे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार होता है । नेत्रसे घटपटादिका ज्ञान होता है यह नेत्रमतिज्ञान है । स्पर्शनेन्द्रियसे जो पानी, अग्नि आदिका स्पर्श होनेसे ठंडा और उष्ण आदि ज्ञान होता है, उसे स्पर्शमतिज्ञान कहते हैं । इसतरह रसनेन्द्रियादिकसे मधुररसादिकोंका ज्ञान होता है । मनसेभी मतिज्ञान होता है ॥ ११ ॥

(मतिज्ञानके चार भेद)– अवग्रह मतिज्ञान, ईहा मतिज्ञान, अवाय मतिज्ञान और धारणा मतिज्ञान ऐसे मतिज्ञानके चार भेद है । सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेसे इसे दिव्य कहते हैं ॥ १२ ॥

सम्यग्ज्ञान और पदार्थका जो आद्य-ग्रहण उसे अवग्रहमतिज्ञान कहते हैं । विषय घटादिक पदार्थ और विषयी–उनको ग्रहण करनेवाले स्पर्शनादिक इन्द्रियां इनका संयोग होनेपर जो प्रथमज्ञान होता है, उसको अवग्रह कहते हैं । यह अवग्रह दर्शनपूर्वक होता है । अर्थात् विषय और विषयीका संबंध होनेपर दर्शन–वस्तुका सामान्यवलोकन होता है जिसमें घट, पट इत्यादि प्रकार प्रतिभासित नही होते है । केवल यह कुछ है ऐसा प्रतिभास होता है उसको दर्शन कहते हैं, उसके अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है वह पहिला अवग्रहज्ञान है । जैसे यह मनुष्य है ऐसा प्रथमज्ञान हुआ । इसके अनन्तर मनुष्यके विशेष जाननेकी इच्छा होनेपर ईहामतिज्ञान होता है, ऐसा ईहाका स्वरूप जाननेवाले आचार्य कहते है । जैसे यह मनुष्य दाक्षिणात्य है या उत्तरीय है अर्थात् दक्षिणदेशका है वा उत्तरदेशका रहनेवाला है ऐसा संशय होनेपर उसके निरसनके लिये यह उत्तरदेशका होगा ऐसी भवितव्यताप्रतीति उत्पन्न होती है उसे ईहामतिज्ञान कहना चाहिये ॥ १३ ॥

ईहामें जिस विशेषका भवितव्यतारूपसे ज्ञान हुआ था उसका जो निश्चय होता है उसे अवाय कहते है । और अवायसे जाने हुए विषयका कालान्तरमेंभी विस्मरण न होना ऐसा जो ज्ञान उसे परमार्थसे धारणामतिज्ञान कहते हैं । जैसे यह मनुष्य उत्तरदेशवासी है ऐसा उसके वेषभूषाभाषादिकसे निर्णय होना अवायमतिज्ञान है । तदनन्तर उस उत्तरदेशवासी मनुष्यको कालान्तरसे देखनेपर पहले देखी, जानी हुई बातको न भूलना यह धारणा–मतिज्ञान है ॥ १४ ॥

(अवग्रह मतिज्ञानके बारा भेद) – बहुअवग्रह, बहुविधावग्रह, क्षिप्रावग्रह, अनुक्तावग्रह, अनिसृतावग्रह, ध्रुवावग्रह ऐसे छह भेद और उसके विरुद्ध छह भेद होते हैं इसप्रकारसे एकाव-

१ आ. त्रिशती　२ आ. आद्यः　३ आ. स्त्वनुक्तो

बहूनां ग्रहणं यत्र समानां[1] समधर्मिणाम् । प्रक्षयोपशमादेष बव्हवग्रह इष्यते ॥ १६
एकस्यैव पदार्थस्य बहूनां न कदाचन । ग्रहादवग्रहः प्राज्ञैरबहुः परिकीर्तितः ॥ १७
प्रकारैर्विविधैर्यत्र सदर्थग्रहणं भवेत् । असौ[2] बहुविधो ज्ञेयोऽवग्रहो गेहवर्जितैः ॥ १८
एकेनैव प्रकारेण यत्रार्थावग्रहो भवेत् । एकप्रकारमाख्यान्ति मुनयस्तमवग्रहम् ॥ १९
ज्ञानावरणवीर्यस्य क्षयोपशमसंभवात् । शीघ्रमर्थग्रहो यत्र स क्षिप्रावग्रहाभिधः ॥ २०
चिरकालेन यश्चार्थं गृण्हाति बहुदुःखतः । स चिरावग्रहोऽभाणि सुचिरन्तनपौरुषैः[3] ॥ २१
उन्मीलत्पुग्दलद्रव्यं गृह्यतेऽसकलं यतः । अवग्रहं गृहातीता गृणन्ति तमनिःसृतम् ॥ २२
तद्विपक्षं क्षमावन्तो निःसृतावग्रहं विदुः । अभिप्रायवशाद्गृण्हन्ननुक्तः पुनरुच्यते ॥ २३

ग्रह, एक प्रकारावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, उक्तावग्रह, निःसृतावग्रह और अध्रुवावग्रह ऐसे छह भेद हैं। दोनों मिलकर अवग्रह–मतिज्ञानके बारह भेद होते हैं ॥ १५ ॥

(बहुअवग्रह और एकावग्रह)– समानधर्मवाले अनेक पदार्थोंका ग्रहण जिसमें होता है वह बहुअवग्रह है। इसके विरुद्ध एकावग्रह है अर्थात् एक पदार्थकाही जो अवग्रह होता है अनेकोंका कदापि नहीं होता है उसे एकावग्रह कहते हैं। विद्वान् लोग इसे अबहु अवग्रहभी कहते है ॥ १६–१७ ॥

(बहुविधावग्रह और एकविधावग्रह)– अनेक प्रकारोंके, अनेक धर्मोंके, अनेक पदार्थोंका अनेक प्रकारोंसे जहां अवग्रह होता है उसे गृहत्यागीमुनि बहुविधावग्रह कहते हैं। जहां एक प्रकारके अनेक पदार्थोंका अवग्रहज्ञान होता है उसे मुनि एकप्रकारावग्रह कहते हैं ॥ १८–१९ ॥

(क्षिप्रावग्रह और अक्षिप्रावग्रह)– अवग्रहमतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे पदार्थको शीघ्र जानना क्षिप्रावग्रह है, और चिरकालसे बहुत कष्टसे जो पदार्थोंका अवग्रहज्ञान होता है उसे अक्षिप्रावग्रह कहते है। ऐसा पुरातन पुरुषोंने– गणधरादि देवोंने कहा है ॥ २०–२१ ॥

(अनिःसृतावग्रह और निःसृतावग्रह)– पानी आदिकमेंसे किंचित् ऊपर आया हुवा असकल पुद्गल देखकर संपूर्ण पदार्थका ज्ञान होना अनिःसृतावग्रह है। अर्थात् एक वस्तुका कुछ अंश देखकर इतर अंशोंसहित संपूर्ण पदार्थका ज्ञान होना अनिःसृतावग्रह है। ऐसे गृहत्यागी मुनि कहते हैं। इसके विरुद्ध अवग्रहको क्षमावान्मुनि निःसृतावग्रह कहते हैं। अभिप्रायसे जानना वह अनुक्तावग्रह कहा जाता है ॥ २२–२३ ॥

---

१ आ. समानासम. २ आ. सोऽयं ३ आ. पूरुषैः ४ आ. भावस्य ५ आ. नात्.

उक्तावग्रहमाख्याति यदुक्ते सत्यवग्रहः । प्रजायते पदार्थस्य कर्मणां प्रशमक्षयात् ॥ २४
कालान्तरे पदार्थस्य[४] यथार्थग्रहणं ध्रुवम् । अध्रुवस्तु भवेत्सोऽयमयथार्थविभासनम् ॥ २५
ईहादयोऽपि विज्ञेया बव्हादिक्रमभेदतः । प्रत्येकं द्वादश प्राज्ञैस्त्रयस्त्रुटितकल्मषैः ॥ २६
प्रत्येकं द्वादशाप्येते करणैर्मनसा हताः । सप्ततिर्द्वर्यधिका तेषामेकैकं प्रति जायते ॥ २७
अष्टाशीत्यधिकं तावच्छतद्वयमुदीरितम् । तन्मतिज्ञानमर्थस्यावग्रहादिविशेषितम् ॥ २८

(उक्तावग्रह, ध्रुवाग्रह, और अध्रुवावग्रहोंका वर्णन)– शब्दद्वारा कहनेपर जो पदार्थका प्रथम ज्ञान होता है उसे उक्तावग्रह कहते हैं। पदार्थका यथार्थ (जितना था उतना ही) अवभासन होना अर्थात् कम–जादा न होना ध्रुवावग्रह है । पदार्थका यथार्थ अवभासन न होना अर्थात् कम जादा अवभास होना अध्रुवावग्रह है । भावार्थ–बहु बहुविधादिक अवग्रह मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अधिक होता है तब होते हैं, और मंद क्षयोपशम होनेसे एकावग्रह, एकविधावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, आदि अवग्रह होते हैं । ध्रुवावग्रह और धारणामें क्या अन्तर है ? क्षयोपशमकी प्राप्तिके समयमें परिणामोंकी निर्मलता सतत होनेसे प्राप्त हुए क्षयोपशमसे पहिले समयमें जैसा अवग्रह हुआ है वैसाही बार बार द्वितीयादिसमयोंमें होता रहता है । वह न्यून नही होता है और अधिकभी नहीं होता है ऐसे अवग्रहको ध्रुवावग्रह कहते हैं और जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामोंका मिश्रण होता है तब जो मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उससे उत्पन्न हुवा अवग्रह कभी बहुत पदार्थोंका होता है तो कभी अल्पोंका होता है, कभी कभी बहुविधोंका और कभी एकविधोंका होता है ऐसा न्यूनाधिकभाव होनेसे अध्रुवावग्रह होता है । तथा धारणासे जाना गया पदार्थ कालान्तरमें भी विस्मृत नहीं होता है उसकी याद रहती है उस अविस्मृतिके कारण ज्ञानको धारणा कहते हैं। ऐसे अवग्रहके भेदोंका वर्णन किया है ॥२४-२५॥

(ईहादिकोंका बव्हादिक्रमसे भेद प्रतिपादन)– जिनका पाप नष्ट हुवा है ऐसे विद्वानोंके द्वारा ईहा, अवाय और धारणाके बारह बारह भेद जानने योग्य हैं । बहुईहा, बहुविधईहा, क्षिप्रेहा, अक्षिप्रेहा इत्यादिरूपसे बारह भेद होते हैं । बहुअवाय, बहुविधावाय, क्षिप्रावाय इत्यादि बारह भेद अवायके होते हैं । तथा धारणाके बहुधारणा, बहुविधधारणा, क्षिप्रधारणा, अक्षिप्रधारणा आदि धारणाकेभी बारह भेद होते हैं । स्पर्शनादिक पांच इंद्रियाँ और मन इनसे गुणित करनेपर अवग्रहादिकोंके बहत्तर बहत्तर भेद होते हैं । स्पर्शनावग्रहके बारह भेदके समान रसनेन्द्रियावग्रहके बारह भेद होते हैं । घ्राणावग्रह, चक्षुरिन्द्रियावग्रह और कर्णावग्रहकेभी बारह बारह भेद मिलकर साठ भेद इन्द्रियावग्रहोंके होते हैं । इनमें मनोवग्रहके बारह भेद मिलानेसे अवग्रहोंके बहत्तर भेद होते हैं । ईहाके, अवायके और धारणाकेभी पांच इंद्रियाँ और मनसे गुणित करनेपर बहत्तर प्रकारकी ईहा, बहत्तर प्रकारका अवाय और बहत्तर प्रकारकी धारणा होती है। सब मिलकर दोसौ अठठ्यासी भेद मतिज्ञानके अर्थ अवग्रहादि विशेषोंसे होते हैं ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ २६–२७–२८ ॥

व्यञ्जनं व्यञ्जितं प्राज्ञैरव्यक्तं शब्दसम्भवम् । तस्यावग्रह एवास्ति न परे त्वविशेषतः ॥ २९
चक्षुर्मनो विना तावदिन्द्रियैर्गुणितश्च सन् । स द्वादशविकल्पोऽपि बव्हादिभिरितीरितः ॥ ३०
अष्टाधिका भवेत्तावच्चत्वारिंशत्समासतः[1] । व्यञ्जनावग्रहस्येति षट्त्रिंशत्त्रिशताधिकम् ॥ ३१
मतिज्ञानस्य ये भेदा गदिता भेदकोविदैः । ते सर्वे भव्यजीवस्य जायन्ते नापरस्य च ॥ ३२
अर्थव्यञ्जनभेदेन सत्पदार्थावबोधकम् । इन्द्रियानिन्द्रियोत्पन्नं तन्मतिज्ञानमीरितम् ॥ ३३
ऋद्धिबुद्धिप्रवृद्धं च प्रवृद्धजनपूजितम् । क्वचिदासन्नभव्यस्य[2] स्यात्तदावरणक्षयात् ॥ ३४
सा कोष्ठबीजसंभिन्नश्रोतृपादानुसारिणी । ऋद्धिबुद्धिर्भवेत्तस्य सद्वृद्धेः कारणं परा ॥ ३५

जिनको अठारह प्रकारकी बुद्धि–ऋद्धि प्राप्त हुई है, ऐसे गणधरदेवोंने अव्यक्त शब्दादिकोंसे उत्पन्न हुआ जो अव्यक्त अवग्रहज्ञान उसको व्यञ्जनावग्रह कहा है। स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और कर्णेन्द्रियसे जो अस्पष्टावग्रह होता है वह बव्हादिक पदार्थोंकी अपेक्षासे बारह बारह प्रकारका होता है । अतः उपर्युक्त चार इन्द्रियोंसे अस्पष्ट अवग्रहके अडतालीस भेद होते हैं । दोसौ अठासी भेदोंमें ये व्यंजनावग्रहके अडतालीस भेद मिलानेपर मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं ।

भावार्थ– जैसे मट्टीके नये घडेपर पानीके दो तीन बिंदु डालनेपर वह घडा गीला नहीं होता है, पुनः पुनः सिंचित करनेपर गीला हो जाता है । इस प्रकार कान, नाक, स्पर्शन और जिव्हा ऐसे चार इन्द्रियोंसे शब्दादि-परिणत पुद्गल दो तीन आदि समयोंमें जब ग्रहण किये जाते हैं तब व्यक्त नहीं होते है । पुनः पुनः अवग्रह होनेपर वे व्यक्त होते हैं । इसलिये व्यक्तग्रहणके पूर्वमें व्यंजनावग्रह है और व्यक्तग्रहण होनेपर अर्थावग्रह है । अव्यक्तग्रहण होनेपर उसके ईहा, अवाय और धारणा नहीं होते हैं । यह व्यंजनावग्रह चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोंद्वारा होता है ॥ २९–३०–३१ ॥

भेद जाननेवालोंने मतिज्ञानके जो भेद कहे हैं वे सब भव्य जीवको सम्यग्दृष्टिको होते हैं मिथ्यादृष्टिको नहीं होते हैं । अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह आदि भेदोंसे युक्त और जीवाजीवादि पदार्थोंका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियां और मनसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह मतिज्ञान है ऐसा मुनिश्वरोंने कहा है ॥ ३२–३३ ॥ (अनृद्धि–मतिज्ञानका वर्णन समाप्त ।)

(बुद्धिऋद्धिरूपमतिज्ञानका वर्णन) – कभी कभी आसन्न भव्यजीवको बुद्धिऋद्धि प्राप्त होनेसे वृद्धिगत हुआ और वृद्ध-ज्ञानी मुनीश्वरोंके द्वारा पूजा गया ऐसा मतिज्ञान प्राप्त होता है । वह उसके आवरणके तीव्र क्षयोपशमसे प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

यह ऋद्धियुक्तबुद्धि, कोष्टबुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृबुद्धि और पादानुसारिणीबुद्धि इसप्रकार चार प्रकारकी है । यह किसी आसन्न भव्यको होती है । यह उत्तम वृद्धिका उत्तम कारण है ॥ ३४–३५ ॥

---

१ आ. प्रमाणतः २ आ. भव्ये

यस्यामवगतानेकग्रन्थार्थानामवस्थितिः । अविनष्टाप्रकीर्णानां कोष्ठे संभृतधान्यवत् ॥ ३६
कोष्ठबुद्धिमताशेषविशेषार्थविभासिनी । बीजबुद्धिः पुनर्ज्ञेया विविधागमपारगैः ॥ ३७
भव्यक्षेत्रे यथा बीजमुप्तं कालादियोगतः । अनेकधा भवेद्वृद्धमृद्धिसम्पादकं नृणाम् ॥ ३८
तथैकबीजभूतार्थसंग्रहादर्थदर्शिनी । अनेकधा मता सेयं[1] बीजबुद्धिर्महात्मनाम् ॥ ३९
एकस्यापि पदस्यादावन्ते ग्रन्थस्य बोधतः । यस्यां ग्रन्थावबोधोऽसौ बुद्धिः पादानुसारिणी ॥४०
यत्सामान्यविशेषात्माभेदो भवति चानयोः । अत एवेदमत्युद्यं बुद्धिद्वयमुदाहृतम् ॥ ४१
द्वादशयोजनायामचक्रवर्तिचमूध्वनिम् । मनुष्यकरभादीनां संकरादिकवर्जितम्[2] ॥ ४२
यस्यां शृणोति भव्यात्मा निर्मलीकृतमानसः । संभिन्नश्रोतृबुद्धिः सा गीता गानविचक्षणैः ॥४३

(कोष्ठबुद्धिऋद्धिका वर्णन)– जैसे भांडागारमें अर्थात् धान्यागारमें गेहूँ, उडद आदि अनेक प्रकारका धान्य नष्ट नहीं हो और आपसमें मिश्र न हो ऐसा अलग अलग स्थापन किया जाता है। वैसे जो ऋद्धि प्राप्त होनेपर जाने गये अनेक ग्रंथोंका अवस्थान, अविनाश और अमिश्रतारूपसे होता है ऐसी बुद्धिऋद्धिको कोष्ठबुद्धि कहते हैं। तात्पर्य यह है, कि अनेक ग्रंथोंका ज्ञान और उनके प्रकरण जो जैसे हैं वैसे कोष्ठबुद्धिवाले मुनियोंके हृदयमें रहते है। कुछ ज्ञान उन ग्रंथोंका नष्ट होना अथवा कुछ किसी विषयमें मिल जाना इत्यादि दोष उनमें नहीं रहते हैं। यह कोष्ठबुद्धि संपूर्ण विशेष अर्थोंको प्रकाशित करनेवाली होती है॥ ३६–३७ ॥

(बीजबुद्धिऋद्धिका वर्णन)– जैसे उत्तम खेतमें बोया हुआ बीज वर्षाकालादिकके संयोगसे अनेक प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् उससे खूब धान्यवृद्धि होती है, एक बीजसे हजारो धान्यके दाने प्राप्त होते हैं, वेसे एक बीजाक्षरसे उत्पन्न हुआ जो अर्थसंग्रह उससे अनेक प्रकारके अर्थ यह बीजऋद्धि महात्माओंको दिखाती है। इसप्रकार इसका स्वरूप है ॥ ३८–३९॥

(पादानुसारिणीऋद्धिका स्वरूप) – ग्रंथके प्रारंभमें एक पद अथवा ग्रंथके अन्तमें एक पदका ज्ञान होनेपर संपूर्ण ग्रंथका ज्ञान ऋद्धिधारक मुनीश्वरको जिससे होता है वह पादानुसारी बुद्धिऋद्धि है ॥ ४० ॥ इस ऋद्धिके सामान्य और विशेष अर्थका प्रतिपादन होता है। अतः इस ऋद्धिको सामान्य पदानुसारिणी और विशेष पदानुसारिणी कहते हैं। ये दो अतिशय उत्तम बुद्धिऋद्धियां हैं। ऐसा मुनीश्वरोंने कहा है ॥ ४१ ॥

(संभिन्नश्रोतृबुद्धिका वर्णन) – बारा योजन दूरतक चक्रवर्तिका सैन्य रहता है और उसमें मनुष्य, हाथी, घोडे, ऊंट, बैल आदिकोंके शब्द होते रहते हैं। जिसका अन्तःकरण निर्मल है ऐसा भव्यात्मा उन शब्दोंको संकरादिदोष–रहित अलग अलग जिस ऋद्धिकी प्राप्ति होनेसे सुनता है उसे चतुरोंने संभिन्नश्रोतृबुद्धि नामकी ऋद्धि कहा है। ४२–४३ ॥

१ आ. सैषा २ आ. विवर्जितम्

यत्किञ्चिज्ज्ञातमज्ञातं बुद्धिशास्त्रानुसारतः । तन्मयोक्तमहं वन्दे मतिज्ञानस्य[1] लब्धये ॥ ४४
तत्पूर्वंच श्रुतज्ञानमनेकद्वादशप्रमम्[2] । श्रुतावरणवीर्यस्य क्षयोपशमतो भवेत् ॥ ४५
अङ्गाङ्गबाह्यभेदेन द्विविधं तदुदीरितम् । अक्षरानक्षरत्वेन पुनर्द्वेधोपलभ्यते[3] ॥ ४६
अङ्गबाह्यमनेकं च दशवैकालिकादिकम् । अङ्गं द्वादशधा प्रोक्तं श्रुतज्ञानज्ञकोविदैः ॥ ४७
आचाराङ्गं सूत्रकृतं स्थानाङ्गं[4] समवायतः । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येवं ज्ञातृधर्मकथा तथा ॥ ४८
उपासकाद्यध्ययनं अन्तकृद्दशमुत्तमम् । अनुत्तरदशं चेति प्रश्नव्याकरणं पुनः ॥ ४९
पूतं विपाकसूत्रं तु दृष्टिवादश्च पञ्चधा । अङ्गं द्वादशधा चैतच्छ्रुतज्ञानं हि नामतः ॥ ५०
परिकर्म च सूत्रं तु प्रथमाद्यनुयोगतः । पूर्वकृतं चूलिका च दृष्टिवादस्तु पंचधा ॥ ५१
पूर्वगतं हि विज्ञेयं चतुर्दशविधं बुधैः । चतुर्दशगुणस्थानप्रापकं प्रगुणात्मनाम् ॥ ५२
उत्पादपूर्वसन्नाम परमग्रायणीयकम् । तृतीयं वीर्यवादं च चतुर्थं ह्यस्तिनास्तिकम् ॥ ५३
सम्यग्ज्ञानप्रवादं च पञ्चमं पञ्चमप्रदम् । षष्ठं सत्यप्रवादं स्यात्सत्यसौख्यविधायकम् ॥ ५४
पूर्वमात्मप्रवादं च सप्तमं चाष्टमं पुनः । कर्मप्रवादपूर्वं तत्प्रत्याख्यानं ततः परम् ॥ ५५
विद्यानुवादं दशमं परं कल्याणनामकम् । प्राणावायं प्रभापूतं ख्यातं द्वादशसंख्यया ॥ ५६

बुद्धि और शास्त्रके अनुसरणसे मैंने जो कुछ ज्ञात, अज्ञात पदार्थोंको जाना हैं वह मैंने कहा है । मतिज्ञानकी प्राप्तिके लिये मैं मतिज्ञानको वंदन करता हूं ॥ ४४ ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । उसके दशवैकालिक, उत्तराध्ययनादि अनेक भेद और आचाराङ्गादि बारह भेद हैं । यह श्रुतज्ञान श्रुतावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है । यह श्रुतज्ञान अंग व अंगबाह्य नामसे दो प्रकारका है । पुनः अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत ऐसे भी दो प्रकार इसके हैं । ऐसा श्रुतज्ञान जाननेवाले विद्वान कहते हैं ॥ ४५–४६ ॥

(अंगज्ञानके बारा भेद)– आचारांग, सूत्रकृत, स्थानांग, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरदश, प्रश्नव्याकरण, पवित्र विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद ऐसे अंगज्ञानके बारह भेद हैं । दृष्टिवादके पांच भेद हैं । पूर्व, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग और चूलिका । पूर्वगत श्रुतज्ञानके उत्पादपूर्व अग्रायणीयादिक चौदा भेद हैं । ये चौदा भेद गुणवानोंके चौदह गुणस्थानोंकी प्रसिद्धि करनेवाले हैं ॥ ४७–५२ ॥

(चौदह पूर्वोके नाम)– पहिला उत्पादपूर्व, दूसरा अग्रायणीय, तीसरा वीर्यानुवाद, चौथा अस्तिनास्तिवाद, सम्यग्ज्ञानप्रवाद पांचवा पूर्व है, यह पंचमगति देनेवाला है । छट्ठा सत्यप्रवाद सत्यसुख–मुक्तिसुख उत्पन्न करनेवाला है । सातवे पूर्वका नाम आत्मप्रवाद, कर्मप्रवादपूर्व आठवा है । नौवा प्रत्याख्यानपूर्व और दसवा विद्यानुवादपूर्व, ग्यारहवा कल्याणनामक पूर्व है । प्रभासे

१ आ. ज्ञानं स्वलब्धये　२ आ. द्व्यनेक　३ लातल्ये.　४ आ. स्थानं च

क्रियाविशालमत्युद्यं त्रयोदशकमुत्तमम् । लोकाग्रबिन्दुसारं च[1] चतुर्दशकमञ्जसा ॥ ५७
जलस्थलगता मायागता रूपगता तथा । आकाशादिगता चेति चूलिका पञ्चधा स्मृता ॥ ५८
चन्द्रादित्यनदीद्वीपव्याख्याप्रज्ञप्तिरुज्ज्वला । जम्बूद्वीपादि-प्रज्ञप्तिः परिकर्मापि पञ्चधा ॥ ५९
अष्टादशसहस्रा[2] च पदसंख्या विराजते । यत्याचरणरूपस्य तदाचाराङ्गमिष्यते ॥ ६०
ज्ञानादिविनयादीनां क्रियाणां यत्प्ररूपकम् । पदानां च सहस्राणि षट्त्रिंशत्सूत्रकृन्मतम् ॥ ६१
एकाद्येकोत्तरस्थानं जीवादीनां प्ररूपकम् । स्थानं पदसहस्राणि चत्वारिंशद्द्विरुत्तरा ॥ ६२

पवित्र प्राणावायपूर्व बारहवा है । अत्युत्तम क्रियाविशालपूर्व तेरहवा है और परमार्थरूप चौदहवा पूर्व लोकाग्रबिन्दुसार नामका है ॥ ५३-५७ ॥

(पंच चूलिकाओंके नाम)- दृष्टिवादका चूलिका नामकभेद है। इसके पांच भेद हैं। उनके नाम १ जलगता, २ स्थलगता, ३ मायागता ४ रूपगता, और ५ आकाशगता ॥ ५८ ॥

(परिकर्मके भेद)- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नदीद्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति और पांचवी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ऐसे परिकर्मके पांच भेद हैं ॥ ५९ ॥

(आचारादिकअङ्गोंकी पदसंख्या)- मुनियोंके आचरणोंका प्रतिपादन करनेवाले आचाराङ्गकी संख्या अठारह हजार है । भावार्थ-इस अंगमें किसप्रकार आचरण करना चाहिये? किस तरह खडा होना चाहिये ? कैसे बैठना चाहिये ? किस प्रकारसे सोना चाहिये ? किस तरह भाषण करना चाहिये ? किस तरह भोजन करना चाहिये ? किस तरह पापका बंध होता है ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तर-यत्नपूर्वक आचरण करें, यत्नपूर्वक खडा हो, यत्नपूर्वक बैठें, यत्नपूर्वक शयन करे, यत्नपूर्वक भाषण करें, यत्नपूर्वक भोजन करें । इस तरहके आचरणसे पापबंध नहीं होता है । इत्यादि प्रश्नोत्तररूप विवेचन आचारांगमें है ॥ ६० ॥

सूत्रकृतांगकी पदसंख्या छत्तीस हजार प्रमाण है। इसमें ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय ऐसे विनयोंका तथा ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनका अथवा प्रज्ञापना, कल्पाकल्प, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मोंका तथा स्वसमय और परसमयोंका स्वरूप सूत्रोंद्वारा बताया है ॥ ६१ ॥

स्थानांगमें बियालीस हजार पदोंकी संख्या है । इस अंगमें संपूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर अनेक विकल्पोंका प्रतिपादन किया है । जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीव-द्रव्यका एकही विकल्प-स्थान होता है । संसारी और मुक्तकी अपेक्षासे जीवके दो भेद हैं । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अपेक्षासे तीन भेद हैं, चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं, इत्यादि वर्णन जीवका है । वैसेही पुद्गलकाभी

१ आ. तु.　२ आ. सहस्त्रैश्च

धर्माधर्मैकजीवानां द्रव्यतो गगनस्य च । जम्बूद्वीपादिभावानां कालचक्रस्य सूचकम् ॥ ६३
समवायाभिधं पूतं क्षायिकादिनिरूपणात् । चतुःषष्टिसहस्रैकलक्षसंख्यापदप्रमम् ॥ ६४
प्रश्नानां हि सहस्राणि षष्टिर्या गणनायकैः । जीवः किमस्ति नास्तीति तीर्थेशपुरतः कृता ॥६५
अष्टाविंशतिसहस्रैर्लक्षद्वयपदप्रमा । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येवं कथिता जिननायकैः ॥ ६६
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चलक्षपदप्रमा । कथा तीर्थकृदादीनां ज्ञातृधर्मकथाऽकथि ॥ ६७
सप्ततिश्च सहस्राणां लक्षैकादशशोभनम् । श्रावकाध्ययनं नाम श्रावकाचारसूचकम् ॥ ६८
प्रतितीर्थं यतीनां च संसारान्तकृतां सताम् । घोरोपसर्गयुक्तानां दशानां प्रतिपादकम् ॥ ६९
त्रयोविंशतिलक्षाणि सहस्रास्त्वष्टविंशतिः । अन्तकृद्दशमाख्यातं पदानि पदकोविदैः ॥ ७०

.....

एक, दो, तीन आदि विकल्पोंके आश्रयसे वर्णन किया है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्योंकाभी एकादि विकल्पोंसे वर्णन किया है ॥ ६२ ॥

चौथे समवायाङ्गकी पदसंख्या एक लाख चौसठ हजार है। इसमें द्रव्योंके सादृश्यका वर्णन द्रव्य, क्षेत्रादिकी अपेक्षासे है । जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, जीव और लोकाकाश इनकी प्रदेश-संख्या असंख्यात होनेसे प्रदेशसाम्य है । जंबूद्वीप सर्वार्थसिद्धि विमान और सप्तमनरकके बिल एक लक्ष योजन प्रमाण हैं । क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक केवलज्ञान आदि अन्योन्य समान है । उत्सर्पिणी कालके समान अवसर्पिणी काल दश कोडाकोडी सागर प्रमाण है । इत्यादि वर्णन पवित्र समवायांगमें है ॥ ६३-६४ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें पदसंख्या दो लाख अठाईस हजार है । इस अंगमें जीव है ? अथवा नहीं ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है, एक है या अनेक हैं इत्यादि साठ हजार प्रश्न गणधरोंने किये और तीर्थकरोंने उनके उत्तर दिये । ऐसा इस अंगका जिन-नायकोंने वर्णन किया है ॥ ६५-६६ ॥

ज्ञातृधर्म-कथामें पांच लक्ष छप्पन हजार पद संख्या है। इस अंगमें जीवादि वस्तुओंका स्वभाव, तीर्थकरोंका माहात्म्य, तीर्थकरोंकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमादि दशधर्म, तथा रत्नत्रयधर्मका स्वरूप बताया है । तथा तीर्थकर, गणधर, इन्द्र आदिकी कथा उपकथाओंका वर्णन है ॥ ६७ ॥

श्रावकाध्ययन नामक सातवे अंगकी सुंदरपद-संख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है । इसमें श्रावकाचारका वर्णन है अर्थात् श्रावकोंके सम्यग्दर्शनादिक ग्यारह प्रतिमासंबंधी व्रत, गुण, शील, आचार, तथा दूसरे क्रियाकाण्ड और उनके मंत्रादिकोंका सविस्तर वर्णन है ॥ ६८ ॥

अन्तकृद्दशांगमें तेईस लाख अठ्ठाईस हजार पदसंख्या है । इसमें प्रत्येक तीर्थकरके समयमें जो दश दश मुनि चार प्रकारके घोरोपसर्ग सहन कर संसारके अन्तको प्राप्त हुए उनका वर्णन है ॥ ६९-७० ॥

तीर्थं प्रति मुनीनां च जितघोरोपसर्गिणाम् । अनुत्तरोपपादानां दशानां हि प्ररूपकम् ॥ ७१
चत्वारिंशच्च चत्वारः सहस्रा नवतिस्तथा । लक्षाणां द्व्यधिका चैतदनुत्तरदशं मतम् ॥ ७२
नष्टमुष्ट्यादिकादीनां प्रश्नानां परतो भुवाम् । सर्वेषां हि तदर्थानां सूचकं शुचिवर्तिनाम्[1] ॥ ७३
लक्षाणां नवतिस्त्रीणि सहस्राश्चापि षोडश । पदानां पूतवृत्तीनां प्रश्नव्याकरणं स्मृतम् ॥ ७४
सुकृतानां दुष्कृतानां कर्मणां पाकसूचकम् । सर्वं विपाकसूत्रं तु कथितं तथ्यवेदिभिः ॥ ७५
कोटचेकपदसंख्यं तदशीतिश्चतुरुत्तरा । लक्षाणां च मतं मान्यैर्मथिताशेषकल्मषैः ॥ ७६
कोटीचतुष्टयं तावल्लक्षाः पंचदशाधिकाः । द्विसहस्रैः पदानां च संख्या चैकादशाङ्गिका ॥ ७७
द्वादशाङ्गस्य भेदा ये प्रोक्ताः पञ्च विधानतः । परिकर्मादयस्तेषां पदसङ्ख्या निगद्यते ॥ ७८
सहस्रैः पञ्चभिः साकं लक्षाः षट्त्रिंशदायताः । चन्द्रप्रज्ञप्तिरुद्गीता चन्द्रायुर्गतिसूचिका ॥ ७९

अनुत्तरौपपादिक दशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें चार प्रकारके देव, मनुष्य, पशु और अचेतनकृत दारुण उपसर्ग सहन कर दश दश मुनि अन्त समयमें समाधिके द्वारा अपने प्राणोंका त्याग कर विजय आदि पांच अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए उनका सविस्तर वर्णन है। इस अंगकी पदसंख्या बानवे लाख चवालीस हजार है ॥ ७१-७२ ॥

प्रश्नव्याकरण नामक दसवे अंगमें नष्ट-मुष्टयादिकके पवित्र प्रश्न और उनके सर्व अर्थोंका कथन हैं। इसमें पवित्र पदसंख्या तिरानबे लक्ष सोलह हजार है। दूतवाक्य, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसंबंधी धनधान्यादिका लाभालाभ, सुखदुःख, जीवनमरण, जय-पराजय आदि फलोंका वर्णन हैं। और प्रश्नोंके अनुसार आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी इन चार कथाओंका वर्णन है ॥ ७३-७४ ॥

विपाकसूत्र नामक ग्यारहवे अंगमें सत्यस्वरूप जाननेवालोंने पुण्य और पापोंके फलोंका वर्णन किया है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार शुभाशुभ कर्मोंकी तीव्र मंद, मध्य आदि अनेक प्रकारकी अनुभागशक्तिके फलदानरूप विपाकका वर्णन है। इस अंगकी पदसंख्या एक कोटि चौरासी लाख की है ऐसा संपूर्ण पापोंका नाश करनेवाले मुनियोंने कहा है। पूर्वोक्त ग्यारह अंगोंकी पदसंख्या चार कोटी पंद्रह लक्ष दो हजार की है ॥ ७५-७७ ॥

(परिकर्मादिकोंकी पदसंख्या)– द्वादशाङ्गके अर्थात् बारहवे दृष्टिवाद नामक अङ्गके जो आगमके अनुसार परिकर्मादिक पांच भेद कहे हैं उनकी पदसंख्या अब हम कहते हैं ॥ ७८ ॥

चन्द्रप्रज्ञप्तिकी पदसंख्या छत्तीस लक्ष पांच हजार है और इसमें चन्द्रकी आयु और गतिका वर्णन है अर्थात् चन्द्रमासंबंधी विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि, वृद्धि, पूर्णग्रहण, अर्द्धग्रहण, चतुर्थांश ग्रहण आदिका वर्णन है ॥ ७९ ॥

१. आ. शौचवर्तिनाम्

त्रिसहस्रपञ्चलक्षाः पदानां परिमाणता । प्रज्ञप्तिः सूर्यपूर्वेयं तद्भवादिप्ररूपिका ॥ ८०
पदानां त्रीणि लक्षाणि सहस्राः पञ्चविंशतिः । जम्बूद्वीपस्य प्रज्ञप्तिस्तद्गतार्थप्ररूपिका ॥ ८१
सहस्राणां च षट्त्रिंशद्विपञ्चाशच्च लक्षकाः । द्वीपसागरप्रज्ञप्तिस्तत्स्वरूपप्रकाशिका[1] ॥ ८२
जीवाजीवादिभावानां रूपित्वारूपसूचिका । व्याख्याप्रज्ञप्तिरित्येवं जायते पदसङ्ख्यया ॥ ८३
लक्षाणां सदशीतिः स्याच्चतुर्भिरधिका पुनः । षट्त्रिंशच्च सहस्राश्च विचित्रक्रमसंयुता ॥ ८४
जीवस्य कर्मनोकर्मकर्तृत्वादिप्ररूपकम् । सर्वगत्वान्मातृत्वप्रभृतीनां निवेदकम्[2] ॥ ८५
सर्वाश्चर्यकरं वीर्यधुर्यविद्याप्ररूपकम् । पदान्यष्टाधिकाशीतिर्लक्षाणां सूत्रमक्षयम् ॥ ८६
त्रिषष्टिपुरुषाणां यः प्रबन्धः प्रवणो महान् । प्रथमानुयोगः पञ्चसहस्रैर्भणितः पदैः ॥ ८७
नवतिः पञ्चभिः सार्धं कोटीनां हि तथा पुनः । पञ्चाशल्लक्षपञ्चैव पदानि परिमाणतः ॥८८
ध्रौव्योत्पादव्ययानेकधर्मार्थानां प्रकाशकम् । श्रुतं पूर्वगतं गीतं श्रुतशास्त्रविचक्षणैः ॥ ८९

सूर्यप्रज्ञप्तिमें पदसंख्या पांच लक्ष और तीन हजार है । इसमें सूर्यसंबंधी भव, आयु, परिवार, गति, ग्रहण आदिका वर्णन है ॥ ८० ॥

जंबूद्वीप प्रज्ञप्तिकी पदसंख्या तीन लाख पच्चीस हजार हैं । इसमें जंबूद्वीपके मेरु, कुलाचल, हृद, क्षेत्र, कुंड, वेदिका वन, व्यन्तरोंके निवासस्थान, महानदी आदिका वर्णन है ॥ ८१ ॥

द्वीपसागर-प्रज्ञप्तिकी पदसंख्या बावन लाख छत्तीस हजार है । इसमें असंख्यात द्वीप और समुद्रोंका तथा वहांके अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है ॥ ८२ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिमें जीव अजीवादिकोंके भावोंका वर्णन है । रूपित्व, अरूपित्वसे युक्त जीव अजीव द्रव्योंका वर्णन है । अनंतरसिद्ध तथा परम्परासिद्धोंका तथा दूसरी वस्तुओंका भी वर्णन है । इसकी पदसंख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है ॥ ८३-८४ ॥

दृष्टिवादके सूत्रनामक भेदमें जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा नोकर्मका भी कर्ता है इत्यादिक निरूपण है । तथा यह सूत्र आत्मा ज्ञानसे सर्व पदार्थोंको जाननेसे व्यापक है, वह अतीन्द्रिय पदार्थोंको अनुमानसे छद्मस्थावस्थामें जानता है इत्यादि निरूपण करता है । और सब जीवोंको आश्चर्यचकित करनेवाला सामर्थ्य और श्रेष्ठ विद्याओंका निरूपण इसमें है । इसकी पदसंख्या अठ्ठयासी लक्ष प्रमाण है ॥ ८५-८६ ॥

प्रथमानुयोगमें चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलिभद्र ऐसे त्रेसष्ट महापुरुषोंके महान् चरितोंका वर्णन किया है । इसकी पांच हजार पदसंख्या है ॥ ८७ ॥

उत्पादादि चौदह पूर्वोकी पदसंख्याका प्रमाण पचानवे कोटी पचास लक्ष और पांच है । उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय इत्याद्यनेक धर्मयुक्त पदार्थोंका प्रकाशक यह पूर्वज्ञान है ऐसा श्रुतशास्त्रमें निपुण आचार्योंने कहा है ॥ ८८-८९ ॥

---

१ आ. प्ररूपिका २ आ. निषेधकम् ३ आ. वर्य

या पूर्वं पञ्चधा प्रोक्ता चूलिका भेदकोविदैः । तद्भेदान्स्फुटभेदेन निगदामि यथाक्रमम् ॥ ९०
कोटिद्वयं तथा लक्षा नवैकोननवतिस्तथा । सहस्राणां शतं द्वन्द्वं पदानि परिकीर्तिता ॥ ९१
जलस्तम्भनहेतूनां मन्त्रादीनां प्रकाशिका । जलपूर्वगता चेयं चूलिका गदिता जिनैः ॥ ९२
एतान्येव पदान्युक्ता चूलिकास्थलमागमे[1] । भूगता कारणानेकमन्त्रतन्त्रादिसूचिका ॥ ९३
इन्द्रजालाद्यनेकार्थक्रियाकाण्डप्ररूपिका । एतत्पदप्रमाणैव मायादिर्गदिता सताम् ॥ ९४
व्याघ्रसिंहादिसद्रूपमन्त्रतन्त्रप्रकाशिका । इयत्येव पदान्युक्ता सुरूपा गदिता जिनैः ॥ ९५
आकाशगतिसद्धेतुमन्त्रतन्त्रावबोधिका । आकाशादिगता ज्ञेया पूर्वसङ्ख्यापदप्रमा[2] ॥ ९६
पूर्वेषु[3] हि गतं पूतमतः पूर्वगतं मतम् । तच्चतुर्दशधा प्रोक्तं निगदामि यथापदम् ॥ ९७
ध्रौव्योत्पादव्ययानेकसाधुधर्मप्रकाशकम् । जीवस्योत्पादपूर्वं तत्कोटयेकपदपूर्वकम्[4] ॥ ९८
अङ्गानामग्रभूतार्थनिवेदनपरं बलम्[5] । लक्षाः षण्णवतिः पूतं पूर्वमग्रायणीयकम्[6] ॥ ९९

भेदज्ञोंने पांच प्रकारकी चूलिकायें कही हैं उनके भेदोंका स्पष्टतया मैं यथाक्रम वर्णन करता हूं ॥ ९० ॥

(पंचचूलिका)– जलगताचूलिकाकी पदसंख्या दो कोटी नौ लाख नवासी हजार दो सौ है । इस चूलिकामें जलस्तंभनके कारणमंत्रोंका वर्णन है तथा अग्निस्तम्भन, अग्निभक्षण, अग्निमें बैठना और अग्निप्रवेश तथा तदर्थ तपश्चरण आदिका वर्णन है । स्थलगतचूलिकाकेभी इतनेहि पद हैं । इस चूलिकामें मेरु, कुलाचलभूमि आदिमें प्रवेश, शीघ्रगमन आदिके कारण मंत्रतंत्रादिक हैं । मायागताचूलिकामें इन्द्रजालादि अनेक अर्थोंके क्रियाकाण्डोंका निरूपण किया है । इसकी भी पदसंख्या जलगतचूलिकाके समान ही है । रूपगताचूलिकामें वाघसिंहादिके रूप धारण करनेके मंत्रतंत्रका वर्णन है । इसकी पदसंख्याभी उपर्युक्त जलगतचूलिकाके समान है । आकाशगतचूलिकामें आकाशगमनके कारण मंत्रतंत्र आदिका वर्णन है । इसकी पदसंख्याभी जलगताके समान है ॥ ९१–९६ ॥

(चौदह पूर्व) दृष्टिवादका पूर्व नामक चौथा भेद है उसके उत्पादपूर्वगतादिक चौदह भेद आचार्यने कहे हैं । सर्व जीवादिक अर्थोंमें जो चला गया है इसलिये उसे पूर्वगत कहते हैं । यह पूर्वगत पवित्र ज्ञान है । उसके चौदह भेद उनकी पदसंख्याके साथ में (नरेन्द्रसेनाचार्य) कहता हूं ॥ ९७ ॥

उत्पादपूर्वकी पदसंख्या एक कोटि प्रमाण है । उसमें जीवके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक धर्मोंका स्वरूप कहा है तथा मुनियोंके धर्मोंका वर्णन किया है ॥ ९८ ॥

अग्रायणीय पूर्वकी पदसंख्या छ्यानवे लाख प्रमाण है । इस पवित्र पूर्वमें अंगोंके प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेका सामर्थ्य है– अर्थात् सातसौ सुनय तथा दुर्णय, पञ्चास्तिकाय, षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ आदिका वर्णन है ॥ ९९ ॥

---

१ आ. गामने २ आ. संख्य ३ सो. सर्वेषु ४ आ. संख्यकम् ५ आ. वरम् ६ आ. आग्रायणीयका

पदानां सप्ततिर्लक्षा यस्य संख्या प्रकीर्तिता । वीर्यानुवादवीर्यस्य श्रीजिनादेर्निरूपकम् ॥ १००
षष्टिलक्षपदोपेतं षट्पदार्थोपवर्णकम् । अस्तिनास्तिमहाधर्मैरस्तिनास्तिप्रवादकम् ॥ १०१
एकोनकोटिसंख्यातपदं[1] सूर्यांशुनिर्मलम् । ज्ञानप्रवादमाख्यातं ज्ञानभेदादिसूचकम् ॥ १०२
वागङ्गुलिप्रकाराणां[2] शुभाशुभवचस्तथा[3] । सूचकं सत्यवादं[4] च कोटीषडधिका पदम् ॥ १०३
षड्विंशतिश्च कोटीनां पदानां प्रतिपादकम् । आत्मप्रवादं जीवस्य कर्तृत्वादेर्मतं सताम् ॥ १०४
अशीतिलक्षकोट्येकपदसंख्यं हि कर्मणाम् । निर्जराबन्धमोक्षादिसूचकं कर्मवादकम् ॥ १०५
समस्तद्रव्यपर्यायप्रत्याख्यानादिसूचकम् । प्रत्याख्यानं हि लक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ १०६
क्षुद्रविद्या महाविद्याः सप्तपंचशतानि याः । पृथुविद्यानुवादं तद्यत्र तासां निरूपणम् ॥ १०७

वीर्यानुवादकी पदसंख्या सत्तर लाख प्रमाणकी कही है। इसमें श्रीजिनेश्वर, गणधर आदिके वीर्यका वर्णन है ॥ १०० ॥

अस्तिनास्ति-प्रवादमें छह लाख पद हैं। यह पूर्व जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके अस्तिनास्ति धर्मोंका वर्णन करता है ॥ १०१ ॥

ज्ञानप्रवादपूर्वकी पदसंख्या एक कम एक कोटि प्रमाणकी है। यह पदसंख्या सूर्य-किरणके समान उज्ज्वल है और इसमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ऐसे पांच सम्यग्ज्ञानोंका और कुमति, कुश्रुति तथा कुअवधि ऐसे तीन अज्ञानोंका स्वरूप, संख्या और फलोंका वर्णन है ॥ १०२ ॥

सत्यप्रवादपूर्वमें एक कोटि और छह पद है। इस पूर्वमें वचन और अंगुलि आदिकोंके प्रकार कहे हैं तथा शुभ और अशुभ वचनके भेद और गुप्तिओंका वर्णन है ॥ १०३ ॥

आत्मप्रवादपूर्वमें छब्बीस कोटि पद हैं। इसमें आत्माके कर्तृत्वादि अनेक धर्मोंका वर्णन किया है जो कि सज्जनोंको मान्य है ॥ १०४ ॥

कर्मप्रवादमें पदोंका प्रमाण एक कोटि अस्सी लाखका है। इसमें कर्मोंकी निर्जरा, बंध, मोक्ष, उदय, उदीरणा आदिका कथन है ॥ १०५ ॥

प्रत्याख्यानपूर्वमें चौरासी लाख पदसंख्या है और इसमें समस्त द्रव्यपर्यायोंका प्रत्याख्यानत्यागका वर्णन है, अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पुरुषके संहननादिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है ॥ १०६ ॥

विद्यानुवादपूर्वमें सातसौ क्षुद्रविद्या और पांचसौ महाविद्याओंका वर्णन अर्थात् उनका सामर्थ्य, स्वरूप, मंत्रतंत्र, पूजाविधान तथा सिद्ध विद्याओंका फल, और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, छिन्न ऐसे आठ निमित्तोंका वर्णन हैं। जिनका विज्ञान असंख्यप्रमाण है ऐसे तत्त्वज्ञ विद्वानोंने इसकी पदसंख्या एक कोटि दश लाख प्रमाणकी कही है ॥ १०७-१०८ ॥

१ आ. संख्यं तु २ आ. वाचांगुप्ति ३ आ. स्त्वतः ४ आ. तत्वं

दशलक्षाधिककोटी पदानि प्रतिपादितम् । संख्या[1] यासंख्यविज्ञानैस्तत्त्वविद्भिर्मनीषिभिः ॥ १०८
कल्याणनामधेयं तद्यत्कल्याणप्ररूपकम् । षड्विंशतिश्च कोटीनां अर्हदादिमहात्मनाम् ॥ १०९
कोटीत्रयोदश प्राज्ञैः प्राणावायं पदानि तत् । प्राणापानविभागायुर्वेदमन्त्रादिवादकम् ॥ ११०
छन्दोऽलङ्कारशास्त्राणां क्रियाणां प्रतिपादकम् । क्रियासाधनमाम्नातं[2] नवकोटिपदप्रमम् ॥ १११
लोकाग्रसाधनानेकव्याकर्णनपरं[3] वरम् । कोटीद्वादशपञ्चाशल्लक्षा लोकाग्रबिन्दुकम् ॥ ११२
निगद्य पदसंख्यानं[4] पूर्वाणां गणितप्रियैः । अशेषाणाममीषां च वस्तुसंख्या निगद्यते ॥ ११३
दश चतुर्दशाष्टौ च क्रमादष्टादशाधिका[5] । द्वादश द्वादश प्राज्ञैस्ततः षोडश विंशतिः ॥ ११४
त्रिंशत्पञ्चदश ख्याता वस्तुसंख्या दशस्वपि । त्रिलोकाग्रपदप्राप्तिहेतुभूता मनस्विभिः[6] ॥ ११५
ततः सर्वेषु पूर्वेषु दशकं दशकं मतम् । वस्तूनां वस्तुतः प्राज्ञैर्यावदन्त्यं भवेत्पुनः ॥ ११६
सर्वेषामिह पूर्वाणां वस्तुसंख्या समासतः । शतं च नवभिः पंच गदितागमकोविदैः ॥ ११७

कल्याण नामक पूर्वमें तीर्थंकरादिके गर्भावतारादि कल्याण, उनके कारण पुण्यकर्म, षोडश भावना आदिका तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रोंके चारका, ग्रहण, शकुन आदिके फलोंका वर्णन है । इसकी पदसंख्या छब्बीस कोटि प्रमाण है ॥ १०९ ॥

प्राणावायपूर्वकी पदसंख्या विद्वानोंने तेरा कोटि प्रमाण बताई है । इसमें प्राणापानोंका विभाग तथा आयुर्वेद-मंत्रवादोंका वर्णन है ॥ ११० ॥

क्रियाविशालपूर्वमें छंदःशास्त्र और अलंकार शास्त्रका विवेचन है, तथा पुरुषोंकी बाहत्तर कला, स्त्रियोंकी चौसठ कला शिल्पादि विज्ञान, गर्भाधानादिक क्रिया, तथा नित्यनैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है । इसकी पदसंख्या नौ कोटि प्रमाणकी है ॥ १११ ॥

लोकाग्रबिन्दुपूर्वमें लोकाग्र-मोक्षको साधनेके कारण और मोक्षके सुखका वर्णन किया है तथा लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, आदिका वर्णन है । इसकी पदसंख्या बारह कोटि पचास लक्ष प्रमाणकी है ॥ ११२ ॥

जिनको गणित प्रिय है ऐसे विद्वानोंने पूर्वोंकी पदसंख्या इस प्रकार कही है । अब इन समस्त पूर्वोंमें जो वस्तुसंख्या है, उसका वर्णन वे करते हैं ॥ ११३ ॥

(पूर्वोंकी वस्तुसंख्या)– उत्पादपूर्वसे विद्यानुवाद पूर्वतक दसपूर्वोंमें वस्तुओंका जो प्रमाण क्रमसे विद्वानोंने कहा है वह इस प्रकार है–दस, चोदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पंद्रह । तदनंतर आगेके चार पूर्वोंमें त्रैलोक्यके अग्रकी–मोक्षकी प्राप्तिमें कारणभूत ऐसी वस्तुसंख्या विद्वानोंने दस, दस, दस, दस कही है। चौदह पूर्वोंमें १०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १०, कुल वस्तुसंख्या एकसौ पिचानबै है । ऐसे वस्तु नामक अधिकार चौदह पूर्वमें कहे हैं ॥ ११४–११७ ॥

---

१ आ. संख्यया २ आ. क्रियाविशालमाख्यातं ३ आ. व्यावर्णन ४ आ. संख्यां तां ५ आ. धिकादश ६ आ. मनस्विनाम्

विंशतिर्विंशतिर्यावत्प्राभृतान्यत्र[1] कोविदाः । वस्तु वस्तु प्रतिवादो[2] निगदन्त्यधिकप्रभाः ॥११८
शतद्वयं तदेवास्मादशीतिसहितं ततः । शतं षष्टियुतं गीतं त्रिशती षष्टिसंयुता ॥ ११९
द्विशती द्विशती पश्चाच्चत्वारिंशत्समन्विता । तथा विंशतिसंयुक्तं शतत्रयमुदीरितम् ॥ १२०
चत्वारिंशच्छतान्यस्मात्षट्शतानि ततःपरम् । शतत्रयं च सर्वेषु द्विशती द्विशती पुनः ॥ १२१
कोटीनां च शतं पूतं तथा द्वादश कोटयः । लक्षास्त्र्यशीतिपञ्चाशत्सहस्रा चाष्टभिः सह ॥१२२
पदानि पंच चैवेदं द्वादशाङ्गं श्रुतं सताम् । वन्द्यं वन्देऽहमप्युच्चैस्तस्य लब्धिवशीकृतः ॥ १२३
पदं च त्रिविधं ज्ञेयं सर्वश्रुतनिबन्धनम् । अर्थमध्यप्रमाणादिभेदतो भिन्नकल्मषैः ॥ १२४
अर्थ्यमर्थसमाप्तिश्च प्रमाणं चाष्टभिः पदम् । अक्षरैरक्षराख्यानं कथितं तथ्यवेदिभिः ॥ १२५
अङ्गश्रुतपदं चैतन्मध्यमं मध्यभागतः । तस्य वर्णाश्च विज्ञेया मानतो मानशालिभिः ॥ १२६
शतं षोडश कोटीनां चतुस्त्रिंशच्च लक्षकाः । अशीतिस्त्र्यधिकाः सप्त सहस्राःशतमष्टकम् ॥१२७
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा मध्यमस्येह मध्यमाः । पदस्याङ्गप्रविष्टस्य श्रुतस्य गदिता जिनैः ॥१२८
अङ्गप्रविष्टमाख्याय ख्यापितं यद्यतीश्वरैः । अङ्गबाह्यं श्रुतं सम्यङ्निगदन्ति गदातिगाः[3] ॥१२९

(सर्व प्राभृतसंख्या)– अधिक कान्ति जिनकी है ऐसे गणधरादि महापुरुष प्रत्येक वस्तुमें वीस वीस प्राभृत हैं ऐसा कहते हैं ॥ ११८ ॥

दोसौ, दोसौ अस्सी, एकसौ साठ, तीनसौ साठ, दोसौ चालीस, दोसौ चालीस, तीनसौ बीस, चारसौ, छहसौ, तीनसौ, दोसौ, दोसौ, दोसौ, दोसौ सब मिलकर प्राभृतसंख्या १९५ वस्तुओंमें ३९०० सौ होती है ॥ ११९–१२१ ॥

(द्वादशांगोंकी पदसंख्या)– एकसौ बारह कोटि, तिरासी लक्ष, अट्ठावन हजार, पांच इतनी द्वादशांगोंकी पदसंख्या है । यह द्वादशांगश्रुतज्ञान विद्वन्मान्य है । उसकी प्राप्तिके वश होकर मैं इस वन्द्य श्रुतज्ञानको अत्यादरसे वन्दन करता हूं ॥ १२२–१२३ ॥

(पदभेदोंका वर्णन) जिन्होंने पापविनाश किया है ऐसे जिनेश्वरोंने पदके तीन भेद कहे हैं । अर्थपद, मध्यपद और प्रमाणपद । ये तीनों पद सर्व श्रुतज्ञानके कारण हैं । जिससे अर्थसमाप्ति होती है उसे अर्थपद कहते हैं जैसे सफेद गौको रस्सीसे बांधो, अग्निको लाओ, ये अर्थपद हैं । आठ आदि अक्षरोंसे जो उत्पन्न होता है उसे प्रमाणपद कहते हैं । अर्थात् प्रमाणयुक्त अक्षर जिसमें हैं उसको सत्य जाननेवाले विद्वान प्रमाणपद कहते हैं । अंगश्रुतके पदको मध्यपद कहते हैं, क्यों कि प्रमाणपद और अर्थपदके बीचमें इसकी गणना की है । ज्ञानशाली विद्वान उनके वर्णोंकी संख्या ऐसी समझते हैं–सोलह सौ चौतीस कोटि, तिरासी लक्ष, सात हजार, आठसौ अठ्यासी इतने वर्ण एक मध्यम पदमें रहते हैं । इस प्रकार जिनेश्वरने अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानके पदके अक्षर कहे हैं ॥ १२४–१२८ ॥

(अंगबाह्य श्रुतज्ञानके भेद)– यहां तक यतीश्वरोंने अंगप्रविष्टका वर्णन करके खुलासा किया है । संसाररोगसे रहित जिनेश्वर अंगबाह्य श्रुतज्ञानका सम्यङ्ग निरूपण करते हैं ॥ १२९ ॥

१ आ. स्तावत् २ आ. प्रायो ३ आ. निगदामि गदातिगः

सामायिकं स्तवश्चेति वन्दना सप्रतिक्रमम्[1] । वैनयिकं तथा पूतं कृतिकर्म ततः परम् ॥ १३०
दशवैकालिकं तस्मादुत्तराध्ययनं पुनः । कल्पादिव्यवहारं च कल्पाकल्पमकल्पकम् ॥ १३१
महाकल्पं ततस्तावत्पुण्डरीकाख्यमुत्तमम् । महादि-पुण्डरीकं तदशीतिगमिति स्फुटम् ॥ १३२
चतुर्दशविधं पूतं प्रकीर्णकमिदं विदुः । नामतो देशना यासु कथञ्चित्कथयामि तत् ॥ १३३
नियतानियतः कालो यतीनां समयः स्मृतः तत्र या समया तत्र भवं सामायिकं विदुः ॥ १३४
चतुर्विंशतितीर्थानां प्रातिहार्यादिवर्णनम् । यत्र तत्कथितं प्राज्ञैश्चतुर्विंशतिसंस्तवम् ॥ १३५
एकैकशो जिनानां च यत्र नामादिकीर्तनम् । वन्दनानामतो ज्ञेयं प्रकीर्णकमनिन्दितम् ॥ १३६
संवत्सरचतुर्मासपक्षाहोरात्रिका पुनः । ईर्यापथोत्तमार्थाश्च[2] प्रतिक्रान्तिस्तु सप्तधा ॥ १३७
कथ्यते यत्र भव्यानां कर्मणः क्षपणक्षमा । प्रतिक्रान्तिप्रकीर्णं तत्साधुवर्गैकसेवितम् ॥ १३८

सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, पवित्र कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, अशीतिग, इन नामोंके चौदह पवित्र प्रकीर्णक बाह्य श्रुत कहे गये है । इनके उपदेशके लिये कुछ निरूपण मैं करता हूं ॥ १३०–१३३ ॥

(चौदह प्रकीर्णकोंका वर्णन)– सामायिक-यतियोंका जो नियत और अनियत काल है उसे समय कहते हैं उसमें जो हुआ है उसको सामायिक कहते हैं । सामायिकके नियतकाल सामायिक और अनियतकाल सामायिक ऐसे दो भेद हैं । स्वाध्यायादिकोंको नियतकाल सामायिक कहते हैं । ईर्यापथादिकोंको अनियतकाल सामायिक कहते हैं ॥ १३४ ॥

चतुर्विंशतिसंस्तव–चौबीस तीर्थकरोंके प्रातिहार्यादिकोंका वर्णन जिसमें किया है उसको बुद्धिमानोंने चतुर्विंशतिस्तव कहा है । ऋषभादि वर्धमानान्त चौबीस तीर्थकरोंके नाम, लांछन, जन्मसमयके दस गुण, केवलज्ञान होनेपर दश अतिशय, देवकृत चौदह अतिशय, उनका वर्ण, उनकी उंचाई, उनके वंश इत्यादि वर्णन इसमें आता है । प्राज्ञ उसे चतुर्विंशति स्तुति कहते हैं ॥ १३५ ॥

वंदना–एकेक जिनेश्वरके नामादि गुणोंका कीर्तन करना उसे वंदना कहते हैं । यह स्तुत्य प्रकीर्णक हैं ॥ १३६ ॥

प्रतिक्रमणके सांवत्सरिक, चातुर्मासिक, पाक्षिक, दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थ ऐसे सप्त भेद हैं । यह प्रतिक्रमण भव्योंके कर्मका नाश करनेमें समर्थ हैं । यह प्रतिक्रान्ति नामका प्रतिक्रमण-प्रकीर्णक कीर्तिके अधिपति जिनेश्वरोंने कहा है? गमनादि कार्य करनेके समय जो दोष लगते हैं वे मेरे मिथ्या होवे पुनः मैं नहीं करूंगा ऐसा कहना उसे प्रतिक्रमण कहते हैं ॥ १३७–१३८ ॥

---

१ आ. सप्रतिक्रमा　२ आ. था च

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविनयसूचकम् । वैनयिकप्रकीर्णं तत्कीर्तितं कीर्तिनायकैः ॥ १३९
दीक्षाग्रहणपूर्वायाः क्रियायाः प्रतिपादनात् । कृतिकर्म मतं तज्ज्ञैः कृतकर्मविनाशकम् ॥ १४०
द्रुमपुष्पितपूर्वैर्यद्दशभिस्त्वधिकारकैः । सूचकं साधुवृत्तानां दशवैकालिकं मतम् ॥ १४१
सहनं हचुपसर्गाणां तत्फलादिनिवेदकम् । उत्तराध्ययनं ध्यानध्येयाधारैरुदीरितम् ॥ १४२
यतिकल्पसमाचारप्रच्यवो चित्तमुत्तमम् । प्ररूपयत्प्रायश्चित्तं तत्कल्पव्यवहारकम् ॥ १४३
कालविशेषमाश्रित्य योग्याचारप्ररूपकम् । यतीनामुदितं तज्ज्ञैः कल्पाकल्पप्रकीर्णकम् ॥ १४४
दीक्षाशिक्षादिषट्कालसाधुवृत्तप्ररूपकम् । प्रकीर्णकं प्रकृष्टैस्तन्महाकल्पं प्रकल्प्यते ॥ १४५
भवान्तरविशेषस्य हेतुभूतं तपोविधेः । ख्यापकं पुण्डरीकाख्यमसंख्यसुखकारकम्[1] ॥ १४६
सर्वाप्सरोगणानां यज्जन्महेतुप्ररूपकम् । महादिपुण्डरीकं तद्भणितं भणितिप्रियैः ॥ १४७

वैनयिक– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार ऐसे पांच विनयोंका वर्णन जिसमें है, वह वैनयिक प्रकीर्णक है, उसका कीर्तिनायक मुनिओंने वर्णन किया है ॥ १३९ ॥

कृतिकर्म– दीक्षाग्रहणपूर्वक क्रियाका प्रतिपादन इसमें होनेसे इसका कृतिकर्म यह नाम है । यह कृतिकर्म किये हुए पापकार्योंका नाश करनेवाला है ॥ १४० ॥

द्रुमपुष्पित अध्याय जिसके पूर्वमें है, ऐसे तेरा अध्यायोंका मुनियोंके आचरणका जो सूचक प्रकीर्णक है उसे दशवैकालिक कहते हैं । अनेक उपसर्ग-देवकृत मनुष्यकृत, पशुकृत और अचेतनोपसर्ग ऐसे उपसर्गोंको सहन करना और उसके फल आदिका प्रतिपादक ऐसे प्रकीर्णकको, ध्यान और ध्येयके आधारभूत आचार्योंने उत्तराध्ययन कहा है ॥ १४१–१४२ ॥

यतियोंके योग्य आचरणको कल्प्य कहते हैं। उसका वर्णन करनेवाला तथा उस आचरणसे भ्रष्ट होनेपर उससे उत्तम प्रायश्चित्त कहनेवाला जो प्रकीर्णक उसे उसके ज्ञाता विद्वान् कल्प्यव्यवहार कहते हैं ॥ १४३ ॥

विशेष कालके आश्रयसे मुनियोंके योग्य आचारोंका प्रतिपादन करनेवाले प्रकीर्णकको कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णक कहते हैं । दीक्षा काल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्म–संस्कार काल, भावना काल और उत्तमार्थ काल ऐसे षट्कालसंबंधी मुनियोंके आचरणको निरूपण करनेवाले प्रकीर्णकको श्रेष्ठोंने महाकल्प्य कहा है ॥ १४४–१४५ ॥

अन्यजन्मविशेषके अर्थात् भवनवासी, व्यन्तरादि देवजन्मविशेषके कारणभूत तपश्चरणका वर्णन करनेवाले प्रकीर्णकको पुण्डरीक कहते हैं, यह असंख्य सुखको देनेवाला है ॥ १४६ ॥

सर्व अप्सरासमूहकी उत्पत्ति कैसी होती है इसका निरूपण करनेवाला जो प्रकीर्णक उसे व्याख्यान-प्रिय आचार्योंने महापुण्डरीक कहा है ॥ १४७ ॥

---

१ आ. कारणम्

दोषाणां स्थूलसूक्ष्माणां प्रायश्चित्तं प्ररूपयत् । अशीतिगं[1] प्रकीर्णं तद्वयःसत्त्वाद्यपेक्षया ॥ १४८
अङ्गाङ्गबाह्यभेदा ये श्रुतस्यावगता मया । प्रोक्ताःस्वबुद्धितः सर्वे यच्छन्तु विपुलां श्रियम् ॥ १४९
परं विंशतिभेदं यत्पर्यायाद्यभिधानतः । श्रुतं तदपि वक्ष्येऽहं यथाशक्ति यथागमम् ॥ १५०
पर्यायश्चाक्षरं ज्ञानं पदं संघात इत्यपि । प्रतिपत्त्यनुयोगाभ्यां विकल्पाः षडमी श्रुते ॥ १५१
प्राभृतप्राभृतं प्राभृतस्तु पूर्वं चतुर्थकम् । इत्येवं मिलिताः सर्वे विकल्पा दश शोभनाः ॥ १५२
तेषां समासभेदा ये तावन्तः परिकीर्तिताः । तैः समस्तैर्भवेत्सर्वं श्रुतं विंशतिभेदभाक् ॥ १५३
[2]नित्यनिगोदजीवस्यापर्याप्तस्यादिमक्षणे । जायते यच्च विज्ञानं तत्पर्याय इति श्रुतम् ॥ १५४

पुरुषोंकी आयु, शक्ति, उनका प्रमाद, अथवा ज्ञाताज्ञातादिक भाव इनकी अपेक्षासे स्थूल और सूक्ष्म दोषोंका प्रायश्चित्त निरूपण करनेवाले प्रकीर्णकको 'अशीतिग' कहते हैं ॥१४८॥

श्रुतज्ञानके जो अंगप्रविष्ट और अङ्गबाह्यके भेद मैंने जाने हैं वे अपनी बुद्धिके अनुसार सर्व कहे हैं, वे मुझे विपुल अनंतज्ञानादि लक्ष्मीको देवें ॥ १४९ ॥

(श्रुतज्ञानके वीस भेद) उत्तम-श्रुतज्ञानके पर्याय, पर्याय समास आदि वीस भेद हैं। मैं यथाशक्ति-यथामति और आगमानुसार उसकाभी वर्णन करता हूं ॥ १५० ॥

पर्यायश्रुत, अक्षरश्रुत, पदश्रुत, संघातश्रुत, प्रतिपत्तिश्रुत, अनुयोगश्रुत ऐसे श्रुतज्ञानमें छह विकल्प हैं। प्राभृत, प्राभृतप्राभृत, वस्तु, और चौथा भेद पूर्व ये और ऊपरके हितकर सर्व भेद मिलकर दस भेद श्रुतज्ञानके हैं। इन दस भेदोंके समासभेदभी उतनेही कहे हैं। और उन संपूर्ण भेदोंसे यह श्रुतज्ञान वीस भेदवाला होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं–पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास ॥ १५१-१५३ ॥

(पर्याय नामक श्रुतज्ञान किसे होता है ?) अपर्याप्त नित्य निगोदका जो जन्मका प्रथम क्षण उसमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे पर्यायश्रुत कहते हैं। वह श्रुतज्ञान सबसे जघन्य है, परंतु वह हमेशा प्रकाशयुक्त प्रगट होता है, उसके ऊपर कदापि आवरण आता नही। जगदीश्वर अर्थात् जिनेश्वर उसके ज्ञानको जानते हैं। तात्पर्य–पर्यायावरण कर्मके उदयका फल पर्यायज्ञानमें हो जाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवकाभी अभाव हो जायगा। इस लिये पर्यायावरण कर्मका फल उसके आगेके ज्ञानके प्रथम भेदमेंही होता है। इसलिये कमसे कम पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है। तथा वह ज्ञान हमेशा निरावरण और प्रकाशमान रहता है। सूक्ष्म निगोदी

१ आ. अशीतिकम् । २ आ. नित्यं

सर्वज्ञानजघन्यं तत्सुप्रकाशं निरावृति[1] । निरावृतपरिज्ञानो जानाति जगदीश्वरः ॥ १५५
तदेवासंख्यभागेन वर्धमानं ततः परम् । प्रागक्षरश्रुतात्सर्वं पर्यायादिसमासभाक् ॥ १५६
एकाक्षरस्य विज्ञानमक्षरश्रुतमुच्यते । द्वित्राद्यक्षरवृद्ध्या[2] तु तत्समासं पदावधि ॥ १५७
पदज्ञानं भवेत्तद्धि यत्त्रिधा पदसंभवम् । पदादक्षरवृद्ध्या तु समासपदपूर्वकम् ॥ १५८
संघातः कथ्यते पथ्यः सहस्रैकपदप्रमः । तत्समासस्तु विज्ञेयः प्रतिपत्त्यवधिर्बुधैः ॥ १५९

लब्ध्यपर्याप्त जीवके अपने २ जितने भव (छह हजार बारह) संभव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोडोंद्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोडेके समय जघन्य ज्ञान होता है ॥ १५४-१५५ ॥

(पर्यायसमासश्रुत)- सूक्ष्मनिगोदी लब्ध्यपर्याप्तिक जीवको जो पर्यायश्रुत ज्ञान है वही असंख्यात भागसे बढता बढता जाता है, तब उसमें असंख्यात स्थान बढते हैं, तब एक अक्षर श्रुतज्ञान होता है । उसके पूर्व और पर्यायश्रुत ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके भेद होता हैं, वे सब पर्यायसमास ज्ञान कहलाते हैं ॥ १५६ ॥

(अक्षरश्रुत)- एक अक्षरका जो ज्ञान उसे अक्षरश्रुत कहते हैं । इसके ऊपर दो अक्षरज्ञान बढता है, तीन अक्षरज्ञान बढता है, ऐसी अक्षरज्ञानोंकी वृद्धि पदज्ञानके पूर्वतक होती है। यह लब्ध्यक्षरज्ञान सूक्ष्मनिगोदी अपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रिजन्य मति ज्ञानपूर्वक होता है । लब्धिनाम श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका है और अक्षर नाम अविनश्वरका है इसलिये इस ज्ञानको लब्ध्यक्षर कहते हैं । क्यों कि इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता है, कमसे कम इतना क्षयोपशम जीवके रहता ही है । एक अक्षरके ऊपर जो पदतक ज्ञान बढता है, उसे अक्षरसमास ज्ञान कहते हैं। अन्तिम अक्षर समासके ऊपर एक अक्षर बढनेपर पदनामक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १५७ ॥

(पद तथा पदसमास)- जो ज्ञान तीन प्रकारके पदोंसे उत्पन्न होता है, उसे पदज्ञान कहते हैं । वे पद तीन हैं-अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद (इनका वर्णन पहले आया है)। इस पदज्ञानके जो एकाक्षरादि वृद्धि होती है वह सब पद समास ज्ञान समझना चाहिये । इस तरह अक्षरोंकी वृद्धि होते होते दुसरा पदज्ञान होता है । तदनंतर तीसरा, चौथा, पांचवा ऐसे पदज्ञान होते होते पदके ऊपर और संघातके पूर्व जितने ज्ञानके भेद होते हैं वे सब पदसमासके भेद समझने चाहिये ॥ १५८ ॥

(संघात और संघातसमास)- एक हजार पदप्रमाण ज्ञानको हित करनेवाला संघातज्ञान कहते हैं। इसके अनंतर अर्थात् संघातज्ञानके अनंतर और प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञानके पूर्व जितने ज्ञानके

---

१ आ. निरावृतं　२ आ. द्वित्र्या.

संख्यातानेकसंघातप्रमाणं प्रतिपत्तिकम् । अनुयोगावधिः पूतस्तत्समासो निगद्यते ॥ १६०
अनुयोगो मतस्तावत्तत्संख्याप्रतिपत्तिकः । अनुयोगसमासस्तु यावत्प्राभृतप्राभृतम् ॥ १६१
सुसंख्यातानुयोगैस्तु प्राभृतं प्राभृतं मतम् । प्राभृतप्राभृतादूर्ध्वं समासः प्राभृतावधि ॥ १६२
प्राभृतप्राभृतैस्तावच्चतुर्विंशतिभिः परम् । प्राभृतं वस्तुमर्यादा[1] समासोऽस्य निगद्यते ॥ १६३

विकल्प होते हैं वे सब संघातसमास ज्ञानके भेद होते हैं। तात्पर्य—यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतिमेंसे एक गतिके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदोंका समूह रूप हैं। एक पदके ऊपर क्रमसे अक्षरोंकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदोंकी वृद्धि होनेपर संघात ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १५९ ॥

(प्रतिपत्ति और प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान)— संघातज्ञानके ऊपर अनेक संघातश्रुतज्ञानोंकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । और अनुयोग ज्ञानकी उत्पत्ति जहांसे होती है, उससे पूर्वतक होनेवाले जितने ज्ञान विकल्प हैं, वे सर्व प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान समझने चाहिये । भावार्थ—चार गतियोंमेंसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार संघातकी वृद्धि हो जाय तब एक प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है । संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके मध्यमें जितने ज्ञानके विकल्प होते हैं उतनेही संघात समासके भेद होते हैं । यह प्रतिपत्तिक ज्ञान नरकादिक चार गतियोंका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है ॥ १६० ॥

(अनुयोग और अनुयोगसमास)— प्रतिपत्तिक ज्ञानके ऊपर पुनः संख्यातों प्रतिपत्तिक ज्ञानकी वृद्धि होनी चाहिये अर्थात् प्रतिपत्तिक ज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्तियोंकी वृद्धि होती है, तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इसके अनंतर और प्राभृतप्राभृतज्ञानके पूर्व जितने अनुयोग ज्ञानके विकल्प होते हैं उसे अनुयोग समास कहते हैं । इस अनुयोग श्रुतज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओंका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है ॥ १६१ ॥

(प्राभृतप्राभृतश्रुत तथा प्राभृतप्राभृतसमास ।)— संख्यात अनुयोग होनेपर प्राभृतप्राभृतश्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है। प्राभृतप्राभृतके ऊपर और प्राभृतश्रुतके पूर्वमें जो ज्ञानविकल्प होते हैं वे सब प्राभृतप्राभृतसमास कहे जाते हैं । तात्पर्य—चौदह मार्गणाओंका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमानुसार एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब चतुरादि अनुयोगोंकी वृद्धि हो जाय तब प्राभृतप्राभृतका श्रुतज्ञान होता है ॥ १६२ ॥

(प्राभृत और प्राभृतसमास श्रुतज्ञान)— प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक एक अक्षरोंकी वृद्धि होते होते जब चौबीस प्राभृतप्राभृतोंकी वृद्धि होती है तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतश्रुतके ऊपर और वस्तुज्ञानके पूर्वमें जो जो ज्ञानविकल्प होते हैं उसे

१ आ. मर्यादः

विंशतिप्राभृतं वस्तु श्रुतं श्रुतविचक्षणाः । कथयन्ति समासोऽपि तस्य पूर्वाविधिर्बुधाः ॥ १६४
दशादि वस्तु संख्यातं पूर्वं पूर्वविदो विदुः । तत्समासो भवेत्सर्वं श्रुतस्कन्धावधिर्महान् ॥ १६५
यथा ज्ञातं मया प्रोक्तं श्रुतज्ञानं विकल्पतः । समस्तश्रुतलब्धिमां करोतु ध्वस्तकल्मषम् ॥ १६६
अधो बहुतरो येन विषयो धीयते स्वतः । सोऽवधिर्विविधो बोधो बोधशुद्धधियां[1] मतः ॥ १६७

प्राभृतसमास कहते हैं । उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृत-श्रुतज्ञान होता है ॥ १६३ ॥

(वस्तुश्रुत और वस्तुसमासश्रुत)– वीस प्राभृतोंकी वृद्धि होनेपर वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है । ऐसा श्रुतज्ञान–चतुर कहते हैं । वस्तु नामक ज्ञानके ऊपर अक्षरादिवृद्धिके अनुसार पूर्वज्ञानके पूर्व जितने विकल्प होते हैं, वे सब वस्तुसमासके भेद समझने चाहिये ॥ १६४ ॥

(पूर्वश्रुत और पूर्वसमासश्रुत)– दश, चौदह, आठ आदि वस्तुओंसे क्रमसे उत्पादादि पूर्वज्ञान उत्पन्न होते हैं ऐसा पूर्वश्रुतज्ञानी आचार्य कहते हैं । जो महान् श्रुतस्कन्धकी अवधि है तब तक पूर्वसमासश्रुतज्ञान होता है, जैसे दश वस्तुओंसे उत्पादपूर्व होता है । इसके अनन्तर अग्रायणीय श्रुतज्ञानके पूर्व उत्पादपूर्वसमास होता है ऐसा आगेभी समझना चाहिये ॥ १६५ ॥

जैसे मैंने जाने थे वैसे इस श्रुतज्ञानके भेद मैंने कहे हैं । यह संपूर्ण श्रुतज्ञानकी लब्धि (ऋद्धि) मुझे पापरहित करें ॥ १६६ ॥

(अवधिज्ञानका विवरण)– जिस ज्ञानके द्वारा नीचेका रूपी द्रव्य अधिक व्यवस्थापित किया जाता हैं–जाना जाता हैं और जिसके अनेक भेद हैं उसे अवधिज्ञान कहना चाहिये, ऐसा निर्मल ज्ञानी आचार्योंका मत है । भावार्थ–अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे अधोगत द्रव्य-रूपी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे नियत होकर जिसके द्वारा जाना जाता है, ऐसा जो विकल प्रत्यक्ष ज्ञान उसे अवधिज्ञान कहते हैं । अवधि शब्दका सीमा, मर्यादा ऐसाभी अर्थ है । इस अर्थकी अपेक्षासे इसके सीमाज्ञान, मर्यादाज्ञान ऐसाभी कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा धारण करता है । अर्थात् अवधिज्ञानका क्षयोपशम जितना अधिक होगा उसकी उतनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा बढती है, और अधिक अधिकतर रूपी द्रव्य उसका विषय होता है । इस ज्ञानावरणके क्षयोपशमके तरतमरूप असंख्य भेद है । इसलिये यह अवधिज्ञान असंख्य प्रकारका है । यह ज्ञान मतिज्ञानके समान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होता है अथवा श्रुतज्ञानके समान मनसे उत्पन्न नहीं होता है, परंतु यह आत्मासे उत्पन्न होता है, इसको प्रकाश, अंधकार आदिकी आवश्यकता नहीं है, बाह्य रूपी पदार्थोंका इंद्रिय और मनके साथ संबंध होकर

---

१ आ. बोधि

क्षयोपशमहेतुश्च भवप्रत्यय इत्यपि । आदौ[1] नारकदेवानां शेषाणां षड्विधः पुनः ॥ १६८
अनुगाम्यननुगामी वर्धमानस्तथेतरः । अवस्थिताभिधानोऽपि ततोऽयमनवस्थितः ॥ १६९

यह उत्पन्न नहीं होता है । इस अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे तीन भेद है । देशावधिके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद हैं । परमावधिज्ञानके अनवस्थित और हीयमान भेदोंको छोडकर अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान और अवस्थित ऐसे चार भेद हैं । तथा सर्वावधिके अनुगामी, अननुगामी और अवस्थित ऐसे तीन भेद हैं ॥ १६७ ॥

(देशावधिज्ञानके भेद और स्वामी ।)– यह देशावधिज्ञान क्षयोपशमजन्य और भव-प्रत्यय भेदसे दो प्रकारका है । पहिला भेद भवप्रत्यय अवधिज्ञानरूप है । वह देव और नारकियोंको प्राप्त होता है और क्षायोपशमिक अवधिज्ञान बाकीके जीवोंको अर्थात् मनुष्य और पशुओंको प्राप्त होता है । तात्पर्य–देवनारकियोंको जब पर्याप्तावस्था प्राप्त होती है तब उनको भवप्रत्यय अवधिज्ञान प्रगट होता है ।

भावार्थ– देव और नारकी अपने उत्पन्न होनेके स्थानमें उत्पन्न होनेपर अन्तर्मुहूर्तमें छह पर्याप्तियोंसे–आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनसे–परिपूर्ण होते है और 'मैं यहां कैसे आया, मैंने पूर्वजन्ममें कौनसा शुभाशुभ कृत्य किया था इत्यादि रूपसे जब विचार करता है तब उसे यह भवप्रत्यय अवधिज्ञान प्राप्त होता है । जिनेश्वरकोभी भवप्रत्यय अवधि रहता है । वह देव नारकियोंके समान उनके सर्व अंगमेंसे उत्पन्न होता है । जो क्षयोपशमज अवधिज्ञान मनुष्य और पशुओंको उत्पन्न होता है, उसे गुण-प्रत्यय ऐसाभी नाम है । सम्यग्दर्शनादि निमित्त प्राप्त होनेपर जिनका कर्म उपशान्त और क्षीण हो गया है उन्हें यह प्राप्त होता है। अवधिज्ञान क्षयोपशमसेही प्राप्त होता है । परंतु भवकी प्रधानतासे देव-नारकियोंको यह प्राप्त होनेसे इसे भव-प्रत्यय कहते हैं । जैसे पक्षियोंके कुलमें जन्म होनेसे बिना शिक्षणके पक्षियोंको आकाशगमन गुण प्राप्त होता है, वैसे देव और नारकावस्था प्राप्त होनेपर उनको अवधिज्ञान प्राप्त होता है । मनुष्य और पशुओंकोभी पर्याप्तावस्थामेंही सम्यग्दर्शनादि गुण प्राप्त होनेपर गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान प्राप्त होता है । जो असंज्ञिपशु होते हैं उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त नहीं होता । अर्थात् संज्ञि और पर्याप्तक मनुष्य और पशुओंको अवधिज्ञानकी योग्यता होती है ॥ १६८ ॥

(गुणप्रत्यय देशावधिके छह भेदोंके नाम ।)– अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेद गुण-प्रत्यय देशावधिज्ञानके समझने चाहिये ॥ १६९ ॥

१ आ. आद्यो

भास्करस्य प्रकाशो वा गच्छन्तमनुगच्छति । अनुगामी स विज्ञेयः परो यो नानुगच्छति ॥ १७०
काष्ठनिर्मन्थजो वह्निः शुष्कपत्रगतः पुनः । समिद्धेन्धनमासाद्य प्रवृद्धो जायते पुनः ॥ १७१
तथा जातोऽवधिः पूतोऽवधिज्ञानावृतिक्षयात् । वर्धते वर्धमानोऽसौ वर्धमाननिबन्धतः[1] ॥ १७२
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानसच्चारित्रविशुद्धितः । आ असंख्येयलोकेऽपि[2] वृद्धिमान् वर्धमानकः ॥ १७३
संक्लिष्टपरिणामेन शुद्धदृष्ट्यादिहानितः । अङ्गुलासंख्यभागोऽयं हीयमानः सहीनकः ॥ १७४
समुत्पन्नप्रमाणाद्यो हीयते नापि वर्धते । भवक्षयावधिः शुद्धो लिंगवत्स त्ववस्थितः ॥ १७५
चीयतेऽपचयं याति यश्चोत्पन्नस्तथाविधात् । सम्यग्रत्नत्रयाद्वायुप्रेरितोर्मिसमूहवत् ॥ १७६

(अनुगामी और अननुगामी देशावधिज्ञान ।)– सूर्यका प्रकाश जैसे सूर्यके साथ जाता है वैसे जो अवधिज्ञान एकक्षेत्रसे अन्यक्षेत्रमें, एकभवसे अन्य भवमें आत्माके साथ जाता है उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं । जो अवधिज्ञान आत्माके साथ क्षेत्रान्तरमें और भवान्तरमें नहीं जाता है उसे अननुगामी देशावधिज्ञान कहते हैं । तात्पर्य– जैसे मूर्ख मनुष्यको प्रश्न पूछनेपर उसका उत्तर नहीं मिलता है वैसे जो अवधिज्ञान स्वस्थानमें और पूर्वभवमेंही रहता है, स्थानांतर और भवान्तरमें नहीं जाता है उसे अननुगामी कहते हैं ॥ १७० ॥

(वर्धमान देशावधिज्ञान ।) – अरणी नामक दो लकडियोंको एक दूसरीपर घिसनेसे उत्पन्न हुआ और शुष्क पत्रोंके संयोगसे वृद्धिगत हुआ तथा लकडियोंसे भडकता हुआ अग्नि खूब बढता है वैसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो पवित्र अवधिज्ञान उसके कारणोंके वृद्धिगत होनेसे बढता है उसको वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं । यह अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी विशुद्धिवृद्धि होनेसे बढते बढते असंख्यात लोकतक बढता है ॥ १७१–१७२ ॥

(हीयमान अवधिज्ञान ।) – जब संक्लेश परिणामसे निर्मल सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी हानि होती जाती है, तब जो अवधिज्ञानभी सम्यग्दर्शनादिकोंके साथ कम कम होता हुआ अंगुलके असंख्यात भागपर्यन्त घटता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं ॥ १७४ ॥

(अवस्थित अवधिज्ञान ।)– जो अवधिज्ञान जितने प्रमाणसे उत्पन्न हुआ है उससे कमभी नहीं होता और बढताभी नहीं । जितना उत्पन्न हुआ है उतनाही रहता । उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं । वह शरीर पर उत्पन्न हुए तिलमाषादि चिन्होंके समान भवक्षय होनेतक हानिवृद्धि रहित एकरूप रहता है । उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं ॥ १७५ ॥

(अनवस्थित अवधिज्ञान ।) – सम्यग्रत्नत्रय बढनेसे जो बढता है और कम होनेसे कम होता है, वह अवधिज्ञान अनवस्थित है । वायुसे प्रेरित होनेसे लहरीसमूह जैसे हीनाधिक होता है

१ आ. निवेदितः । २ आ. लोकेभ्यो.

सोऽनवस्थित इत्येवं कथितस्तथ्यवेदिभिः । जिनेन्द्रैर्जितकर्मौघैरघविध्वंसकारिभिः ॥ १७७
देशावधिः प्रपूतात्मा द्वितीयः परमावधिः । सर्वावधिस्तृतीयोऽसौ देशाद्यर्थप्रदर्शकः ॥ १७८
देशावधिस्तु सर्वेषां परौ चान्त्यैकदेहिनाम् । महर्षीणां मतौ पूतौ स्वामित्वमिति निश्चितम् ॥१७९
परमानसगार्थस्य पर्ययणादिदं महत् । मनःपर्ययविज्ञानं ज्ञायते ज्ञानकोविदैः ॥ १८०
तद्भेदावृजुवैपुल्यमती मतिमतां मतौ । मनःपर्ययविज्ञानं गतौ[1] साधुगतिप्रदौ ॥ १८१

वैसे यह अवधिज्ञान कमजादा होता है। इसलिये जिन्होंने कर्मसमूहपर विजय पायी है और पाप-विनाश जिन्होंने किया है, जो सत्य पदार्थ स्वरूप जानते हैं ऐसे जिनेंद्र भगवानने इसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहा है ॥ १७६–७७ ॥

(अवधिज्ञानके तीन भेद।) – पहिला पवित्र देशावधिज्ञान, दूसरा पवित्र परमावधिज्ञान और तीसरा पवित्र सर्वावधिज्ञान ऐसे इसके तीन भेद हैं और ये देशादि अर्थोंको प्रगट करनेवाले हैं। देशावधिज्ञान चारों गतियोंके संज्ञीपर्याप्तक प्राणियोंको उत्पन्न होता है। परमावधि और सर्वावधि ये दो पवित्र अवधिज्ञान चरमशरीर-धारक महर्षियोंको होते हैं। इस प्रकार अवधिज्ञानके स्वामित्वका निश्चय किया है।

तात्पर्य–देशावधिज्ञान मनुष्यको असंख्यात द्वीपसमुद्रोंको जाननेवाला होता है। उसका कालभी असंख्यात वर्षोंका होता है। द्रव्य-कार्मणद्रव्य विषय होता है। यह अवधिज्ञान शंख, कमल आदिक शरीरलांछनोंसे जोकि नाभिके ऊपर भागपर रहते हैं उनसे उत्पन्न होता है। तथा जो विभंगावधिज्ञान है, वह नाभिके नीचे गिरगिट, मर्कट आदि चिन्होंसे उत्पन्न होता है। इस-प्रकार अवधिज्ञानका वर्णन हुआ है ॥ १७८–१७९ ॥

(मनःपर्ययज्ञानका स्वरूप।) – अन्य व्यक्तिके मनमें स्थित पदार्थको जाननेसे यह मनःपर्ययज्ञान महान् है ऐसा ज्ञाननिपुण आचार्य जानते हैं। भावार्थ–मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे संस्कृत अपने मनके द्वारा अन्य व्यक्तिके मनका जो पदार्थ चिन्तन किया जाता है, अथवा चिन्तित हुआ होगा अथवा चिन्तन किया जायगा ऐसे पदार्थको मुनि जानते हैं। उसके जाननेका नाम मनःपर्यय है। यह ज्ञान मतिज्ञान नहीं है क्योंकि मतिज्ञानावरण क्षयोपशमयुक्त मन इस पदार्थको नहीं जानता है। वह मतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। परंतु यह मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष है। मनःशब्दका अर्थ मनमें स्थित जो भाव-पदार्थ अर्थात् वस्तु विषयक विचार उसे मन कहना चाहिये। उसे पर्ययण–स्पष्ट जानना मनःपर्यय कहते हैं ॥ १८० ॥

(मनःपर्ययके दो भेद।) – इस मतिज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ऐसे दो भेद बुद्धिशाली आचार्योंके मान्य हैं। और ये दोनों मनःपर्ययके लक्षणको प्राप्त हुये हैं तथा शुभगति देनेवालें हैं ॥ १८१ ॥

१ आ. विज्ञानगतौ

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः प्रकीर्तितः । ज्ञानाराधनतन्निष्ठैराराध्यैस्तस्य लब्धये ॥ १८२
क्षयादुपशमाज्जातः कर्मणामात्मनो महान् । यः प्रसादो विशुद्धिः सा कथिता[1] शुद्धमानसैः ॥ १८३
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालात् भावतस्तु चतुर्विधा । विशुद्धिस्तारतम्येन पुनर्नानात्वमञ्चति ॥ १८४
कर्मद्रव्यस्य योऽनन्तभागः सर्वावधेर्महान् । स सूक्ष्मात्सूक्ष्मविज्ञानैर्विषयो जिननायकैः ॥ १८५
तस्यानन्तविभागस्य योऽन्त्यो भागः स इष्यते । विषयो विषयातीतैः ऋजुपूर्वमतेर्महान् ॥ १८६
तस्याप्यनन्तभागस्य पुनर्भागस्तथान्तिमः । विपुलादिमतेर्ज्ञेयो विषयः शुद्धमानसैः ॥ १८७
जघन्येन च गव्यूतिपृथक्त्वं क्षेत्रतो मतम् । ऋजुपूर्वमतेर्मान्यैरुत्कर्षाद्योजनानि तत् ॥ १८८
द्वितीयस्य जघन्येन योजनानि[2] पृथक्त्वकम् । मानुषोत्तरशैलान्तमुत्कर्षेण समादिशेत् ॥ १८९

(ऋजुविपुलमतिमें विशेषता)– ज्ञानकी आराधना कर उसमें तत्पर रहनेवाले पूज्य मुनियोंने उसकी प्राप्तिके लिये विशुद्धि और अप्रतिपात इन दोनोंमें विशेषता कही है ॥ १८२ ॥

मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो मनमें संक्लेशरहित प्रसन्नता उत्पन्न होती है वह विशुद्धि है ऐसा शुद्ध मनवाले आचार्योंने कहा है। वह विशुद्धि द्रव्यविशुद्धि, क्षेत्रविशुद्धि, काल-विशुद्धि और भावविशुद्धि ऐसे चार भेद धारण करती है । ऋजुमति ज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति-ज्ञानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे विशुद्धि अधिक है–विशुद्धतर है। कार्मणद्रव्यका अंतिम अनंतवा भाग जो कि सर्वावधिज्ञानने जाना था उसके पुनः अनन्तभाग करके जो अनन्तवा भाग आता है, वह ऋजुमति–मनःपर्ययका ज्ञेय होता है । उसकोभी अनंतबार अनंतसे भागनेपर जो द्रव्य अनन्तवा आ जाता है, वह विपुलमति मनःपर्ययका ज्ञेय–विषय समझना चाहिये । इस प्रकार विपुलमतिकी विशुद्धता ऋजुमतिकी अपेक्षासे विशुद्धतर होकर अनेक प्रकारोंको धारण करती है ॥ १८३–१८४ ॥

कर्मद्रव्यका जो अनन्तवा सूक्ष्म भाग माना गया है वह सर्वावधिज्ञानका विषय है ऐसा सूक्ष्मज्ञानी जिनेश्वरने कहा है । उसको फिर अनन्तसे अनन्तबार भागनेपर जो अन्त्य अनन्तवा भाग माना जाता है वह पंचेन्द्रिय-विषय-विरक्त मुनियोंसे ऋजुमतिका महत्वशाली विषय माना है। उसकोभी पुनः अनन्तबार भागनेसे जो अन्तिम भाग आता है वह विपुलमति मनःपर्ययका विषय है ऐसा विशुद्ध मनवाले महर्षियोंने माना है ॥ १८५–१८६ ॥

(ऋजुमति और विपुलमतिकी क्षेत्रविशुद्धि)– पूज्य ऐसे ऋजुमति मनःपर्ययका जघन्यक्षेत्र क्षेत्रकी अपेक्षासे गव्यूतिपृथक्त्व है अर्थात् तीन कोसके ऊपर और नौ कोसके भीतर है अर्थात् इतने क्षेत्रमें लोगोंके मनःस्थित विचारोंको ऋजुमतिवाले मुनि जानते हैं। और उत्कर्षसे तीन योजनके ऊपर और नौ योजनोंके भीतर लोगोंके मनःस्थित पदार्थोंको-विचारोंको जानते हैं ॥१८८॥

विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानका क्षेत्र जघन्यतः तीन योजनके ऊपर और नौ योजनके भीतर है। और उत्कर्षसे मानुषोत्तर पर्वतके अन्ततक अर्थात् उस पर्वतके भीतर है, बाहर नहीं है ॥१८९॥

१ आ. गदिता　२ आ. योजनादि

कालतश्च जघन्येन जीवानामात्मनः पुनः । भवान्तराणि जानाति द्वित्राण्यृजुमतिर्महान् ॥ १९०
उत्कर्षेण तु सप्ताष्टभवान्गत्यादिभेदतः । प्ररूपयति शुद्धात्मा विशुद्धतरभावतः ॥ १९१
सप्ताष्टौ च जघन्येन विपुलादिमतिर्महान् । भवान्गृह्णात्यसंख्यातानुत्कर्षेणातिशुद्धितः ॥ १९२
सूक्ष्मसूक्ष्मतरस्तावद्भावोऽपि द्वितये मतः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तैर्द्वितयज्ञैर्महर्षिभिः ॥ १९३
अप्रतिपातितस्तावद्विशिष्टो[1] विपुलर्द्धिमान्[2] । स्वामिनां वर्धमानेन चारित्रेण विशेषतः ॥ १९४
विशुद्धिक्षेत्रसत्स्वामिविषयेभ्यो विशेषतः । अवधेर्विशिष्टश्चैष मनःपर्यय इष्यते ॥ १९५
लोकालोकप्रकाशात्मा केवलज्ञानमुत्तमम् । केवलं जायते यस्मादशेषावरणक्षयात् ॥ १९६

(कालकी अपेक्षा दोनो मनःपर्यय ज्ञानोंकी विषयविशुद्धि ।)– कालकी अपेक्षासे जघन्यतः महान् शुद्धस्वरूप ऋजुमतिज्ञान जीवोंके और अपने दो तीन भव जानता है । और उत्कर्षसे गति आगतिके अपेक्षासे सात-आठ भव जानता है । महान् विपुलमति जघन्यसे सात-आठ भव अपने और अन्योंके जानता है, तथा उत्कर्षसे अत्यंत विशुद्धता होनेसे अपने और अन्योंके असंख्यात भव गति–आगतिसे जानता है ॥ १९०–१९२ ॥

(भावकी अपेक्षासे दोनों ज्ञानोंमें विशेषता ।)– भावकी विशुद्धता दोनों ज्ञानोंमें सूक्ष्म सूक्ष्मतर है अर्थात् ऋजुमतिकी जो भावकी अपेक्षासे विशुद्धता है, उससेभी अधिक विशुद्धता विपुलमतिकी है, ऐसा सर्व रागद्वेषादि द्वंद्वोंसे रहित इन दोनों ज्ञानोंको जाननेवाले महर्षियोंने माना है ॥ १९३ ॥

(अप्रतिपाती और प्रतिपातीकी अपेक्षासे विशेषता ।)– विपुलर्द्धि मनःपर्ययके धारक मुनि क्षीणकषाय गुणस्थानमें सर्व कषायोंका घात करते हैं । इसलिये वे संयमशिखरसे नीचे नहीं गिरते हैं । परंतु ऋजुमति मनःपर्ययवाले मुनि उपशांतकषायमें चारित्रमोहोदय होनेसे संयम-शिखरसे च्युत होते हैं । विपुलमति मनःपर्ययवाले मुनि बढते हुए चारित्रके कारण ऋजुमतिवाले मुनियोंसे श्रेष्ठ होते हैं ॥ १९४ ॥

(अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता ।)– विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इनकी अपेक्षासे अवधिज्ञान और मनःपर्ययविज्ञानमें विशेष विशेषता है अर्थात् अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट माना गया है ॥ १९५ ॥

स्पष्टीकरण– विशिष्ट संयमगुण जिसमें होता है उस मुनीश्वरकोही मनःपर्यय होता है । मनुष्योंमें मनःपर्यय होता है; देव, नारकी और पशुओंमें नहीं होता है । गर्भज मनुष्यमेंही मनः-पर्यय उत्पन्न होता है; संमूर्च्छन मनुष्योंमें नहीं । गर्भजोंमें उत्पन्न होनेवाला वह मनःपर्ययज्ञान

१ आ. अप्रपातित्वतस्ताव २ आ. विपुलादिमान्

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमीषद्धर्मेषु वस्तुष । वर्तते विषयत्वेन रूपिष्वेवावधिर्मतः[1] ॥ १९७

अकर्मभूमिजोंमें–भोगभूमि और म्लेच्छादिकोंमें उत्पन्न नहीं होता है । कर्मभूमिजोंमेंभी, पर्याप्तकोंमेंही उत्पन्न होता है, अपर्याप्तोंमें नहीं । पर्याप्तकोंमेंभी जो सम्यग्दृष्टि हैं उनमें उत्पन्न होता है मिथ्यादृष्टियोंमें, सासादन सम्यग्दृष्टियोंमें और सम्यङ्मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं । सम्यग्दृष्टियोंमेंभी वह मुनियोंमेंही उत्पन्न होता है, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतोंमें उत्पन्न नहीं होता । संयतोमेंभी प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषायान्त उत्पन्न होता है । उत्तरगुणस्थानोंमें सयोग अयोगगुणस्थानोंमें नहीं मिलता है । प्रमत्त संयतादि गुणस्थानोंमें जो मुनि प्रवर्द्धमान चारित्रवाले होते हैं, उनमें वह ज्ञान होता है । हीनचारित्रोंमें नहीं होता है । प्रवर्द्धमान चारित्रवालोंमेंभी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमेंसे जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त हुई है, उनको मनःपर्यय प्राप्त होता है । ऋद्धिप्राप्तोंमेंभी सबको प्राप्त नहीं होता है । किसी एककोही प्राप्त होता है । अवधिज्ञान तो चतुर्गतिके जीवोंको प्राप्त होता है । अतः स्वामिभेदसे इनमें भेद है । अवधिज्ञानका क्षेत्र बडा है । विषयकी अपेक्षासे–अवधिज्ञानके विषयसे मनःपर्ययज्ञानका विषय अत्यंत सूक्ष्म है । इस प्रकार क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे इन दो ज्ञानोंमें विशेषता व्यक्त की है ॥ १९५ ॥

(केवलज्ञानका स्वरूप और उसका विषय)– संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे लोकको और अलोकको प्रकाशित करनेवाला उत्तम केवलज्ञान उत्पन्न होता है । वह अकेलाही रहता है । उसके साथमें अन्य सब ज्ञान नहीं होते है ॥ १९६ ॥

(मतिज्ञानादिक पांच ज्ञानोंके विषय ।)– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये द्रव्योंके कुछ पर्यायोंको विषय करते हैं और अवधिज्ञान रूपीपदार्थोंको विषय करता है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन षड्द्रव्योंके कुछ पर्याय मति और श्रुतज्ञानके विषय होते हैं । सब पर्याय इनके विषय नहीं होते हैं । क्योंकि मतिज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और इन्द्रियां रूपरसादिक पर्यायोंको ग्रहण करती हैं । संपूर्ण पर्यायोंको ग्रहण करनेमें वे असमर्थ होती हैं । श्रुतज्ञान शब्दसे उत्पन्न होता है और शब्द सर्व संख्यातही होते हैं और द्रव्योंके पर्याय असंख्यात अनंत होते हैं वे सब विशेषाकारोंसे शब्दोंद्वारा नहीं ग्रहण किये जाते हैं ।

विशेषार्थ :– धर्मादिक द्रव्य अतीन्द्रिय होनेसे उसमें मतिज्ञान कैसे प्रवृत्त होगा ? इसलिये उसके सर्व द्रव्य विषय मानना योग्य नहीं है? यह कहना ठीक नहीं है? क्योंकि नोइंद्रियावरण कर्मकी क्षयोपशमलब्धिकी अपेक्षासे नोइंद्रिय मन धर्मादिकोंमें प्रवृत्त होता है । यदि वह उनमें प्रवृत्त न होता तो अवधिज्ञानके साथ उसका उल्लेख करना पडता । नोइंद्रियावरण कर्मके

१ आ. रूपिष्ववधि

तस्यानन्तविभागो यः स मनःपर्ययस्य च । समस्तद्रव्यपर्यायविषयं केवलं मतम् ॥ १९८
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमित्यपि । अज्ञानानि प्रजायन्ते मिथ्यात्वानुगतानि च ॥ १९९
सरजस्कटुकालाबुगतदुग्धं यथा भवेत् । विपर्यस्तं तथा ज्ञानं मिथ्यात्वेनोपजायते ॥ २००

क्षयोपशमसे अवग्रहादिरूप उपयोग धर्मादि द्रव्योंमें प्रथमतः उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर धर्मादिद्रव्योंमें श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये मति और श्रुतज्ञानके सर्व द्रव्य अपने अपने अल्पपर्यायोंके साथ विषय होते हैं ऐसा आचार्यका कहना अयोग्य नहीं है।

अवधिज्ञान विकल प्रत्यक्ष है और इंद्रिय, मनकी अपेक्षा छोडकर आत्मामें अवधिज्ञानावरण क्षयोपशमसे होता है। उसका विषय रूपिद्रव्य और उसके स्वयोग्य-पर्याय विषय है, रूपिद्रव्योंके समस्त पर्याय अवधिज्ञानके विषय नहीं होते हैं। रूपिशब्दसे पुद्गलद्रव्य ग्रहण किया जाता है, जो कि स्पर्श, रस, गंधवर्णसे युक्त होता है। संसार अवस्थामें जीवको पुद्गलद्रव्यका संबंध होनेसे वहभी रूपी माना जाता है। इसलिये रूपियोंमें अर्थात् पुद्गलोंमें और जीवपर्याय-स्वरूप जो औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव है उनमें अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि ये जीवपर्याय रूपिद्रव्यके संबंधसे उत्पन्न हुए हैं। परंतु क्षायिक पर्याय और पारिणामिक पर्याय जीवके रूपिद्रव्यके संबंधसे विना उत्पन्न होनेसे उनमें अवधिज्ञान प्रवृत्त नहीं होता है। वैसे धर्मास्तिकायादिकोंमेंभी रूपिद्रव्यका संबंध नहीं होनेसे प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

(मनःपर्यय और केवलज्ञानका विषय।)– पहले जो सर्वावधिज्ञानका विषय कहा है, उसके अनंतभाग करके उसके एक भागमें मनःपर्यय प्रवृत्त होता है। केवलज्ञान संपूर्ण जीवादिकषड्द्रव्य और उनके संपूर्ण पर्याय त्रिकालके अनन्तानंत पर्याय जाननेमें समर्थ है। विशेषार्थ–ऐसा द्रव्य वा पर्याय नहीं है, जो कि केवलज्ञानका विषय नहीं हुआ है। इस केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है। मत्यादिक चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं परंतु केवलज्ञान क्षायिक होनेसे पूर्ण निर्मल और ज्ञानावरणका पूर्ण नाश होनेसे उत्पन्न हुआ है। यह ज्ञान अनंत, एक असहाय अद्वितीय है। त्रिकालके संपूर्ण अर्थ व उनके संपूर्ण पर्याय इसका विषय हैं तथा सतत संपूर्ण सुखका स्थान है ॥ १९८ ॥

(मत्यादिक ज्ञान और कुज्ञान हैं।)– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानभी जब मिथ्यादर्शनके साथ संबद्ध होते हैं तब अज्ञान होते हैं। जैसे रजके साथ कटुतुंबीमें मधुर दुग्ध रखनेसे वह दुग्ध कटुक होता है, वैसे ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके संबंधसे अज्ञान स्वरूप हो जाते हैं, विपर्यस्त होते हैं। मिथ्यादृष्टि इच्छाके वश होकर पदार्थको जानते हैं। किस अपेक्षासे पदार्थ नित्य माना जाता है और किस अपेक्षासे वह अनित्य माना जाता है इसकी विवेचकता मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं रहती है, वे एकान्तपनेसे वस्तुके स्वरूप मानते हैं और कभी विपरीतभी मानने लगते हैं। तथा सत्पदार्थको सत् और असत्पदार्थको असत्भी मानने लगते हैं। परंतु उनका वह मानना अप्रमाण है।

इच्छाया[1] वशतो नित्यं युक्तायुक्ताविवेचकः । मद्यपेनेव गृह्णाति पदार्थांस्तेन दुष्यति[2] ॥ २०१
आद्ये परोक्षमित्येव प्रत्यक्षमपरं त्रयम् । सापेक्षेणानपेक्षेण भावेनैतन्निगद्यते ॥ २०२
सम्यग्ज्ञानप्रदीपोज्ज्वलबहुलशिखारश्मिजालैर्विशालैः ।
अज्ञानान्धान्धकारं निजहृदयगुहाक्रीडलीनं निरस्य ॥
ये वर्तन्ते त एते जगदखिलमिदं कर्मणा क्लिश्यमानम् ।
पश्यन्तः स्वस्य सिद्धेर्दधति पटुधियः कार्यमन्तः स्फुरन्तः ॥ २०३

जैसे मद्यपान करनेवाला मनुष्य माताको भार्या और भार्याको माता मानता है, कभी यदृच्छासे भार्याको भार्या और माताको माताभी मानता है, तो भी उसका मानना प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार मत्यादिक ज्ञानोंको रूपादि पदार्थोंमें मिथ्यात्वसे विपरीतपना प्राप्त होता है । मिथ्यादर्शन परिणाम जब आत्मामें प्रगट होता है तब रूपादिक ज्ञान होनेपरभी उसमें कारण-विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास उत्पन्न करता है ॥ १९९-२०१ ॥

(प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान)- पहिले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है, और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षा लेकर पदार्थको जानते हैं । अतः वे दोनों ज्ञान सापेक्ष होनेसे परोक्ष हैं । उनकी अपेक्षा विना वे पदार्थोंको नहीं जान सकते हैं । इंद्रियांभी प्रकाश आदिकी अपेक्षाविना मतिज्ञान श्रुतज्ञानको उत्पन्न नहीं करती है । अर्थात् आद्य दो ज्ञान परावलम्बी होनेसे परोक्ष हैं और अवधि आदिक तीन ज्ञान इन्द्रिय, मन, पदार्थ आदिकी अपेक्षाके बिनाही पदार्थोंको सीधा जाननेमें समर्थ हैं, इसलिये वे प्रत्यक्ष हैं । जैसे लंगडा मनुष्य हाथमें लाठी लेकर उसके सहायतासे चलता है यद्यपि उसमें जानेका सामर्थ्य है परंतु लाठीके बिना वह चल नहीं सकता । उसके गमनमें लाठीका आश्रय प्रधान है, वैसे मतिश्रुत ज्ञानको इन्द्रियाँदिकी अपेक्षा लेनी पडती है । अवधिज्ञानादि तीन ज्ञानोंको वह अपेक्षा नहीं रहती है । अतः वे प्रत्यक्ष हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ २०२ ॥

(सम्यग्ज्ञानीकी महिमा ।)- सम्यग्ज्ञानरूपी प्रदीपकी उज्ज्वल और विपुल ऐसी जो शिखा उसके विशाल किरणसमूहोंसे विद्वान् लोग अपनी हृदय गुहाके मध्यभागमें ठहरे हुए अज्ञानरूपी सघन अंधकारको निकालकर शान्ततासे रहते हैं । तथा कर्मसे पीडित होनेवाले इस संपूर्ण जगतको देखते हुए, तथा अपनी आत्मामें स्फुरायमान होते हुए, ज्ञानसे वृद्धिगत होते हुए सिद्धिका कार्यरूप सुख धारण करते हैं । अर्थात् उनका सम्यग्ज्ञान बढनेसे वे मुक्तिसुखका अनुभव लेते हैं ॥ २०३ ॥

---

१ आ. यदृच्छा　२ आ. दूषितः

ज्ञानं चारित्रमूलं श्रयति बुधजनो ज्ञानमेवाद्य तत्त्वम् ।
ज्ञानेनोच्चैः पदं तद्भवति नम इति ज्ञानतत्त्वाय तस्मै ॥
ज्ञानान्मोक्षस्तु तुल्यं भवति न हि पुनर्ज्ञानमानस्य किञ्चित् ।
ज्ञाने बुद्धिं तदस्माद्विदधत विबुधाः साधु वन्द्येऽनवद्याम् ॥ २०४

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते[1]
सम्यग्ज्ञाननिरूपणो द्वितीयः परिच्छेदः ॥

(ज्ञान शब्दका सात विभक्तियोंमें प्रयोग कर उसका महत्त्व आचार्य दिखाते हैं ।)– यह सम्यग्ज्ञान चारित्रका मूल है अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे चारित्रका स्वरूप ज्ञात होता है जिससे वह धारण करनेमें और उसके पालनमें महती सहायता प्राप्त होती है । इसलिये बुद्धिमान लोग जीवादि पदार्थोंको जाननेमें मुख्य उपाय भूत सम्यग्ज्ञानका अवलंब करते हैं, ज्ञानही पहिला तत्त्व है । इस सम्यग्ज्ञानसे उच्च पदकी प्राप्ति होती है । इसलिये इन ज्ञानतत्त्वको हम नमस्कार करतें हैं । इस ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । सम्यग्ज्ञानरूपी जो प्रमाण है, उसकी समानताको कोईभी प्राप्ति नहीं कर सकता । अतः हे विद्वद्गण यतिसमूहसे वन्दनीय इस ज्ञानमें आप अपनी बुद्धि स्थिर करें ॥ २०४ ॥

पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेनविरचित श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहमें सम्यग्ज्ञानका निरूपण करनेवाला दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

---

१ आ. पण्डित इति नास्ति　२ आ. सम्यग्ज्ञाननिरूपणो इति नास्ति ।

(तृतीयोऽध्यायः)

नमस्कृत्य महावीरमुररीकृतसद्गुणम् । गुणेभ्यो निर्गतं किञ्चिद्वक्ष्ये चारित्रमञ्जसा ॥ १
चर्यते चरणं वापि कर्मकक्षक्षयानलम् । पञ्चधा पञ्चमज्ञाननायकैरुपलक्ष्यते[1] ॥ २

(तृतीय अध्याय)

(महावीर जिनस्तुति ।)– अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदि अनन्तगुण धारण किये हुए महावीर जिनेश्वरको नमस्कार कर गुणोंसे प्रगट हुए चारित्रको मैं संक्षेपसे कहता हूं ॥ १ ॥

विशेष स्पष्टीकरण–चारित्र-मोहकर्मके क्षयोपशमसे अथवा उपशमसे किंवा क्षयसे जो आचरा जाता है उसे चारित्र कहते हैं। अथवा जो सदाचार पाला जाता है उसे चारित्र कहते हैं। संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है । उनका नाश करनेके लिये उद्यत हुए अथवा संसारके कारण भूत-ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश करनेके लिये उद्यत हुए ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टिके वाचिक, कायिक और मानसिक क्रियाविशेषोंका अभाव होना परमचारित्र है, यथाख्यात-चारित्र है । क्रियाओंका पूर्ण अभाव वीतरागोंमें होता है । उसे यथाख्यातचारित्र कहते है और संयतादिकसे सूक्ष्म सांपरायतक जो क्रियाओंका अभाव होता है, वह कम जादा होता है । पांचवे संयतासंयत गुणस्थानमें कुछ अविरतिरूप क्रियाओंका अभाव होता है अर्थात् वहां देशविरती होती है । इसके अनंतर प्रमत्तसंयतमें अविरतिरूप क्रियाका पूर्ण त्याग होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें प्रमादरूप क्रियाका अभाव होता है, अपूर्वकरण गुणस्थानसे सूक्ष्मसांपरायतक गुणस्थानोंमें कषायरूपी क्रियाओंका अभाव होता है और उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवलियोंमें योगकाभी अभाव होता है अर्थात् सयोगकेवलि जबतक विहार करते हैं तबतक उपदेशादि क्रियारूप योग रहता है और जब विहार बंद होता है, तब वचनादि क्रिया कम होते होते चौदह गुणस्थानमें योगक्रिया पूर्ण नष्ट होती है । अनंतर उस अयोगकेवलि गुण-स्थानके अन्त्यसमयमें परम यथाख्यातचारित्र प्राप्त होकर मोक्षप्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो आचरा जाता है अर्थात् जो सदाचार पालन किया जाता है, वह कर्मवनको नष्ट करनेके लिये अग्निकासा है । इसके पंचम ज्ञानके नायकोंने पांच प्रकार बताये है । वे ये हैं–सामा-यिक, छेदोपस्थाना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र । जैसा शुद्ध आत्माका स्वरूप आगममें कहा है वैसा यथाख्यात-चारित्रमें प्राप्त होता है। इसलिये यह चारित्र शुद्ध आत्माके

---

१ आ. उपलाल्यते

सामायिकं तथा छेदोपस्थापनमुदीरितम् । परिहारविशुद्धिःस्याच्चतुर्थं[1] सूक्ष्मसम्परम् ॥ ३
यथाख्यातं यथाख्यातपदे चानुप्रवेशकम् । चारित्रं त्रितयज्ञानकोविदा निगदन्ति तत् ॥ ४
या च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मणस्तु परिग्रहात् । विरतिस्तद्व्रतं ज्ञेयं कर्तव्यैकनिरूपकम् ॥ ५
प्रमत्तयोगतः प्राणिप्राणानां व्यपरोपणम् । हिंसा भवति जीवानां भवदुःखैककारणम् ॥ ६
त्रित्रित्रिभिश्चतुर्भिश्च संरम्भाद्यैः परस्परम् । अष्टोत्तरशतं हिंसा भेदतो जायते नृणाम् ॥ ७

स्वरूपमें प्रवेश करनेकेलिये कारण है ऐसा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके धारक विद्वान् कहते हैं ॥ २–४ ॥

(व्रतलक्षण ।)– हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रहाभिलाष इनसे विरक्त होना व्रत है । मैं इस प्रकारसे यह कार्य करूंगा ऐसा जो मनःसंकल्प उसे व्रत कहते हैं । मैं हिंसासे, असत्य भाषणसे, चोरीसे, मैथुनसे और परिग्रहकी अभिलाषासे–एकदेशसे अथवा पूर्ण-रूपसे विरक्त होता हूं, ऐसा जो नियम-मनःसंकल्प करना उसे व्रत कहते हैं । अथवा मैं अहिंसाका पालन करूंगा, सत्य वचन कहूंगा, धनस्वामी जो मुझे धन देगा उसे ग्रहण करूंगा, ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा और अपरिग्रहत्वका स्वीकार करूंगा, इस प्रकार कर्तव्यकी प्रतिज्ञा करना विध्यात्मक व्रत है ॥ ५ ॥

(हिंसाकी व्याख्या ।)– प्रमत्तयोगसे प्राणियोंके प्राणोंका नाश करना हिंसा है । वह जीवोंको संसारदुःख देनेमें मुख्यकारण है ॥ ६ ॥

स्पष्टीकरण– जो प्रमादयुक्त है, कषायसंयुक्त परिणामवाला है उसे प्रमत्त कहते हैं । इन्द्रियोंकी क्रियाओंमें सावधानता न रखता हुआ स्वच्छंदसे प्रवृत्ति करनेवाला जो मनुष्य उसे प्रमत्त कहते हैं । अथवा जिसके मनमें कषाय बढ गये हैं, जो प्राणघातके कारणोंमें तत्पर हुआ है, परंतु अहिंसामें शठतासे प्रवृत्ति दिखाता है, कपटसे अहिंसामें यत्न करता है, परमार्थरूपतासे अहिंसामें प्रयत्न जिसका नहीं है उसे प्रमत्त कहते हैं । अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पांच स्पर्शनादि इंद्रियाँ और निद्रा तथा स्नेह ये पंद्रह प्रमाद हैं । इनसे जो युक्त हैं उसे प्रमत्त कहते हैं । ऐसे प्रमत्त पुरुषकी जो मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्ति उसे प्रमत्तयोग कहते हैं । इस प्रकारके प्रमत्तयोगसे जो प्राणियोंके इंद्रियादि दश प्राणोंका घात करना–वियोग करना उसे हिंसा कहते हैं । वह संसारदुःखका मुख्य कारण हैं ॥ ६ ॥

(हिंसाके एकसौ आठ भेद ।)– संरंभ, समारंभ और आरंभ इनसे मनवचनकायको गुना करनेसे नौ भेद होते है । फिर इन नौ भेदोंसे कृत, कारित और अनुमोदनको गुना करनेसे

१ आ. सूक्ष्मपदप्रदम्

घोरान्धकारकूपे या निरये वसति क्रमात् । यच्छत्याराधिता हिंसा नराणां दुःखहेतुका ॥ ८
हिंसासरित्प्रवाहान्तर्निमग्ना येऽत्र दुर्धियः । ते पतन्ति भवाम्भोधौ बहुदुःखसमाकुले[1] ॥ ९
यानि दुःखानि विद्यन्ते विविधासु च योनिषु । तानि सर्वाणि हिंस्रस्य सुलभानि भवान्तरे ॥१०
शिरश्च्छेदं खरारोपं कुलालकुसुमार्चनम् । हिंसको लभते दुःखमिह लोकेऽपि दारुणम् ॥ ११

सत्ताईस भेद होते हैं । तथा इन सत्ताईस भेदोंसे चार कषायोंको गुना करनेसे एकसौ आठ भेद होते हैं । ये हिंसाके एकसौ आठ भेद मनुष्योंको दुःखदायक होते हैं ॥ ७ ॥

स्पष्टीकरण– प्रमादयुक्त पुरुषका प्राणिहिंसामें जो प्रयत्न करना उसे संरंभ कहते हैं । हिंसाके साधनोंको प्राप्त करनेको समारंभ कहते हैं और हिंसाकार्य करनेमें प्रवृत्त होनेको आरंभ कहते हैं । कृत–स्वयं हिंसा करना, कारित–दूसरोंसे हिंसा कराना, अनुमत–हिंसा करनेवालोंको अनुमोदन देना । क्रोध, मान, माया लोभोंको कषाय कहते हैं । क्रोधकृत-कायहिंसा-संरंभ, मानकृत-कायहिंसा-संरंभ, मायाकृत-कायहिंसा-संरंभ, लोभकृत-कायहिंसा-संरंभ । क्रोधकारित-काय हिंसा-संरंभ, मानकारित-कायहिंसा-संरंभ, मायाकारित-कायहिंसा-संरंभ, लोभकारित-कायहिंसा-संरंभ । क्रोधानुमत-कायहिंसा-संरंभ, मानानुमत-कायहिंसा-संरंभ, मायानुमत-कायहिंसा-संरंभ, लोभानुमत कायहिंसा-संरंभ । ऐसे कायहिंसा-संरंभके बारह भेद हैं। ऐसेही वचनद्वारा हिंसासंरंभके बारह भेद, तथा मनोहिंसा संरंभके बारह भेद होनेसे छत्तीस भेद संरंभके होते हैं । इस प्रकारसे छत्तीस समारंभके और छत्तीस आरंभके भेद होते हैं । सब मिलकर एकसौ आठ भेद हिंसाके होते हैं । ऐसेही असत्यादिक पापोंकेभी एकसौ आठ, एकसौ आठ भेद होते हैं । इन पापोंके त्यागभी एकसौ आठ, एकसौ आठ प्रकारके होते हैं ॥ ७ ॥

दुःखका हेतु ऐसी हिंसाकी आराधना करनेसे वह हिंसा जहां घोर अंधकारके कुए हैं ऐसे नरकमें मनुष्यको क्रमसे निवास करनेके लिये भेजती है ॥ ८ ॥

हिंसारूप नदीके प्रवाहके बीचमें जो दुर्बुद्धि पुरुष डूब गए हैं वे अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसारसमुद्रमें जाकर गिरते हैं ॥ ९ ॥

अनेक योनियोंमें जो दुःख हैं वे सब हिंसा करनेवाले पुरुषको अन्यजन्ममें सुलभतासे प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

इहलोकमेंभी हिंसक मनुष्यको मस्तकच्छेदका दुःख प्राप्त होता है । उसे गधेके ऊपर चढाते हैं, मट्टीके बर्तनोंके टुकडे और पत्थरोंसे मारते हैं ऐसे दुःख उसे प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

---

१ आ. समाकुलाः

षट्षष्टिस्तु सहस्राणां षट्त्रिंशत्षट्शतीयुता[1] । अन्तर्मुहूर्ततो हिंस्रे बालमृत्युः प्रजायते ॥ १२
नरकान्निर्गतानां[2] च हिंस्राणां दुःखदुःखतः । सिंहव्याघ्रादितिर्यक्षु दुःखं वाचामगोचरम् ॥ १३
काकतालीययोगेन यदि मानुष्यमञ्चति । हिंस्रस्तत्रापि तेनैव दौर्गत्यमभिगच्छति ॥ १४
काणःकुण्टस्तथा भण्टो बधिरो दुर्भगः कुणिः । क्षुद्रः सुदुर्वचा नीचः कुष्ठादिबहुरोगभाक् ॥ १५
सर्वधर्मातिगो नित्यं सर्वपापपरायणः । सर्वद्वन्द्वसमायुक्तः सर्वदुःखखनिः पुमान् ॥ १६
निरयान्निर्गतो दुष्टः क्रोधशोकभयाकुलः । हिंसको जायते हिंस्रः कुधर्मैकरतो भुवि ॥ १७

(हिंसक बालमृत्युसे मरता है ।)– जो हिंसक है उसे छयासठ हजार छहसौ छत्तीस बार बालमृत्यु प्राप्त होते हैं ।

स्पष्टीकरण–विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके अस्सीभव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके साठ भव, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके चालीस भव और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके चौवीस तथा एकेन्द्रियोंके छयासठ हजार एकसौ बत्तीस भव हिंसकको प्राप्त होते हैं । ये भव मिथ्यात्वसे प्राप्त होते हैं और अन्तर्मुहूर्तमें इतने मरण प्राप्त होते हैं । मिथ्यात्वसे प्राप्त होनेवाले मरणको बालमरण कहते हैं । एकेन्द्रियोंके मरणोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–स्थूल और सूक्ष्म दोनोंही प्रकारोंके जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण और प्रत्येक वनस्पति इस प्रकार संपूर्ण ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येकके छह हजार बारह मरण होते हैं। भावार्थ-स्थूल-पृथ्वी, सूक्ष्मपृथ्वी, स्थूल जल, सूक्ष्म जल, स्थूल वायु, सूक्ष्म वायु, स्थूल अग्नी, सूक्ष्म अग्नि, स्थूल साधारण, सूक्ष्म साधारण, तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येकके छह हजार बारह मरण होते हैं। इसलिये ११ को ६०१२ से गुना करनेपर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके उत्कृष्ट मरणोंका प्रमाण निकलता है ॥ १२ ॥ (गो. जी. कां. गा. १२२–१२४)

हिंस्रजीव नरकमें अतितीव्र दुःख भोगकर बडे कष्टसे वहांसे निकलता है, और सिंह, वाघ आदि पशुओंमें जन्म लेकर वहां वचनातीत दुःखानुभव करता है ॥ १३ ॥

(मनुष्यगतिमेंभी हिंसक दुःखी होता है ।)– काकतालीय न्यायसे यदि हिंसकको मनुष्यपर्याय प्राप्त हो गया तो वहांभी दारिद्र्यदुःख प्राप्त होता है । तथा वह काना, लंगडा, अंधा, बहरा, कुरूप, लूला, क्षुद्र, अतिशय कर्णकठोर शब्दवाला, नीच और कुष्ठादि अनेक रोगोंसे पीडित होता है । वह सर्व धर्मरहित, हमेशा पापोंमें तत्पर, सर्व कलह और संक्लेशोंसे युक्त और सर्व दुःखोंकी खान उत्पन्न होती है ॥ १४–१६ ॥

हिंस्र और दुष्ट प्राणी नरकसे जब निकलता है तब वहांके क्रोध, शोक, भय आदि

१ आ. त्रिशतीयुता　२ आ. निसृतानां

हिंसां धर्मं वदन्नेवं[1] हिंसा मङ्गलमुत्तमम् । हिंसा शान्तिकरा तस्य हिंसयोद्भूतदुर्मतेः[2] ॥ १८
मूढात्मानो न जानन्ति कार्यकारणनिर्णयम् । मन्त्रपूतां वदन्त्येवं[3] हिंसां सद्धर्मकारिणीम् ॥ १९
अमन्त्रपूतां पापैकहेतुभूतां वदन्त्यमी । यदि तां प्रवर्तयेन्मन्त्रः[4] पापात्मा च कथं न हि ॥ २०

संस्कारोंसे भरा हुआ इस भूतलपर जन्म धारण करता है । तथा कुधर्ममें मुख्यतासे तत्पर होकर प्राणियोंका यज्ञादिरूपसे घात करता है ॥ १७ ॥

हिंसासे जिसको दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसे उस मनुष्यको कई कुबुद्धि लोग " हिंसा शांति करनेवाली है, हिंसा उत्तम मंगल है, और हिंसा धर्म है " ऐसा उपदेश देते हैं ॥ १८ ॥

" कितनेही मूढात्मा कार्यकारणका निर्णय नहीं जानते हैं और मंत्रसे जब हिंसा पवित्र होती है तब वह सद्धर्मको उत्पन्न करती है " ऐसा कहते हैं । स्पष्टीकरण—कई कहते हैं, कि " जो हिंसा वेदमंत्रके बिना की जाती है, वह रागादिकोंका हेतु होती है और जो हिंसा वेदविहित है वह शांतिके लिये है । उससे शांति मिलती है, उसमें क्रोधादिकोंका उदय नहीं होता है ।" यह किसीका वचन अयुक्त है । क्योंकि वेदमंत्रसे की गई हिंसा शांतिको नहीं उत्पन्न करती है । अन्यथा ' मातरमुपेहि स्वसारमुपेहि ' इस वेदवाक्यसे उत्पन्न हो गई मातृसमागमकी और भगिनीसमागमकी प्रवृति शांतिका कारण होगी । तथा जो वेदविहित नहीं है ऐसे सत्पात्र कार्य दानादि शांतिके प्रतिपक्ष हो जायेंगे । वेदविहित कार्य परम्परासे शांति करनेवाले हैं यह कहनाभी योग्य नहीं है । वेदविहित हिंसा परम्परासेभी शांति हेतु नहीं होती है । जो शांति चाहते हैं, वे शांतिके प्रतिकूल हिंसादिकोंमें प्रवृत्त होंगे तो वे विद्वान् कैसे कहलावेंगे ? इससे तो मदके नाशार्थ मदिरापानमें लोग प्रवृत्ति करेंगे ॥ १८ ॥ (युक्त्यनुशासन श्लो. ३८)

" सत्पात्रदान, देवतार्चनादि कार्योंमें जो सूक्ष्म जीवोंका नाश होता है, वह परम्परासे शांतिका कारण होता है क्योंकि वह संकल्प करके नहीं किया जाता हैं । उसमें दर्शन-विशुद्धि और परिग्रहपरित्यागकी प्रधानता है । इसलिये वह शांतिहेतु होता है । चैत्यालय बंधवाना, शिल्पकारसे जिनप्रतिमा करवाना आदिकमें प्रमत्तयोग होनेसे प्राणिहिंसा होती है ऐसा समझना अयोग्य है । चैत्यालय जिनप्रतिमादिक कार्य करनेमें प्रमत्तयोग नहीं है, क्योंकि वह कार्य सम्यक्त्ववर्धन करनेवाला है । अतः पाप कारणभी नहीं है " ॥ १९ ॥ (युक्त्यनुशासन श्लो. ३८ की टीका)

" जो हिंसा मंत्रसे पवित्र नहीं है वह मुख्यतासे पापकाही कारण है ऐसे याज्ञिक लोग कहते हैं । आचार्य इसका इस प्रकार खण्डन करते हैं— "यदि मंत्र हिंसाको कहता है तो पशुवध करनेवाला वह मंत्र पापात्मा क्यों नहीं है ? अर्थात् हिंसाको करनेवाला मंत्रभी पापमंत्रही समझना

१ आ. वदत्येवं　२ आ. हिंसोद्भूतसुदुर्मतेः　३ आ. वदन्त्येके　४ आ. प्रवर्तयन्नेष मन्त्रः

पापहेतुर्मता हिंसा पापमेव करोति सा । न कोद्रवकणः क्वापि गन्धशालिर्भवेद्[1] भुवि ॥२१
देवातिथिगुरूणां च कृते या क्रियते बुधैः । हिंसा च हिंस्रदोषस्य फलमाहुस्तदप्यमी ॥ २२
प्रेक्षावन्तस्ततो हिंसां हेयतन्त्रमिदं त्रिधा । वर्जयन्ति जिनाधीशशासनाज्ञाप्रयत्नतः ॥ २३
अहिंसालक्षणो धर्मः सर्वशर्मकरो नृणाम् । कथं निःसारदेहेन कर्तव्यो न मनीषिभीः ॥ २४
अहिंसैव व्रतं पूतमेकमेवेदमुच्चकैः । अपराणि व्रतान्यस्य परिपालनहेतुतः ॥ २५
भवहानिकराः पञ्च भावनाश्चास्य[2] निर्मलाः । भावनीया महाभव्यैर्व्रताराधनतत्परैः ॥ २६
मुखेऽनन्तानि मे सन्ति वचांसि विविधान्यपि । इति मत्वा न यो वक्ति वचसो[3] गुप्तिमश्नुते ॥ २७
कृत्याकृत्यविदो धीराः कृत्याकृत्यपरायणम् । पथ्यं तथ्यं वदन्त्येव वचोगुप्ति समाश्रिताः[4] ॥ २८
वचोव्यापारजाः सन्ति दोषा हिंसाकरा नृणाम् । वाग्गुप्तिभावनायुक्ते न ते सन्ति कदाचन ॥ २९

चाहिये । हिंसा पापका कारण होनेसे वह पापको उत्पन्न करेगीही । कोद्रव धान्यका कण जमीनमें बोनेसे क्या वह सुगंधितशालि धान्यरूप-उत्पन्न होगा ? कदापि नहीं " ॥ २०–२१ ॥

देवके लिये अर्थात् देवको संतुष्ट करनेके लिये, अतिथिको तृप्त करनेके लिये और गुरुको प्रसन्न करनेके लिये मूर्खलोगोंसे जो प्राणिवध किया जाता है सुज्ञजन उसे हिंसादोषका फलही समझते हैं ॥ २२ ॥

जिनेश्वरकी शासनाज्ञामें प्रयत्न होनेसे बुद्धिमान लोग हिंसाको हेयकर्म समझकर मन, वचन और कायसे त्यागते हैं ॥ २३ ॥

(अहिंसाका महत्त्व ।)– यह अहिंसालक्षण धर्म मनुष्योंको सर्व प्रकारके सुख देता है, ऐसा समझकर विद्वान् लोगोंसे अपने निःस्सार देहद्वारा यह व्रत क्यों नहीं किया जाता है? बाकीके सत्यादि व्रत इसके परिपालनके लिये होनेसे अहिंसाही बडा पवित्र एकही व्रत है ॥ २४–२५ ॥

(अहिंसाव्रतकी पांच भावनायें ।)– इस अहिंसाव्रतकी निर्मल पांच भावनायें संसार-हानि करनेवाली हैं । इस व्रतकी आराधना करनेमें तत्पर महाभव्योंके द्वारा ये भावना चिंतन करने योग्य हैं ॥ २६ ॥

मेरे मुखमें अनंत वचन हैं, और नाना प्रकारकेभी हैं ऐसा समझकर जो नहीं बोलता है वह वचनकी गुप्तिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

(वचनगुप्ति)– जो कार्य अकार्यको जानते हैं, और जो धीर हैं वे वचनगुप्तिको प्राप्त होकर हितकर ऐसाही सत्यवचन बोलते हैं । वचन बोलनेकी क्रियासे मनुष्योंकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले दोष लगते हैं । परन्तु वाग्गुप्तिकी भावनासे जो विद्वान् व्रतिक हैं उन्हें उन दोषोंका संपर्क नहीं होता ॥ २८–२९ ॥

---

१ आ. शालिभवो २ आ. अस्य ३ आ. स च वाग्गुप्ति ४ आ. वाग्गुप्तिमाश्रिताः

मन एव मनुष्याणां व्यापारान्कुरुते बहून् । अत एव प्रयत्नेन मनोगुप्तिर्विधीयते ॥ ३०
व्रतानितस्य तिष्ठन्ति तस्य सौख्यं निरन्तरम् । सम्पदो विविधास्तस्य मनो यस्य[1] हि निश्चलम् ॥३१
प्रमादातिगतो नित्यं संयमानविराधयन् । पश्यन्यो याति सर्वत्र स हीर्यापथगुप्तिमान्[2]॥ ३२
मुञ्चत्यादाति यो नित्यं वस्तुजातमतन्द्रितः । निरीक्षयन्प्रयत्नेन समितः स मतः सताम् ॥ ३३
अन्नपानविधेः शुद्धिं विदधत्स्वीकरोति यः । अन्नपानादिकं तस्य समितिश्चैषणाभिधा[3] ॥ ३४
इत्थं पञ्चप्रकाराभिर्भावनाभिः प्रभावितम् । अहिंसादिव्रतं पूतमनन्तसुखदं भवेत् ॥ ३५
वदन्त्यज्ञानिनो दुष्टं यन्नयापगतं वचः । अनृतं तद्विजानन्ति ऋतवाक्यविचक्षणाः ॥ ३६

(मनोगुप्ति ।)– मनुष्योंका मनही नानाविध विचार करता है । इसवास्ते प्रयत्नसे मनोगुप्ति की जाती है । मनको अपने अधिकारमें रखनेमें महान् प्रयत्न करना पडता हैं । जिसका मन निश्चल है अर्थात् स्वाधीन है उसके व्रत स्थिर होते हैं और उसे निरन्तर सौख्य मिलता है । अनेकविध सम्पदायेंभी उसे प्राप्त होती हैं ॥ ३०–३१ ॥

(ईर्यापथपालन ।)– प्रमादका उल्लंघन कर अर्थात् सावधानतासे संयमकी विराधना न करता हुआ जो मुनि अथवा त्यागी गृहस्थ-ऐलक, क्षुल्लक आदि व्रतिक गृहस्थ मार्गकी देख-भाल करके हमेशा सर्वत्र गमन करता है वह ईर्यापथ-गुप्तिका धारक समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

(आदान-निक्षेपण-समिति ।)– जो आलस्य–रहित होकर और प्रयत्नसे देखकर हमेशा पिंछी, कमंडलु, शास्त्र आदि वस्तु रखता है अथवा ग्रहण करता है वह समितियुक्त महात्मा सज्जनोंसे पूज्य होता है ॥ ३३ ॥

(आलोकित–पानभोजन ।)– खानेके पदार्थ रोटी, दालभात, आदि और पीनेके पदार्थ जल, दूध आदि इनकी शुद्धि करता हुआ जो उनका स्वीकार करता है उसकी एषणा नामक समिति होती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकारसे पांच भावनाओंसे प्रभावयुक्त हुआ यह पवित्र अहिंसाव्रत अनंत सुख देनेवाला होता है ॥ ३५ ॥

(असत्यवचनका लक्षण और उसके भेद ।)– जो अज्ञानी लोग हैं, वे पुण्य और पाप-संबंधी दुष्ट बचन बोलते हैं । उसको सत्य बोलनेमें चतुर पुरुष अनृतभाषण–असत्य–भाषण समझते हैं । जो भाषण ऋत भाषणसे–सत्य भाषणसे दूर है उसको अनृत कहते हैं । ऐसी अनृत शब्दकी व्युत्पत्ति है । वह अनृतभाषण चार प्रकारका है अर्थात् प्राणियोंसे-मनुष्योंसे चार प्रकारका असत्य भाषण बोला जाता है और वह पापरूपी वृक्षका बडा भारी मूल है ॥ ३६–३७ ॥

१ आ. यस्येह २ आ. त्वीर्या ३ आ. श्चैषणादिका

ऋतादपगतं ताद्रदनृतं तद्व्युत्पत्तितः । चतुर्धा जायते जन्तोर्मूलं पापतरोर्महत् ॥ ३७
युक्तायुक्तविमूढानां नित्याद्येकान्तवादिनाम् । असदुद्भावनं निन्द्यमाद्यं ह्यनृतमादिशेत् ॥ ३८
संवृत्त्यैव भवन्त्येते भावाः सर्वे निराश्रयाः । यद्वदन्ति तदेव स्याद्द्वितीयं सदपह्नवम् ॥ ३९
सावद्याप्रियगर्ह्यादि निन्द्यं त्रेधा मतं जिनैः । असत्यं वचनं घोरं श्वभ्रभूमिप्रवेशकम् ॥ ४०
विपरीतमिदं तावत्तृतीयमनृतं मतम् । केवली कवलं भुङ्क्ते स्त्रीमोक्षादि वदन्ति तत् ॥ ४१

(असदुद्भावन नामक पहिला असत्य वचन ।)– आत्मा ज्ञानादिगुणोंसे मुक्त–रहित कभीभी नहीं होता है, परंतु वह उनसे मुक्त–रहित है ऐसा कहना । आत्मा कर्मोंसे रहित होकर मुक्त दशाको धारण करता है । परंतु वह सदा संसारी रहता है ऐसा मीमांसक कहते है अर्थात् मुक्त-अमुक्त आदि भेदोंको न जाननेवाले जो नित्यादि एकान्तवादी लोग हैं, वे असदुद्भावन नामका पहिला निन्द्य भाषण बोलते हैं ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् वस्तु सर्वथा नित्य नहीं होनेपरभी उसे नित्यही कहना । सर्वथा अनित्य वस्तु नहीं है, तो भी उसे अनित्यही समझना अर्थात् जो वस्तुका स्वरूप नहीं वह है ऐसा समझना, उसे प्रगट करना यह पहिला असदुद्भावन नामक निंद्य असत्य वचन है ॥ ३८ ॥

(सदपह्नव-नामक असत्य-भाषण ।)– ये सब घटपटादि पदार्थ संवृतिसे हैं–मायासे हैं, वास्तविक नहीं हैं । इनका कुछ आश्रय नहीं है । जैसे स्वप्नमें हाथी, घोडा आदिक अनेक पदार्थ हम देखते हैं, परंतु उस समय हमारे सामने वे पदार्थ वास्तविक नहीं रहते हैं, इसवास्ते जागृति–समयमेंभी ये पदार्थ नहीं हैं, ऐसा जो प्रतिपादन करना वह सदपह्नव है । अर्थात् पदार्थोंका अस्तित्व होनेपरभी वे नहीं है, ऐसा युक्त्याभासोंके द्वारा दिखाना यह दूसरा 'सदपह्नव' नामक असत्य भाषण है । भावार्थ–स्वप्नमेंभी जिसका अनुभव आता है वह पदार्थ जागृत अवस्थामें अनुभवमें आया था । इसलिये उसे असत्य नहीं कह सकते । तथा पदार्थ यदि नहीं होते तो आघात, प्रत्याघात आदिक अर्थक्रिया और उससे होनेवाले सुखदुःखादिकोंके अनुभव सबको माननेही पडते हैं, क्योंकि वे वास्तविक हैं । किसी समय हमारा कोई अनुभव मिथ्या हो जानेसे सब प्रकारके अनुभव जैसे मिथ्या मानना अयुक्त हैं वैसेहि कोई पदार्थ असत्य होनेपरभी सब पदार्थ संवृति–असत्य मानना युक्तिके विरुद्ध है ॥ ३९ ॥

(विपरीत नामक असत्य भाषण ।)– विपरीत नामका तीसरा असत्य भाषण है । उसका उदाहरण–केवली भगवान हमारे समान अन्न सेवन करते हैं, तथा स्त्रीको मोक्ष प्राप्त होता है इत्यादि बाते कहना यह विपरीत नामक तीसरा असत्य भाषण है । (केवली-कवलाहार और स्त्रीमोक्ष इन विषयोंका ग्रंथकारने स्वयं विस्तारसे आगे खंडन किया है) अतः यहां इसका केवल नामनिर्देश ग्रंथकारने किया है ॥ ४० ॥

हिंसाद्यनर्थमूलानामारम्भाणां प्रवर्तकम् । सहावद्येन यद्वाक्यं तत्सावद्यमुदीरितम् ॥ ४२
क्रोधादिगर्भितं निन्द्यं विधुरं[1] वैरकारणम् । तदप्रियं वचोऽवाचि दुर्गदुर्गतिदायकम् ॥ ४३
भिनत्ति परमर्माणि सर्वस्वहरणादिभिः । तद्वचो गर्ह्यमाख्यान्ति गर्ह्यदुःखप्रदं जिनाः ॥ ४४
हितं मितं क्रियायुक्तं सर्वसत्वसुखावहम् । मधुरं वत्सलं वाक्यं वक्तव्यं धर्मवत्सलैः ॥ ४५
चतुर्विधमिदं निन्द्यमसत्यं सेवितं नृणाम् । चतुर्गतिमहादुःखवृक्षकक्षप्ररोहणम्[2] ॥ ४६
अविश्वासकरं निन्दापदमङ्गुलिदर्शकम् । इह लोकेऽपि दौर्भाग्यशोकसन्तापकारकम् ॥ ४७
सत्यं तदुदितं प्राज्ञैर्यदादेयमहिंसकम् । तथा तद्वदतामत्र किमसाध्यममुत्र वा ॥ ४८
स्वयमेव समायान्ति सम्पदः सत्यवादिनाम्[3] । किं चित्रं यद्यदायान्ति हंस्यः पद्माकरं वनम्[4]॥ ४९

जिनेश्वरोंने सावद्य, अप्रिय और गर्ह्यादि निन्द्य भाषणके तीन भेद कहे हैं। यह घोर असत्य भाषण नरकभूमिमें जीवका प्रवेश करनेमें कारण होता है ॥ ४१ ॥

(सावद्यादि–वचनोंका–वर्णन ।)– हिंसादि अनर्थोंका-संकटोंका जो मूल कारण है और जीव-घात जिनमें होता है ऐसे सेवा, कृषि, व्यापार आदि आरंभोंको उत्पन्न करनेवाला जो पाप-सहित वाक्य बोला जाता है, उसे सावद्यवचन नामक असत्य भाषण कहते हैं। क्रोध जिसके आदिमें है, ऐसा भाषण अर्थात् क्रोधसे आखें लाल करके बोलना, गर्वसे दूसरोंको नीच-तुच्छ समझकर अपमानकारक भाषण बोलना निंदायुक्त वचन, संकट उत्पन्न करनेवाला भाषण और वैरजनक भाषण इन भाषणोंको अप्रिय भाषण कहते हैं। यह भाषण कष्टयुक्त दुर्गति देनेवाला है। जिस भाषणसे दूसरोंका मर्मछेद होता है, दूसरोंके सर्वस्वका हरण हो जाता है, जो चुगलीका कारण है, उसे जिनेश्वर गर्ह्यभाषण कहते हैं। यह भाषण गर्ह्य-निन्दनीय दुःखोंको देनेवाला हैं ॥ ४२–४४ ॥

(धर्मप्रेमी लोगोंका भाषण ।)– हितकर, मित-अल्प, सदाचारप्रयुक्त, सर्व प्राणियोंको सौख्य देनेवाला, मधुर और प्रेमयुक्त ऐसा भाषण धर्मप्रेमियों द्वारा बोला जाना योग्य है ॥४५॥

ऊपर जो असत्यके चार प्रकार कहे हैं वे निंद्य हैं। उनका सेवन जिन मनुष्योंने किया है, उन्हें वे नरकादि चतुर्गतिके महादुःखरूपी वृक्षवनको उत्पन्न करनेके कारण हैं। ऐसे वचन अविश्वास उत्पन्न करते हैं, निन्दाके कारण हैं ' यह आदमी असत्य बोलनेवाला है ' ऐसा अंगुलीसे लोग उसे दिखाते हैं। इहलोकमेंभी दुर्भाग्य, शोक और सन्तापको वे उत्पन्न करते हैं ॥४६–४७॥

(सत्यभाषण और उसका फल)– विद्वानोंने उसको सत्यभाषण कहा है, जो सज्जन-ग्राह्य-मान्य है और हिंसासे रहित है। ऐसा भाषण बोलनेवाले पुरुषको इहलोकमें और परलोकमें क्या असाध्य है? सत्यवादियोंके पास संपत्ति विना बुलाये स्वयं प्राप्त होती है। हंसिनियां कमलवनको

---

१ आ. निष्ठुरम्　　२ आ. प्ररोहकम्.　　३ आ. सत्यवादिनम्　　४ आ. वरम्.

महाव्रतमिदं पूतं कर्मास्रवनिरोधकम्[1] । कर्मास्रवं निरुन्धानाः श्रयताशु[2] महाधियः[3] ॥ ५०
क्रोधलोभसुभीरुत्वहास्यसावद्यभाषणैः । प्रत्याख्यानं मताःपञ्च भावनाःसूनृतस्य च ॥ ५१
अदत्तादानमाख्यातं स्तेयं स्तेयविवर्जितैः । तद्व्यावृत्तिर्मतं पूतमस्तेयव्रतमुत्तमैः ॥ ५२
क्षेत्रे ग्रामे गृहे घोषे रथ्यायां यत्र तत्र वा । भ्रष्टं नष्टं स्थितं वापि परद्रव्यं न गृह्यते ॥ ५३
यो यस्य हरते वित्तं स तज्जीवितहृच्चरः । बहिरङ्गं हि लोकानां जीवितं वित्तमुच्यते ॥ ५४
धनजीवितयोर्मध्ये धनं बहुमतं नृणाम् । जीवितव्यव्ययेनापि तदिच्छन्त्यन्यथा कथम् ॥ ५५
मातरं पितरं वापि स्त्रियं बालं तपस्विनम् । स्तेनो निहन्ति पापात्मा न तस्मादपरो भुवि ॥ ५६
व्याघ्रादिभ्योऽपि पापी स्याच्चौरो व्याघ्रादयो यतः । महातपःप्रवृत्तानामपि प्राणमलिम्लुचः ॥ ५७

प्राप्त होती हैं इसमें कौनसा आश्चर्य है ? यह सत्यवचन महाव्रत है, पवित्र है, अशुभकर्मास्रवको रोकनेवाला है। जिन्हें अपनेमें कर्मास्रवको रोकना है, वे महाबुद्धिवान् लोग इसका शीघ्र आश्रय करें। ॥ ४८–४९–५० ॥

(सत्यव्रत–भावना ।) – क्रोधका त्याग करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना तथा अवद्य भाषणका त्याग करना ऐसी पांच भावनायें सत्यव्रतकी हैं ॥५१॥

(अचौर्यव्रतका लक्षण ।)– चोरीका त्याग करनेवाले उत्तम पुरुषोंने दुसरेका दिया हुआ जो धनवस्त्रादिक ग्रहण करना वह चौर्य है, ऐसा कहा है। तथा उससे व्यावृत्त होना अर्थात् बिना दिये धनादिका ग्रहण नहीं करना वह पवित्र अचौर्यव्रत है ऐसा श्रेष्ठ गणधर परमेष्ठीने कहा है ॥५२॥

खेतमें, गांवमें, घरमें, घोषमें–अहीरोंके ग्राममें, मार्गमें, आँगनमें और जहां कहींभी गिरा हुआ, नष्ट हुआ अथवा स्थानस्थित ऐसा परद्रव्य है उसे नहीं लेना चाहिये। ऐसा परस्वामिक धन लेना चोरी है ॥५३॥

(धन बहिरंग प्राण है।)– जो जिसका धन हरण करता है, वह उसका जीवित हरण करता है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि धन लोगोंका बहिरंग प्राण कहा जाता है ॥५४॥

(धन प्राणोंसेभी प्रिय है।)– धन और जीवित इन दोनोंमेंसे धन मनुष्योंको अत्यंत प्रिय है। यदि वह ऐसा नहीं होता तो लोग प्राणोंके व्ययसेभी उसे क्यों चाहते हैं ? ॥५५॥

(चोरसे अधिक पापी कोई नहीं हैं।)– चोर मातापिताकोभी मारता है। स्त्रीको, बालकको और तपस्वीकोभी मारता है। इसलिये इस जगतमें चोरसे अधिक पापी आत्मा कोई नहीं ॥५६॥

व्याघ्र, सिंह आदिकसेभी चोर पापी हैं क्योंकि वे व्याघ्रादिक हिंसक प्राणी महातपमें प्रवृत्त हुए तपस्वी जनोंके प्राणोंका हरण नहीं करते ॥५७॥

---

१. आ. निरुन्धकम् २. आ. श्रयन्ति ३. सुमहाधियः

बन्धनं ताडनं कृत्तेरुत्कर्तनमतीव्यथाम् । इहैव लभते चौरो मृतो याति तमःप्रभाम् ॥ ५८
तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं हृतं नृणाम् । बहुदुःखप्रदं लोके कालकूटविषाशनात्[1] ॥ ५९
इति मत्वा महादोषमस्तेयव्रतधारिणः । सन्तो धर्मरता नित्यं भवन्ति भवभीरवः ॥ ६०
शून्यागारविमुक्तैकवासौ[2] धर्माविसङ्गतिः । परस्यानुपरोधत्वं भैक्ष्यशुद्धिरिति ध्रुवम् ॥ ६१
भावनाः पञ्च भव्यास्ता[3] अस्तेयव्रतमाश्रिताः । भावनीयाः प्रयत्नेन भवस्यान्तमियासुभिः ॥६२
पापात्मनो वदन्त्येके कर्मनोकर्मसंग्रहात् । अदत्तव्रतभङ्गोऽपि जायते न कथं सताम् ॥ ६३

(चोरको इहपरलोक दुःखदायक हैं ।)– इस लोकमें चोर बन्धन, ताडन और शरीरका चर्म निकालना आदिक अतिशय दुःखको प्राप्त होता है और मरणोत्तर वह तमःप्रभा नरकमें जन्म धारण करता है ॥५८॥

तृणके समान तुच्छ ऐसा थोडासाभी परकीय द्रव्य हरण करना लोगोंको कालकूट विषके भक्षण करनेसेभी अधिक दुःख देनेवाला है । इस प्रकार चोरी करनेमें महादोष है ऐसा समझकर अचौर्यव्रत धारण करनेवाले तथा संसारसे डरनेवाले सज्जन धर्ममें नित्य तत्पर रहते हैं ॥५९-६०॥

(अचौर्यव्रतकी पांच भावनाये ।)– शून्यागारावास, विमोचितावास, धर्माविसंगति - सद्धर्म-अविसंवाद, परोपरोध न करना, भैक्ष्यशुद्धि ऐसी अे पांच भावनायें अचौर्य व्रतकी हैं । अचौर्यव्रत-संबंधी ये पांच भव्य भावनायें भावने योग्य हैं । संसारके अंतके प्रति जानेकी इच्छा करनेवालोंके द्वारा प्रयत्नसे इनकी भावना करना योग्य है । इन पांच भावनाओंका स्पष्टीकरण-पर्वतगुहा, वर्षाकी पोल, नदीतट इत्यादिक स्थान अस्वामिक होनेसे इनको शून्यागार कहते हैं । ऐसे स्थानमें रहनेसे अचौर्यव्रतका पालन होता है । शत्रुके भयसे छोडे हुए गांव, नगर, पत्तनादिको विमुक्तैकवास अथवा विमोचितावास कहते हैं, ऐसे स्थानोंमें रहना । यह मेरा है, यह आपका है, ऐसा साधर्मियोंके साथ झगडा नहीं करना । परके साथ हठ न करना । अमुक वस्तु मुझे चाहिये ऐसी प्रार्थनासे अन्यको संकुचित नहीं करना चाहिये । और भिक्षाकी शुद्धि रखना चाहिये अर्थात् पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें जो दोष कहे हैं, उनका परिहार-त्याग करके आहार लेना । आहारमें लंपटता होनेसे उसकी शुद्धिके प्रति अनादर होता है, जिससे दोषोंको त्याग करनेकी जिनाज्ञाका लंघन होनेसे चौर्यदोष उत्पन्न होता है ॥६१–६२॥

(कर्म-नोकर्मग्रहणभी चोरी है ऐसी शंकाका उत्तर)– कोई पापी लोग ऐसा कहते हैं– 'सज्जन लोग-मुनिवर्ग पुण्यकर्म और उसके सहायक शरीरादि नोकर्मको ग्रहण करते हैं अर्थात् नहीं दिया हुवा कर्म-नोकर्म ग्रहण करनेसे वे चौर्यदोषके पात्र होते हैं । तब उनके अदत्तव्रत-अचौर्यव्रतका

---

१. आ. यथा २. आ. यिमुक्तैकावासौ ३. आ. भव्यानां

नैष दोषो मतः साधोर्दानादानाद्यभावतः । अन्तरायक्षयादेतत्स्वयमेव प्रजायते ॥ ६४
शून्यागारपुरग्रामसंग्रहाद्भुक्त इत्यपि । मिथ्याप्रमत्तयोगेन यतोऽमीषां परिग्रहः ॥ ६५
हिंसादीनि च पापाय संगतानि प्रमादिनाम् । अप्रमादवतां नापि तन्नामापि निगद्यते ॥ ६६
अत एव विशोध्यादौ मिथ्यात्वं शुद्धबुद्धयः । परिहारविशुद्धयर्थं सन्तो गृण्हन्ति तद्व्रतम् ॥६७
ब्रह्मचर्यं बुधाः प्राहुर्यच्च मैथुनवर्जनम् । नवधा धर्मविज्ञानां मुनीनां परमं तपः ॥ ६८

विनाश कैसे नहीं होगा ?' उत्तर– 'यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म और नोकर्मोंमें धनवस्त्रादिके समान देने-लेनेका व्यवहार नहीं है। साधुओंके अन्तरायकर्मका क्षय और क्षयोपमश होनेसे कर्म नोकर्मका संग्रह स्वयं होता है, उनमें देने-लेनेका व्यवहार नहीं होता। उनका प्रतिसमय आत्मामें आना जाना होता है। इसलिये चोरीका दोष साधुओंको नहीं लगता। अन्तरायकर्मका क्षयोपशम साधुओंको होता है। और केवली भगवानको तेरहवे गुणस्थानमें अन्तरायकर्मका क्षय होता है, जिससे अनन्त भोग उपभोगादि सामग्री स्वयं प्राप्त होती है। मुनियोंको तपश्चरणसे ऋद्धियां प्राप्त होती हैं। तोभी वे निःस्पृह होनेसे उनको अचौर्यव्रत स्वयं प्राप्त होता है ॥६३–६४॥

(पुनः शंका और परिहार)– 'भिक्षु–मुनि जब शून्यागारमें गांवमें अथवा नगर आदिकमें भ्रमण करते हैं तब मार्गसे उनको जाना पडता है। किसी श्रावकके गृहद्वारमेंभी वे जाते हैं। मार्ग अथवा श्रावकका गृहद्वार वास्तविक अदत्त है। राजाने मार्गमें प्रवेश करनेके लिये उनको आज्ञा नहीं दी है और श्रावकने गृहद्वारके भीतर प्रवेश करो ऐसा नहीं कहा है, तोभी वे प्रवेश करते हैं। अतः यह अदत्तादान हुआ– 'अचौर्यव्रतका भंग हुआ' ऐसा नहीं समझना। क्योंकि सामान्यतः सब लोगोंको मार्गमें प्रवेश करना और श्रावकद्वारमें आहारार्थ प्रवेश करना मना नहीं है। प्रमत्तयोगसे इनमें प्रवेश किया जाना, कषायवश, लोभवश इनमें प्रवेश करना या इनका स्वीकार करना व्रतभंगका कारण होता है। प्रमादी लोगोंके हिंसादिक कार्य पापके कारण होते हैं। परंतु जो प्रमादरहित है, उन साधुजनोंमें पापनामकाभी संपर्क नहीं हैं। साधुजन प्रमादयोगसे रहित होनेसे मार्ग या गृहद्वारका आश्रय करनेपरभी अचौर्यव्रतभंगसे या तज्जनित पापसे वे लिप्त नहीं होते ॥६५–६६॥

इसलिये शुद्धबुद्धिवाले सम्यग्दृष्टिजन मिथ्यात्वको शोधते हैं– दूर करते हैं और पापके परिहारार्थ तथा परिणामकी निर्मलताके लिये साधुगण अचौर्यव्रतको धारण करते हैं ॥६७॥

(ब्रह्मचर्यव्रतलक्षण।)– धर्मही धन जिनका है, ऐसे मुनि नौप्रकारसे मैथुनका त्याग करते हैं। इस त्यागको विद्वान लोग ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत मुनियोंका उत्तम तप है। मैथुन सेवन मनसे नहीं करना, नहीं करवाना और करनेवालोंको अनुमति नहीं देना। तथा वचनसे मैथुनसेवनके अश्लील शब्द नहीं बोलना, नहीं बुलवाना और बोलनेवालेको अनुमति नहीं देना।

समस्तसंयमाधारः स एवाभिमतः सताम् । यस्यास्ति निर्मलं लोके ब्रह्मचर्यं परं तपः ॥ ६९
रामाचक्षुःक्षुरप्रेण क्षिप्रं दुर्गतिदायिना । भिद्यते यस्य नो चेतः स धन्यतम ईरितः ॥ ७०
यो दधाति नरः प्राज्ञश्चतुर्थव्रतमुत्तमम् । सोऽश्नुते सुभगः सौम्यः सिद्धिसौख्यं चतुर्विधम् ॥ ७१
तमोमयी महाभीमा शुद्धमार्गापहारिणी । रामारात्रिस्त्रिधा त्याज्या दुष्टसत्त्वसुखावहा ॥ ७२
स्रावि[1] दुर्गन्धबीभत्सं कृमिजालसमाकुलम् । रामाकलेवरं मूढाः सेवन्ते शुनका इव ॥ ७३
नीचैर्गच्छति या नित्यं तटद्वयनिपातिनी । रामासरिद्भुवाम्भोधिवर्द्धनी वर्ज्यते बुधैः ॥ ७४

शरीरसे मैथुनसेवन नहीं करना, नहीं करवाना और मैथुन सेवनवालोंको अनुमति न देना । इस-प्रकार नवधा मैथुनत्याग मुनिगण करते हैं ॥ ६८ ॥

ब्रह्मचर्य उत्तम तप है । जगतमें जिस पुरुषने इस व्रतका निर्मल पालन किया है वह पुरुष संपूर्ण संयमोंका आधार समझना चाहिये तथा वही सज्जनोंको मान्य है ॥ ६९ ॥

(अत्यंत धन्यवादका पात्र कौन है ?)– शीघ्र दुर्गति देनेवाली स्त्रीके नेत्ररूपी बाणसे जिसका मन भिन्न नहीं हुआ है, वह पुरुष अतिशय धन्य है, धन्यवादके लिये पात्र है ॥ ७० ॥

जो बुद्धिमान पुरुष इस ब्रह्मचर्य नामक उत्तम चतुर्थव्रतका पालन करता है, वही सुभग-सुंदर है और वही सौम्य-शांत है तथा वही चार प्रकारके मुक्तिसुखोंका अनुभव लेता है । अन्योंको ऐसा सुख कदापि नहीं मिलेगा । अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्तशक्ति इनको चार प्रकारका मुक्तिसुख कहते हैं ॥ ७१ ॥

(स्त्री रात्रि और नदीके समान है ।)– यह रामारात्रि-स्त्रीरूपरात्रि अंधकारमय है अर्थात् अज्ञानमय है । ज्ञानीभी उसके संगसे अज्ञानी मोही होते हैं । रात्रि महाभय उत्पन्न करती हैं । स्त्रीभी भयदायक है । उसका अभिलाष करनेवालोंपर अनेक संकट आते हैं, इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव आता है । शुद्ध मार्ग अंधकारमय रात्रिसे आछादित होता है । तथा स्त्रीरूपी रात्रिभी मोक्षमार्ग, जो कि अत्यंत निर्दोष होनेसे शुद्ध है, उसको आच्छादित करती है । स्त्रीका संसर्ग करनेसे मन मोहान्धकारमय होता है, जिससे शुद्ध मोक्षमार्ग बिलकुल दिखताही नहीं । अंधकारमय रात्रि दुष्ट सर्प और चोर आदिकोंसे भरी रहती है, उनको वह सुखदायक होती है । यह स्त्रीरूपी रात्रिभी दुष्टजारादिकोंको सुख देनेवाली है, सज्जनोंको भयदायिनी है । अतः इसे मनवचनकायोंसे त्यागना योग्य है ॥ ७२ ॥

स्त्रीका शरीर मलवाही, दुर्गंध और बीभत्स – ग्लानि उत्पन्न करनेवाला तथा असंख्यात किडियोंसे भरा हुआ है । मूढ पुरुष ऐसे स्त्रीशरीरका सेवन कुत्तेके समान करते हैं ॥ ७३ ॥

यह स्त्रीरूपी नदी नीच पुरुषका आश्रय करती है । जैसे नदी हमेशा नीच स्थानमें रहनेवाले समुद्रका आश्रय करती है । नदी जैसे अपने दोनों तटोंको विदीर्ण करती हुई पानीके

---

१ आ. स्रवद्

यस्या दर्शनमात्रेण नरः पञ्चत्वमञ्चति । सर्पिणीव सतां रामा हेया दृष्टिविषा न किम् ॥ ७५
वह्निज्वालेव या दुष्टा स्पृष्टा दहति मानवम् । समुज्ज्वलापि सा हेयाबला बलविनाशिनी ॥ ७६
अपि काष्ठमयं रूपं यस्या हरति तत्क्षणात् । संयमस्तिमितं चेतो मुनेरप्यचलं बलात् ॥ ७७
तावद्विवेकवैदग्ध्यं[1] नरो वहति बुद्धिमान् । यावद्विलासिनी दृष्टिशरपातैर्न हन्यते ॥ ७८
अहो दुष्टाशया रामा रमणीयमपि प्रियम् । परिहत्यापरं याति निस्त्रपा दुष्टचेष्टिता ॥ ७९
यस्यामधिगता जीवा महापापानि कुर्वते । आत्मबन्धवधादीनि सद्भिस्त्याज्या त्रिधापि सा॥ ८०
इति दोषवतीं नारीं नरो यो नैव मुञ्चति । नैव मुञ्चति सोऽवश्यं संसारं शर्मवर्जितम्[2] ॥ ८१
स कृती कृतिनां नाथस्तस्य सौख्यं निरन्तरम् । यः पुनाति परात्मानं स ब्रह्मतपसा सुधीः ॥ ८२

वेगसे वहती है वैसे स्त्रीभी कामाकुल होकर पतिकुल और पितृकुलका नाश करती है। नदी समुद्रको बढाती है और स्त्री संसारसमुद्रको बढानेवाली है। इसलिये विद्वान् उसका त्याग करते हैं ॥ ७४ ॥

जैसे दृष्टिविषा सर्पिणी क्रोधसे जिसको देखती है वह तत्काल मृत्युवश होता है उसी तरह स्त्रीरूपी दृष्टिविषा सर्पिणीके दर्शनमात्रसे मनुष्य मरणको प्राप्त होता है। इसलिये सज्जन उसका त्याग करते हैं ॥ ७५ ॥

वह्निज्वाला – अग्निशिखा स्पर्श करनेवालेको जलाती है, वैसेही दुष्ट स्त्रीको जो स्पर्श करता है उस मानवको वह जला देती है। अग्निज्वाला प्रकाशमान होनेपरभी जैसी त्याज्य है वैसी यह स्त्री सुंदर होनेपरभी बलविनाशक होनेसे त्याज्य है ॥ ७६ ॥

काष्ठसे निर्मित स्त्रीरूपभी संयमसे दृढ और निश्चल ऐसे मुनिके मनको बलात्कारसे तत्काल हरण करता है। इसलिये शीलवान पुरुष स्त्रीकी मूर्तिसेभी सदा दूर रहते हैं ॥ ७७ ॥

जबतक विलासवती स्त्रीके नेत्ररूप बाणोंके आघातसे मनुष्य विद्ध नहीं होता तबतक उसमें विवेक वास करता है और तबतक वह बुद्धिमान् पुरुष चातुर्यको धारण करता है ॥ ७८ ॥

(दुष्ट स्त्रीके दुराचारका वर्णन ।)– दुष्ट अभिप्रायवाली तथा दुराचारिणी स्त्री अपने सुंदर पतिकोभी छोडकर निर्लज्ज होकर अन्य पुरुषके पास जाती है, यह आश्चर्य है, विचारणीय है ॥ ७९ ॥

जिसके वश होकर जीव महापापोंको करते हैं और बंध-वधादिक कष्टोंको अनुभवते हैं ऐसी स्त्रीका मन-वचन-कायोंसे सज्जन त्याग करते हैं ॥ ८० ॥

ऐसी दोषोंसे भरी हुई स्त्रीको जो पुरुष नहीं छोडता है वह सुख-रहित संसारको कभीभी नहीं छोडता। स्त्रीके मोहसे मोहित हुए पुरुषोंको कदापि मोक्षप्राप्ति नहीं होती ॥ ८१ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचर्यरूपी तपसे अपने उत्तम आत्माको पवित्र करता है वह सज्जन सज्जनोंका-पंडितोंका नाथ होता है और उसे निरन्तर सौख्यकी प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

---

१ आ. वैदग्धीम् २ आ. शर्मवर्जितः

अस्यापि भावनाः पञ्च भावनीया मनीषिभिः । स्त्रीकथाश्रवणाद्याश्च ब्रह्मचर्यं प्रपित्सुभिः॥ ८३
यः प्रमादाकुलो नित्यं कन्दर्पेण कदर्थितः । रामारागकथादीनां श्रावकस्तस्य किं व्रतैः ॥ ८४
तत्त्यागो भावनाभाणि भावनाविधिकोविदैः । आद्या ब्रह्मव्रतस्येयं शर्मकर्मविधायिनी ॥ ८५
स्त्रीणामवयवाः सर्वे दृष्टिमार्गगता अपि । ब्रह्मव्रतस्य नामापि घ्नन्ति साधोरपि क्षणात् ॥ ८६
साङ्गोपाङ्गं स्त्रियो रूपं दृष्ट्वा ह्यानतमौलयः । साधवो यान्ति मेघाम्बुहता गाव इव क्षितौ॥८७
हसितं क्रीडितं पूर्वरतानुस्मरणं पुनः । आलिङ्गनं स्त्रिया[1] नैव स्मरन्ति ब्रह्मचारिणः ॥ ८८
सरसं वृष्यमाहारं कन्दर्पोद्रेककारणम् । साधवो नैव गृह्णन्ति चतुर्थव्रतमाश्रिताः ॥ ८९

(ब्रह्मचर्यव्रतकी पांच भावनायें ।) स्त्रीकथा-श्रवण-त्याग, स्त्रीके मनोहर स्तनमुखादिक अवयवोंको देखनेका त्याग, पूर्वकालमें उनके साथ भोगे हुए संभोगसुखके स्मरणका त्याग, बल उत्पन्न करनेवाले और प्रिय ऐसे घृतादिरसोंका त्याग और अपने शरीरको वेषभूषादिसे अलंकृत करनेका त्याग ऐसी पांच बातें ब्रह्मचर्य धारण करनेवालोंको योग्य है, स्त्रीकथा-श्रवणादिकोंको छोडकर इनसे विरुद्ध भावनायें विद्वानोंसे भाई जाती हैं ॥ ८३ ॥

जो कन्दर्पसे–कामविकारसे हमेशा पीडित होकर प्रमादी-स्वच्छंदी उन्मत्त होता है और स्त्रीविषयके प्रेमको बढानेवाली कथा सुनता है, स्त्रियोंके मनोहर अवयव देखता है उसके व्रत निष्फल होते हैं ॥ ८४ ॥

उपर्युक्त पांच बातोंका जो त्याग उसे भावनाविधिको जाननेवाले विद्वान् 'भावना' कहते हैं। स्त्रीरागकथाका जो त्याग है वह पहिली ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना है । वह सुख देनेवाले कर्मका–सद्वेद्यादि शुभकर्मोंका बंध करनेवाली है ॥ ८५ ॥

स्त्रियोंके सर्व अवयव दृष्टिमार्गमें आनेमात्रहीसे साधुओंके ब्रह्मचर्य–व्रतका नामभी रहने नहीं देते तो अन्य लोगोंका ब्रह्मचर्य स्त्रियोंके अवयव देखनेसे कैसे टिक सकता है ? कदापि नहीं टिक सकता ॥ ८६ ॥

मेघवृष्टिसे ताडित बैल अपना मस्तक नीचे करके जैसे जाते हैं वैसे उपाङ्गोंका रूप देखकर मस्तक नम्रकर अर्थात् स्त्रियोंके सुंदर अवयवोंसे अपनी दृष्टि हटाकर सज्जन जाते है ॥ ८७ ॥

स्त्रियोंका हसना, उनकी क्रीडा, उनके पूर्व संभोगका स्मरण, और उनके आलिङ्गनका स्मरण, ब्रह्मचारी नहीं करते हैं ॥ ८८ ॥

जो कामपीडाकी तीव्रताका कारण है, ऐसा सरस और उन्मत्त बनानेवाला आहार ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करनेवाले मुनिजन लेतेही नहीं ॥ ८९ ॥

---

१ आ. स्त्रियां

स्वशरीराङ्गसंस्कारं भूषावेषादिभिः क्वचित् । ब्रह्मव्रतविरुद्धं यत्तन्न जातु विधीयते ॥ ९०
परिगृह्णाति येनेदं कर्म प्राणी दुरुत्तरम् । परिग्रहः स विज्ञेयो मूर्च्छा वा वस्तुगोचरा ॥ ९१
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः कथितो जिनैः । चतुर्दशप्रकारोऽयमान्तरो दशधा बहिः ॥ ९२
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं दासी दासस्तथा पुनः । सुवर्णं रजतं भाण्डं हिरण्यं च परिग्रहम् ॥ ९३
बाह्यो दशप्रकारोऽयं संरम्भादिविशेषतः । अमीषां जायते नित्यं दुर्गदुर्गतिहेतुकः ॥ ९४
वेदत्रयं[1] च मिथ्यात्वं तथा[2] हास्यादयश्च षट् । चतुष्कं तु कषायाणामान्तरोऽसौ निगद्यते ॥ ९५
ममेदं भाव इत्येवं सङ्कल्पो यः परिग्रहः । ज्ञानादिष्वपि सोऽस्त्येव तत्राप्येष प्रसज्यते ॥ ९६
नायं दोषो मतः किञ्चिदप्रमत्तादियोगतः । ज्ञानादिग्रहणे मूर्च्छा नास्ति मोहप्रमाथिनि ॥ ९७

ब्रह्मचर्यव्रतके विरुद्ध ऐसे भूषणोंसे और चित्र विचित्र वस्त्रादि वेषोंसे युक्त अपने शरीरका संस्कार साधुजन कदापि धारण नहीं करते हैं ॥ ९० ॥

(परिग्रहविरतिव्रत।)– जिससे पार होना कठिन ऐसा कर्म जिससे प्राणी प्राप्त कर लेता है उसे परिग्रह समझना चाहिये। इसकोही 'मूर्च्छा' यह नाम है। धनादिकी जो अभिलाषा उसे मूर्च्छा कहते हैं। मूर्च्छाका कारण होनेसे धन, धान्य, दासीदास, वस्त्र, खेत, घर ये पदार्थभी परिग्रह कहे जाते हैं। मुख्यतः आत्मामें जो अभिलाषा है वही परिग्रह है। उपर्युक्त धनधान्यादि-कभी अभिलाषाके कारण होनेसे इनकोभी गौणतया परिग्रह कहते हैं। ये बाह्य परिग्रह हैं। जिने-श्वरोंने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह ऐसे दो भेद कहे हैं। उनमेंसे अभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद हैं और बाह्य परिग्रहके दस भेद हैं ॥ ९१–९२ ॥

(बाह्य परिग्रह)– क्षेत्र-खेत, वास्तु-घर, धन-गौ, भैंस, घोडा आदिक, धान्य-शालि, गेंहू आदिक, दासीदास-नोकर स्त्रीपुरुष, सुवर्ण-सोना, रजत-चांदी आदि, भाण्ड-पात्र, हिरण्य-जिससे व्यवहार चलता है ऐसे रुपया आदि, ये सब बाह्य परिग्रह हैं ॥ ९३ ॥

इन दश बाह्य परिग्रहके लिये मनुष्य संरंभ समारंभ आरंभादिक करते हैं। तथा वे दुःखदायक दुर्गतिके बंधके कारण होते हैं ॥ ९४ ॥

(अभ्यंतर परिग्रह।)– तीनवेद-स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति शोक, भय, और जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय तथा मिथ्यात्व ये चौदा अभ्यन्तर परिग्रह कहे जाते हैं ॥ ९५ ॥

यह मेरा है ऐसा जो ममत्व-संकल्प वह परिग्रह है ऐसा यदि मानोगे तो यह मेरा ज्ञान है, यह मेरा दर्शन है, यह मेरा चरित्र है इत्यादि आत्मगुणोंमेंभी ममत्व-संकल्प होनेसे उन्हेंभी परिग्रह कहना पडेगा ऐसी शंकाका उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं––

जिससे प्रमादयोग उत्पन्न होकर ममत्वसे पदार्थोंका ग्रहण होता है ऐसे संकल्पको परिग्रह कहते हैं। सम्यग्ज्ञानादिक गुण मोहका नाश करनेवाले हैं। उनके ग्रहण करनेमें मूर्च्छा

---

१ आ. वेदद्वयं २ आ. रागो

किञ्च ज्ञानादयो भावाः सर्वे ह्यात्मस्वभावकाः । अहेयाः सुखहेतुत्वात्ततो नैते परिग्रहाः ॥९८
कर्मोदयवशाद्ये तु भावा नात्मस्वभावकः । हेयास्तेषु ममेदं यः सङ्कल्पः स परिग्रहः ॥ ९९
महापापानि पञ्चैव प्रभवन्ति निरन्तरम् । यस्मात्स एव साधूनां हेयः सद्व्रतवर्तिनाम् ॥ १००
मनोज्ञत्वामनोज्ञत्वरागद्वेषत्ववर्जनम्[1] । इन्द्रियार्थेषु[2] चेताः स्युर्भाविनाः पञ्च पञ्चमे ॥ १०१
इष्टे वस्तुनि या प्रीतिः स रागो रागवर्जितैः । कथितः सर्वमोहस्य मूलं मूलमिवायतम्[3] ॥ १०२
सर्वसंसारमूलानां वैराणां कारणं परम् । अनिष्टे वस्तुनि प्रीतेरभावो द्वेष इष्यते ॥ १०३
साधौ व्रतानि तिष्ठन्ति रागद्वेषविवर्जनात् । रागद्वेषवतः साधोः सरागा गृहिणो वरम् ॥ १०४
किं तेन तपसा येन न रागद्वेषवर्जनम् । रागद्वेषौ हि जीवानां दुर्गतेः कारणं मतौ ॥ १०५

.....

नहीं है । प्रमत्तयोगसे उनका ग्रहण नहीं होता । तथा सम्यग्ज्ञानादिक भाव आत्माके स्वभाव रूप हैं, ये आत्मभाव सत्यसुखके हेतु होनेसे हेय-त्याज्य नहीं हैं । इसलिये उनको परिग्रह नहीं कहना चाहिये । कर्मोदयके वश होकर जो भाव उत्पन्न होते हैं वे आत्मस्वभावरूप नहीं होनेसे त्याज्य हैं । उनमें ये मेरे हैं ऐसा जो संकल्प होता है, उसे परिग्रह कहना चाहिये ॥ ९६-९९ ॥

जिससे हिंसा, झूठ, चोरी आदि महापाप-पंचक निरन्तर होता है वह परिग्रह सद्व्रत-धारक मुनियोंके लिये छोडने योग्य है । जो मनोहर हैं ऐसे स्पर्शेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें हर्ष नहीं मानना और जो अमनोहर-अप्रिय हैं उनमें द्वेष नहीं मानना ऐसी इस पांचवे परिग्रहत्याग महाव्रतकी पांच भावनायें हैं ॥ १००-१०१ ॥

(रागद्वेष संसारके मूल हैं ।)- जो इष्ट-प्रियवस्तुमें प्रीति उत्पन्न होती है उसे रागरहित मुनीश्वर 'राग' कहते हैं । जैसे पेडके दीर्घ मूल उसके शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदिके लिये कारण हैं , वैसे रागभाव सर्व मोहका मूल है । यदि रागभाव न होता तो मोहका जन्म कहांसे होता । अनिष्ट वस्तुओंमें जो प्रीतिका अभाव है, उसे द्वेष कहते हैं । यह द्वेष संपूर्ण संसारका मूल कारण जो वैर उसका जन्मदाता है ॥ १०२-१०३ ॥

(रागद्वेषोंका अभाव व्रतोंका कारण है ।)- रागद्वेषोंका त्याग करनेसे साधुमें व्रतोंका निवास होता है । परंतु रागद्वेषसे जो साधु पूर्ण भरा हुआ है उससे रागभावयुक्त गृहस्थ अच्छे हैं, ऐसा समझना अनुचित नहीं है ॥ १०४ ॥

जिससे रागद्वेष नष्ट नहीं होते हैं, वह तपश्चरण किस काम का ? राग और द्वेष ये ही दोनो भाव जीवोंको दुर्गति देनेवाले प्रधान कारण हैं ॥ १०५ ॥

.....

१ आ. विवर्जनम् २ आ. इन्द्रियार्थस्य ३ आ. शूलमिव

मूर्च्छाप्रलापसंमोहदाहदुःखकदर्शिनाम् । रागद्वेषाहिदष्टानां न हेयादेयसंगतिः ॥ १०६
मातरं हन्ति हन्त्येव पितरं भ्रातरं पुनः । हन्ति बन्धूंस्त्रियो[1] हन्ति हन्त्यात्मानमलज्जितः ॥ १०७
रामां हन्ति सुतं हन्ति हन्ति देवगुरूंस्तथा । रागद्वेषविमूढात्मा व्रतं तस्य कुतस्तनम् ॥ १०८
रुणद्धि नैवमात्मानं इन्द्रियार्थेषु यः पुमान् । सर्वत्रापत्पदं स स्यात्पतङ्ग इव दुर्गतौ[2] ॥ १०९
शुभोदयवशात्प्राप्ते मनोज्ञे सुखकारिणि । न मदोद्रेकमायान्ति ये ते धन्यतमा नराः ॥ ११०
तथा चाशुभतः प्राप्ते दुष्टवस्तुनि दुःखदे । क्लिश्यन्ति क्लेशनिर्मुक्ता न मनागपि पण्डिताः ॥ १११
भावनाभावितान्येवं व्रतान्येतानि देहिनाम् । महाफलप्रदान्याहुः सर्वज्ञज्ञानशालिनः ॥ ११२
देशं कालं तथा क्षेत्रं भावं पात्रं विविच्य यः । समयाचारमाचाराद्देशकः स गुरुः सताम् ॥ ११३

रागद्वेषरूपी सर्पने जिनको दंश किया है, उनमें मूर्च्छा, अभिलाषा, प्रलाप-असत्यभाषण, संमोह-मोहित होना और दाह इत्यादिक दुःख दिखते हैं। उनकी संगति आदेय-योग्य नहीं है। जो रागद्वेषयुक्त हुआ है, वह माताको मारता है, पिताको मारता है, पुनः अपने भाईको मारता है। अपनी पत्नीके भाईको मारता है, स्त्रियोंको मारता है तथा निर्लज्ज होकर अपनेकोभी मारता है। रागद्वेषसे जो मूर्ख हुआ है वह अपनी पत्नीको मारता है, पुत्रको मारता है, तथा देव और गुरुको मारता है, इसलिये उसको व्रतप्राप्ति कहांसे होगी ? ॥ १०६-१०८ ॥

जैसे पतंग दीपकका उज्ज्वलपना देखकर अपनेको नहीं रोकता है, वह उसपर जाकर पडता है वैसे रागद्वेषवश पुरुष अपनेको नहीं रोकता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंमे जाकर गिरता है। इसलिये वह दुर्गतिमें सर्वत्र आपत्तियोंका स्थान होता है ॥ १०९ ॥

(सज्जन संपत्ति-आपत्तिमें हर्षविषादरहित होते हैं।)- शुभ ऐसे वेदनीयकर्मके उदयसे और लाभान्तराय, भोगांतराय, उपभोगान्तराय आदि कर्मके क्षयोपशमसे मनोहर और सुखदायक ऐसी धनधान्यादि भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होनेपर जिनका मन उद्रेकको प्राप्त नहीं होता, सगर्व नहीं होता वे पुरुष धन्यतम हैं। तथा अशुभकर्मके उदयसे दुःखदायक दुष्टवस्तु प्राप्त होनेपर जो क्लेशरहित होते हुए सुखदायक वस्तुसे रहित होनेपरभी तिलमात्रभी दुःखी नहीं होते हैं वे पण्डित हैं ॥ ११०-१११ ॥

सर्वज्ञ तीर्थंकरके मुखसे प्रगट हुए भावश्रुतको धारण करनेसे शोभनेवाले गणधरोंने ये अहिंसादि पांच व्रत कहे हैं। भावनाओंसे संस्कृत व्रती पुरुषोंको ये व्रत महाफल-स्वर्ग और मोक्षफल देते हैं ऐसा कहा है ॥ ११२ ॥

(गुरु कैसा होना चाहिये।)- देश, काल, भाव, क्षेत्र और पात्र-(जिसको व्रत दिये जाते

१ आ. स्त्रियं २ आ. दुर्मतिः

देशकालबलतो विशुद्धधीर्यः करोति करुणापरायणः ।
सद्व्रतं जिनमतानुसारतः स व्रती भवति शल्यवर्जितः ॥ ११४
ज्ञानदर्शनविशुद्धचेतसामाश्रितं व्रतमिदं प्रजायते ।
निर्मलं मलविलोलचेतसां नापरेण कलितं कदाचन ॥ ११५
प्राप्तमानुषभवे हि दुष्टधीर्यो व्रतानि न दधाति मानवः ।
सोऽत्र साधुसुमतेरसंभवाद्भूरिजन्मजलधावटाट्यते ॥ ११६
इत्यवेत्य भवभारभीरवः साधवोऽत्र चरणं चरन्ति ये ।
तैः स्वरूपममलं सुदुर्लभं स्थीयते समुपलभ्य चात्मनः ॥ ११७

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे[1] पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते[2] अहिंसादिपञ्चव्रतनिरूपणं[3] तृतीयः परिच्छेदः ।

हैं,) तथा आगममें कहा हुआ आचार इन सब बातोंका योग्य विचार करके आचारका उपदेश करनेवाले यतीश्वर सज्जनोंके गुरु हैं ॥ ११३ ॥

(व्रतीका स्वरूप ।)– देश, अनूप, जांगल और साधारण ऐसी देशकी अवस्थाओंका, हिमकाल, वर्षाकाल, उष्णकाल ऐसे कालका और अपनी शक्ति और वात, पित्त कफादिरूप प्रकृति इन बातोंका जो विचार करता है ऐसा निर्मल बुद्धिका पुरुष प्राणिदयामें तत्पर होकर जिनमतके अनुसार माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होता हुआ निरतिचार अहिंसादि व्रत धारण करता है, वही व्रती होता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे जिनका चित्त निर्मल हुआ है, उनका यह व्रतपंचक निर्मल होता है किन्तु मलिनचित्तवाले पुरुषोंका व्रत शल्यसे और मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञानसे युक्त होनेसे कदापि निर्मल नहीं होता ॥ ११४–११५ ॥

(अव्रती संसारमें भ्रमण करता है ।)– जिसको मनुष्यभव प्राप्त हुआ ऐसा जो दुर्बुद्धि मनुष्य व्रत धारण नहीं करता है वह सज्जनोंकी बुद्धिके अभावसे अपार संसारसमुद्रमें दीर्घकालतक भ्रमण करता है ॥ ११६ ॥

इस प्रकार व्रतोंका स्वरूप और उसका फल जानकर संसारभारसे भययुक्त जो साधु इस भरतक्षेत्रमें सम्यक्चारित्रका पालन करते हैं वे अत्यन्त दुर्लभ ऐसा अपना आत्मस्वरूप प्राप्त कर आनन्दसे मोक्षमें रहते हैं ॥ ११७ ॥

श्रीपंडिताचार्यनरेन्द्रसेन विरचित श्रीसिद्धान्तसारसंग्रह नामक ग्रंथमें अहिंसादि पांच व्रतोंका निरूपण करनेवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

१ आ. 'श्री' इति नास्ति २ आ. पंडित इति नास्ति ३ आ. अहिंसादिपञ्चव्रतनिरूपणं इति नास्ति.

चतुर्थोऽध्यायः

अहिंसादीनि यान्येवमुदितानि मयाधुना । श्रीगुरूणां प्रसादेन तानि द्वेधा भवन्ति च ॥ १
देशतोऽणुव्रतान्याहुः सामस्त्येन तथा पुनः । महाव्रतानि पूतानि भवन्ति भविनामिह ॥ २
तद्वान्व्रती द्विधा ज्ञेयः सागारेतरभेदतः । परं निःशल्य एवासौ तस्माच्छल्यमुदीर्यते ॥ ३
शृणाति प्राणिनं यच्च तत्वज्ञैः[1] शल्यमीरितम् । शरीरानुप्रविष्टं हि काण्डादिकमिवाधिकम् ॥ ४
शारीरमानसीं[2] बाधां कुर्वत्कर्मोदयादि यत् । मायामिथ्यानिदानादिभेदतस्तत्त्रिधा मतम् ॥ ५

चौथा अध्याय ।

(अणुव्रत और महाव्रतरूप अहिंसादिव्रतोंका वर्णन ।)– श्रीगुरुओंके प्रसादसे जो हिंसादिक व्रतोंका मैंने इस समय तृतीय अध्यायमें वर्णन किया है उनके दो भेद होते हैं ॥ १ ॥

संसारी जीवोंके अहिंसादिव्रत एकदेशसे पालन करनेसे पवित्र अणुव्रत होते हैं और संपूर्णतासे पालन करनेपर पवित्र महाव्रत होते हैं । स्पष्टीकरण– अनन्तानुबंधि क्रोध, मान, माया, लोभ और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायोंका क्षयोपशम होनेसे और प्रत्याख्यान-कषाय तथा संज्वलन-कषाय और यथा संभव नौ नोकषायोंका उदय होनेपर जीवको एकदेश त्यागकी बुद्धि उत्पन्न होती है तब वह पांच पापोंका एकदेश त्याग करता है । तथा जब उसको अनंतानुबंध्यादि बारह कषायोंका क्षयोपशम होकर संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, ऐसे चार कषायोंमेंसे किसी एकके देशघातिकस्पर्द्धकका उदय होता है तब पांच पापोंका पूर्ण त्याग बुद्धि उत्पन्न होती है, तब वह जीव अर्थात् मुनि महाव्रत धारण करता है । इस प्रकार अणुव्रती गृहस्थ और महाव्रती मुनि ऐसे व्रतिकोंके दो भेद होते हैं । परंतु ये दोनों व्रती निःशल्यही होते हैं । इसलिये अब शल्यका वर्णन हम करते हैं ॥ २–३ ॥

जो प्राणीको शृणाति–पीडा देता है वह शल्य है, ऐसी तत्त्वज्ञोंने शल्य शब्दकी व्याख्या की है (शृणाति प्राणिनं पीडयति इति शल्यं) जैसे शरीरमें घुसा हुआ बाणादिक शल्य प्राणीको अधिक व्यथित करता है वैसे माया, मिथ्यात्व, निदान ये तीन प्राणीको संसारभ्रमणका दुःख देते हैं, इसलिये इनको शल्य कहना चाहिये ॥ ४ ॥

शारीरिक और मानसिक पीडा देनेवाला कर्मोंका उदय, क्षयोपशमादिक रूप जो माया, मिथ्यात्व और निदान भेदसे तीन प्रकारका शल्य है वह जीवोंको पीडा देता है ॥ ५ ॥

---

१ आ. शब्दज्ञैः २ आ. शारीरीं.

प्रपञ्चबहुलाद्वृत्तात्कूटमानादितोऽपि यत् । वञ्चना प्राणिनामुक्ता माया मायाविवर्जितैः ॥६
हिंसासत्यमशौचं च तस्य चौर्यं निरन्तरम् । पापीयान्[1] सोऽस्ति सा यस्य प्रपञ्चबहुला स्थितिः॥
अन्यच्चित्ते करोत्यन्यच्चेष्टायामन्यदेव हि । मायावी तस्य किं शौचमुच्यते दुष्टदुर्मतेः ॥ ८
मायाविनःप्रपञ्चाढ्या वञ्चयन्ति जगत्त्रयम् । तस्यात्मवञ्चनामात्रं[2] दोषं किं निगदाम्यहम्॥९
इति दोषवतीं ज्ञात्वा वर्जयन्ति विचक्षणाः । मायां त्रिधापि दूरेण पापं परिजिहीर्षवः ॥ १०
धर्मं जिघृक्षुभिर्हेयं मिथ्यात्वं सर्वथा तयोः । सहानवस्थितिर्नित्यं विरोधो यावता महान् ॥ ११
मिथ्याशल्यमिदं दुष्टं यस्य देहादनिःसृतम् । तस्यापदाभिभूतस्य निर्वृतिर्न कदाचन ॥ १२

(माया शल्य,) फसानेकी प्रचुरता जिस स्वभावमें रहती है उसे माया कहते है। धान्यादि नापनेके लिये खोटे बाट, नाप आदिक रखकर उससे धान्यादिक पदार्थ ग्राहकको कम देकर फसाना माया है ऐसा मायारहित मुनियोंने कहा है। उपर्युक्त प्रकारसे फसानेका प्रचुर स्वभाव जिसका है वह पापी समझना चाहिये। उससे हिंसा, असत्य, अपवित्रता और चोरीके दोष निरन्तर होते हैं ॥ ६-७ ॥

मायावी– कपटी मनुष्य मनमें अन्य विचार करता है तथा शरीरसे और वाणीसे अन्य चेष्टा करता है। इसलिये वह दुष्ट-दुर्बुद्धि क्या पवित्रता धारण कर सकता है ? मायावी महान् अपवित्र है ॥ ८ ॥

कपटी पुरुष प्रपंच करनेमें – फसानेमें चतुर होते हैं, वे त्रैलोक्यको फसाते हैं। जब वे त्रैलोक्यको फसाते हैं, तब उनके स्वयं-अपनेको फसानेके दोषको मैं क्या कहूं ? अर्थात् मायावी पुरुष अपनेको सबसे जादा फसाता है, जिससे दीर्घकाल संसारमें उसे घूमना पडता है। अतः उसके आत्मवंचना दोषका वर्णन मैं नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

माया महादोषोंसे भरी है ऐसा जानकर पापत्याग चाहनेवाले चतुर पुरुष मन वचन और कायसे उसे छोड देते हैं ॥ १० ॥

(मिथ्यात्व-शल्य-त्याग।) धर्मग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको मिथ्यात्वका सर्वथा त्याग करना चाहिये। क्योंकि धर्म और मिथ्यात्व इन दोनोंमें सहानवस्थिति नामक महान् विरोध दोष हमेशासे है। एकस्थानमें-एकाश्रयमें दो विरोधी पदार्थ न रहना उसे सहानवस्था कहते हैं। जैसे शीत और उष्ण, सर्प और नकुल, वैसे धर्म जहां रहता वहां मिथ्यात्व नहीं रहता। जहां मिथ्यात्व रहता है वहां धर्म नहीं रहता। यह मिथ्यात्व शल्य जिसके देहसे नहीं निकल गया ऐसे मिथ्यात्वसे प्राप्त हुए दुःखोंसे पीडित पुरुषको कभीभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा ॥ ११-१२ ॥

---

१ आ. पापीयसोऽस्ति २ आ. मात्रदोषम्.

जिनोक्तानां हि भावानामश्रद्धानैकलक्षणम् । शुद्धाशुद्धविमिश्रादिभेदतस्त्रिविधा मतम् ॥ १३
एकमप्यक्षरं यस्तु जिनोदितमनिन्दितम् । अन्यथा कुरुते तस्याप्यानन्त्यं संसृतेर्भवेत् ॥ १४
यस्तु तत्त्वमिदं सर्वं जीवाजीवादिगोचरम् । विपरीतं करोत्येष किं स्याज्ज्ञानादि केवली ॥ १५
क्षणं क्षणान्तरस्थायि नित्यं क्षणविनश्वरम् । अभावो भाव इत्येवं भावोऽभाव इति ध्रुवम् ॥ १६
चलं स्थिरं स्थिरं यच्च चञ्चलं तत्समन्ततः । उच्चैर्नीचैस्तथा नीचैरुच्चं तदवरं वरम् ॥ १७
अतत्त्वं तत्त्वमित्येवं तत्त्वं वा तत्त्वमित्यपि । विपरीतं प्रपश्यन्ति मिथ्यात्वविषमोहिताः ॥ १८
मिथ्यात्वान्धतमो घोरं येषां हृदयवर्ति तत् । तत्त्वार्थांस्ते न पश्यन्ति मदिराकुलिता इव ॥ १९
प्रमाणनयनिर्णीतं न स तत्त्वं प्रपद्यते । सुष्ठु स्वादुरसं पित्तज्वरेणाकुलितो यथा ॥ २०

(मिथ्यात्वके भेद।)– जिनेश्वरके कहे हुए पदार्थोंपर श्रद्धान करना यह मिथ्यात्वका मुख्य लक्षण है। इस मिथ्यात्वके शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं। इसेही सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व कहते हैं ॥ १३ ॥

जिनेश्वरका कहा हुआ प्रशंसनीय एक अक्षरभी जो अन्यथा करता है उसेभी अनन्त, संसारकी प्राप्ति होगी। अर्थात् जिनेश्वरने त्रिकालाबाधित वस्तुस्वरूप कहा है परन्तु उसके विपरीत एक अक्षरकाभी परिवर्तन मिथ्यात्वके वश होकर जो करेगा उसे मिथ्यात्वका तीव्र बन्ध होनेसे निगोदावस्थामें दीर्घकाल भ्रमण करना पडेगा ॥ १४ ॥

जिनेश्वरने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्षका यथार्थ स्वरूप कहा है। परंतु मिथ्यादृष्टि उसका विपरीत श्रद्धान करता है, वह ज्ञानादिको केवली समझता है किन्तु ज्ञानादि क्या केवली है ? तात्पर्य–विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध आत्मतत्त्व नहीं मानता है वा, केवल ज्ञानको ही मानता है, वह ज्ञानही केवली होता है ऐसा समझता है परन्तु यह विपरीत श्रद्धान है ॥ १५ ॥

(विपरीत मिथ्यादृष्टिका स्वरूप।)– जो वस्तुपर्याय एकक्षणके अनंतर नष्ट होनेवाली है उसे अनेक क्षणतक रहेगी ऐसा कहना। जो नित्य है उसे तत्क्षण नष्ट होगी ऐसी श्रद्धा करना-अभावको भाव कहना, ये सब निश्चयसे उलटे हैं। अर्थात् जिनेश्वरने तत्त्वस्वरूप कथञ्चित्-क्षणिक, कथञ्चित्-अक्षणिक, स्वस्वरूपकी अपेक्षासे कथञ्चित्-भावात्मक, परस्वरूपकी अपेक्षासे कथञ्चित् अभावात्मक कहा है। परंतु मिथ्यात्वके उदयसे जीव अभावको भाव, और भावको अभावरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यात्वविषसे मोहित लोग चल पदार्थको अचल देखते हैं। अचलको चल देखते हैं। उच्च पदार्थको नीचा देखते हैं और नीचेको ऊंचा देखते हैं। हीनको श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार विपरीत श्रद्धानीकी दृष्टि होती है। जिनके मनमें घोर मिथ्यात्वांधकार वास कर रहा है वे लोग मदिरापानसे उन्मत्त बने हुए मनुष्यके समान जीवादि तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपको नही देखते हैं। पित्तज्वरसे पीडित मनुष्य जैसा सुंदर मधुर रसयुक्त अन्नभी कटुक समझता है

ये वदन्ति महामोहपिशाचवशगा नराः । आत्मा नित्यो न तेषां हि धर्माधर्मव्यवस्थितिः ॥ २१
न[1] नित्यः कुरुते कार्यं स्वभावव्यभिचारतः । तस्माच्छुभाशुभं कर्म न तस्य फलवन्मतम् ॥ २२
नित्यस्य व्यापिनो नैव क्रियमाणा कदाचन । जीवस्य जायते हिंसा ततो हिंसा कुतस्तनी ॥ २३
संयमो नियमो दानं कारुण्यं दर्शनं तपः । सर्वथा घटते तेषां कथं नित्यैकवादिनाम् ॥ २४
क्षणिके स्वीकृते जीवे क्षणादूर्ध्वं स्वभावतः । पुण्यं पापं[2] च तत्रापि कः प्राप्नोति पुरातनम् ॥ २५
निरन्वयविनाशे तु हिंसाहेतोरभावतः । तत्त्वमाकस्मिकं तेषां कथं मिथ्यादृशां न हि ॥ २६

वैसेही विपरीत मिथ्यात्वी जन प्रमाण और नयसे निर्णीत वस्तुको अन्यथा समझते है । महामोह-पिशाचके आधीन हुए मनुष्य आत्मा सर्वथा नित्य है ऐसा कहते हैं । उनके इस मतसे पाप पुण्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती ॥ १६-२१ ॥

(आत्मा नित्य माननेमें दोष ।)- नित्यपदार्थ कार्य करता हुआ नहीं दिखता हैं, क्यों कि कार्य करना उसके स्वभावसे विरुद्ध हैं । परिणमनशील पदार्थ कार्यकारी देखा गया है । मृत्पिण्ड परिणमनशील होनेसे उससे घट कार्य होता है । आत्मा नित्य होनेसे उसमें परिणमन नही होगा । परिणमनसे शुभाशुभ कार्यका बंध होता है और उसका मधुर तथा कटुक फल मिलता है । आत्माकी नित्यतासे उसमें शुभाशुभ बंध तथा उसका फलानुभवन नहीं होता ॥ २२ ॥

आत्मा नित्य और व्यापक है, ऐसा जिन्होंने माना है उनके दृष्टिसेही यदि विचार किया जावेगा, तो व्यापक चीज क्रियाहीन होती है । आकाश व्यापक है और यह क्रियाहीन है तथा नित्यभी हैं । अर्थात् वह यदि कुछ परिणमन करेगा तो पूर्व परिणमनसे अन्य परिणमन होनेसे नित्यता नष्ट होकर अनित्यता आए बिना न रहेगी । वैसेही आत्मामें परिणमन नहीं माननेसे आत्माके द्वारा हिंसादि क्रिया कदापि नहीं होगी । क्रियासे कर्मबंध और उससे शुभाशुभ फलानुभवन जो प्रत्येक आत्मामें अनुभवमें आता है वह आत्मा नित्य माननेसे और व्यापक माननेसे न आवेगा । अतः व्यापक आत्मामें क्रियाका अभाव होनेसे हिंसाका अभाव होगा तो हिंसा कहांसे होगी ॥ २३ ॥

संयम, नियम, दान, दया, सम्यग्दर्शन और तप इत्यादि क्रियाओंकी और आचारोंकी नित्यवादियोंके मतसे संभावना कदापि न होगी ? ॥ २४ ॥

(आत्मा क्षणिक माननेमें दोष ।)-बौद्धोंने आत्मा क्षणिक मानी है । इसलिये एक क्षणके अनन्तर वह नष्ट हो जानेपर पूर्व पुण्य और पापका कौन भोक्ता होगा ? अर्थात् पुण्य जिस समय किया जाता है उसी समय उसका फल प्राप्त नहीं होता है । एकही क्षणमें कारण कार्यरूप नहीं परिणत होता है । पदार्थ अनेक क्षणवर्ती होगा तो पूर्वपर्याय नष्ट होकर द्वितीयादि पर्यायें उसमें दृग्गोचर होगी । परंतु एकही समयमें पदार्थकी उत्पत्ति होती है और विनाशभी होता है तथा वह

१ आ. अनित्यः २ आ. पुण्यापुण्यम्

तस्मिन्नाकस्मिके तावद्धिंसाहेतुर्न हिंसकः । प्रवृत्तिस्तु कथं मार्गे तत्र मार्गोऽपि वा कथम् ॥ २७
अन्यव्यावृत्तिरूपं स्याज्जगत्सर्वमिदं यदि । जीवोऽप्यजीव एवास्य का कथा धर्मकर्मणि ॥ २८
जगच्छून्यमिदं सर्वं धर्मो हिंसाविवर्जितः । मूढात्मानो वदन्त्येतत्तथ्यं ताथागताः कथम् ॥ २९

विनाश पर्यायान्तरसे परिणत न होकर निरन्वय विनाशरूप होनेसे पूर्वकृत पापपुण्योंकाभी निरन्वय नाश होगा। तथा जैसे निरन्वय विनाश होता है, वैसी निरन्वय उत्पत्तिभी होगी। तो पाप-पुण्योंकी व्यवस्था हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल ये बातें अस्थिर क्षणिक पदार्थोंमें नहीं संभवती। इसलिये बौद्धके मतमें कारणविनाही कार्यतत्त्वकी उत्पत्ति माननी होगी ॥ २६ ॥

जब आत्मतत्व अकारण उत्पन्न होगा, तो हिंसक मनुष्य हिंसा कार्यका कर्ता है ऐसा मानना उचित न होगा। जैसे हिंसा करनेवाला कारणके बिनाही उत्पन्न होता है वैसे हिंसाभी कारणके बिनाही उत्पन्न होगी। तथा हिंसाका हिंसकसे कुछभी संबंध न होनेसे हिंसकको पापी अथवा निंद्य मानना अविचाररम्य होगा। ऐसी परिस्थितिमें मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? और मार्गकीभी स्थिति नहीं होगी। मार्ग किसको कहना यह प्रश्नभी अनुत्तरही रहेगा। तात्पर्य यह है, कि निरन्वयविनाश और निरन्वय उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥ २७ ॥

निरन्वय उत्पत्ति होनेसे जीव जीवत्व धारण करकेही उत्पन्न होगा यह नियम नहीं बनेगा। जीव अपना जीवत्व छोडकर अजीव होगा। अजीव अपना अचेतनपना छोडकर जीव होगा। क्योंकि नियामकता जब पदार्थमें नही रहती तब जीवका परिणमन जीवरूपही होना, अजीवका परिणमन अजीव रूपही होना, ऐसी सम्बद्धता उनमें कहांसे रहेगी ? अतः जीवाजीवादिक तत्त्व सान्वय मानने चाहिये ॥ २८ ॥

ताथागत बौद्ध सर्व जगत् शून्य हैं और धर्म हिंसाविवर्जित है, अर्थात् अहिंसा धर्म है ऐसा कहते हैं। आचार्य इसके ऊपर ऐसा कहते हैं, कि यह उनका कहना मूर्खोंके समान है। जगत् यदि शून्य है, तो धर्म नामक वस्तुभी नहीं है, क्यों कि जगत् जो धर्मी है, वहभी यदि शून्य है, तो उसका स्वभाव अहिंसा धर्म है ऐसा कहना कैसे सिद्ध होगा ? वंध्याका लडका मृगतृष्णामें स्नान करता है, ऐसा कहनेके समान यह बौद्धका विवेचन है। इसलिये ऐसा कथन करनेवाले बौद्ध ताथागत-सत्यज्ञानवाले बुद्धके अनुयायी कैसे हो सकते हैं ?

स्पष्टीकरण– जगत् शून्य है ऐसा कहना योग्य नहीं। यद्यपि स्वप्न इन्द्रजाल आदिकमें पदार्थोंका ज्ञान उनके अभावमेंभी होता है; अतः जगत् शून्य है ऐसा कहोगे तो ज्ञान मिथ्या होनेपर पदार्थका अभाव मानना योग्य होगा परंतु सर्व ज्ञान मिथ्या नहीं होते। मृगतृष्णामें जलका ज्ञान मिथ्या होनेसे तृष्णा हरण करनेवाले सच्चे जलका ज्ञानभी मिथ्या मानना कैसे योग्य होगा ? स्वप्नमें होनेवाले ज्ञान बाह्य पदार्थ रहित होते हैं परंतु जाग्रदवस्थामें होनेवाला ज्ञान स्थिर, स्थूल, साधारण स्तम्भकुम्भादि पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला होता है। यह प्रत्यक्षसे

नास्तिका निगदन्त्येके जीवाभावविभाविनः । तपस्यन्त्यन्यलोकाय किमर्थं जडबुद्धयः ॥ ३०
जीवो नास्ति कियानत्र पदार्थो [1]नामगोचरः । भूतात्मकमिदं ज्ञानं केवलं यन्त्रवाहकम् ॥ ३१
भूतोपादान एवायं जायते जनरञ्जकः । कश्चिद्भावस्तमज्ञानाज्जीवभ्रान्त्या[2] वदन्त्यमी ॥ ३२
अचेतनानि भूतानि नोपादानानि चेतने । मिथ्येति गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युपदर्शनात् ॥ ३३

उसको मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते । तथा उसके विषय स्तम्भकुंभादिकभी मिथ्या नहीं है । स्वप्नभी सब बाह्य पदार्थके अवलम्बनके बिनाही होते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये । स्वप्नभी सत्य और असत्य दो प्रकारके होते हैं । सत्यस्वप्न देवताविशेषसे उत्पन्न किये हुये अथवा अपने पापपुण्यसे किये हुये होते हैं और वे साक्षात् पदार्थसे अव्यभिचारी होते हैं । और कोई स्वप्न परम्परासे अर्थानुकूल होते हैं । स्वप्नमें राजादिकोंका दर्शन होनेसे कुटुम्बवृद्धि आदिक फल मिलता है । वातपित्तादिकके उद्रेकसे उत्पन्न हुआ स्वप्न असत्यपनेसे यद्यपि प्रसिद्ध हैं, तो भी अर्थमात्रसे व्यभिचारी है ऐसा नहीं, क्योंकि कोईभी अर्थ सत्ताके साथ व्यभिचारी नहीं है । परंतु विशेषार्थके साथ व्यभिचारी होनेसे वह मिथ्या माना जाता है । इसलिये जगतमें अर्थ और उसको विषय करनेवाले ज्ञान ये दोनों पदार्थ सत्ताके साथ अव्यभिचारी होनेसे जगच्छून्य है ऐसा कहना योग्य नहीं ॥ २९ ॥

(चार्वाक आत्मा पदार्थ नहीं मानते हैं, उनका पूर्व पक्ष ।)– जीव नहीं है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले नास्तिक-चार्वाक ऐसा कहते हैं " जीव नामक पदार्थ नहीं है । इसलिये ये जड बुद्धिवाले लोग परलोकप्राप्तिके लिये–स्वर्गसुखके लिये क्यों तपश्चरण करते हैं ?" ॥३०॥

" जीव नहीं है और उसकी क्रिया नहीं है । जीव नामका पदार्थ केवल नामगोचर है । जैसे आकाशपुष्प केवल नामही है, उसका वाच्यभूत पदार्थ कोई नहीं है, वैसे तो ' जीव ' यह शब्द सुना जाता है परंतु उसका वाच्य जीव पदार्थ नहीं है । जो ज्ञान अनुभवमें आता है वहभी भूतात्मक है । पृथ्वी, हवा, पानी, अग्निसे उत्पन्न हुआ है और उसके द्वारा यह शरीररूपी यंत्र चलता है अर्थात् शरीरके द्वारा चलने बोलने आदिकी क्रिया ज्ञान कराता है, वह भूतात्मक होनेसे जडही है " ॥ ३१ ॥

" जो लोगोंके मनको अनुरंजित करनेवाला कोई पदार्थ दिखता है वहभी भूतोपादानही है । अर्थात् अज्ञानसे लोगोंकी उसमें यह जीव है, ऐसी भ्रान्ति हुई है और वे उसे जीव कह रहे है । जैसे मट्टीके पिण्डसे घट उत्पन्न होता है, अर्थात् मट्टीका पिण्डही घटाकार होता है वैसे भूतोंसे उत्पन्न हुआ यह जनरंजक पदार्थ स्वयं भूतात्मकही है । कोई भूतोंसे भिन्न पदार्थ नहीं ॥ ३२ ॥

कोई जीव माननेवाले जैनादिक ऐसा कहते हैं, कि ' पृथ्वी, हवा, पानी आदि भूत अचेतन होनेसे चेतनरूप जीवकी उत्पत्तिके लिये उपादान नहीं होते हैं " यह जीववादियोंका विधान मिथ्या-असत्य है । क्योंकि गोमयादि पदार्थोंसे बिच्छु आदिक जीव उत्पन्न होते हुए दिखते

१. आ. मात्रगोचरः　२. तमज्ञाना

विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो न विरुध्यते । पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव ध्रुवम् ॥ ३४
मुक्त्वेहलौकिकं सौख्यं व्रतैः क्लिश्यन्त्यहर्निशम् । ही वञ्चितास्त एवास्मिन्नाशापाशवशीकृताः ॥
अहिंसादिव्रतं तेषां नोपपत्तिमियर्ति तत् । हिंस्याभावे क्व सा हिंसा हिंसाभावे क्व तद्व्रम् ॥३६
नास्ति जीव इति व्यक्तं यद्वदन्तीह दुर्धियः । तन्मिथ्यैव यतो जीवः प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥ ३७
स्वसंवेदनवेद्यत्वात्सुखदुःखादिवद्ध्रुवम् । जीवे सिद्धे कथं नैते नास्तिका दुष्टवादिनः ॥ ३८

हैं । अतः भूतोंसे चेतन पदार्थ उत्पन्न नहीं होता ऐसा जैनोंका कहना मिथ्या है, अर्थात् भूतोंसे चलनेवाला, बोलनेवाला, लिखनेवाला अनेक स्वभावोंका धारक चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है ऐसाही मानना चाहिये । इसलिये जीव नामक चेतन पदार्थ भूतोंसे अलग नहीं हैं ॥ ३३ ॥

" पृथ्वी, हवा आदिक भूत अचेतन हैं और जीव चेतन है, अतः पृथ्वी आदिक भूत चेतनसे विरुद्ध होनेसे विजातीय है तो भी उनसे जीवकी उत्पत्ति होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि पिष्ट, पानी, गुड आदिक पदार्थोंमें मदशक्ति न होनेपरभी उनसे वह निश्चयसे उत्पन्न होती है " ॥ ३४ ॥

" परलोकसुखके आशापाशने जिनको वश किया है ऐसे लोग इह लोकसंबंधी स्त्री चन्दन पुष्पमालादिकोंका सुख छोडकर व्रतोंसे स्वयंको हमेशा पीडित करते हैं, वे लोग फसाये गये हैं । ऐसे लोगोंके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंकी उपपत्ति सिद्ध नहीं होगी । यदि जीव होता तो अहिंसादिव्रतोंकी सफलताभी होती । जीव नहीं होनेसे व्रतपालन केवल क्लेशरूपही है । हिंस्यही नहीं है तो हिंसा पापरूप कैसे सिद्ध होगी ? अर्थात् जीव पदार्थ होता तो उसकी हिंसा होती । उसकी सिद्धि न होनेसे हिंसाकाही अभाव हुआ है तो अहिंसाव्रतकी सिद्धि कहां होगी " यहांतक चार्वाकका पूर्वपक्ष हुआ ॥ ३५–३६ ॥

(आत्मतत्त्व है ऐसा जैनोंका सिद्धातपक्ष ।)– ' आत्मा नहीं है ' ऐसा जो दुर्बुद्धि-मिथ्यात्वग्रसित बुद्धिवालोंका स्पष्ट कहना है वह मिथ्याही है, क्योंकि जीव प्रत्यक्ष प्रमाणसेही सिद्ध होता है । उसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं । जैसे सुखदुःख हर्षविषादादि स्वसंवेदनसे जाने जाते हैं वैसे आत्माभी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभवमें आता है । मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, ऐसा अनुभव प्रतिव्यक्तिको खुदही उत्पन्न होता है । मैं जीव हूं यह अनुभवभी स्वयंको स्वयं आता है । यदि शरीरसे भिन्न आत्मतत्त्व न होता तो ऐसा अनुभव कदापि नहीं आसकता । इस स्वसंवेदनसे आत्मतत्त्व सिद्ध होनेसे ये चार्वाक दुष्टवादी क्यों नहीं ? अर्थात् मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय होनेसे आत्मा नहीं है ऐसी इनकी विपरीत बुद्धि हो गयी है ॥ ३७–३८ ॥

जीवको प्राप्त हुआ शरीर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ऐसे अनेक भूतोंसे बना हुआ है वैसा आत्मा इन भूतोंसे नहीं बना हुआ है अतः वह इनका कार्य नहीं है । तथा ये भूत अचेतन है । अतः इस चेतनकी उत्पत्तिमें ये उपादानकरण नहीं हो सकते । अचेतनोंका कार्य अचेतनही होगा । चेतनके कार्य चेतनही होते हैं । अर्थात् सजातीय कारणसे सजातीय कार्यही उत्पन्न

शरीरारम्भकानेकभूतकार्यं न चेतनः । तेषामचेतनत्वेन हेतुत्वं[1] नैव चेतने ॥ ३९
गुडादिभ्योऽपि या जाता मदशक्तिरचेतना । चैतन्ये नैव सा जातु दृष्टान्तं प्रतिपद्यते ॥ ४०
गोमयाद्वृश्चिकादीनां शरीरोत्पत्तिदर्शनात् । चेतनेऽसिद्धरूपत्वान्न साध्यं सिद्धिमञ्चति ॥ ४१
जन्मादिमृत्युपर्यन्तं चैतन्ये सिद्धिमाश्रिते । प्रागूर्ध्वं सिद्ध एवासौ तत्राभावप्रसङ्गतः ॥ ४२
न तत्रोत्पत्तितः सत्ता कारणाभावतः सताम् । सम्मता पूर्व एवायं ततः सिद्धः प्रमाणतः ॥ ४३

होता है । विजातीय कार्यका वह कदापि कारण नहीं होगा । जैसा कारण होता है वैसाही कार्य होता है । शरीर भूतोंका कार्य है, इसलिये शरीर पुद्गल–परमाणुओंसे उत्पन्न होता है । चैतन्य पुद्गल परमाणुओंसे नहीं उत्पन्न होता ॥ ३९ ॥

गुड, धातकीपुष्प आदि पदार्थोंसे जो मदशक्ति उत्पन्न होती है, वह यदि चेतना होती तो भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है ऐसा पक्ष सिद्ध करनेमें वह समुचित उदाहरण मानी जाती परंतु मदशक्ति अचेतन है, इसलिये चैतन्यके साथ उसका दृष्टान्त देना विषम पडता है । गोमयसे बिच्छु आदि जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा कहनाभी युक्तियुक्त नहीं है । गोमयसे बिच्छुका शरीर उत्पन्न होता है । बिच्छुका आत्मा गोमयसे उत्पन्न नही होता । चैतन्य करनेमें गोमय असमर्थ है । पूर्वशरीर छोडकर गोमयसे बने हुए शरीरमें आत्मा आकर उसको धारण करता है । न कि स्वयं उससे उत्पन्न होता है । अन्यथा माता पिताके रजवीर्यसे पुत्रका आत्मा उत्पन्न हुआ ऐसा मानना पडेगा ॥ ४०–४१ ॥

" जन्मसे लेकर मरणतक चैतन्य सिद्ध है परंतु उसके आगे वही यह है ऐसी सिद्धि नहीं होती " ऐसा यदि कहोगे तो आगे उसका अभाव मानना पडेगा । परंतु मृत्युके अनंतरभी वह नष्ट नहीं होता अर्थात् उसकी सत्ता पूर्वशरीर छूटनेपरभी रहती है अन्यथा नवीन शरीरमें वह कैसे प्रगट होगा ? ॥ ४२ ॥

आत्मा नवीन शरीरमें पूर्व शरीरको छोडकर आता है । इसलिये घटादिके समान वह सान्त नहीं है । वह सत् पदार्थ द्रव्यरूप होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् आत्मा अनादि निधन है । वह यद्यपि पूर्वशरीर छोडता है और नवीन शरीर धारण करता है तथापि पूर्व शरीरके विनाशसे उसका नाश और नवीन शरीरकी उत्पत्तिसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती । पूर्व-देव पर्यायका विनाश और मनुष्यपर्यायकी उत्पत्ति होनेपरभी वही आत्मा है, जो देवपर्यायमें था । इसलिये पूर्वकाही यह आत्मा है ऐसा माननेमें कुछ विसंगति नहीं दिखती । देहसे आत्मा कथञ्चिद् भिन्न और कथञ्चिद् अभिन्न मानना चाहिये । सर्वथा देहसे आत्मा भिन्न है ऐसा

१. आ. न. हेतुत्वं हि चेतने

तद्विघातात्ततो हिंसा प्राणिनामपकारिणी । अनिवार्या भवेत्त्रेधा वर्जनीया ततः सताम् ॥ ४४
यद्वदन्ति च नो कर्म विद्यते [1]दुष्टकारणम् । तद्भावे हि लोकानां कथं हिंसादिवर्जनम् ॥ ४५
तन्न युक्तं हि जीवस्य हीनस्थानपरिग्रहात् । एतत्पूर्वकृतं कर्म विना नैव हि जायते ॥ ४६
अथ सत्त्वेऽपि नो कार्यं किञ्चित्तत्कुरुते स्वतः । अचेतनत्वार्तिक क्वापि कुर्वन्निह घटादिकम्[2] ॥
एषा भाषापि मोहात्मतमश्च्छन्नात्मनां मता । यतोऽस्ति साधकं साधु प्रमाणं बाधवर्जितम् ॥४८
विषवाय्वग्निजातानां[3] विकारं कुर्वतां सताम् । अचेतनानां किं कर्म स्वकार्यं कुरुते न हि ॥ ४९

माननेपर शरीरको तोडकर आत्मासे अलग करनेपर हिंसा नहीं होगी तथा आत्मा और शरीर अन्योन्यसे अभिन्न माननेपर शरीरनाशसे उसकाभी सर्वथा नाश होगा। इसलिये आत्माका शरीरसे संबंध होनेसे वह शरीरसे कथञ्चिद् भिन्नाभिन्न माननेसे शरीरका विघात होनेसे आत्माकाभी घात होता है, हिंसा होती है और वह प्राणियोंको अपकार करनेवाली होती है। जो हिंसक है उसको वह हिंसा नरकादि दुर्गतिमें दुःख देती है। तथा जिसका घात किया जाता है वह संक्लेश परिणामसे–आर्तरौद्रध्यानसे मरण करता है। अतः वहभी संसारमें घुमता है। परंतु जिसकी हिंसा हो रही है वह यदि समदर्शी होगा तो उसमें रागद्वेष उत्पन्न न होनेसे दुर्गतिप्रापक कर्मबंध उसे नहीं होगा। प्राणिका घात होनेसे हिंसा होती है। उस हिंसाको सज्जन मन, वचन और कायसे त्यागे ॥ ४३–४४ ॥

कई लोग ऐसा कहते हैं कि नोकर्मरूप शरीर दोषका कारण है यदि उस शरीरका अभाव हो जायगा तो लोगोंको हिंसादित्याग करनेकी क्या जरूरत है ? परंतु ऐसा कहना योग्य नहीं। आत्मा और शरीर एक क्षेत्रावगाही हैं। इसलिये शरीरविनाशसे आत्माका विनाश होगाही, यानी आत्मघात होगा ॥ ४५ ॥

जीवने हीनस्थानका–शरीरका स्वीकार किया है और यह शरीर पूर्वकृत कर्मके विना प्राप्त नहीं होता। कदाचित् कोई यह कहेगा कि कर्म अचेतन है, इसलिये वह स्वतः कुछभी कार्य करनेमें समर्थ नहीं है। क्या घटादिक पदार्थ यहां कुछ कार्य करते हुए दिखते है ? ॥४६–४७॥

कुछ वादियोंका ऐसा कहनाभी मोहसेही है। कर्म अचेतन होकरभी अनेक प्रकारका कार्य करता है। इस विषयमें बाधावर्जित और साधक प्रमाण है। जैसे–विष, वायु, अग्नि आदि पदार्थोंका समूह अचेतन होकरभी मरण, हरण, दहन आदि कार्य करता हुआ देखा जाता है। वैसे यह कर्मभी ज्ञानको आच्छादित करना आदि अनेक प्रकारका कार्य करता हुआ क्या नहीं दिखता है ? ॥ ४८–४९ ॥

१. आ. दुःखकारणम् २. आ. कुर्वन्तीह घटादयः ३. आ. विषमद्याग्निजातानां

कालोऽप्यचेतनः किं न भावानां नवजीर्णताम् । करोति कर्म[1] येनेदं कुर्वत्कार्यं न मन्यते ॥ ५०
विचित्रसुखदुःखादि जीवानां कार्यमर्जितम्[2] । विचित्रं कारणं किञ्चिद्विना नैवोपजायते ॥ ५१
नित्यो व्यापीत्यकर्ता च न क्रियावानमूर्तिकः । भोक्तेति गुणयुक्तोऽपि निर्गुणो यैर्निगद्यते ॥ ५२
मूर्च्छिता इव ते लोके सुरामदनकोद्रवैः । स्वोक्तमपि[3] न जानन्ति मौन्यहं निगदन्निव ॥ ५३
यद्यकर्ता कथं भोक्ता भोक्तृत्वं विदधन्नपि । अक्रियोऽपि कथं स स्याद्बन्धाभावप्रसङ्गतः ॥ ५४
अथेदमुच्यते नात्मा कर्मणा बध्यते क्वचित् । अमूर्तत्वात्खवत्तस्मान्नैष दोषो मतः सताम् ॥ ५५

कालभी अचेतन है तथा वह पदार्थोंमें नवीनता और जीर्णता क्या उत्पन्न नहीं करता है ? जिससे यह कर्म कुछ कार्य नहीं करता है ऐसा कहते हो ? ॥ ५० ॥

जीवोंमें नानाविध सुखदुःखादिक कार्य होते हुए दिखते हैं । वे कारणोंके वैचित्र्यसेही दिखते हैं । अर्थात् कर्ममें यदि हर्षविषादादि उत्पन्न करनेके नाना स्वभाव नहीं होते, तो वे कार्य कैसे दृष्टिगोचर होते ? अतः कर्म अचेतन होकरभी विष, अग्नि, वायु, काल आदिके समान नाना कार्य करनेमें समर्थ है, इसलिये अचेतन होनेसे कर्म कार्य करनेसे असमर्थ है ऐसी भाषा योग्य नहीं है । यहाँतक चार्वाकका ' आत्मा नहीं है ' इस पक्षका खंडन कर आत्माकी सिद्धि जैनोंने की है । अब सांख्योंने आत्माका जो स्वरूप नित्य अमूर्तिक, व्यापक, अकर्ता इत्यादि रूप कहा है उसका खण्डन जैन करते हैं–

(सांख्यमत आत्माके विषयमें ऐसा है)– आत्मा नित्य, व्यापी, अकर्ता, अक्रियावान्, अमूर्तिक, भोक्ता ऐसे गुणोंसे युक्त है और निर्गुणभी है ऐसा सांख्य कहते हैं, वे मदिरा, धत्तूर, और कोद्रवभक्षणसे मानो मूर्च्छित हुए हैं, क्योंकि वे शब्दसे स्वयं कहा हुआभी नहीं जानते । मैं मौनी हूं ऐसा कहनेवालेके समान वे दिखते है ॥ ५१–५३ ॥

यदिआप आत्माको अकर्ता अर्थात् कुछ चटपटादि अथवा सुखदुःखादिकोंका कर्ता नहीं मानते हैं, तो वह भोक्ता कैसे होगा ? भोगनेकी क्रिया करनेवाला जो है, उसे भोक्ता कहते हैं । जाननेकी क्रिया करनेवाले उसे ज्ञाता कहते हैं, देखनेकी क्रिया करनेवाला जो है उसे द्रष्टा कहते हैं, वैसे भोगनेकी क्रिया करनेवाला उसे भोक्ता मानना चाहिये । अर्थात् जानना, देखना और भोगना आदिक क्रियाओंका कर्तृत्व मानकर फिरभी आत्माको अकर्ता मानना लज्जाजनक है । अर्थात् आत्माको भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व ये कर्तृत्वके बिना मानना युक्तिसंगत नहीं है । इसलिये सांख्योंका आत्माका अकर्तृत्व मत योग्य नहीं है । यदि आत्मा अक्रियावान है, तो उसे बंधाभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् आत्मा बंधरहित है ऐसा मानना पडेगा । ऐसा दोष प्राप्त

१. आ. कार्यं येनेदं　२. आ. मूर्जितम्　३. आ. स्वोक्त

बध्यते प्रकृतिर्मूर्तकर्मणा[1] मुच्यते च[2] सा । सम्बन्धः सर्वदा दृष्टो मूर्तेष्वेव न चान्यथा ॥ ५६
स्यान्मतं प्रकृतिः सर्वा ज्ञानशून्या त्वचेतना । कथं क्रियावती येन कर्म बध्नाति मुञ्चति ॥ ५७
नैष दोषो यतः सैव सर्वज्ञा तत्त्वदर्शिनी । जगन्निर्वर्तिका नित्या सर्वसंहारकारिणी ॥ ५८
प्रकृतेर्महान्बुद्ध्यात्मा ततोऽहङ्कार इत्यपि । गुणः षोडशकस्तस्मात्पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥ ५९
एष स्पष्टक्रमो यस्या व्यावृत्तिः संहृतिस्तथा[3] । सत्त्वं रजस्तमश्चेति[4] प्रकृतिः सर्वमुतोखो ॥ ६०
सिद्धैव प्रकृतिः[5] सम्यक् प्रसादाद्युपदर्शनात् । व्यक्तस्य कारणं तेषु तदन्वयविलोकनात् ॥ ६१
एतत्सर्वं हि सांख्यानां प्रमाणातिगतं भुवि । मिथ्याशल्यानुविद्धानां आक्रन्द इव लक्ष्यते ॥ ६२
अमूर्तो बध्यते नैव कर्मणा नेति सुन्दरम् । अमूर्तचेतनाशक्तेर्मद्यादेर्बन्धदर्शनात् ॥ ६३

होनेपर वे जैनोंको कहते हैं कि, आत्मा कर्मसे किसी स्थानमें और कभी बद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह अमूर्त है । जैसे आकाश अमूर्त होनेसे निर्लेप है उसे कर्मबंध नहीं होता है । अर्थात् आत्मा सदैव बंधरहित है । जो बद्ध होती है वह प्रकृति है, वह कर्मसे बद्ध होती है और मुक्तभी होती है । कर्म मूर्त है और मूर्त–पदार्थमें उसका बंध दिखता है । अमूर्त आकाश और अमूर्त आत्मामें उसका बंध नहीं दिखता है ॥ ५४–५६ ॥

इसके ऊपर जैन पुनः ऐसा कहते हैं कि, तुम्हारी मानी हुई प्रकृति सर्वज्ञानसे शून्य है और अचेतन है । इसलिये वह क्रिया करनेका ज्ञान नहीं होनेसे क्रियावती कैसी होगी ? जिससे वह कर्म बांध लेती है और उससे मुक्तभी होती है इस शंकाका उत्तर सांख्य इसप्रकार देते हैं । आप जो कह रहे हैं, वह दोष नहीं है अर्थात् प्रकृतिको आप असर्वज्ञ कहते हैं यह उचित नहीं है, क्योंकि ' वही सर्वज्ञ है, तत्त्वोंको देखनेवाली है, जगत्को निर्माण करती है, नित्य है और सर्व वस्तुओंका संहार करती है ऐसा उसका स्वरूप है । उस प्रकृतिसे बुद्धिस्वरूप महान् नामक तत्त्व उत्पन्न होता है । विषयोंका जानना-निश्चित करना यह बुद्धिका कार्य है । इस बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है, " मैं सुंदर हूं, मैं दर्शनीय हूं " ऐसा जो अभिमान उसे अहंकार कहते हैं । इस अहंकारसे षोडशक गण उत्पन्न होता है अर्थात् अहंकारसे पांच तन्मात्रा-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह तन्मात्राओंका स्वरूप है । तथा इस अहंकारसे ग्यारह इंद्रियां; पांच बुद्धीन्द्रियां कान, स्पर्शन, आंखें, जिह्वा और नाक; पांच कर्मोन्द्रियां-भाषा, हाथ, पांव, गुदद्वार और उपस्थ; तथा मन–अनेक प्रकारके संकल्प करना-विचार करना मनका कार्य है । जैसे- ' मैं भोजनके लिये उस घरमें जाऊंगा । वहां आज दही खानेको मिलेगा या गुड मिलेगा ' इस प्रकारके सङ्कल्प मनमें उत्पन्न होते हैं । पांच तन्मात्राओंसे पांच भूतोंकी सृष्टि होती है । जैसे शब्दसे आकाश, स्पर्शसे वायु, रूपसे तेज, रससे जल और गन्धसे पृथ्वी उत्पन्न होती है । इसप्रकार प्रकृतिका जन्यपरिवार है । प्रकृतिसे सृष्टिक्रम इसप्रकारसे उत्पन्न होता है । और

---

१. आ. मूर्ता　२. आ. तु.　३. आ. मता　४. आ. सृष्टिः　५. आ. प्रकृतिः सिद्धैव

अमूर्ततापि नो तस्य सर्वथा युक्तिमृच्छति । रूपस्पर्शात्मिकामूर्तेरेवाभावात्परात्मनि ॥ ६४
प्रधानं कर्म बध्नाति तन्मिथ्याजल्पजल्पितम् । न ह्यज्ञानं विजानाति हेयादेयपरिग्रहम् ॥ ६५
अचेतनत्वादज्ञानं तत्प्रधानमिति ध्रुवम्[1] । स्तम्भकुम्भादयो भावाः किं क्वापि ज्ञानशालिनः॥६६

जब संहार होता है तब ये सृष्ट हुए बुद्धयादिकतत्त्व प्रकृतिमें अन्तर्भूत होते हैं उससे अलग नहीं रहते । प्रकृतिके सत्व, रजस् और तमस् ऐसे तीनस्वभाव हैं–गुण है । महदादिकोंको व्यक्त कहते हैं क्योंकि वे दिखते हैं–प्रकट होते हैं । प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं उसे सामान्यभी बोलते हैं । प्रकृति व्यापक और क्रियारहित है, बुद्धयादिक व्यापक नहीं हैं । प्रकृति कारण है, बुद्धयादिक कार्य हैं । प्रसादादिक दिखते हैं, इसलिये प्रकृति तत्त्व सिद्ध होता है । व्यक्त जो महदादिक उनकी प्रकृति कारण है । क्योंकि प्रकृतिका महदादिकोंमें अन्वय-संबंध दिखता है । जैसे स्थास, कोश, कुसूल, घट आदिकोंमें मृत्तिकाका संबंध दीख पडता है । इत्यादिक प्रकृतितत्त्वका जो सांख्योंने वर्णन किया है, वह प्रमाणका उल्लंघन करनेवाला है अर्थात् युक्तियुक्त नहीं है । मिथ्यात्व शल्यसे-मिथ्यात्व बाणसे विद्ध होनेसे उनका तज्जात वेदनासे मानो चिल्लाना है ॥ ५७–६३ ॥

(उपर्युक्त प्रकृतिवादका जैन खण्डन करते हैं)– अमूर्त आत्मा कर्मोंसे बद्ध नहीं होता ऐसा वचन सुंदर युक्तिसंगत नहीं है । अमूर्त ऐसी जो आत्माकी चेतनाशक्ति है, वह मद्यादिकसे उन्मत्त होती है ऐसा दिखता है । इसलिये उसमें बंधका-कर्मबंधका दर्शन होता है । अर्थात् आत्मा अमूर्त होनेसे वह कर्मबद्ध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये । आत्मा अमूर्तिक है यह कहनाभी सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है । अर्थात् आत्मा कथञ्चित् मूर्तिक है और कथञ्चित् अमूर्तिक है । रूप, रस, गंध, स्पर्श जिसमें रहते हैं वह मूर्ति है । ऐसी मूर्ति परमात्मामें-संसार-रहित जीवोंमें नहीं होती, इसलिये सिद्ध परमेष्ठी अमूर्तिक हैं और कर्मबंधरहित हैं । परंतु संसारी आत्मा रूपस्पर्शादिकसे युक्त होनेसे मूर्तिक है और उसमें कर्मबंध दिखता है । भावार्थ यह है, कि आत्मा अमूर्तिक होनेपरभी बीजांकुरके समान अनादिकालसे मूर्तिक कर्मसे नीरक्षीरके समान एकरूप हो गया है । इसलिये कथञ्चिन्मूर्तिक है, रूपादिमान् है । कर्मके साथ अन्योन्य-प्रदेशोंका प्रवेशरूप एकत्वपरिणमन हुआ है । इसलिये कथंचिन्मूर्तिक होता हुआ यह आत्मा बन्धको प्राप्त हुआ हैं ॥ ६४ ॥

प्रधान कर्मबद्ध होता है, यह कहना मिथ्या है । क्योंकि प्रधान-प्रकृति अचेतन है । अज्ञान है, इसलिये ग्राह्याग्राह्य बोध उसे कैसे होगा ? अचेतन होनेसे वह प्रधान निश्चयसे अज्ञान है । स्तंभ, कुंभ, आदिक पदार्थ क्या कहां ज्ञानी देखे गये हैं ?॥ ६५ ॥

यह प्रधान-प्रकृति व्यक्त स्वरूपवाले बुद्धि, अहंकार तन्मात्रादिकोंकी उत्पत्तिमें हेतु नही है, क्योंकि वह सर्वथा नित्य है । जो सर्वथा नित्य है वह कदापि विकारयुक्त नहीं होगा ।

१. आ. ध्रुवन्

प्रधानं व्यक्तरूपाणां न हेतुर्महदादिनाम् । नित्यत्वात्तस्य सर्वत्र विकारानुपपत्तितः ॥ ६७
प्रमाणाभावतस्तस्याप्यभावो धीमता मतः । ततो वन्ध्यासुतस्याङ्गव्यावर्णनमिवाखिलम् ॥ ६८
प्रसादाद्यनुमानं यत्प्रसाधकमितीरितम् । तत्र सत्यं यतोऽनेन ह्यात्मा भवति साधितः ॥ ६९
यतो हर्षविषादाद्याः सर्वे ह्यात्मविवर्तकाः । सिद्धास्तदन्वयादेव[1] घटे चानुपलम्भतः ॥ ७०
प्रधानं कर्म बध्नाति भोक्तात्मेति प्रजल्पतः । सांख्यस्य सत्यमायातं लोकवाक्यमिदं भुवि ॥ ७१
अग्रगो हरते भारं मुहुःस्वनति पृष्ठतः[2] । भुक्तिक्रियां करोत्यन्यस्तृप्तिमन्योऽधिगच्छति ॥ ७२
ततोऽहिंसाव्रतं नास्ति कापिलानां मते क्वचित् । नित्यस्य व्यापिनस्तस्य प्रघातानुपपत्तितः ॥ ७३

नित्य पदार्थ अपने एकरूपसे दुसरे स्वरूपमें आताही नहीं है । अतः प्रकृति कालत्रयमेंभी महदादिक तत्त्वोंकी जननी नहीं हो सकती । तथा सर्वथा नित्य प्रकृति तत्त्व सिद्धिके लिये कोईभी प्रमाण नहीं होनेसे बुद्धिमानोंने प्रकृतितत्त्वका अभाव माना है । इसलिये प्रकृति महदादिकोंकी जननी है इत्यादि सकल वर्णन वन्ध्यापुत्रके अंगवर्णनके समान है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६६–६८ ॥

प्रसादादिक गुण देखकर प्रकृतिकी सत्ताका जो अनुमान कहा गया है, वहभी सत्य नहीं है । इस अनुमानसे प्रकृतिकी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत यह अनुमान आत्माको सिद्ध करता है । क्योंकि हर्षविषादादिक आत्मामें देखे जाते हैं, घटपटादिक अचेतन पदार्थोंमें नहीं और वे पर्याय जीवकेही हैं और क्रमसे उत्पन्न होते हैं । क्योंकि हर्ष और विषाद परस्पर विरुद्ध हैं । जो पर्यायें परस्पर विरुद्ध होती हैं, वे युगपत् एक पदार्थमें नहीं दिखती । अतः आत्मा हर्षविषादादि पर्यायोंसे परिणत होता है । जिनका जिनके साथ संबंध होता है वे उनको छोडकर अन्यत्र नहीं उपलब्ध होंगे । घटमें स्पर्शादिकोंका संबंध रहता है । अतः उसको छोडकर आत्मादिकमें वे नहीं रहते हैं । वैसेहि हर्षविषादादिक आत्माके धर्म हैं वे प्रकृतिमें नहीं रहेंगे ॥ ६९–७० ॥

' प्रधानको तो कर्मबंध होता है, और उसका अनुभव–भोग आत्माको लेना पडता है, ' ऐसा बोलनेवाले सांख्यका यह वचन यदि सत्य है, तो यह लोकवाक्यभी सत्य क्यों नहीं मानना चाहिये, कि " आगेका पुरुष तो भार बहता है, और पीछेका मनुष्य उस भारसे चिल्लाता है । एक मनुष्य प्रियभोजन कर रहा है और दुसरे मनुष्यको उससे तृप्ति हो रही है " तात्पर्य यह, कि आत्माकोही बंध और मोक्ष मानना चाहिये । आत्माकोही सर्वज्ञता प्राप्त होती है । अचेतन प्रकृतिको सर्वज्ञता मानना अत्यंत मूर्खता है ॥ ७१–७२ ॥

इसलिये कापिलोंके मतसे आत्मा नित्य और व्यापी होनेसे अहिंसा व्रत उसे नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य होनेसे हिंसाही नहीं होती है, तो व्रत कैसा होगा ? हिंसाका त्याग करनेसे अहिंसा व्रत होता है । त्याग और स्वीकार ये दो पर्यायें हैं । नित्य पदार्थमें परिणमन न होनेसे पूर्व पर्यायका त्याग और उत्तरका स्वीकार हो नहीं सकता जिससे कापिलमतकी सिद्धि नहीं होती है ॥ ७३ ॥

---

१. आ. तदन्वयत्वेन २. आ. वर्तमानस्य सर्वदा

नित्यानित्यमतस्तत्त्वं निरपेक्षं परस्परम् । येषां मिथ्यादृशस्तेऽपि सर्वे नयविघाततः ॥ ७४
तं सर्वज्ञमृते देवं वीतरागं जिनेश्वरम् । मिथ्यात्वमिति जल्पन्ति सम्यग्ज्ञानातिगाः परे ॥ ७५
वदन्त्यन्ये न सर्वज्ञो वीतरागोऽस्ति कश्चन । प्रमाणपञ्चकाभावादभावेन विभावितः ॥ ७६
तथा ह्यध्यक्षतः सिद्धिः सर्वज्ञे नोपजायते । रूपादिनियतानेकविषयत्वेन तस्य च ॥ ७७
संबद्धवर्तमानत्वपरत्वान्नास्य साधकम् । तत्प्रत्यक्षमसंबद्धवर्तमानत्वतः[1] सदा ॥ ७८
नैवानुमानतः सिद्धिः सर्वविद्विषया क्वचित् । यल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रजायते ॥ ७९

सर्वथा नित्यवादी और सर्वथा अनित्यवादी दोनोंही मिथ्यादृष्टी हैं परंतु जो पदार्थोंको नित्यानित्य मानते हैं वे तो मिथ्यादृष्टि नहीं है ऐसा कहना योग्य नहीं। निरपेक्ष नित्यानित्यवाद भी सर्वथा नित्यवाद और सर्वथा अनित्यवादके समान मिथ्याही है, क्योंकि अपेक्षाके बिना नित्यानित्य वस्तु माननेसे सर्व नयोंका घात होता है ॥ ७४ ॥

जो सम्यग्ज्ञानसे रहित हैं ऐसे लोग रागद्वेषरहित सर्वज्ञ जिनेश्वरको न मानकर अर्थात् उनके मतका स्वीकार न करके उपर्युक्त प्रकारसे मिथ्यात्वकी कल्पना करते हैं ॥ ७५ ॥

(सर्वज्ञके विषयमें मीमांसकोंका पूर्वपक्ष ।)– अन्य-मीमांसक 'वीतराग और सर्वज्ञ कोई है ही नहीं' ऐसा कहते हैं "प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, प्रत्यभिज्ञा प्रमाण, आगम प्रमाण और अर्थापत्ति प्रमाण इन पांचों प्रमाणोंसेभी सर्वज्ञ सिद्ध नही होता" अतः अभाव प्रमाणसे उसका अभाव सिद्ध होता है, यह मीमांसकोंका मत है। वे क्रमसे पांचों प्रमाणोंके द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करते हैं ॥ ७६ ॥

प्रत्यक्षप्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण रूप, रस, गंध और स्पर्श इन नियत विषयोंको जानता है। अर्थात् रूपरसादिकके समान सर्वज्ञ इंद्रियप्रत्यक्षसे जानने योग्य वस्तु नहीं है। अतः अध्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बद्ध और वर्तमानकालीन रूपादि विषयोंको जानता है अर्थात् वर्तमान घटके रूपका चक्षुसे सम्बन्ध होता है, तब चक्षुःप्रत्यक्ष यह काला घट है, यह पीला घट है, ऐसा जानता है। परंतु सर्वज्ञ असंबद्ध है और वर्तमानकालमें विद्यमान नहीं है इसलिये प्रत्यक्षका विषय नहीं होता है ॥ ७७–७८ ॥

अनुमानके द्वारा सर्वज्ञ विषयकी सिद्धि होगी ऐसाभी नहीं कह सकते हैं। "लिंगज्ञानसे लिंगीका ज्ञान होना अनुमान है। धूमरूप लिंग देखकर पर्वतपर अग्निरूप लिंगीको सिद्ध करना अनुमान है। ऐसा कोई अनुमान–ज्ञानभी सर्वज्ञकी सिद्धिमें उपयुक्त नहीं है। सर्वज्ञका कोई

१ आ. वर्तमानस्य सर्वदा　२ आ. यल्लिङ्गिधर्मिणि ज्ञानं

स्वभावकार्यरूपं वा न तल्लिङ्गं विलोक्यते । ततस्तस्य कुतः सिद्धिरनुमानुपपत्तितः[1] ॥ ८०
आगमादपि नो सिद्धिर्जायते सर्ववेदिनः । स च नित्यो ह्यनित्यो वा तत्स्वभावं[2] विभावयेत् ॥८१
नानित्योऽनादिरूपत्वादर्थवादप्ररूपणात् । आदिमत्पुरुषेणास्य वाचकत्वविरोधतः ॥ ८२
तदुक्तानुक्तभेदाभ्यामनित्यो नास्य साधकः । अन्योन्याश्रयतस्तस्य प्रामाण्याभावतस्ततः ॥ ८३
नैवार्थापत्तिरप्यस्य सर्वज्ञस्यावबोधिका । अनन्यथाभवस्येह सर्वार्थस्याप्यभावतः ॥ ८४
धर्मादेरुपदेशस्य मिथ्यात्वेनापि दर्शनात् । सर्वत्र व्यभिचारित्वात्कथं तस्मात्तदन्वयः ॥ ८५

स्वभाव अथवा सर्वज्ञका कोई कार्य लिंग होकर उससे लिंगिरूप सर्वज्ञ–यदि जाना जाता, तो अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती परंतु ऐसा कोई लिंगभी नहीं है, जो सर्वज्ञको सिद्ध करेगा। अतः उसकी कहांसे सिद्धि होगी ? ॥ ७९–८० ॥

सर्वज्ञकी सिद्धि आगमसेभी नहीं होती। आगमके नित्य अनित्य दो भेद हैं। नित्य-आगम सर्वज्ञके स्वभावको जानता है अथवा अनित्य आगम उसके स्वभावको जानता है ? नित्य आगम सर्वज्ञको विषय नहीं करता ; क्योंकि वह आगम अनादि–स्वरूपका है, तथा वह अर्थ-वादका निरूपण करता है, यज्ञकी स्तुति करता है। यज्ञ सर्वज्ञ शब्दसे वाच्य होता है, तथा यज्ञकी महिमा गानेके लिये वह नित्य आगम है। सर्वज्ञ आदिमान् पुरुष है और वेद अनादि है। अनादि वेदसे आदिमान् सर्वज्ञ वाच्य कैसे होगा ? ॥ ८१–८२ ॥

अनित्य-आगम सर्वज्ञसाधक माननेपर उसके दो भेद होते हैं। एक सर्वज्ञ–प्रणीत अनित्य-आगम और एक असर्वज्ञ–प्रणीत अनित्य–आगम। प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है। प्रथम सर्वज्ञसिद्धि होनेपर आगमका सर्वज्ञप्रणीतत्व सिद्ध होगा। और उसकी सिद्धि होनेपर उस आगमकी प्रामाण्यसिद्धि होगी, प्रामाण्यसिद्धि होनेपर उस आगमसे सर्वज्ञसिद्धि होगी। असर्वज्ञप्रणीत आगमसे सर्वज्ञसिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि असर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाणता आ नहीं सकती। अप्रमाणभूत आगम सर्वज्ञको कैसे सिद्ध कर सकेगा ? ॥ ८३ ॥

अर्थापत्ति नामक प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि होगी, ऐसाभी आप नहीं कह सकते। क्योंकि सर्वज्ञके बिना नहीं होनेवाले संपूर्ण पदार्थोंका अभाव है। ऐसा कोईभी पदार्थ नहीं है, कि जिसके होनेपर सर्वज्ञकी सिद्धि हो सकेगी। कदाचित् जैन यहां कहेंगे कि सर्वज्ञका धर्मादिका उपदेश अबभी विद्यमान है और उससे सर्वज्ञ सिद्ध हो सकता है। परंतु वह उपदेश सच्चा है, ऐसा जैन नहीं समझे; क्योंकि मिथ्या उपदेशभी देखा जाता है। इसवास्ते मिथ्या उपदेशसे सर्वज्ञत्वका व्यभिचार होनेसे अर्थात् असर्वज्ञमें मिथ्या उपदेशके होनेसे सर्वज्ञके साथ उपदेशका संबंध नहीं रहता। अतः उपदेशभी सर्वज्ञसाधक नहीं है ॥ ८४–८५ ॥

---

१ आ. अनुमानानुत्पत्तितः २ आ. तत्सद्भावं

ततोऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिरनिवारिता । सर्वज्ञविषया चेति तदभावो विभाव्यते ॥ ८६
तदेतत्सर्वमिथ्यात्वमहारागहतात्मनाम् । वैपरीत्यं विभात्येव सर्वथा वेदवादिनाम् ॥ ८७
कश्चित्पुमानशेषज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः । न चासिद्धमिदं तावत्कस्यचिद्बाधकात्ययात् ॥ ८८
प्रत्यक्षं बाधकं तस्य नैषा भाषापि युज्यते । तद्विषयं भवेदेतत्तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ ८९
अतद्विषयतायां हि प्रत्यक्षस्य न जायते । सर्वज्ञसाधकत्वं वा बाधकत्वं कदाचन ॥ ९०
नैवानुमानबाधापि सर्वज्ञप्रतिषेधिनी । सर्वदातीन्द्रियत्वेन तस्य तत्राप्रवर्तनात् ॥ ९१
साध्यसाधनयोस्तावत्क्वचिदेकत्र दर्शनात् । ततः साधनतः साध्यविज्ञानं जायते पुनः ॥ ९२
सर्वज्ञस्य तु चेल्लिङ्गं सर्वज्ञाभावसाधकम् । तद्विरुद्धं ततोऽन्यच्च कथं सर्वज्ञभाषितम्[1] ॥ ९३

सर्वज्ञमें अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति अनिवार्य है । उसे कोई रोक नहीं सकता । इसलिये अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हुआ ॥ ८६ ॥

यह मीमांसकोंका सर्वज्ञाभावके विषयमें जो कहना है वह योग्य नहीं है । संपूर्ण मिथ्यात्वरूप महारोगसे जो घाते गये ऐसे वेदप्रामाण्य माननेवाले मीमांसकोंका यह कहना सर्वथा विपरीत है ॥ ८७ ॥

(जैन सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं ।)– कोई पुरुष सर्वज्ञ है, क्योंकि किसीभी प्रमाणसे उसका सर्वज्ञपना बाधित नहीं होता । यहां 'प्रमाणाबाधितत्व' हेतु जो जैनोंने सर्वज्ञत्वकी सिद्धिमें दिया है वह असिद्ध नहीं है, क्योंकि इस हेतुमें किसीभी बाधकका संभव नहीं है । सब बाधकोंका अभाव हो गया है ॥ ८८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञका बाधक है, यह भाषाभी योग्य नहीं । यदि यह प्रमाण सर्वज्ञको विषय करनेवाला है, तो वह उसका साधकही होगा । उससे सर्वज्ञका सद्भावही सिद्ध होगा । अभाव सिद्ध नहीं होगा । और यदि वह सर्वज्ञको विषय नहीं करता है, तो वह सर्वज्ञ-साधकभी नहीं है और बाधकभी नहीं है । जो जिसको जानता है, विषय करता है उससे उसकी सिद्धि होती है । परंतु जो जिसको नहीं जानता है वह उसका निषेध करनेमें अधिकारी नहीं है । जैसे कर्णेन्द्रिय रूपको जानती नहीं अर्थात् वह रूपकी न साधकही है और न बाधकही है, वैसे सर्वज्ञको अविषय करनेवाला प्रत्यक्ष सर्वज्ञका न साधक है और न बाधक है ॥ ८९–९० ॥

अनुमान-बाधा सर्वज्ञका प्रतिषेध करेगी ऐसाभी नहीं कहना चाहिये । क्योंकि सर्वज्ञ सदा अतीन्द्रिय होनेसे बाधक अनुमानकी वहां प्रवृत्ति नहीं होती । जो बाधक अनुमान है उसमें साध्य और साधनकी सिद्धि नहीं है । अर्थात् सर्वज्ञनिषेधक धर्मी और साधन कोई नहीं है । वे यदि होते तो पक्षमें उनका दर्शन होता । साधनसे जो साध्य ज्ञान होता है उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं । सर्वज्ञका कोई लिंग-हेतु है, और वह सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है, ऐसा कहोगे तो वह कहना विरुद्ध होगा । क्योंकि सर्वज्ञका लिंग सर्वज्ञके अभावके विरुद्ध सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करता है । यदि सर्वज्ञसे अन्यवचन होगा तो वह सर्वज्ञभाषित कैसा माना जायगा ? ॥ ९१-९३ ॥

१ आ. सार्वज्ञ

आगमोऽपि हि नो जातु कृतकश्चेतरोऽपि वा । तस्याबाधां करोत्येष प्रामाण्याभावतस्ततः ॥ ९४
गुणवद्वक्तृकत्वेन तत्प्रामाण्यमुदीरितम् । तस्याभावेऽस्य दुष्टत्वमप्रामाण्यनिषेधनात् ॥ ९५
धर्माद्यतीन्द्रियार्थस्यानन्यथार्थस्य दर्शनात् । अर्थापत्तिस्तु सर्वज्ञसाधिका नैव बाधिका ॥ ९६
अभावोऽपि न सर्वज्ञाभावसिद्धिविधायकः । यतोऽन्यत्रान्यदा तस्य ग्रहणे सति जायते ॥ ९७
अत्राधुना न सर्वज्ञ इत्यप्यामोहजल्पितम् । सिद्धसाधनदोषत्वाद्दुष्टमिष्टविघातकृत् ॥ ९८
देशान्तरकालान्तरद्रव्यान्तरनिषेधकम्[1] । अखिलज्ञमृते तस्य क्रियते केन कथ्यताम् ॥ ९९

आगम प्रमाणभी सर्वज्ञका बाधक नहीं है । कृतक आगम और अकृतक आगम ऐसे आगमके दो भेद होते हैं । कृतक-पौरुषेय आगम; अकृतक–अपौरुषेय–जिसका कर्ता कोई नहीं है ऐसा आगम, ऐसे दोनों आगमसेभी सर्वज्ञ बाध्य नहीं है । क्योंकि उनमें स्वयं प्रामाण्यका अभाव है । जो आगम गुणवान् वक्तासे कहा गया है उसमें प्रामाण्य है अर्थात् गुणवान् वक्ता निर्दोष होनेसे उसके वचनोंमें प्रामाण्य होता है और ऐसा वक्ता जिस आगमका कर्ता है वह अप्रमाण नहीं हो सकता, अर्थात् ऐसे आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । यदि आगममें गुणवद्वक्तृत्वका अभाव होगा तो वह आगम दुष्ट होगा–सदोष होगा तथा सदोष आगमका अप्रामाण्य निषिद्ध नहीं किया जा सकता ॥ ९४–९५ ॥

धर्म-अधर्म आदिक जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनका परिज्ञान सर्वज्ञके बिना नहीं होता अतः यह अर्थापत्ति सर्वज्ञकी साधक है, बाधक नहीं ॥ ९६ ॥

अभावप्रमाणभी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं । क्यों कि किसी पदार्थका किसी स्थलमें और किसी कालमें यदि ग्रहण होगा तो अन्यस्थलमें और अन्यकालमें उसका अभाव अभावप्रमाणसे कर सकते हैं । तात्पर्य–अभाव प्रमाण त्रिकालमें और त्रिलोकमें सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता । वर्तमानकालमें सर्वज्ञ नहीं दिखता, अतः उसका अभाव कहना है, तो वह कथन मोहयुक्त है । वर्तमानमें सर्वज्ञ है ऐसा कौन मानता है? वर्तमानकालमें सर्वज्ञका अभाव है ही । जो अभाव है ही, उसकी सिद्धि करनेका प्रयास करना सिद्धसाधन दोषसे दुष्ट होता है और यह दोष मीमांसकके 'सर्वथा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेके इष्ट पक्षका' विघातक है ॥ ९७–९८ ॥

जो सर्वज्ञ है वही देशान्तर, कालान्तर, द्रव्यान्तरका निषेध करेगा अर्थात् जो सर्व देशोंको सर्व भूतभविष्यद्वर्तमान कालोंको और संपूर्ण द्रव्योंको जानता है, वही 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा कह सकेगा । अर्थात् सब जानकर जो सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कहता है वही सर्वज्ञ होगा । किसी वस्तुको जानकर कोई उस वस्तुका निषेध या विधि कर सकता है । न जानते हुए किसी वस्तुका निषेध करनेवाले पुरुषको प्रमाण कौन मानेगा ? ॥ ९९ ॥

---

१ आ. निषेधनम्

प्रमाणाबाधितत्वेन सर्वज्ञस्य महात्मनः । सिद्धिर्न हन्यते मिथ्यादृष्टिभिर्वेदवादिभिः ॥ १००
अथागमस्य नित्यस्य प्रामाण्यं स्वत एव हि । अपौरुषेयतस्तस्माद्धर्माद्यर्थेषु सत्प्रमा ॥ १०१
अपौरुषेयता तस्य सद्भिः शब्दस्य सर्वथा । नित्यत्वात्कथिता तद्धि वर्णानां नित्यधर्मतः ॥ १०२
तदेवेदमिति व्यक्ता देशकालान्तरेऽपि या । प्रत्यभिज्ञा ततः शब्दो नित्यो व्यापी सवर्णकः ॥ १०३
अभिव्यञ्जकवायूनां नियतत्वान्न सर्वदा । सर्वत्र श्रवणं तेषामिति वाचो विपश्चिताम् १०४
कर्तुरस्मणाद्वापि पौरुषेयत्वनिह्नवः । वेदे भवति किं तस्मात्सर्वज्ञसमवस्थितिः ॥ १०५

सर्वज्ञमहात्मा प्रमाणोंसे बाधित नहीं होनेसे उसकी सिद्धि वेदवादी मिथ्यादृष्टियोंसे नष्ट नहीं की जा सकती ॥ १०० ॥

यहां तक सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि जैनोंने की है। इसके अनंतर मीमांसक 'आगम अपौरुषेय है ' ऐसा पूर्व पक्ष स्थापित करते हैं–

आगम नित्य है, क्योंकि सज्जनोंने शब्द सर्वथा नित्य कहे हैं और शब्दोंकी नित्यता वर्णोंकी नित्यतापर निर्भर है । अर्थात् वर्ण, शब्द और आगम तीनोंही नित्य हैं। नित्य आगमका-वेदका प्रामाण्य स्वतःही है, इसलिये वह आगम अपौरुषेय है तथा धर्मादिक अर्थोंके प्रतिपादनमें वही प्रमाणभूत है, अन्य नहीं ॥ १०१ ॥

शब्द नित्य है, व्यापी है और वर्णसहित है । तथा उसकी नित्यता देश और कालान्तर-मेंभी ' वही है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे सिद्ध होती है । जो शब्द मैंने कल सुना था वही शब्द मैं आज सुन रहा हूं, जो शब्द मैंने घरमें सुना था वही शब्द मैं आज पाठशालामें सुन रहा हूं इस प्रकार शब्दकी नित्यताका द्योतक ज्ञान होता है । वह ज्ञान शब्द नित्य और व्यापक नहीं होता तो कैसे होता ? अतः शब्द नित्य है, व्यापी है और वर्णोंसहित है ॥ १०२–१०३ ॥

" यदि शब्द नित्य और व्यापक है तो सर्वकालमें और सर्व स्थानमें उसको लोग क्यों नहीं सुनते हैं ? अर्थात् शब्द नित्य होनेसे सब जगतके लोग उसे सुन पाते, और व्यापकताभी उसकी प्रकट हो जाती परंतु वैसा वह नहीं है अतः उसको व्यापक और नित्य मानना योग्य नहीं है " ऐसा जैनके कहनेपर मीमांसक उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं– " शब्दको प्रगट करनेवाले अभिव्यंजक वायु नियत हैं इसलिये शब्दका हमेशा और सर्वस्थानोंमें श्रवण नहीं होता है, ऐसा विद्वानोंका कथन है " जब शब्द नित्य है तो वेद शब्दात्मक होनेसे वे भी नित्य हैं, अनादिनिधन और अपौरुषेय हैं । " वेदके कर्ताका स्मरण नहीं होता है " इस अन्य हेतुसेभी उस वेदके पौरुषेयत्वका निरास होता है । अपौरुषेय वेदसेही सर्व पदार्थोंका ज्ञान होता है । अतः सर्वज्ञका अवस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १०४–१०५ ॥

(वेदके अपौरुषेयताका खण्डन)– मोहरूप गाढान्धकारसे व्याप्त हुआ है चित्त जिनका ऐसे मीमांसकोंका यह कहना है । ये मीमांसक नष्टकर्मा और नष्टधर्मा है । अर्थात् इनका कोई कार्य और धर्म सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उसका विचार करनेसे वह सिद्ध नहीं होता ॥ १०६ ॥

तदेतदपि मोहान्धतमःसंछन्नचेतसाम्[1] । चेष्टितं नष्टधर्माणां विचारानुपपत्तितः ॥ १०६
नित्यत्वं व्यापकत्वं च यदि स्याद्वर्णशब्दयोः । खण्डशः प्रतिपत्तिश्चेत्कथं केन निवार्यते ॥ १०७
सर्वत्र सर्वदा तेषां वृत्तित्वात्कथमेकदा । सर्वात्मना प्रतीतिः स्याद्घटादेरनिवारिता[2] ॥ १०८
सादृश्ये प्रत्यभिज्ञानमाभासं यत्तदेव हि । ततस्तस्मात्कथं सिद्धिर्नित्यव्यापित्वदर्शिनी ॥ १०९
तदभिव्यञ्जकानां यन्नियमाच्चुगपच्छ्रुतिः । तस्मात्तदपि मिथ्यात्वं मत्यज्ञानैकवर्तिनाम् ॥ ११०

वर्ण और शब्दोंको नित्य और व्यापक माननेसे उनका खंडशः ज्ञान होगा यह दोष कैसे दूर किया जावेगा ? एक शब्द पूर्णतया कोई मनुष्य नहीं सुन सकेगा, क्योंकि उसका कुछ अंश यहां होगा तो कुछ अंश अन्यत्र होगा । तथा जो अंश जहां होगा वह उतनाही सुना जानेसे वर्णका और शब्दका पूर्ण ज्ञान नहीं होगा जिससे अर्थपूर्णताका अभाव होगा । और अल्प प्रतिपत्तिसे-ज्ञानसे कोई कार्य किसीसे न किया जायेगा अर्थात् सर्व कार्य अधूरेही रह जायेंगे । सर्वत्र और सर्वदा वर्ण और शब्द पूर्ण भरकर रहनेसे एक समयमें और एक स्थानमें संपूर्णतया घटादि पदार्थोंका ज्ञान बेरोकटोकके एकसाथ कैसे होगा ? इसलिये वर्ण और शब्द व्यापक मानना योग्य नहीं । जैसे घटादिक वा पटादिक पदार्थोंका ज्ञान हमको पूर्णरूपसे हो जाता है, वैसेही अक्षरका और शब्दका पूर्ण ज्ञान हो जाता है । अतः वह अक्षर और शब्द घटपटादिके समान अनेक और अव्यापक हैं ऐसाही मानना योग्य है ॥ १०७–१०८ ॥

वही यह अक्षर है 'वही यह शब्द है' ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह मिथ्या है । यहां सादृश्यमें आपको भ्रम हुआ है इसलिये यह वही शब्द है, यह वही अक्षर है इस तरह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा आप कहते हैं । ऐसे भ्रान्त एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे अक्षर और शब्दकी नित्यत्व और व्यापित्वकी सिद्धि कैसे होगी ? वही दीप है 'वही नृत्य है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान एकत्वका साधक नहीं है । वैसेही वही शब्द है इत्यादि ज्ञान एकत्वका प्रसाधक नहीं है । अतः शब्द, अक्षर अनेक हैं और अव्यापक हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

शब्दको प्रगट करनेवाले अभिव्यंजक वायु होनेसे शब्द प्रगट होता है, ऐसा नियम मानना भी योग्य नही है । जैसे दीपक घरमें लानेसे घट दिखताही है, ऐसा नियम नहीं हैं क्योंकि घट यदि घरमें नहीं है तो दीपक लानेसेभी नहीं दिखेगा, अतः शब्दको वायु प्रगट करते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं । अर्थात् शब्दको वायु उत्पन्न करते हैं, ऐसाही मानना चाहिये । अभिव्यंजक वायुसे शब्द प्रगट होताही है, ऐसा नियमपूर्वक समझना मत्यज्ञान धारण करनेवालोंका मिथ्यात्व है अर्थात् शब्दको वायु प्रगट करता है, तथा वह शब्द नित्यव्यापक है, ऐसी कल्पनाभी मिथ्यात्वसे मीमांसकोंके मनमें प्रगट हुई है ॥ ११० ॥

---

१ आ. तमश्छन्नैकचेतसां　२ आ. पटादे

समानेन्द्रियग्राह्याणां समदेशैकवर्तिनाम् । समानधर्मयुक्तानां युगपद्दर्शनादिह ॥ १११
तथा हि श्रोत्रमर्थानां समधर्मैकवर्तिनाम् । न स्यान्नियतसंस्कारमिन्द्रियत्वात्सुदृष्टिवत् ॥ ११२
वेदे प्रवाहनित्यत्वमयुक्तं युक्तिदर्शिनाम् । शब्दमात्रविशेषाभ्यां विकल्पाभ्यामतिक्रमात् ॥ ११३
शब्दमात्रस्य नित्यत्वे लौकिके[1] चापि तद्भवेत् । वैदिका एव नित्याः स्युः स्वल्पं तदभिधीयते ॥११४

तात्पर्य यह है, कि जो कारक–कारण होते हैं वे नियमसे कार्यको उत्पन्न करते हैं, अन्यथा कारक–कारण और व्यंजककारण इनमें अन्तरही न रहेगा और चक्रादिकोंका व्यापार व्यर्थ होगा ॥ ११० ॥

कर्णके उपर ध्वनियोंद्वारा संस्कार किया जाता है, जिससे शब्द प्रगट होता है । यहभी कल्पना अनुचित है; क्योंकि यदि ध्वनिके द्वारा कान संस्कृत हुआ तो समान श्रवणधर्म धारण करनेवाले अनेक शब्द युगपत् कानके द्वारा सुने जाने चाहिये। परंतु कानसे क्रमसे शब्द सुने जाते हैं, अतः कान ध्वनिवायुसे संस्कृत होता है ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता । जैसे आँख इंद्रिय है और समानधर्मके पदार्थ अर्थात् देखने योग्य पदार्थोंको अंजनसे संस्कृत होकर कुछ पदार्थको देखती है और कुछ पदार्थ उससे नहीं देखे जाते हैं 'ऐसा नियम नहीं है' अर्थात् सब पदार्थोंको आँख देखती है और अपने समीपके कुछ पदार्थोंको देखती है, और समीप होते हुएभी कुछ नील धवलादिक पदार्थोंको नहीं देखती ऐसा कुछ नियम नहीं । कानभी इंद्रिय हैं और आँखभी इंद्रिय है तो भी आँखके समान कानभी सब शब्दोंको युगपत नहीं सुनते हैं । अतः यहां इंद्रिय-संस्कारोंसे शब्द अभिव्यक्त होते हैं, यहभी कल्पना योग्य नहीं हैं । जैसे आँख समानेन्द्रियग्राह्य-चक्षुर्ग्राह्य और समदेशवर्ति सभी नील धवलादि पदार्थोंको इंद्रिय होनेसे ग्रहण करती है तो भी वह नियत संस्कार युक्त नहीं होती है, वैसे कानभी समानेन्द्रियग्राह्य-कर्णेन्द्रियग्राह्य और समान धर्मवाले-श्रावण धर्मवाले संपूर्ण शब्दोंको इंद्रिय होकर एकदम ग्रहण नहीं करता है अथवा ग्रहणभी करेगा तो भी उसके ऊपर वायुओंका संस्कार होगा । तभी वह ग्रहण करता है ऐसा नियम नहीं है । प्रदीपादिकोंसे अनुगृहीत आँख युगपत् अनेक घटादिक पदार्थोंको देखती है, वैसे संस्कृत-ध्वन्यनुगृहीत कान एक समयमें अनेक शब्द ग्रहण करेगा ऐसा प्रसंग आवेगा । इसलिये कान अभिन्नदेशमें स्थित पदार्थोंको–शब्दोंको ग्रहण करनेके लिये प्रतिनियतसंस्कारसे संस्कृत होता है तभी उनको ग्रहण करता है ऐसा नियम नहीं ॥ १११–११२ ॥

मीमांसक वेदमें प्रवाहनित्यत्व मानते हैं । वहभी युक्तिसे विचार करनेवाले विद्वानोंको अयुक्त दिखता है । शब्दमात्रमें प्रवाहनित्यत्व और शब्दविशेषमें नित्यत्व ऐसे दोनों विकल्पोंका यहां उल्लंघन होता है अर्थात् दोनोंमेंभी प्रवाहनित्यत्व सिद्ध नहीं होता । शब्दमात्रमें नित्यत्व

१ आ. लौकिकेष्वपि

विशिष्टेष्वपि शब्देषु प्रवाहाश्रित्यता यदि । ज्ञाताज्ञातार्थरूपाणामिति प्रश्नद्वयं भवेत् ॥ ११५
अज्ञातार्थे[1] च शब्दस्य[2] न प्रामाण्यं कदाचन । ज्ञातार्थत्वं हि नो तेषां तद्व्याख्यातुरभावतः ॥ ११६
तद्व्याख्याता च किञ्चिज्ज्ञश्चेत्कथं तत्प्रमाणता । सर्वज्ञत्वे[3] च सुस्थं स्यात्सर्वं सर्वज्ञवादिनाम् ॥ ११७
धर्माद्यतीन्द्रियार्थेषु तस्यैव ज्ञानरूपिणः । प्रामाण्यं न तु शब्दानामज्ञानाचेतनात्मनाम् ॥ ११८
तालवादिकारणाज्जातः कार्यरूपस्तु सर्वथा । शब्दो नित्यः कथं तेषां मीमांसापक्षवादिनाम् ॥ ११९
तस्मादनित्य एवायं कृतकत्वादिधर्मतः । वदन्त्यकृत्रिमं ये तु तेऽपि मिथ्यादृशः सताम् ॥ १२०

माननेपर लौकिक शब्दोंमेंभी नित्यत्व मानना पडेगा और तब वैदिक शब्दही नित्य हैं ऐसा कथन अल्पज्ञानका होगा । शब्दत्व समान होनेपर लौकिक शब्द क्यों अनित्य होवें इस प्रश्नका उत्तर मीमांसक क्या देंगे ? ॥ ११३–११४ ॥

कदाचित् विशिष्ट शब्दोंमेंही प्रवाहनित्यता अनादिकालसे चली आ रही है ऐसा कहोगे, तो जिनका अर्थ जाना गया है ऐसे विशिष्ट शब्दोंको प्रवाहनित्य आप मानते है अथवा जिनका अर्थ नहीं जाना गया ऐसे विशिष्ट शब्द प्रवाहनित्य मानते हैं, ऐसे दो प्रश्न उपस्थित होते हैं ॥ ११५ ॥

जिसका अर्थ नहीं जाना गया, उसमें कभी प्रामाण्य नहीं आ सकेगा । क्योंकि उसके व्याख्याताका अभाव होनेसे ज्ञानार्थत्व नहीं है (अर्थात उस पदार्थका ज्ञान नहीं होगा) ॥ ११६ ॥

उन शब्दोंका व्याख्याता कोई असर्वज्ञ होगा, तो उस असर्वज्ञको कौन प्रमाण मानेगा? और वह यदि व्याख्याता सर्वज्ञ होगा, तो वह प्रमाण माना जावेगा और सब घुटाला मिटेगा । अर्थात् सर्वज्ञवादीका पक्ष सिद्ध होगा ॥ ११७ ॥

धर्म-पुण्य, अधर्म-पाप, सूक्ष्म-परमाण्वादिक पदार्थोंकी शक्तियां, तथा अग्नि आदिक पदार्थोंकी दहनादि शक्तियाँ ये सब अतीन्द्रिय पदार्थ हैं । उनका निरूपण सर्वज्ञके बिना कौन करेगा ? उनका ज्ञान करानेका सामर्थ्य सर्वज्ञमेंही है, अन्योंमें नहीं है। शब्द अज्ञान और अचेतन हैं । उनमें वक्ताके प्रामाण्यसेही प्रामाण्य आता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानको आचार्य प्रमाण मानते हैं शब्दोंको नहीं ॥ ११८ ॥

शब्द तालवादि कारणोंसे उत्पन्न होता है अतः वह सर्वथा कार्य है वह नित्य कैसे होगा? इसलिये मीमांसापक्षवालोंका ' शब्द नित्य है ' यह पक्ष सिद्ध नहीं होता ॥ ११९ ॥

शब्दमें कृतकत्व धर्म है, परिणमन है, रुकना प्रेर्यता आदि धर्म हैं । अत एव वह अनित्यही है । परंतु जो उसे अकृत्रिम-नित्य-अपरिणामी एक व्यापक आदि कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ऐसा सज्जनोंका-सम्यग्ज्ञानियोंका मत है ॥ १२० ॥

---

१ आ. अज्ञातार्थेषु　२ आ. शब्देषु　३ आ. सर्वज्ञेऽत्र च

तालवादयस्तु शब्दानां व्यञ्जकाः स्युःप्रदीपवत् । घटादिषु न तत्सत्यं दीपाभावेऽपि दर्शनात् ॥ १२१
कर्तुरस्मरणं तावन्न युक्तं वेदवादिनाम् । जीर्णकूपादिषु व्यक्तव्यभिचारोपलम्भतः ॥ १२२
बहुनात्र किमुक्तेन हिंसाधर्मैकवादिनाम् । सर्वेषां वेदवाक्यानां श्रवणं वर्जयेत्त्रिधा ॥ १२३
तस्मात्पुमानशेषज्ञः कश्चित्कृत्स्नावृतिक्षयात् । सिद्धः प्रमाणतः सिद्धिं देयान्मीमांसकस्य च ॥ १२४

' तालु आदिक कारण शब्दोंको व्यक्त करते हैं । इसलिये उनको प्रदीपके समान व्यंजन कहना चाहिये ' यह मीमांसकोंका कहना योग्य नहीं है । घटादि पदार्थोंको दीपक जैसे दिखाता है वैसे तालवादिक शब्दोंको प्रकट करते हैं, यह वचन योग्य नहीं है । घटादिक पदार्थ दीपकके अभावमेंभी दिखते हैं अर्थात् हस्तस्पर्शसे घटादिक पदार्थ जाने जाते हैं । वैसे शब्द तालवादिकोंसे व्यक्त नहीं होते हैं, अपितु उत्पन्न होते हैं । घट जैसा चक्रादिकोंसे उत्पन्न होता है, व्यक्त नहीं होता चक्रादिक न होनेपर घट उत्पन्न नहीं होगा । दीपक हाथमें लेकर कोठरीमें हम गये और वहाँ घट न होनेपर नहीं दिखेगा तथा दीपक उसे उत्पन्न नहीं करता है । तालवादिकोंमें जब प्रयत्न होता है तब शब्द उत्पन्न होता है और जब उनमें प्रयत्न नहीं होता है तब शब्द उत्पन्न नहीं होता हैं । अतः व्यंजक और कारक कारणोंमें यह विशेषता है । व्यंजक होनेपर घटादि पदार्थ वहां पूर्व कालमें अंधकारादिसे आवृत होगा तो अंधकार नष्ट होनेपर वह व्यक्त होगा । परंतु व्यंजक उस घटादिकोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं । कारक कारण पूर्वमें अविद्यमान घटादिकोंको उत्पन्न करते हैं ऐसा दोनोंमें अन्तर है ॥ १२१ ॥

' कर्ताका अस्मरण होनेसे वेद अपौरुषेय हैं ' यह अनुमान वेदकी नित्यता सिद्ध करता है, ऐसा मीमांसावादियोंका वचन योग्य नहीं है । इसमें कर्ताका अस्मरण होना यह हेतु जीर्ण कूपादिकोंसे व्यभिचरित होता है । क्योंकि पुराने कुँए और पुराने प्रासाद जंगलमें दिखते हैं । हजारो वर्षोंके पुराने होनेसे उनके कर्ताको लोक जानते नहीं । उनको उनका अस्मरण हुआ है । एतावता वे पदार्थ अकृत्रिम, नित्य और अनादि नहीं है । उनका जरूर कोई कर्ता था । वैसे वेदके कर्ताका स्मरण न होनेसे वे नित्य हैं ऐसा मानना योग्य नहीं है । अब इस विषयमें हम ज्यादह नहीं कहते हैं । सिर्फ इतनाही कहते हैं, कि हिंसाधर्मकाही निरूपण करनेवाले संपूर्ण वेदवाक्योंका सुनना मनवचनसे और शरीरसे छोडना चाहिये ॥ १२२-१२३ ॥

इसलिये कोई पुरुष कर्मोंके आवरणोंका क्षय होनेसे सर्वज्ञ होता है। ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है । वह सर्वज्ञ मीमांसकोंको-परीक्षावानको सिद्धि देवें । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोंका क्षय जिसने किया है, ऐसा पुरुष जगतके संपूर्ण पदार्थोंको उनके सर्व पर्यायोंके साथ जानता है, वही सर्वज्ञ है । वह परीक्षावानको अर्थात् जैनाचार्योंको मोक्ष प्रदान करें ॥१२४॥

कश्चिदाह न सर्वज्ञः कर्मणामावृतिक्षयात। किन्त्वशेषस्य विश्वस्य कर्तृत्वात्संमतः स[1] च ॥ १२५
कृत्रिमत्वं हि विश्वस्य न चासिद्धमहेतुतः[2]। तद्धेतोर्विद्यमानत्वात्कार्यत्वादेश्च सर्वथा ॥ १२६
तथा हि बुद्धिमत्पूर्वं सर्वं तन्विन्द्रियादिकम्। कार्यत्वाद्घटवच्चासौ बुद्धिमानीश्वरो मतः ॥ १२७
सन्निवेशविशिष्टं यच्चैतन्यविवर्जितम्। तत्कार्यं स्वत एवेति जायते न पटादिवत् ॥ १२८
न चासिद्धं विरुद्धं वा नाप्यनैकान्तिकं पुनः। कार्यादिकमिदं सर्वं सिद्धत्वादिनिरूपणात् ॥ १२९

(ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है, ऐसा नैयायिक वैशेषिकोंका पूर्व पक्ष।)- कोई नैयायिक कहता है कि संपूर्ण कर्मोंके आवरणोंका क्षय होनेसे सर्वज्ञ नहीं होता, किन्तु संपूर्ण सृष्टिका कर्ता होनेसे वह सर्वज्ञ होता है, और ऐसा सर्वज्ञ बुद्धिमानोंको पूज्य है। यह जगत् कृत्रिम है, यह बात असिद्ध नहीं है। क्योंकि उसकी असिद्धता सिद्ध करनेके लिये कोई हेतु नहीं है अर्थात् जगत् अकृत्रिम है उसे किसीने उत्पन्न नहीं किया ऐसा सिद्ध करनेवाला कोई हेतु नहीं है। तथा जगत्का कृत्रिमत्व सिद्ध करनेके लिये कार्यत्वादिक सद्धेतु सर्वथा तयार है, सन्नद्ध है। कार्यत्व सद्धेतुकाही अब हम समर्थन करते हैं ॥ १२५-१२६ ॥

सर्व शरीर, इन्द्रिय आदिक पदार्थ बुद्धिमान् कर्तासे बने हुए हैं। क्योंकि वे कार्य हैं जैसे घट कार्य होनेसे उसका बुद्धिमान् कर्ता है। यहां वह बुद्धिमान् ईश्वर समझना चाहिए। अब कार्य किसको कहना चाहिए वह हम कहते हैं। जो सन्निवेश विशिष्ट हैं अर्थात् रचनाविशेषसे युक्त है, जिसमें चैतन्य नहीं है ऐसा कार्य वस्त्रके समान स्वतः उत्पन्न नहीं होता है। उसको कोई उत्पन्न करनेवाला हो तो वह उत्पन्न होता है अन्यथा उसकी उत्पत्तिही नहीं होती ॥ १२७-१२८ ॥

यह हमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिकभी नहीं है। " सर्व शरीर इन्द्रियादिक पदार्थ बुद्धिमान हेतुसे उत्पन्न होते हैं; क्योंकि वे कार्य हैं " ऐसा अनुमानवाक्य है। इसमें सर्व शरीर इन्द्रियादिक पदार्थ पक्ष है, हेतु कार्यत्व है और वह हेतु पक्षमें जानेसे असिद्ध नहीं है। साध्यसे विरुद्ध अर्थात् विपक्षमें हेतु जब जाता है तब वह विरुद्ध हेत्वाभास होता है। यहां कार्यत्व हेतु अबुद्धिमत्पूर्व ऐसे आकाशादिकोंमें नहीं जाता है, इसलिये कार्यत्वहेतुकी विरुद्धताभी नहीं है। तथा हेतु जब पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें जाता है तब वह अनैकान्तिक होता है। यहां कार्यत्व हेतु तो शरीर इन्द्रियादि पक्षरूप पदार्थोंमें है और सपक्ष घट,प्रासाद इत्यादिकोमेंभी विद्यमान होनेसे कार्यत्व हेतुकी सपक्षमेंभी सत्ता है। तथा विपक्ष जो आकाश, जो कि कार्य नहीं है बुद्धि मत्पूर्व नहीं है, उसमें कार्यत्वहेतु नहीं जाता है अतः विपक्षमें नहीं जानेसे अनैकान्तिक नहीं है। यही अभिप्राय अधिक स्पष्ट किया जाता है- कार्यत्वका अर्थ अवयव रचनासे युक्तत्व होता है। यह

१ आ. स च इति नास्ति २ आ. न वा

सर्वत्रावयवत्वेन विपक्षे चाप्रवृत्तितः । आकाशादौ सपक्षे[1] तु प्रासादादौ प्रवर्तनात् ॥ १३०
विशिष्टकार्यमार्याणां कारणं नाति वर्तते । तस्मात्तस्य तु यः कर्ता स महानीश्वरः प्रभुः ॥१३१
आगमेनापि सिद्धत्वाद्विश्वरूपप्ररूपणात्[2] । सर्वेषां हेतुभूतत्वात्सर्वज्ञः शशिशेखरः ॥ १३२
एतत्सर्वं हि विज्ञानं[3] शुद्धबोधोद्धचेतसाम् । विचारातिक्रमाद्वन्ध्यासुतव्यावर्णनं यथा ॥ १३३
विश्वकर्ता स सर्वज्ञो न कश्चिन्मानगोचरः । केवलं दृग्विमोहेन भ्रान्तेरेवास्य साधिका ॥१३४
अध्यक्षं साधनं[4] नास्य तत्रासत्प्रतिपत्तितः । हेत्वाभासात्मकत्वेन कार्यादेर्नानुमापि वा ॥ १३५

अवयव रचनायुक्तत्व विपक्ष जो आकाश उसमें नहीं है, क्योंकि आकाश निरवयव है। उसके अवयव नहीं है, इसलिये कार्यत्वहेतु विपक्षमें न जानेसे अनैकान्तिकताभी कार्यत्वहेतुमें न रही, और सपक्षभूत प्रासादादिकोंमें अवयवरचना होनेसे कार्यत्वहेतु उसमें चला जाता हैं अर्थात् पक्ष और सपक्षमें कार्यत्व हेतु है और विपक्षमें नहीं है इसलिये यह सद्धेतु है ॥ १२९–१३० ॥

जो विशिष्ट तरुतन्वादिक कार्य हैं वे कारणको उलंघ कर स्वयमेव नहीं होते हैं अर्थात् उनका कर्ता कोई बुद्धिमान् व्यक्ति मानना पडता है । अतः ऐसे विशिष्ट कार्योंका जो कर्ता है, वह महान् प्रभु ईश्वर है ऐसा समझना चाहिये ॥ १३१ ॥

वह चंद्रशेखर अर्थात् ईश्वर आगमसेभी सिद्ध है ; क्योंकि आगममें उसके विश्वरूपका निरूपण किया है (उस ईश्वरको सर्वत्र आँखें होती है । उसके पाँव सर्व जगतमें फैले हैं वह परमाणुओंको लेकर अपने बाहुओंसे स्वर्ग और पृथ्वी उत्पन्न करता हैं ऐसा ईश्वर एक है ।)वह सर्व पदार्थोंकी उत्पत्तिमें हेतु है, अतः वह सर्वज्ञ हैं ॥ १३२ ॥

यहांतक नैयायिकोंने ईश्वर सृष्टिका कर्ता है ऐसा अपना पक्ष सिद्ध किया है । अब जैनाचार्य ' ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है ' इस पक्षका खंडन करते हैं । ' ईश्वर सृष्टिकर्ता होनेसे सर्वज्ञ है, ऐसा नैयायिकोंका युक्तिज्ञान वन्ध्यासुतके वर्णनके समान है; क्योंकि शुद्ध ज्ञानसे-सम्यग्ज्ञानसे जिनका चित्त निर्मल हुआ है ऐसे लोगोंके विचारको उल्लंघनेवाला हैं॥ १३३ ॥

ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, इस बातकी अध्यक्षसे-प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं होती ; क्योंकि ईश्वरको साक्षात् करनेवाला कोई इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है । तथा जो नैयायिकोंने कार्यत्वादिक हेतु दिये हैं, वे भी हेत्वाभास–स्वरूपी हैं इसलिये " सर्वं तन्विन्द्रियादिकं बुद्धिमत्पूर्वं कार्यत्वाद्घटवत् " यह अनुमान अनुमानाभास है ॥ १३४ ॥

कार्य– 'अवयवयुक्त पदार्थको कार्य कहना ' ऐसी जो कार्यत्वकी व्याख्या है वहभी योग्य नहीं है, क्योंकि उस व्याख्यासे नैयायिकोंके इष्टका विघात होता है अर्थात् तन्वादिक पदार्थोंमें

---

१ आ. सपक्षेषु　२ आ. वैश्व　३ आ. विज्ञानां　४ आ. साधकं

कार्यस्यावयवत्वादिसाधनं नैव साधकम् । यतोऽवयवसामान्याद्दृष्टमिष्टविघाततः ॥ १३६
तच्चावयवसामान्यं विद्यते गगनादिषु । न तु कार्यत्वमित्येवं व्यभिचारोपलम्भतः ॥ १३७
नन्वाकाशमिदं तावत्सर्वथावयवच्युतम् । मतं स्याद्वादिनां तस्य सर्वशून्यत्वयोगतः ॥ १३८
सदेव कुरुते कार्यं तन्वादिकमिदं यदि । ईश्वरस्तत्कथं न स्याद्दोषोऽकिञ्चित्करो महान् ॥१३९
असतः करणे तस्य विरोधः केन वार्यते । न ह्यसत्क्रियमाणं तद्दृष्टमिष्टं विपश्चिताम् ॥ १४०

अवयवत्व रहकर वह अवयव सामान्यमेंभी जाता है, जो कि अवयवसामान्य कार्यरूप नहीं है, अर्थात् ईश्वरसे नहीं बनाया जानेपरभी अकार्य होनेसेभी अवयवोंमें रहता है जैसे मनुष्यत्व सामान्य होनेपर हस्तपादादिकोंमें वह रहता है । अतः अवयवत्व उसमें है और सामान्य पदार्थ ईश्वरने नहीं बनाया हैं ऐसा नैयायिक मानते हैं । अतः यह उनके लिये इष्टविघातक हुआ । तथा यह अवयवसामान्य गगनमें, आत्मामें, दिशामें और कालमें नैयायिकोंने माना है परंतु वे आकाशादिक पदार्थ उन्होंने कार्यरूप नहीं माने हैं । इस प्रकारसे 'कार्यत्व' हेतु व्यभिचारी होनेसे विपक्षोंमें आकाशादिकोंमें जाता है । अतः कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक है ॥ १३५-१३६ ॥

इसपर नैयायिक कहते हैं, कि आकाश अवयवरहित है, उसमें अवयव नहीं हैं । अतः कार्यत्व हेतु उसमें प्रविष्ट नहीं होनेसे व्यभिचारी नहीं है ऐसा कहनाभी योग्य नहीं है । इस प्रकारसे आकाशका वर्णन करोगे तो आकाश सर्वतः शून्य है ऐसा दोष आपको स्याद्वादी देंगे । अर्थात् अवयवरहितता वन्ध्यासुतके समान असद्रूप है । अथवा परमाणु जैसे स्वतःके एक प्रदेशको छोडकर अन्य प्रदेशको धारण नहीं करता है । अतः उसे निरवयव कहते हैं । वैसे आकाशको यदि मानोगे तो आकाशके व्यापकपनेका विघात होगा ॥ १३७-१३८ ॥

ईश्वर शरीररहित होता हुआ, यदि शरिरादिक कार्य करता है ऐसा कहोगे तो हस्त पादादिरहित ईश्वर पृथ्वीनिर्माणमें समर्थ नहीं होगा, इसलिये ईश्वरमें अकिंचित्करत्व दोष उत्पन्न होता है । असत्से ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न करता है ऐसा यदि मानोगे तो उसके कर्तृत्वमें विरोध उत्पन्न होगा अर्थात् असत् वस्तु की जाती है, ऐसा किसीने देखाभी नहीं और विद्वानोंने असत् वस्तुभी की जाती है ऐसा नहीं माना है ॥ १३९-१४० ॥

यदि ईश्वर बिना उपकरणोंके जगत् उत्पन्न करता है, ऐसा कहोगे तो वह किसके लिये उत्पन्न करता है? यदि पृथ्वी, हवा, अग्नि और पानी इनकेद्वारा जगत् उत्पन्न करता है, ऐसा कहोगे तो उनका यदि अभाव होगा तो जगत्की उत्पत्ति वह कैसे करेगा? क्या अभावरूप पृथिव्यादिकसे जगत् निर्माण कर सकता है ? नहीं । अभावसे जगत् उत्पन्न करना मिथ्या है । अर्थात् ईश्वरके मनमें जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा है और यदि पृथिव्यादिक नहीं है तो जगन्निर्माण शक्य नहीं । और यदि पृथिव्यादिक हैं तो इनसे भिन्न दूसरा जगत् कौनसा माना जाता है? इनका जो समूह सर्वत्र दिखता

विनोपकरणैस्तेन जगत्केभ्यो विधीयते । पृथिव्यादिभिरित्येवं मिथ्या तेषामभावतः ॥ १४१
भावे पुनर्विरोधादिस्तस्य पृष्ठं न मुञ्चति । येन दुष्टमिदं सृष्टेरदुष्टं नोपपद्यते ॥ १४२
न द्रव्याणि च योगस्य सम्मतानीह तत्त्वतः।तानि चेत्सर्वदा सन्ति सन्ति शम्भुः करोति किम् ॥१४३
शरीरारम्भकैरेभिः पृथिव्यादिभिरङ्गिनः । योजयत्यथ[1] कर्ता स्यादिति चेत्संमतं मतम् ॥ १४४
एषापि भारती तेषामशेषाणामशेषतः । नैव युक्तिमियत्येव धर्माधर्मविघाततः ॥ १४५
स्वत एवं करोत्येतदन्येन प्रेरितोऽथवा । उताशावशतो[2] वापि क्रीडया यन्त्रिताशयः ॥ १४६
स्वतः करोति चेद्विश्वं दुःखिनः किं करोत्यसौ । तत्कार्ये प्रत्यवायः स्यात्तत्क्रियाजनितो महान् ॥१४७

है उसकोही जगत् कहना चाहिये । वह पहिलेभी अर्थात् इच्छाके पूर्वमेंभी था तो पूर्वमेंही जगत् था । अतः जगन्निर्माणकी इच्छा होना व्यर्थ है । ये पृथिव्यादिक है, तो पुनः रचनेका विरोध है । उनकी रचना पहलेसेही पुनः रचनाकी आवश्यकता नहीं रही । ऐसा दोष ईश्वरके पीठपर लादा जाता है । वह विरोध दोष ईश्वरकी पीठ नहीं छोडेगा । जिससे ईश्वरकी सृष्टिका दोष दोषही रहेगा वह अदोष नहीं होगा ॥ १४१–१४२ ॥

योगके मतमें द्रव्यपदार्थ सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि 'द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्' द्रव्यत्वका संबंध होनेसे द्रव्य है ऐसा माननेपर द्रव्य और द्रव्यत्व ये दो चीजें अलग ठहरी । यदि उन दोनोंकी स्वतंत्रता सिद्ध होगी तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे पूर्वमेंभी द्रव्य होनेसे द्रव्यत्वका सम्बन्ध द्रव्यके साथ करना व्यर्थ हैं । इसलिये द्रव्यपदार्थ योगके मतमें सिद्ध नहीं होता । यदि वे द्रव्यपदार्थ हैं तो शंभुको अब क्या करना बाकी रहा हैं ? ॥ १४३ ॥

शरीरको निर्माण करनेवाले पृथिव्यादिकोंसे प्राणियोंको ईश्वर जोड देता है, जिससे ईश्वर कर्ता होता है और यह मत संमत है ऐसा आप समझेंगे तो यहभी आपका विवेचन योग्य नहीं है । तथा जो शरीरोंको उत्पन्न करनेवाले पृथिव्यादिकोंसे ईश्वरकेद्वारा सब प्राणी जोडे जायेंगे तो यह जोडना युक्तिसंगत नहीं होगा । इसमें धर्म और अधर्मका अर्थात् पुण्य और पापका नाश होगा । क्योंकि कौन जीव पापी है और कौन जीव पुण्यवान् है इसका कुछ विचार न करके बुरे भले चाहे जैसे शरीरारंभक पृथिव्यादिकोंसे ईश्वर प्राणियोंको जोड देगा ॥ १४४–१४५ ॥

ईश्वर स्वतः जगत्को उत्पन्न करता है? अथवा अन्यसे प्रेरित होकर उत्पन्न करता है? अथवा कुछ आशावश होकर जगत्को निर्माण करता है? या क्रीडासे नियंत्रित चित्त होकर जगत्को बनाता है? इन बातोंपर अब क्रमसे विचार करना ठीक होगा ॥ १४६ ॥

यदि ईश्वर स्वतः स्वतंत्र रहकर जगत् बनाता है तो यह दुःखी लोगोंको क्यों उत्पन्न करता है? दुःखियोंको उत्पन्न करनेसे दुःख देनेकी क्रियासे ईश्वरको महान् पापबंध होता होगा ।

---

१ आ. योजयन्नेव　२ आ. आशाया वशतो

अन्येनास्य प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यं तस्य हीयते । आशावशाच्च हीनत्वं तस्य स्याद्दुर्निवारतः[1] ॥१४८
क्रीडया तस्य कर्तृत्वे क्रीडोपायव्यपेक्षणात् । प्रागेव जगतः सिद्धिः स्यान्नित्यमनिवारिता ॥१४९
मूर्तस्य जगतः कर्तासौ मूर्तोऽमूर्त एव वा । विकल्पद्वयमायाति दुरतिक्रममायतम् ॥ १५०
नामूर्तो मूर्तकार्याणां घटादीनां कदाचन । कुम्भकारः क्वचिद्दृष्टः केनचिद्वा कथञ्चन ॥ १५१
अथ मूर्तः करोत्येष सर्वं तन्वादिकं क्षणात् । ततः सैव स्वपक्षस्य व्याघ्रीव समुपस्थिता ॥ १५२
आगमात्तस्य सिद्धिर्न प्रमाणं जातु जायते । तत्राप्रमाणभूतत्वात्स्वाभिप्रायनिवेदनात् ॥ १५३
ततश्च जगतः कर्ता सर्वज्ञो न हि कश्चन । किन्त्वावृतिक्षयादेष विश्वज्ञो विश्वदर्शनात् ॥ १५४

दूसरेके द्वारा प्रेरित होकर यदि जगन्निर्माण-कार्य ईश्वर करता है ऐसा कहते हो तो ईश्वरका स्वातंत्र्य नष्ट होता है और आशावश होकर यदि ईश्वर जगत् बनाता होगा तो वह हीनताका भागी होगा, क्योंकि आशावशतासे वह हीनता नष्ट न होगी ॥ १४७-१४८ ॥

ईश्वरसे क्रीडासे जगत् रचा जाता है तो वह क्रीडाके उपायोंको हमेशा चाहता होगा ? और इससे तो पूर्वमेंही जगत्की उत्पत्ति सिद्ध हुई । क्योंकि क्रीडाके उपाय इस जगतसेही उसे प्राप्त होते होंगे जिससे पूर्वमेंही अनिवारित जगत्की उत्पत्ति सिद्ध हो चुकी ॥ १४९ ॥

इस मूर्तिमान जगतका कर्ता मूर्त है अथवा अमूर्तही है, ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं जिनका उल्लंघन करना अशक्य है । अमूर्तिक ईश्वर मूर्तिक पदार्थोंका कर्ता कभीभी नहीं हो सकता, क्या मूर्तिक घडा आदि पदार्थोंका कर्ता कुंभकार कभी अमूर्तिकरूपसे किसीको कथञ्चित् दृष्टिगोचर हुआ है ? अर्थात मूर्तिक घटादिकोंका कर्ता कुंभकार मूर्तिक ही होता है । कुंभकार कदापि अमूर्तिक नहीं होता ॥ १५०-१५१ ॥

अब यदि मूर्तिक ईश्वर सर्व तन्वादिक पदार्थोंको क्षणमें करता है तो यह उसकी मूर्तिकता ईश्वरके पक्षको खानेवाली व्याघ्रीके समान उपस्थित हो गई । क्योंकि ईश्वर मूर्तिक है इस विषयका आगममें कुछभी उल्लेख नहीं है । ईश्वरको हाथ नहीं है, पांव नहीं है, उसको आंखें नहीं हैं तो भी वह देखता हैं । तथा कान न होनेपरभी वह सुनता हैं । इत्यादिरूप उसका वर्णन जो आगममें है वह उसकी अमूर्ततताको व्यक्त करता हैं " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः " इत्यादि ॥ १५२ ॥

ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी आगमसे सिद्धि होती है ऐसा कहना कभी प्रमाणभूत नहीं हो सकता है । आगममें प्रमाणभूतता होनेसे वह आगम अपना अभिप्रायही कह देता है ॥ १५३ ॥

इसलिये जगत्का कर्ता कोई सर्वज्ञ नहीं होता है । सर्व कर्मोंके आवरणोंका क्षय करकेही सर्वज्ञपना प्राप्त होता है । सर्वज्ञ क्षुधा, तृषा, वृद्धावस्था, रोग, आदि अठारह दोषोंसे रहित होता

---

१ आ. अनिवारितं २ आ. तस्या

परमेष्ठी परञ्ज्योतिः परमात्मा पराशयः । सर्वज्ञः सादिमुक्तश्च जिन एवावशिष्यते ॥१५५
ये वदन्ति च कैवल्ये केवली कवलाशनः । न तच्चारु यतो मिथ्या वैपरीत्यविजृम्भितम् ॥१५६
स चानिष्टोऽपि मूढात्मा ह्यनन्तादिचतुष्टये । व्याघातो जायतेऽनन्तसुखस्य विरहाद्यतः ॥१५७
क्षुत्तृट्पीडावशादेष सुखाभावस्तु जायते । प्रतीकारार्थमस्या हि गृह्णन्त्याहारमङ्गिनः ॥ १५८
सुखाद्यर्थानुकूल्यत्वाद्भोजनादेः कथं पुनः । सुखाभावो भवेत्तस्माद्योगिनोऽप्यविरोधतः ॥ १५९
दृश्यते ह्यस्मदादीनां भोजनादौ कृते सति । उत्पन्नं च सुखं वीर्यं तदृते हानिरेव वा ॥ १६०
एतत्सर्वं महामोहपिशाचवशवर्तिनाम् । जल्पितं युक्तिशून्यत्वाद्वितण्डामर्हति क्षणात् ॥ १६१
विषयेभ्यः प्रजायन्ते ह्यस्मदादिसुखादयः । कादाचित्कतया तस्मान्नैवं भगवतः क्वचित् ॥ १६२

है और सर्व प्रकारोंसे वह विश्वको देखता है। वह परमेष्ठी, परंज्योति, परमात्मा, पराशयवेदी, सर्वज्ञ और सादिमुक्त होता है। ऐसे गुणोंका धारक जिनही होता है। अन्य हरिहरादिकोंमें ये गुण नहीं है। वह जिन इन्द्रादिपूजित पदको धारण करता है, इसलिये परमेष्ठी है। उसकी ज्ञानरूपी ज्योति उत्कृष्ट अनुपम होती है। वह सर्वश्रेष्ठ आत्मा होनेसे परमात्मा है और उसका आशय–अभिप्राय रागद्वेषरहित शुद्धोपयोगरूप है। वह सर्वज्ञ है और कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हुआ है। अतः सादि मुक्त है ॥ १५४–१५५ ॥

केवली कैवल्य अवस्थामें अर्थात् अरिहन्तकी अवस्थामें कवलाहार–ग्रासाहार लेते हैं ऐसा श्वेताम्बर जैन कहते हैं, परंतु वह उनका कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि यह उनका कथन विपरीत मिथ्यात्वका विलासरूप है। उन मूढोंका अभिप्राय आगमसूत्रसेभी अनिष्ट है। आहार ग्रहण करनेसे अनंत चतुष्टयमें व्याघात उत्पन्न होता है, क्योंकि अनंतसुखका आहारसे नाश होता है। अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतशक्ति और अनंतसुख इनको अनंतचतुष्टय कहते है। इनमेंसे अनंतसुख कवलाहारसे नष्ट होता है। भूख, प्यासकी पीडाके वश होनेसे सुख नष्ट होता है। उस भूख और प्यासकी पीडा मिटानेके लिये प्राणी आहार लेते हैं ॥१५६–१५८ ॥

(आहारग्रहणसे सुख होता है ऐसा श्वेताम्बरोंका कथन)– भोजन करनेसे और पानी पीनेसे सुख और शक्ति प्राप्त होती है परंतु आप दिगंबर जैन लोक आहारपानसे सुखका अभाव होता है ऐसा कहते हैं। यह कथन आपका कैसा योग्य समझा जायेगा ? योगीकोभी आहारसे व पानसे वही सुख होगा उसका अभाव नहीं होगा ॥ १५९ ॥

हम तुम जब भोजन करते हैं तब अपनेमें सुख और शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसा अनुभव करते हैं। परंतु आहार पानके अभावमें सुख और शक्तिकी हानिका अनुभव हमें आता है ॥ १६० ॥

(दिगंबर जैन कहते है)– महामोहरूप पिशाचके वश जो हुए हैं ऐसे श्वेताम्बरोंका यह सर्व कहना है। इस कथनमें यह युक्ति नहीं होनेसे तत्काल वितण्डाके योग्य है ॥ १६१ ॥

आपके और हम लोगोंके सुखशक्ति आदिक गुण पंचेन्द्रियके विषय सेवन करनेसे होते हैं और वे कादाचित्क होते हैं अर्थात् कुछ कालतक आहारसे सुख और शक्ति प्राप्त होती है। ऐसी भगवान् जिनेश्वरमें कादाचित्क सुख और शक्ति नहीं है ॥ १६२ ॥

विषयाशावशातीतमनन्तं सुखमर्हति । क्षुत्क्षामक्षीणशक्तित्वात्कथं व्याहन्यते न हि ॥ १६३
रागद्वेषविमुक्तत्वात्कथं भुङ्क्ते स केवली । कवलं गृह्यते रागात्त्यज्यते द्वेषतो यतः ॥ १६४
अथौदासीन्ययुक्तानां साधूनां भोजनादिकम् । कुर्वतां वीतरागत्वं वीतदोषत्वमस्ति च ॥ १६५
मिथ्यात्वज्वरसम्पन्नतीव्रदाघवतामयम् । प्रलापस्तूपचारेण वीतरागा ह्यमी यतः ॥ १६६
प्रवृत्तिस्तु निवृत्तिस्तु ह्याहारे जायते सदा । अभिलाषरुचिभ्यां च तद्वानाप्तः कथं ततः ॥ १६७
आहोस्वित्कवलाहारमन्तरेणास्य न स्थितिः । देहस्य जायते तस्मात्केवली कवलाशनः ॥ १६८

जो विषयकी आशाके वश नहीं हुआ है उसको सुखकी प्राप्ति होती है। परंतु जो भूखसे पीडित होकर क्षीण शक्तिवाला होता है उसके सुखका नाश कैसे नहीं होता ? तथा मनुष्य भोजन क्यों करता है ? उसको भूखसे दुःख होता है उसकी निवृत्तिके लिये वह भोजन करता है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १६३ ॥

केवली भगवान् संपूर्ण मोहकर्मसे रहित हुए है; अतः वे रागभावना और द्वेषभावनासे पूर्ण मुक्त हुए हैं। इसलिये वे भोजन कैसे करेंगे ? आहार रागभावनासे लिया जाता है और द्वेषसे उसका त्याग करते हैं। रागद्वेषोंसे मुक्त जिन पूर्णवीतराग हुए हैं ; अतः वे कवलाहार रहित हैं ॥ १६४ ॥

औदासीन्यसे युक्त साधुभी भोजनादिक करते हैं तोभी उनमें रागद्वेषरहितत्व अर्थात् वीतरागत्व और द्वेषरहितपना दिखता है अर्थात् भोजन करना रागभावनाका कार्य है और उसका त्याग द्वेषभावनाका कार्य है ऐसा नियम सिद्ध नहीं होता, अन्यथा उदासीन मुनि भोजन करते हुए क्यों दीखते हैं, ऐसी श्वेतांबरोंने शंका खडी की है। उसका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है-

मिथ्यात्व-ज्वर-युक्त होनेसे तीव्र दाह जिनको हो रहा है ऐसे लोगोंका यह प्रलाप है। वे अपूर्ण वीतराग मुनिके समान पूर्ण वीतराग मुनिकोभी समझकर उनमें कवलाहारकी प्रवृत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। परंतु प्रमत्तादि गुणस्थानोंके मुनियोंमें वीतरागत्व औपचारिक है, इसलिये उदासीन मुनि भोजन करते हैं; वैसे केवली भोजन करते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। अर्थात् पूर्ण वीतरागता बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होती है। उस समय इच्छा नष्ट होनेसे वे आहार नहीं ग्रहण करते हैं, कोईभी संसारी प्राणी भोजनकी इच्छा होनेपर भोजन करता है। क्षुद्वेदनीय कर्मका उदय किसीकी अपेक्षा न करता हुआ यदि आहारमें केवलीको प्रवृत्त करेगा तो प्रमत्तादिगुणस्थानोंमें तीन वेदोंका उदय होनेसे तथा कषायोंका उदय होनेसे मैथुनादिकोंमें उनको वह वेदोदय और कषायोदय प्रवृत्त करेगा परंतु वह सापेक्ष कर्मोदय अपने कार्यमें जीवको प्रवृत्त करता है, निरपेक्ष नहीं करता ऐसा यहां समझना चाहिये। केवली समस्त रागद्वेष-भाव-रहित है। मुनियोंमें रागकी मंदता है इसलिये उनको उपचारसे वीतराग कहा है। एतावता वीतराग केवलीभी आहार ग्रहण करते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है ॥ १६५-१६७ ॥

(फिर श्वेताम्बर ऐसा कहते हैं)- कवलाहारके बिना केवलीके देहकी स्थिति नहीं टिकेगी इसलिये वे आहारग्रहण करते हैं ॥ १६८ ॥

इत्यप्याहारमात्रेण सिद्धसाधनदोषतः । न प्रमाणं भवेत्तेषामतत्त्वाभिनिवेशिनाम् ॥ १६९
कर्मनोकर्मनामानमाहारं गृह्णतः सतः[1] । देहस्थितिः कथं तस्य नानिवार्या प्रजायते ॥ १७०
कर्मनोकर्मनामा च लेप्याहारस्तथापरः । ओजोऽथ मानसाहारः कवलश्चेति षड्विधः ॥ १७१
आहारोऽनेकधाभाणि देहस्य स्थितिकारणम् । तत्कथं कवलाहारेणैवासौ हतचेतसाम् ॥ १७२
एतेन कवलाहारेणाप्यसौ व्यभिचरिणा । एकेन्द्रियादिदेवानां तदभावेऽपि दर्शनात् ॥ १७३
अथौदारिकदेहत्वादर्हतः कवलाशनात् । देहस्थितिस्ततो नो नः कदाचिद्व्यभिचारिणी ॥ १७४
तदतेदपि मिथ्यात्वं तत्त्वार्थानवधारणात् । परमौदारिका यस्मादर्हतो देहसंस्थितिः ॥ १७५

दिगंबरोंका इसके ऊपर इस प्रकार कथन है । केवलीकी देहस्थिति आहारमात्रसे होती है ? अथवा कवलाहारसे होती है? प्रथम पक्ष यदि माना जायगा तो सिद्धसाधनता है अर्थात् आहारमात्र तो केवलीको हमभी मानते हैं परंतु आहारमात्रसे कवलाहारभी उनको है ऐसा सिद्ध नहीं होता । अतः अतत्त्वमें आग्रह करनेवाले श्वेतांबरोंका कवलाहार पक्ष प्रमाणभूत नहीं है ॥ १६९ ॥

केवली नोकर्माहार और कर्माहार ग्रहण करते हैं इसलिये उनकी देहस्थिति अनिवार्य क्यों नहीं है ? अर्थात् केवलीकी देहस्थितिको कवलाहार कारण नहीं है । नोकर्माहार और कर्माहारसे केवलीकी देहस्थिति है ॥ १७० ॥

कर्माहार, नोकर्माहार, लेप्याहार, ओजआहार, मानसाहार और कवलाहार ऐसे आहारके छह प्रकार हैं ॥ १७१ ॥

इस प्रकार देहकी स्थितिका कारण आहार अनेक प्रकारका कहा गया है तो कवलाहारसेही देहस्थिति होती है ऐसा क्यों मानना चाहिये । जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है, वे ऐसा मानते हैं अर्थात् कवलाहारसेही देहस्थिति है, ऐसा मानना अयोग्य है । अतः कवलाहारसे देहस्थिति मानना व्यभिचार-दोषसे युक्त है; क्योंकि एकेन्द्रियादि जीव और देवोंकी देहस्थिति कवलाहारके अभावमें भी रहती है नष्ट नहीं होती ॥ १७२-१७३ ॥

श्वेतांबरोंका कहना यहां ऐसा है- अरिहन्त औदारिक देहवाले हैं इसलिये कवलाहारसे उनकी देहस्थिति होती है अतः उपर्युक्त व्यभिचार दोष नहीं है ॥ १७४ ॥

(आचार्य उसका खंडन करते हैं)- तत्त्वार्थका निश्चय न होनेसे श्वेतांबरोंका कथन मिथ्यात्वरूप है। क्योंकि हमारी देहस्थिति और केवलियोंकी देहस्थिति समान नहीं है। केवलियोंकी देहस्थिति परमौदारिक देहरूप है। इसलिये हमारी और आपकी देहस्थितिसे केवलियोंकी देहस्थितिका मिलान करना योग्य नहीं हैं । केवलिजिनेश्वरोंकी-देहस्थिति नानाविध आश्चर्यकारक अतिशयोंसे

१ आ. सती

ततोऽस्मदादिदेहानां स्थित्या जातु न युज्जते। विचित्रातिशयोपेता जैनेन्द्री देहसंस्थितिः ॥१७६
अस्मदादिशरीरेषु ये धर्माः सन्ति तेऽपि वा। मतिज्ञानादयस्तेषां प्रसङ्गस्तत्र तत्स्थितिः[1] ॥१७७
अथवा भुक्तिरस्त्वस्य[2] वेदनीयस्य संभवात्। तत्स्वकार्यकरं तत्र कर्मत्वादन्यकर्मवत् ॥ १७८
तद्दर्पापारसंसारसर्रिण[3] सरतां वचः। जन्तोर्भुक्तिर्यतो[4] जातु फलमात्रत्वसाधना[5] ॥ १७९
क्षुदादीनां निमित्तं तन्न निमित्तं प्रजायते। न क्षुदादिफलं[6] तस्मादन्योन्याश्रयदोषतः ॥ १८०
अथवासातरूपस्य वेदनीयस्य सम्भवात्। तन्निमित्तत्वमस्त्येव ततो भुक्तिरबाधिता ॥ १८१
तन्न सत्यं हि सामर्थ्यवैकल्यात्तस्य सर्वथा। तद्वैकल्यं च तत्रैव मोहनीयाद्यभावतः ॥ १८२
विषेऽपि भक्षिते यद्वन्मन्त्रतो निर्विषीकृते[7]। मन्त्रिणो दाघमूर्च्छादिकार्यं तस्मान्न दृश्यते ॥१८३
असातवेदनीयेऽपि तद्वत्सत्यपि सर्वदा। क्षुदादिदुष्टकार्यं न तस्य मोहविवर्जनात् ॥ १८४

युक्त है। यदि हमारी देहस्थितिके साथ भगवानकी देहस्थितिका मिलान करोगे तो आपकी और हमारी देहोंमें जो धर्म हैं उनका भी अर्थात् मतिज्ञानादिक धर्मोकाभी केवलियोंमें प्रसंग-स्थिति मानना पडेगा, जो कि आपकोभी मान्य नहीं है ॥ १७५–१७७ ॥

(श्वेताम्बरोंका पुनः कथन)– केवलीमें वेदनीय–कर्मका संभव है अतः वह कर्म अन्य-कर्मके समान अपना कार्य भूखकी और प्यासकी पीडा उत्पन्न करता है। मिथ्यात्वके दर्पसे अपार-संसारमें घुमनेवालोंका 'केवली कवलाहार करते हैं' ऐसा वचन है। कवलाहारकी साधना केवलि-योंको छोडकर अन्य प्राणियोंमें है ऐसा समझना चाहिये। क्षुधादिकोंको असातावेदनीय निमित्त है परंतु वह असातावेदनीय क्षुधादि–फलयुक्त नहीं होता है अर्थात् असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपरभी केवलीको उससे क्षुधादिक पीडा नहीं होती इसलिये वहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। अर्थात् असातावेदनीयसे क्षुधा उत्पन्न होती है और क्षुधा उत्पन्न होनेसे असातावेदनीय होता है यह अन्योन्याश्रय दोष है ॥ १७८–१८० ॥

(फिर श्वेतांबर कहते हैं)– केवलीमें असातरूपवेदनीयका संभव है इसलिये वह क्षुधाका निमित्त है और इससे मुक्ति होना निर्बाध है ॥ १८१ ॥

(आचार्य उत्तर देते हैं)– यह आपका कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उस असात-वेदनीयकर्ममें क्षुधाफल देनेका सामर्थ्य बिलकुल नहीं है। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे वह असात वेदनीयकर्म सामर्थ्यरहित हो गया है। इसलिये क्षुधाबाधाको वह उत्पन्न नहीं करता। जैसे मंत्रकेद्वारा निर्विष किया हुआ विष भक्षण करनेपरभी मंत्रीको वह मूर्च्छादिक होते हुए नहीं दीखते है। केवली भगवानमें असातवेदनीयकर्म सर्वदा रहकरभी–उदयमें आकरभी क्षुधादि दुष्ट कार्य उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि मोहका अभाव हो गया है। मोहके सामर्थ्यसे असातवेदनीयकर्म क्षुधादि फल उत्पन्न करता है उसके अभावमें वह अपना कार्य नहीं करता है ॥ १८२–१८४ ॥

---

१ आ. तत्स्थिते　२ आ. रस्त्यस्य　३ आ. तदस्यपार　४ आ. नातो　५ आ. साधनात्　६ आ. फलात्तत्स्या　७ आ. कृतः

तदेवमन्तरायस्य स्वकार्यं केन वार्यते । तत्कार्ये[1] च प्रदत्तः स्यात्सर्वज्ञाय जलाञ्जलिः ॥ १८५
उपसर्गप्रसङ्गोऽपि निषेद्धुं तस्य दुःशकः । अनन्तादिस्वभावेषु[2] जातु पृष्ठं न मुञ्चति ॥ १८६
असातवेदनीयेऽस्य स्वकार्यकरणक्षमे । दण्डप्ररूपणादीनां वैयर्थ्यं न कथं भवेत् ॥ १८७
नैव कारणमात्रेण कार्यं जगति जायते । अन्यथेन्द्रियमात्रेण मतिज्ञानादिमान्विभुः ॥ १८८
भोक्तुमिच्छा बुभुक्षेति मोहनीयमृते कथम् । न च सा वेदनीयस्य केवलं कार्यमुच्यते ॥ १८९
यदि स्यादिति निर्बन्धो रिरंसापि कथं न हि । सापि चेद्वीतरागाय पुनर्दत्तो जलाञ्जलिः ॥ १९०
अस्तु वा तस्य वेद्यादि बुभुक्षाफलदायकम् । तथाप्यनेकहिंसादीन्पश्यन्भुङ्क्ते कथं विभुः ॥ १९१

इसी प्रकार अन्तराय कर्मका कार्य कौन रोकेगा ? और उसका कार्य यदि होगा तो सर्वज्ञको जलाञ्जलि देनी पडेगी । असातावेदनीयके उदयसेभी उपसर्गका प्रसंग होगा तो उसका निषेध करना दुःशक्य होगा । अनन्तसुखादि स्वभाव प्राप्त होनेपर वह उपसर्गप्रसङ्ग कभीभी केवलीकी पीठ न छोडेगा । अर्थात् असातवेदनीयका उदय मोहनीयके बिनाभी अपना फल देने लगेगा तो उपसर्गमें अनन्तसुखादिक नष्ट होकर उपसर्गसे पीडा होने लगेगी ॥ १८५-१८६ ॥

असातावेदनीयकर्म अपना कार्य करनेमें यदि समर्थ होगा तो दण्डप्रतरादि समुद्घात केवलीको होते हैं वे व्यर्थ हो जायेंगे । केवलीका आयुकर्म कम और वेदनीयादि कर्म जब अधिक होते हैं तब उनको सम करनेके लिये दण्डप्रतरादि समुद्घात किया जाता है और अधिक स्थितिका वेदनीयादिक कर्म उपायशत करनेपरभी अपना फल देंगेही तो कोई मुक्त नहीं होगा और दण्डप्रतरादि समुद्घात करना व्यर्थ होगा । कारणमात्रसे कार्य होताही है ऐसा नियम नहीं है । अन्यथा केवलियोंको द्रव्येन्द्रिय होनेसे मतिज्ञानादिक प्राप्त होंगे ऐसा कहना पडेगा ॥ १८७ ॥

अन्तरायकर्मका कार्य होनेसे अनन्तवीर्यादि गुण नष्ट होंगे । अतः वेदनीयकर्म क्षुधा-पिपासा उत्पन्न होनेमें कारण होनेपरभी उसमें कार्य करनेका सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाला मोहकर्म नहीं होनेसे वह द्रव्यकर्म वेदनीय सत्तारूपसे केवलिमें रहता है । उसका फल नहीं मिलता । अतः कारणमात्रसे कार्य नहीं होता है क्योंकि उसमें विशेषता लानेवाला मोहकर्म नहीं है ॥ १८८ ॥

भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा अर्थात् भूख कहते हैं । और वह मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होती है, विना उसके बुभुक्षा कैसी होगी ? केवल वेदनीयकर्मका वह कार्य नहीं है । यदि वह वेदनीयकर्मकाही कार्य है ऐसा कहोगे तो योनिमें रमण करनेकी इच्छा जिसको रिरंसा कहते हैं वहभी वेदनीयकर्मकाही कार्य कहो और वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेसे वहभी होने लगे तो वीतरागपनाको जलाञ्जलि देनी पडेगी ॥ १८९-१९० ॥

अथवा आपका कहना हम स्वीकारते हैं, केवलीको वेदनीयादि कर्म भूख, प्यास आदि

---

१ आ. तत्कार्येषु　२ आ. सुखाभावो

यथा शुद्धमशुद्धं वास्मरन्तश्चास्मदादयः । भोजनं कुर्वते तद्वत्केवलीति न सुन्दरम् ॥ १९२
यथाख्यातं हि चारित्रं नास्मदादिषु विद्यते । तथापि तद्विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणमीहितम् ॥ १९३
केचिन्निन्द्यं स्मरन्तोऽपि वर्जयन्त्यस्मदादयः । आहारं हीनसत्त्वाश्च कथं पश्यन्न केवली ॥ १९४
अथाहारं गृहीत्वासौ तस्य दोषविशुद्धये । आवश्यकादिकं कर्म किं करोति न वा पुनः ॥ १९५
प्रथमे दोषवानेष द्वितीये शुद्धिमात्मनः । तद्दोषेभ्यः कथं कुर्यादिति मिथ्यात्वमञ्जसा ॥ १९६
तदाहारकथामात्रात्प्रमत्तो जायते यतिः। भुञ्जानोऽपि न तत्स्वामी[1] यत्तच्चित्रं महात्मनाम् ॥ १९७
तदा प्रमत्त एवायं केवली तन्मताश्रितः । प्रमत्तत्वे विरोधः स्यात्कैवल्येषु सुदुर्धियाम् ॥ १९८
शरीरोपचयार्थं स प्राणत्राणार्थमेव च । क्षुद्वेदनोपशान्त्यर्थं भोजनं कुरुते प्रभुः ॥ १९९

पीडा उत्पन्न करता है ऐसा हम क्षणतक मानते हैं तथापि अनेक हिंसादि पापोंको देखते हुए केवली भगवान् कैसे भोजन करेंगे ? ॥ १९१ ॥

श्वेतांबर इस प्रश्नका उत्तर देते हैं– "जैसे शुद्ध अशुद्धका स्मरण न करते हुए हम लोग भोजन करते हैं वैसे केवलीभी भोजन करते हैं" इसके ऊपर दिगम्बर जैन कहते हैं, कि यह कहना योग्य नहीं है ; क्योंकि यथाख्यातचारित्र हम आदिको नहीं है। तथापि जो भोजन करनेमें हमको दोष लगता है उसके निराकरणार्थ हमको प्रतिक्रमण करना पडता है। तथा अस्मदादिक कोई मुनि निन्द्यका स्मरण करते हुए हीनसत्त्व-असमर्थ आहारका त्याग करते हैं और सर्व जगत्को जानने देखनेवाले केवली आहार कैसे लेते हैं ? ॥ १९२–१९४ ॥

हम आपको पूछते हैं कि, केवली आहार ग्रहण करके उसके दोष निराकरणके लिये आवश्यकादिक-प्रतिक्रमणादिक कर्म करते हैं अथवा नहीं ? पहिले पक्षमें अर्थात् आवश्यकादिक यदि वे करते हैं, तो वे दोषवान हैं। अन्यथा आवश्यकादिक करनेकी क्यों आवश्यकता पडी ? दूसरे पक्षमें यदि आवश्यकादिक नहीं करते हैं तो उन दोषोंसे वे अपनी शुद्धि कैसी करते हैं ? यदि नहीं तो मिथ्यात्वका प्रसंग शीघ्र प्राप्त होगा ॥ १९५–१९६ ॥

आहारकी कथा विकथा है। विकथाको प्रमाद माना है। अर्थात् आहारकी कथा यदि मुनि करें तो प्रमादी होता है फिर केवली भोजन करनेपरभी प्रमादका स्वामी नहीं होते हैं, यह महात्माओंकी आश्चर्यवाली कथा समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

तब श्वेतांबर मतके केवली प्रमत्तही होंगे। तथा प्रमत्त होनेपर दुर्बुद्धिवाले श्वेताम्बरोंके कैवल्यकी अनंत चतुष्टयादि बातोंमें विरोध आजायेगा ॥ १९८ ॥

(श्वेताम्बरमतके केवली शरीर पुष्ट होनेके लिये भोजन करते हैं। या प्राण रक्षणकेलिये भोजन करते हैं ? अथवा भूखकी वेदनाकी शान्ति होनेके लिये भोजन करते है ? ऐसे तीन प्रश्न कर

१ आ. च स्वामी

शरीरोपचयार्थं यन्न प्रमाणपरायते । क्षयाल्लाभान्तरायस्य सिद्धं नोकर्मकर्मतः ॥ २००
प्राणत्राणार्थमित्येवं दुष्टमिथ्यात्वचेष्टितम् । अपमृत्युविमुक्तत्वाद्यतो नैतदपि प्रभोः ॥ २०१
तृतीयोऽपि विकल्पो यः सोऽपि मिथ्यात्वसूचकः । तस्यानन्तसुखत्वेन तत्पीडायास्त्वसंभवात् ॥२०२
एकादश जिने प्रोक्ता बुभुक्षादिपरीषहाः । तत्कथं तन्निषेधः स्यादिति व्यामोहजल्पितम् ॥ २०३
अमीषामुपचारेण तत्र सत्त्वनिरूपणात् । पारमार्थिकसत्त्वे स्यात्सोऽस्मदादिसमो मतः ॥ २०४
भोजनं रसनेनासौ स्पर्शनं स्पर्शनेन्द्रियात् । कुर्वन्केवलभागेष मिथ्यात्वं किमतः परम् ॥ २०५

उनका खंडन दिगम्बराचार्य करते हैं)– शरीरपुष्टिकेलिये भोजन करते हैं यह कहना प्रामाणिक नहीं माना जाता। क्योंकि केवलीके लाभान्तरायकर्मका पूर्णक्षय होनेसे अन्यजन दुर्लभ परमशुभ सूक्ष्म अनंत ऐसे नोकर्म परमाणु, जो कि शरीरमें बलस्थापनके हेतु होते है, प्रतिसमय आते हैं, जिनसे उनका शरीर सदा पुष्टही रहता है॥ प्राणरक्षणके लिये केवली आहार करते हैं ऐसा कहना दुष्ट मिथ्यात्वका कार्य है। क्योंकि केवली अपमृत्यु रहित होते हैं, अतः यह कहनाभी युक्त नहीं। भूखकी बाधा शान्त करनेकेलिये केवली आहार करते हैं यह तिसरा विकल्पभी मिथ्यात्वका सूचक है। केवली अनंतसुखी होनेसे भूखकी पीडाका उनमें संभव नहीं है॥ १९९–२०२॥

(श्वेताम्बरका पुनः कथन)– 'एकादश जिने' इस सूत्रमें आचार्योंने जिनेश्वरमें भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ऐसे ग्यारह परीषह उत्पन्न होते है ऐसा कहा है। परंतु 'उनको वे नहीं होते हैं' ऐसा आपका कहना योग्य नहीं हैं। आचार्यश्रीने कहा कि "हे श्वेताम्बरविद्वन्, यह आपका प्रतिपादन व्यामोहसे मिथ्यात्ववश होकर हो रहा है"॥२०३॥

इसका उत्तर सुनो– "इन क्षुधादि परीषहोंका अस्तित्व वहां उपचारसे है। यदि पारमार्थिक-रूपसे इनका अस्तित्व होता तो जिनेश्वर अस्मदादिके समान हैं ऐसा समझना होगा।"

स्पष्टीकरण– ध्यानाग्निसे घातिकर्मरूपी इंधनोंको केवलि-भगवानने भस्म किया है; तथा अंतराय कर्मका अभाव होनेसे उनको प्रतिसमय शुभपुद्गल समूहकी प्राप्ति होती है; इसलिये वेदनीयकर्म मोहकर्मके साहाय्यसे विरहित होनेसे स्वयोग्य प्रयोजन उत्पन्न करनेमें अर्थात् क्षुधादि परीषह पीडा देनेमें असमर्थ हुआ। अतः ध्यानोपचारके समान क्षुधादि परीषहोंका सद्भाव उपचारसे केवलीमें माना है। केवली पूर्ण ज्ञानी होनेसे एकाग्रचिन्तानिरोध नहीं होनेपरभी कर्मरज-निर्जरारूप फल-लाभ होनेसे जैसे ध्यानोपचार उनमें हैं वैसे क्षुधादिवेदनारूप परिषहोंका अभाव होनेपरभी वेदनीयकर्मोदयरूप द्रव्यपरीषहोंका सद्भाव होनेसे जिनेश्वरमें ग्यारह परिषह हैं ऐसा उपचार करना योग्य है। ये केवलीजिन रसनेन्द्रियसे भोजनका स्वाद लेते हैं और स्पर्शनेन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव लेते हैं ऐसा यदि माना जायगा तो इससे दूसरा क्या मिथ्यात्व हो सकता है? ॥ २०४–२०५ ॥

कुर्वाणो भोजनं नाथो लोकैर्यन्नावलोक्यते । तत्किं विद्याविशेषेण तथातिशयतोऽपि वा ॥ २०६
आद्ये निर्ग्रन्थताहानिर्द्वितीये किं न जायते । भोजनाभावरूपो वातिशयः सर्वसाधकः ॥ २०७
अन्यद्यदुच्यते मूढैस्तत्त्वनिह्नवकारिभिः । तस्मिन्नेव भवे स्त्रीणां मुक्तिर्युक्तिर्न सा क्वचित् ॥२०८
नियमाद्ऋद्धिसंपन्नं ज्ञानमात्रमपि स्त्रियः । यस्या नास्तीह सर्वज्ञा सा कथं कथ्यतेऽधमैः ॥ २०९
मुक्तिरस्त्येव रामाणामथाविकलकारणात् । पुंवद्धेतोरसिद्धत्वान्नैतच्चारु कदाचन ॥ २१०
ज्ञानादीनां प्रकर्षोऽयं मोक्षहेतुरुदीरितः । स न स्त्रीषु प्रकर्षत्वादपुण्यादिप्रकर्षवत् ॥ २११
मायापरप्रकर्षेण व्यभिचारो न युज्यते । मायाबाहुल्यमात्रस्य स्त्रीषु शश्वन्निरूपणात् ॥ २१२

यदि भोजन करते हुए केवलीको लोग नहीं देखते हैं ऐसा आप (श्वेताम्बर) मानते हो तो इसमें हम पूछते हैं कि विद्याविशेषसे वे दीखते नहीं हैं अथवा केवलज्ञानके अतिशयसे वे नहीं दिखते हैं ? आद्य पक्षमें निर्ग्रंथता-हानि होगी क्योंकि विद्याविशेषसे युक्त होनेपर जैसे विद्याधर निर्ग्रन्थतासे रहित होते हैं वैसा केवली विद्याकेद्वारा अदृश्य होनेसे निर्ग्रन्थतासे रहित होंगे। अन्य जनोंमें असंभवी अतिशय उनमें है, जिससे वे भोजन करते हुए नहीं दीखते हैं ऐसा यदि मानोगे तो भोजनका अभावरूप अतिशय माननाही योग्य होगा क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध हुआ है और सर्व गुणोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥ २०६-२०७ ॥

वस्तुस्वरूपको छिपाकर रखनेवाले श्वेताम्बरोंने अन्यभी ऐसा कहा है " उसी भवमें स्त्रियोंको मुक्ति होती है " परंतु उसमें कहांभी युक्ति नहीं हैं ॥ २०८ ॥

स्त्रीको नियमसे (ऋद्धिसम्पन्न) चारित्रसंपन्न-महाव्रतयुक्त ज्ञानमात्रभी नहीं है। वह स्त्री सर्वज्ञानवाली केवलज्ञानयुक्त होती है ऐसे इन अधमोंने कैसा कहा है ? ॥ २०९ ॥

(श्वेताम्बर स्त्रियोंको मुक्ति सिद्ध करनेकेलिये अनुमान कहते हैं)- " स्त्रियोंको अविकलकारण होनेसे मुक्ति होती है जैसे पुरुषको होती है। आचार्य कहते हैं, कि इस अनुमानमें ' अविकलकारण होनेसे ' यह हेतु असिद्ध होनेसे यह अनुमान कभीभी युक्तियुक्त नहीं है। यहां अविकलकारण जो रत्नत्रय वह परमप्रकर्षको प्राप्त होकर मुक्तिका कारण है अथवा तन्मात्र-रत्नत्रयमात्र मुक्तिका कारण है ? तन्मात्र मुक्तिका कारण है तो गृहस्थकोभी तन्मात्र-रत्नत्रयमात्र कारणसे मुक्तिप्रसंग प्राप्त होगा। यदि परमप्रकर्षको प्राप्त ऐसा कारण स्त्रीमुक्तिके लिये हैं ऐसा कहोगे तो स्त्रियोमें कारणोंका परमप्रकर्ष नहीं होता है। ज्ञानादिक कारणोंका प्रकर्ष, जो कि मोक्षहेतु है ऐसा कहा है, वह स्त्रियोंमें नहीं होता है; क्योंकि वह प्रकर्ष है। जैसे अपुण्यका प्रकर्ष अर्थात् पापका प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं है वैसा मोक्षके कारणोंकाभी परमप्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं है। इसके ऊपर श्वेताम्बर कहते है, कि अपुण्यका प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं है यह योग्य नहीं हैं क्योंकि मायाप्रकर्ष स्त्रियोंमें हैं इससे अपुण्यप्रकर्ष नहीं है ऐसा कहना व्यभिचारी है। दिगंबर कहते हैं कि यह कहना योग्य नहीं है। मायाबाहुल्यही-मायाकी प्रचुरताही स्त्रीमें है, ऐसा यहां समझना चाहिये। अर्थात् माया

अत एव गतिर्नास्ति सप्तमे नरके स्त्रियाः । ततोऽनैकान्तिको दोषो न स्यादिष्टविघातकृत् ॥२१३
तन्न ज्ञानप्रकर्षोऽस्ति मोक्षहेतुः प्रमाणतः । स्त्रीणां तृतीयलिंगस्य यथा नायमहेतुतः ॥२१४
तद्धेतुः संयमाभावान्नासौ तासु निगद्यते । संयमोऽपि हि सग्रन्थस्तासां सागारिणामिव ॥२१५
गृहिसंयमकेनापि[1] यदि मोक्षः प्रजायते । दीक्षाग्रहणवैयर्थ्यं कथं केन निवार्यते ॥२१६
अथ निर्ग्रंथ एवायं तन्न सत्यं कदाचन । सचेलसंयमत्वेन सग्रन्थत्वप्रसङ्गतः ॥२१७
सचेलसंयमो मुक्तिहेतुरित्यप्यसुन्दरम् । तदागमप्रसिद्धत्वादस्माकं प्रत्यसिद्धितः ॥२१८
न साधूनामवन्द्यत्वात्संयमः स्त्रीषु विद्यते । मोक्षहेतुर्गृहस्थानां न यथा बुद्धिशालिनाम् ॥ २१९
बाह्याभ्यन्तरतो वापि सग्रन्थत्वान्न जायते । निहीनशक्तिकानां च स्त्रीणां मुक्तिर्गृहस्थवत् ॥ २२०

अधिक है ऐसा अभिप्राय है । परमार्थतः पुरुषोंमेंही अपुण्यप्रकर्ष है ऐसा सिद्ध होता है । मायाका प्रकर्ष यदि स्त्रियोंमें सिद्ध होता तो अपुण्यप्रकर्ष सिद्ध होनेसे रत्नत्रयरूप अविकल कारणोंका प्रकर्षभी सिद्ध होता परंतु ऐसा नहीं है ॥ २१०–२१२ ॥

सप्तमनरकमें स्त्रियोंकी गति नहीं है इसलिये उपर्युक्त जो अनैकान्तिक दोष आपने हमें (दि. जैनोंको) दिया था वह हमारे इष्ट साध्यमें (स्त्रियोंको मोक्षप्राप्ति नहीं है इस विषयमें) विघातक नहीं है । इसलिये ज्ञानका प्रकर्ष, जोकि मोक्षप्राप्तिमें कारण है वह स्त्रियोंको नहीं है। उसही प्रकारसे ज्ञानप्रकर्ष नपुंसकोंमेंभी नहीं है। क्योंकि वहांभी मोक्षके अविकलकारणका सद्भाव नहीं है ॥ २१३–२१४ ॥

स्त्रियोंको संयमका अभाव होनेसे वे अविकलकारणोंकी प्राप्ति करनेमें समर्थ नहीं हैं । और उनको गृहस्थोंके समान परिग्रहयुक्त संयम है । गृहस्थ–संयमसेभी यदि मोक्षप्राप्ति होगी तो दीक्षाग्रहणकी व्यर्थता कौन कैसे दूर कर सकेगा ? अर्थात् जिनदीक्षा ग्रहण करना व्यर्थही होगा । ॥ २१५–२१६ ॥

अब कदाचित् कहोगे कि, आर्यिकाका जो संयम है वह निर्ग्रंथ संयम है ऐसा कहना योग्य नहीं है क्योंकि, वह सवस्त्र-संयम होनेसे परिग्रहयुक्त संयमका प्रसंगही है । सचेल-संयम मुक्तिका कारण है यह अर्थसे सुंदर वचन तुम्हारे आगममें प्रसिद्ध है परंतु ऐसे अर्थका प्रतिपादक आगम हमारेलिये असिद्ध है, प्रमाण नहीं है ॥ २१७–२१८ ॥

स्त्रियाँ साधूओंसे अवन्द्य होनेसे उनमें निर्ग्रंथ संयम नहीं है । जैसे बुद्धिशाली गृहस्थोंका संयम मोक्षहेतु नहीं है ॥ २१९ ॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह होनेसे स्त्रियाँ सग्रन्थ हैं तथा वे हीनशक्तिवाली होनेसे उनको गृहस्थोंके समान मुक्ति नहीं है ॥ २२० ॥

---

१ आ. गृहस्थसंयमेनापि

प्रत्यक्षेण गृहीतो वा स वस्त्रादिपरिग्रहः । ग्रन्थमाभ्यन्तरं तस्यास्तद्रागादिकमादिशेत् ॥ २२१
शरीरस्योष्मणा जन्तुविघातैकनिवारणम् । वस्त्रमादीयते ताभिरथ रागाद्यभावतः ॥ २२२
तन्न युक्तं वचस्तेषामचेलव्रतधारिणाम् । यतस्तीर्थकरादीनां हिंसकत्वं प्रजायते ॥ २२३
आचेलक्यं व्रतं तेषां नासिद्धं हि तदागमे । स्थितिकल्पस्य मध्येऽस्य तैरेव प्रतिपादनात् ॥ २२४
किं च वस्त्रे गृहीतेऽपि पाणिपादाद्यनावृतेः । जन्तूनामुपघाताच्च तथावस्थित एव सः ॥ २२५
यूकालिक्षादिजन्तूनां मूर्च्छनायाश्च कारणं । वस्त्रं हिंसाङ्गमर्हद्भिर्गृह्यते किं महात्मभिः ॥ २२६

जो वस्त्रादि बाह्य परिग्रह उन्होंने प्रत्यक्षसे ग्रहण किये हैं, वह उनके अभ्यन्तर रागादि परिग्रहोंको सुझाता है । अर्थात् वस्त्रादि परिग्रह होनेसे उनके अन्तरंगमें रागादिक मोहविकार हैं ऐसा सिद्ध होता है ॥ २२१ ॥

(श्वेतांबर कहते हैं)– यदि वस्त्र ग्रहण नहीं किया जाता तो शरीरकी उष्णतासे हवामें रहनेवाले जन्तुओंका नाश होगा । उनका नाश न होवें इस हेतुसे आर्यिकायें वस्त्र ग्रहण करती हैं । उनके मनमें रागादिक अभ्यन्तर परिग्रह नही हैं । अर्थात् आपने 'रागादिक विकारसे उन्होंने परिग्रह धारण किया है' ऐसा जो आक्षेप उनके ऊपर किया है वह व्यर्थ है ॥ २२२ ॥

(उत्तर)– श्वेतांबरोंका यह वचन योग्य नहीं है । जन्तुओंका विघात टालनेके लिये वस्त्र ग्रहण करते हैं, तो अचेलव्रत धारण करनेवाले अर्थात् निर्वस्त्र-संयम धारण करनेवाले तीर्थंकरको हिंसाका दोष लग जायेगा, ऐसा मानना पडेगा । भावार्थ–तीर्थंकरोंने वस्त्रका त्याग किया था, अतः उनके खुले अवयवोंकी उष्णतासे जीवनाश होनेसे वे हिंसक थे ऐसा मानना पडेगा, जोकि मानना आपको अनिष्ट होगा । दशविधस्थिति कल्पोंमें 'आचेलक्य' आपनेभी माना है और अब सवस्त्रसंयमको अहिंसाका हेतु मानने लगे हैं, अतः यह आपका कथन परस्पर विरुद्ध है ॥ २२३ ॥

अतः आचेलक्य व्रत श्वेतांबरोंको असिद्ध है–अमान्य है ऐसा नहीं है, क्योंकि उनके आगममें स्थितिकल्पके दश भेदोंमें पहिला कल्प आचेलक्य माना है ॥ २२४ ॥

पुनः आपके कथनानुसार वस्त्रग्रहण करनेपरभी उससे सर्व अवयव आच्छादित नहीं होते हैं अर्थात् हाथ, पाँव, आँखें, नाक, कान, मस्तक आदि अवयव खुले रहतेही हैं और उनकी उष्णतासे प्राणियोंकी हिंसा जैसीकी वैसीही रही ॥ २२५ ॥

वस्त्र, जूं, लीख आदि सूक्ष्म जन्तुओंकी उत्पत्तिका कारण है तथा मूर्च्छनाका-ममत्वका कारण है । ऐसा हिंसाका कारण वस्त्र महात्माओंके द्वारा कैसे ग्रहण किया जाता है ? अर्थात् वस्त्रके धारण करनेसे हिंसा तो टलतीही नहीं परंतु उससे मनमें ममत्व उत्पन्न होता है । वस्त्रसे ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं ॥ २२६ ॥

यज्ञानुष्ठानवद्वस्त्रं समस्तव्रतनाशकम् । महाव्रतधरा जातु न गृह्णन्ति महाधियः ॥ २२७
याचनं सीवनं शश्वत्प्रक्षालनविशेषणम् । निक्षेपादानमित्येतच्चोरादिहरणं तथा ॥ २२८
वस्त्रे गृहीते चैतानि व्रतबाधाकराणि च । मनःसंक्षोभहेतूनि जायन्ते व्रतवर्तिनाम् ॥ २२९
अथ लज्जाकरं नाग्न्यं रामाणां क्षोभकारणम् । कर्मास्रवनिमित्तं तन्न युक्तं मुक्तकर्मणाम् ॥ २३०
तदेतदपि मिथ्यात्वं विपरीतं हतात्मनाम् । यदेवाद्यं व्रतं पूतं तदेवासंमतं यतः ॥ २३१
नाग्न्यं लज्जां करोत्येव स्वस्य चैतत्परस्य वा । न स्वस्य वीतरागाणां लज्जाक्षोभाद्यभावतः ॥ २३२
परस्य करणे तस्य स्वस्यायातं किमेतया । अन्यः कर्ता विभोक्तान्यः साङ्ख्यस्येव मतं भवेत् ॥ २३३
मलिनाङ्गं सुबीभत्सं नग्नं लुञ्चितमस्तकम्। दृष्ट्वा साधुं कथं रामाः क्षुभ्यन्ति क्षीणविग्रहम्॥२३४

जैसे यज्ञ करना अर्थात् पशुओंका यज्ञकुण्डमें हवन करना हिंसाका कारण है वैसे वस्त्र-धारण करना संपूर्ण व्रतनाशक है । इसलिये महाबुद्धिमान् महाव्रतधारक मुनिराज वह (वस्त्र) कदापि धारण नहीं करते हैं ॥ २२७ ॥

याचना करना, सीना, हमेशा जलसे धोना, रखना, और ग्रहण करना ऐसे दोष वस्त्र धारण करनेसे उत्पन्न होते हैं। ये सब दोष अहिंसादि व्रतोंको बाधक हैं। जो व्रत-धारक आचेलक्य-व्रतके धारक हैं उनको वस्त्र धारण करनेकी इच्छासे प्रथमतः मनमें क्षोभ उत्पन्न होता है॥ २२८॥

(श्वेताम्बरोंका आक्षेप)– नग्नतासे स्त्रियोंको लज्जा उत्पन्न होती है और उनके मनमें क्षोभ उत्पन्न होता है । तथा कर्मागमनका वह निमित्त होता है । इसलिये योग्य कार्य करनेवाले मुनियोंको नग्नता धारण करना योग्य है ॥ २२९–२३० ॥

(आक्षेपनिराकरण)– मिथ्यात्वसे जिनका आत्मघात हुआ हैं, ऐसे श्वेताम्बरोंका यह विपरीत मिथ्यात्व है । क्योंकि आचेलक्यसे जो पहिला पवित्र व्रत अर्थात् अहिंसाव्रत रक्षा जाता है उससे ये श्वेतांवर लोग असंयम होता है ऐसा उलटा कहने लगे हैं अर्थात् यह कथन विपरीत मिथ्यात्वका द्योतक है ॥ २३१ ॥

(श्वेताम्बरोसे प्रश्न)– यह नग्नता मुनियोंके मनमें लज्जा उत्पन्न करती है अथवा अन्य लोगोंके मनमें लज्जा उत्पन्न करती है ? स्वतः मुनियोंको लज्जा उत्पन्न होती है ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि वे वीतराग होते है । इसलिये यह आपका मत सांख्यमतके समान मालूम पडता है क्योंकि सांख्योंने प्रकृति सर्वज्ञ मानी है, और आत्माको असर्वज्ञ माना है । प्रकृतिको बंधमोक्ष होते है और आत्माको बंध तथा मोक्षरहित माना है; यह उनका मानना जैसा विपरीत हैं, वैसा नाग्न्यसे हिंसा होती है ऐसा श्वेताम्बरोंका प्रतिपादन करनाभी विपरीतमिथ्यात्व है । क्योंकि अहिंसा महाव्रतका साधक है, तो भी हिंसाका हेतु है ऐसी विपरीत कल्पना विपरीत-मिथ्यात्वका कार्य है ॥ २३२–२३३ ॥

(स्त्रियोंका मन क्षुब्ध नहीं होता)– जिसका शरीर मलिन है, तथा ग्लानि पैदा करनेवाला

सुवस्त्रं गन्धमालाढ्यं कामकल्पितविग्रहम् । ईदृशं पुरुषं दृष्ट्वा रामा रागप्रकाशिका ॥ २३५
आचेलक्यं हि सर्वेषां व्रतानां मूलमुत्तमम् । स्त्रीपरीषहभग्नानां कथं पाखण्डिनां भवेत् ॥ २३६
लज्जाशीतादिदुःखानां कारणत्वान्न संमतम् । नाग्न्यं केषां[1] मतं तेषां दुःखदं न महाव्रतम् ॥ २३७
येभ्यो येभ्यः पदार्थेभ्यो विना पीडा प्रजायते । ते ते सर्वेऽपि सङ्ग्राह्या मधुमांससुरादयः ॥ २३८
रागद्वेषमदक्रोधलोभमूलमनर्थकृत् । वस्त्रं हि त्यजतां लज्जा गृह्णतां नेति कौतुकम् ॥ २३९
यस्या मिथ्यात्वदोषेण जातायाः सुमहर्द्धिकम् । पदं चक्रधरादीनामपि नैवोपजायते ॥ २४०

है, जिसका मस्तक केशलोचसे युक्त है ऐसे कृश शरीरवाले नग्न साधुको देखकर स्त्रियाँ कैसे क्षुब्ध होंगी ? अर्थात् साधुकी नग्नता स्त्रियोंको क्षुब्ध नही कर सकती ॥ २३४ ॥

जिसके वस्त्र सुंदर है, जो इत्र और पुष्पमालाओंको धारण करता है, जिसका शरीर मदनके समान सुंदर है ऐसे पुरुषको देखकर स्त्री अपना रागभाव-प्रेम प्रगट करती है । यह आचेलक्य स्थितिकल्प सर्व व्रतोंका उत्तम मूल है । अर्थात् इसके आधारसेही सब अहिंसादि व्रत-समूह स्थिर रहता हैं अन्यथा नहीं । जो स्त्रीपरिषहसे भग्न हुए हैं ऐसे पाखंडी लोग इसे धारण करनेमें कैसे समर्थ होंगे ? ॥ २३५ ॥

लज्जा, ठण्डी आदि दुःख नग्नतासे उत्पन्न होते हैं, इसलिये कई पाखंडियोंको यह नाग्न्य मान्य नहीं होता । उनको यह महाव्रत दुखःद है अर्थात् जो लज्जादिकसे पीडित हैं उनको नाग्न्य सौख्यदायक नहीं है । परंतु जो लज्जा, शीत, आदि दुःख सह सकते हैं, जो स्त्री-परीषहसे भग्न नहीं हुए उनको इस नाग्न्यकी योग्यता ज्ञात होनेसे वेही उसको पूर्णतासे निभाते हैं । अन्य जनोंको इसका धारण करना शक्य नहीं ॥ २३६–२३७ ॥

यदि नाग्न्य दुःखदायक होनेसे त्याज्य है, तो जिन जिन पदार्थोंके विना पीडा होती है वे पदार्थ सुखके लिये ग्रहण करने चाहिये ऐसा कहते हो तो मधु, मांस, मदिरा आदि पदार्थोंको ग्रहण करो; क्योंकि इनके विना आपके दुःख होता होगा ॥ २३८ ॥

राग, द्वोष, मद-गर्व, क्रोध और लोभ उत्पन्न होनेमें वस्त्र मूल कारण है और इससे अनर्थ उत्पन्न होता है । अतः ऐसे वस्त्रका त्याग करना लज्जाका हेतु है और उसका ग्रहण करना लज्जाका हेतु नहीं है ऐसा कहना हमको आश्चर्यचकित करता है ॥ २३९ ॥

" मिथ्यात्वदोषसे स्त्री-पर्याय प्राप्त होता है । अतः उस पर्यायमें जीवको चक्रवर्ति आदिकोंका महैश्वर्य प्राप्त नहीं होता । अर्थात् जिस स्त्रीको चक्रवर्ति आदि पदभी प्राप्त नहीं होते, उसे

१ आ. नाग्न्यं चेत्संमतम्

तस्यास्तीर्थकरत्वं हि त्रिलोकीपतिपूजितम् । मोक्षैककारणोपेतं कथं मूढैर्निगद्यते[1] ॥ २४१
केवली कवलं भुङ्क्ते स्त्रिया मुक्तिः सुदुर्लभा । सग्रन्थो मोक्षमार्गश्च[2] विपरीतदृशां मतम् ॥ २४२
ज्ञानं चारित्रनिर्मुक्तं चारित्रं ज्ञानवर्जितम् । ते वा दर्शननिर्मुक्ते मिथ्यात्वं नैव मुञ्चतः ॥ २४३
इत्याद्यनेकमिथ्यात्वं नराणां शल्यमूर्जितम् । महादुःखप्रदं तेन वर्जनीयं मनीषिभिः ॥ २४४
निदानमपि शल्यत्वाद्धेयं हेयविशारदैः । अयुक्तं तद्धि साधूनां सर्वव्रतविनाशकम् ॥ २४५
शस्ताशस्तप्रभेदेन द्विविधं विधिकोविदाः । कथयन्ति जिनाधीशा निदानं तद्विवर्जिताः ॥ २४६
संसारस्य निमित्तं च विमुक्तेः कारणं परम् । प्रशस्तं द्विविधं जैनैः कथितं तथ्यवेदिभिः ॥ २४७
कर्मणां विच्युतिं बोधिं समाधिं भवदुःखतः । हानिमाकांक्षतो मुक्तिहेतुभूतं निगद्यते ॥ २४८

इंद्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती जिसे पूज्य मानते हैं तथा जो मोक्षके मुख्य-अद्वितीय कारणसे युक्त होता है ऐसा तीर्थंकर-पद प्राप्त होता है ऐसा मूढ लोग कैसा कहते हैं ? ॥ २४०–२४१ ॥

केवली कवलाहार करते हैं, और स्त्रियोंको दुर्लभ मुक्ति प्राप्त होती है और परिग्रह-सहित मोक्षमार्ग है ऐसा विपरीत-मिथ्यात्वियोंका मत है ॥ २४२ ॥

मिथ्यात्वके अनेक प्रकार हैं– चारित्रसे रहित ज्ञान, ज्ञानरहित चारित्र और दर्शनरहित चारित्र और ज्ञान मुक्तिका हेतु मानना यह मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व आत्माको नहीं छोडता इत्यादिक अनेक प्रकारका मिथ्यात्व है । इसको शल्य कहते हैं । यह शल्य मनुष्योंको दुःख देता है । यह शल्य (मिथ्यात्व) महादुःख देनेवाला होनेसे विद्वान् उसे छोडते हैं ॥ २४३–२४४ ॥

(निदानशल्यका वर्णन ।)– त्याज्य भावोंको-मिथ्यात्व, कषाय आदिकोंको छोडनेमें चतुर ऐसे गणधरादि महापुरुषोंने निदानभी प्राणिओंको दुखःद होनेसे त्याज्य माना है । साधुओंको यह शल्यधारण करना योग्य नहीं है; क्योंकि यह सब व्रतोंका नाश करता है ॥ २४५ ॥

इस निदानके प्रकार जाननेमें निपुण और उनसे पूर्ण रहित जिनेश्वरोंने उसके प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो भेद कहे हैं ॥ २४६ ॥

यह प्रशस्त-निदान संसारका कारण और मोक्षकाभी उत्तम साधन है । अर्थात् सत्य वस्तुस्वरूपको जाननेवाले जैनोंने संसारनिमित्तक प्रशस्त-निदान और मोक्षनिमित्तक प्रशस्त निदान ऐसे दो भेद कहे हैं ॥ २४७ ॥

कर्मोंका नाश, बोधि-रत्नत्रयप्राप्ति, समाधि-धर्मध्यान, शुक्लध्यान, संसार दुःखोंका नाश आदिको चाहनेवालोंको यह प्रशस्त-निदान मुक्तिका कारण माना है । अथवा जिनधर्मकी प्राप्ति होनेके लिये योग्य देश-आर्य देश, योग्यकाल-चतुर्थकाल, भव-जैनके उच्चकुलोंमें जन्म, योग्य क्षेत्र-

१ आ. पुण्यैः　२ आ. स्थः

देशं कालं भवं भावं क्षेत्रमैश्वर्यमेव वा । जिनधर्मप्रसिद्ध्यर्थं कांक्षतो वा दरिद्रिताम् ॥ २४९
संसारहेतुकं तद्धि निदानं जिननायकैः । कथितं हि यतो नैते जायन्ते संसृतिं विना ॥ २५०
आद्यं पूतमनन्तैकसुखधामविधायकम् । द्वितीयं दुःखदं किञ्चिद्यदन्यभवहेतुतः ॥ २५१
अप्रशस्तं पुनर्द्वेधा भोगमानादिभेदतः । संसारकारणं निन्द्यं सिद्धिसौधाप्रवेशकम् ॥ २५२
भोगाशक्तितमनाः[1] प्राणी न जानाति हिताहितम् । अहिदष्ट इवानेकमूर्च्छादाहप्रलापवान् ॥ २५३
मन्त्रतन्त्रादिभिः केचिज्जीवन्त्यहिविषार्दिताः । भोगभोगीन्द्रदष्टाश्च न जीवन्ति कथञ्चन ॥२५४
भोगाभिलाषिणा पुंसा यत्कर्मेह विधीयते । वह्निभिर्भवकोटीभिर्न स तस्यान्तमञ्चति ॥ २५५
भोगा लोकान्त्रिमोह्याशु विषयौषधयोगतः । ठका इव हठात्तेभ्यो धर्मवित्तापहारिणः ॥ २५६

स्थान जहां जैनधर्माराधक श्रावक रहते हैं और भाव-शुभ परिणाम और वैभव चाहनेवालोंको यह संसारका कारण प्रशस्त-निदान होता है। क्योंकि संसारके विना ये देश, काल, क्षेत्र, भव, भाव और ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होते हैं ऐसा जिनेश्वरोने कहा है ॥ २४८–२५० ॥

पहिला जो प्रशस्तनिदान है वह पवित्र अनंत और अद्वितीय ऐसा सुखस्थान देनेवाला-मोक्षप्राप्ति करनेवाला है। और दूसरा प्रशस्तनिदान किञ्चित् दुःख देनेवाला है; क्योंकि अन्य-भवमें जिनधर्मकी प्राप्तिके लिये देश, काल, क्षेत्र, भव, भाव और ऐश्वर्य चाहनेसे वह होता है ॥ २५१ ॥

अप्रशस्त-निदानकेभी दो भेद हैं, पहिला भेद भोगहेतुसे होना है और दूसरा भेद मान-हेतुक है। ये दोनोंभी संसारके कारण हैं, निन्द्य है और सिद्धिमन्दिरमें प्रवेश होनेमें बाधक हैं ॥२५२॥

जो प्राणी भोगोंकी आसक्तिमें अपना मन लगाता हैं उसे हितकर कौन है और अहितकर कौन है, इसका परिज्ञान नहीं होता। सर्पदंश जिसको हुआ है ऐसे मनुष्यके समान वह अनेक मूर्च्छा, दाह क्षौर प्रलापसे युक्त होता है। अर्थात् भोगासक्ति होनेसे उसको भोगोंमें ममत्व-बुद्धि होती है। उससे उसको दाह उत्पन्न होता है अर्थात् तृष्णा अधिकाधिकतया वृद्धिगत होने लगती है तथा वह भोगोंकीही सतत बातें करता रहता है। सर्पके विषसे पीडित हुए कितनेक लोग मंत्रतन्त्रादिसे विष दूर होनेसे जीते है परंतु भोगरूपी महासर्पसे दंश किये गये लोग किसी प्रकारसेभी नही जीते हैं ॥ २५३–२५४ ॥

इस जगतमें रोग और भोग अतिशय दुःख देनेवाले हैं। इस लोकमेंही रोग दुःख देते हैं परंतु ये भोग भवभवमें जीवको दुःख देते हैं। भोगाभिलाषी मनुष्य इस भोगके लिये जो कर्म करता है अर्थात् जो कर्मबंध उसको भोगाभिलाषासे होता है उसका अन्त अनेक कोटि भवोंसेभी नहीं होता है अर्थात् कोटयवधिभवोंमें भोगाभिलाषाजन्य कर्मका उदय होता है और वह प्राणीको सन्तत दुःख देता

१ आ. भोगासक्तमनाः

येषामलाभतो हीनास्तदाशापाशवर्तिनः । कुम्भीपाका इवानेके दन्दह्यन्ते नराधमाः ॥ २५७
तदर्थं कुर्वतां तावन्निदानं हतचेतसाम् । का गतिर्दुष्टवृत्तीनां निदानमिति निश्चितम् ॥ २५८
मानिनः पञ्च पापानि कुर्वतो न मनागपि । पापीयसो घृणाप्यस्ति महाहङ्कारवर्तिनः ॥ २५९
अतो मानं विमुञ्चन्ति पापमूलमनेनसः । न मानाग्निप्रदग्धेषु धर्मबीजं प्ररोहति ॥ २६०
इति शल्यं त्रिधाप्येतद्वर्जयन्ति विचक्षणाः । न हि शल्यवतां जातु जायते निर्वृतिर्यतः ॥२६१
शल्यानां त्रितयं हृदि प्रविततं निःसारयन्तीह ये। श्रीमन्तो गुरुवाक्यवैभवमहासन्दंशकैरञ्जसा ॥
ते चारित्रपवित्रिताशयवशाः स्वर्गाश्रिताः संपदो। भुञ्जानाः कलयन्ति निर्वृतिमलंव्यापत्तिवृत्तिच्युताः
इह भवति सुभव्यो भूरिदुःखापहारी । जिनपतिमतसारी यः सदा ब्रह्मचारी ॥

है । विषयरूपी जडीबुटीके द्वारा भोग लोगोंको ठग पुरुषोंके समान विमोहित करते हैं और उनसे धर्मधन छीन लेते हैं । भोगोंकी अभिलाषारूपी पाशसे बंधे गये नराधम इनकी प्राप्ति न होनेसे दीन होकर कुंभी-पाकके समान अतिशय सन्तप्त होते हैं ॥ २५५–२५७ ॥

उन भोगोंकी अभिलाषासे मारा गया है, चित्त जिनका ऐसे निदान करनेवाले दुष्ट स्वभाववालोंको कौनसी गति होगी ? इस प्रकारसे निदानका निश्चय समझना चाहिये ॥ २५८ ॥

अतिशय अहङ्कारयुक्त पापी और मानी ऐसे पुरुषको यत्किञ्चित्भी घृणा नहीं होती है । ऐसा समझकर पापरहित सत्पुरुष पापका मूल ऐसा मानकषाय छोडते हैं । क्योंकि मानरूपी अग्निसे दग्ध हुए मनुष्योंमें धर्मका बीज अंकुरित नहीं होगा ॥ २५९–२६० ॥

चतुर पुरुष इस प्रकार तीनों शल्योंकाभी त्याग करते हैं । क्योंकि शल्यधारणसे पुरुषोंको कभीभी सन्तोष नहीं होता ॥ २६१ ॥

जो अहिंसादि व्रतरूप संपत्तिके धारक भव्य जन हृदयमें विस्तीर्णतासे प्रविष्ट हुए माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्योंको निकालकर फेंक देते हैं, तथा श्रीगुरूपदेश–वाक्य-रूप महा संडसीसे अंगमेंसेभी शल्य निकाल देते हैं, जिनका चित्त चारित्र धारण करनेसे पवित्र हुआ है ऐसे सत्पुरुष स्वर्गकी संपदाको भोगते हैं । अनंतर वहांसे च्युत होकर वे मनुष्यभवमें कर्मका क्षय करके पूर्ण व्यापकताको धारण करनेवाली मुक्तिको प्राप्त करते हैं अर्थात् मुक्त होते हैं । कालको व्याप्त करनेवाली मुक्तिको अर्थात् नित्य मुक्तावस्थाको धारण करते हैं ॥ २६२ ॥

जो सुभव्य जिनेश्वरके मतको धारण करता है, जो सदा ब्रह्ममें अर्थात् अहिंसादि गुणोंमें चरण करता है, अहिंसादि गुणोंको निःशल्य होकर धारण करता है, वह अनेक दुःखोंको

करकलितममन्दं साधुवृत्तप्रमोदम् । पुरुषमतिशयानः सम्पदो नो ददानः ॥ २६३

इति[1] श्रीपण्डितनरेन्द्रसेनविरचिते सिद्धान्तसारसंग्रहे मतान्तरनिरूपणं चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

नष्ट करता है । वह मनुष्य विशाल ऐसे मुनिव्रतोंका आनंद हाथमें धारण करनेवाले पुरुषका अतिशयसे अनुकरण करनेवाला होता है। वह भव्य हमें संपत्ति-रत्नत्रयधन प्रदान करें ॥ २६३ ॥

श्रीपण्डितनरेन्द्रसेनविरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमें चार्वाक, वैशेषिक, सांख्य, श्वेतांबरादि मतान्तरोंका निरूपण करनेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

१ आ. इति सिद्धान्तसारसंग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते चतुर्थः परिच्छेदः

पंचमः परिच्छेदः

पञ्चानां हि पवित्राणां व्रतानां मूलमादिमम् । यत्तत्त्वार्थपरिज्ञानं तच्च वक्ष्मि समासतः ॥ १
यो यथावस्थितः[1] सर्वस्तस्य भाव इति स्फुटम् । तत्त्वं तत्त्वविदस्तथ्यं प्रथयन्ति तदद्भुतम् ॥ २
जीवाजीवास्रावा बन्धसंवराभ्यां सनिर्जराः । मोक्षश्चेति मतं तत्त्वं सप्तधा तत्त्ववेदिभिः ॥ ३
तत्र निश्चयतोऽनादिमध्यान्तेन प्रकाशिना । विशुद्धोपाधिमुक्तेन चैतन्याख्येन सर्वदा ॥ ४
असाधारणरूपेण प्राणेनानेन जीवति । योऽसौ जीव इति व्यक्तं जीवज्ञैः स निगद्यते ॥ ५
यथा शुद्धनयापेक्षः कर्मबन्धवशात्पुनः । चतुःसाधारणैः प्राणैर्जीवोऽयं जीवतीत्यपि ॥ ६
उभयेन निमित्तेन यो भावोऽस्योपजायते । उपयोगः स विज्ञेयस्तन्मयोऽसौ निगद्यते ॥ ७

पञ्चम अध्याय ।

जीवादि तत्त्वार्थोंके स्वरूपका निर्दोष ज्ञान पवित्र पांच व्रतोंका आद्य मूल है, इसलिये मैं यहां संक्षेपमें उसका प्रतिपादन करता हूं ॥ १ ॥

जीवादिक सर्व अर्थसमूह जो जैसा है उसका वैसा भाव होनाही सत्य तत्त्व है, ऐसा तत्त्वके ज्ञाता गणधर देव कहते है वह आश्चर्यचकित करनेवाला है । भावार्थ–जीवादिकोंके यथार्थ स्वरूपको जिसका आगममें वर्णन है उसको तत्त्व कहते हैं ॥ २ ॥

(तत्त्वोंके सात भेद)– तत्त्वज्ञोंने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे तत्त्वके सात प्रकार माने हैं ॥ ३ ॥

(जीवकी व्याख्या)– निश्चयनयसे जीवका चैतन्यस्वरूप है । वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है । अर्थात् वह अनादिनिधन होनेसे मध्यहीन है । यह चैतन्य उत्पत्तिहीन, अन्तहीन तथा मध्यहीन और सदा प्रकाशयुक्त है । यह विशुद्ध-कर्मरहित तथा उपाधि-रागद्वेषोंसे रहित है । यह चैतन्य सर्व कालमें रहता है । इस चैतन्यको असाधारण प्राण कहते हैं । क्योंकि यह प्राण जीवके विना अन्यपदार्थोंमें कदापि नहीं होता है । ऐसे चैतन्य प्राणसे जो सर्वदा जीता है उसे जीवके स्वरूपको जाननेवाले आचार्य व्यक्तरूपसे 'जीव' कहते हैं, शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीवका ऐसा स्वरूप कहा है । परन्तु कर्मबन्धके वश होकर यह जीव चार साधारण प्राणोंसे जीता है । अतः व्यवहारनयसे जो चार प्राणोंसे जीवन धारण करता है उसे जीव कहते हैं । तात्पर्य–यह जीव अनादि कर्मबंधसे परतन्त्र हुआ है जिससे वह इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण, तथा श्वासोच्छ्वास प्राण ऐसे चार प्राणोंको धारण करता हुआ जीता है, इसलिये उसे जीव कहते हैं ॥ ४–६ ॥

(उपयोग किसे कहते हैं)– उभय निमित्तके आश्रयसे वस्तुस्वरूप जाननेके लिये जो वस्तुके प्रति भाव प्रेरा जाता है उसे उपयोग कहते हैं । अथवा उप-आत्माके समीप योग-योजना

---

१ आ. यो यथावस्थितो ह्यर्थः

सोऽपि द्वेधा भवेन्नित्यं ज्ञानदर्शनभेदतः । समस्तो वासमस्तो वा ज्ञेयः शुद्धनयात्पुनः[1] ॥ ८
साकारं कथ्यते ज्ञानं निराकारं च दर्शनम् । आद्यमष्टविधं ज्ञानं चतुर्द्धा दर्शनं परम् ॥ ९

जिसकी होती है उसे उपयोग कहते हैं। सामान्यतः आत्माके ज्ञान और दर्शनको उपयोग कहते हैं। यह जीव उस उपयोगसे तन्मय है। वह ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसा दो प्रकारका है। वह आत्माका लक्षण होनेसे आत्मामें सर्वदा विद्यमान है। शुद्ध नयसे इस आत्मामें पूर्ण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग हैं; तथा व्यवहार नयसे असमस्त उपयोग है। अर्थात् मत्यादि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा चक्षुर्दर्शनाद्यावरणके क्षयोपशमसे मतिज्ञानादि उपयोग तथा चक्षुर्दर्शनादि तीन दर्शनोपयोग आत्मामें रहते हैं ॥ ७–८ ॥

विशेषार्थ–पदार्थको जाननेके लिये जो चैतन्यकी प्रवृत्ति होती है उसको उपयोग कहते हैं। वह बाह्य कारणोंसे और अभ्यन्तर कारणोंसे होता है। बाह्य कारण आत्मभूत और अनात्मभूत इस तरह दो प्रकारका है। आँख, कान आदिक इंद्रियसमूह आत्मभूत बाह्य कारण है और दीपक आदि अनात्मभूत बाह्य कारण हैं।

अभ्यन्तर कारणभी आत्मभूत और अनात्मभूत ऐसे दो प्रकारके हैं। चिन्तादिकोंको सहायभूत ऐसी जो मनोवर्गणा, कायवर्गणा और वचनवर्गणा जिनको द्रव्ययोग कहते हैं, वह अंदर होनेसे अंतरंग कारण है। परंतु आत्मासे पृथक् होनेसे उनको अनात्मभूत कहते हैं। यह द्रव्ययोग जिसको निमित्त है ऐसा भावयोग वीर्यान्तराय कर्म, ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरण कर्मके क्षयसे तथा क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, जिसको आत्माकी प्रसन्नता कहते हैं, यह आत्मभूत अभ्यन्तर कारण है। इन कारणोंका संबंध होनेपर चैतन्यमय ऐसा जो आत्माका परिणाम पदार्थोंको जाननेमें और अवलोकनमें प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं। जब उपयोग पदार्थोंको जाननेके लिये देखनेके लिये प्रवृत्त होता है तब वस्तुको आत्मा जानता है और देखता है। (राजवार्तिक 'उपयोगो लक्षणं' इस सूत्रका भाष्यांश)

(ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेद ।)– ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। वस्तुके विशेषस्वरूपको और सामान्यस्वरूपकोभी ज्ञान जानता है जैसे यह वटवृक्ष है। वटत्व विशेषको वृक्षत्वसामान्यके साथ जानना साकारोपयोग है इसीको ज्ञानोपयोग कहते हैं। तथा विशेषको न जानकर वस्तुकी सत्तामात्रका अवलोकन करना दर्शनोपयोग है। इसीको अनाकारोपयोग कहते हैं। पहिला ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका होता है अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगावधिज्ञान। दर्शनोपयोगके चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे चार भेद हैं। दोनोंके मिलकर बारह भेद होते हैं ॥ ९ ॥

---

१ आ. शुद्धाशुद्धनयात्पुनः

तथा शुद्धनयेनासावमूर्तः कथ्यते जिनैः । अशुद्धेन तु मूर्तोऽयं कर्मणा सहितो यतः ॥ १०
एवम्भूतनयापेक्षष्टङ्कोत्कीर्ण इवामलः । अकर्ता कर्मणां जीवो निश्चयान्निश्चितो जिनैः ॥ ११
अनेवंभूततः कर्ता कर्मणामयमुच्चकैः । उच्चकैर्ज्ञानयुक्तैश्च कथितो जिननायकैः ॥ १२
यदि शुद्धनयादेव[1] लोकाकाशप्रदेशकः । अशुद्धेन तथाप्यात्मा देहमात्रो[2] निगद्यते ॥ १३
तथा निश्चयतो नार्थैर्निरुपाधिरयं पुनः । अनिश्चयेन सोपाधिर्जपास्फटिकवद्भवेत् ॥ १४

(जीव अमूर्तिक और मूर्तिक है ।)– यह आत्मा शुद्धनयकी अपेक्षासे अमूर्तिक है, ऐसा जिनेश्वर कहते हैं । तथा अशुद्धनयसे आत्मा मूर्तिक है, क्योंकि वह कर्मोंसे बद्ध हुई है । बिजली, मेघगर्जना, वज्रपात इत्यादिकसे आत्मामें भय उत्पन्न होता है । इसलिये आत्मा कथंचित् मूर्तिक है । मद्यादिक सेवनसे आत्मा शक्तिविकल होती है अतः मूर्तिक है ॥ १० ॥

(जीवका कर्तृत्व और अकर्तृत्व ।)– एवंभूतनयकी अपेक्षासे यह आत्मा टाकीके द्वारा उत्कीर्ण हुए पाषाणके समान निर्मल-कर्म रहित है । निश्चयनयसे आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं है ऐसा जिनेश्वरोंने निश्चय किया है ॥ ११ ॥

एवंभूतनयकी अपेक्षासे रहित होकर अर्थात् अशुद्धनयकी अपेक्षासे यह आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता है ऐसा उच्चज्ञानी-केवलज्ञानी जिनेश्वरोंने कहा है ॥ १२ ॥

(आत्मा व्यापक और देहप्रमाण है ।)– यद्यपि शुद्धनयसे आत्मा लोकाकाशके प्रदेश परिणाम है अर्थात् लोकपूरणसमुद्घातमें आत्मा संपूर्ण लोकाकाशको अपने असंख्यात प्रदेशोंको फैलाकर व्याप्त करती है तथापि अशुद्धनिश्चयसे यह आत्मा देहमात्र है, अर्थात् जो छोटा बडा देह उसे नामकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, उसमें अपने प्रदेशोंको संकुचित अथवा विस्तृत करके रहती है । तथा आत्मा देहमें सर्वत्र स्वानुभूतिसे अनुभवमें आती है । वह प्रतिव्यक्तिको अपने अपने शरीरमें ज्ञानसुखादिगुणोंसे पूर्ण भरी हुई अनुभवमें आती है । इसलिये उसको अशुद्धनयसे देहप्रमाण माननेमें प्रत्यवाय नहीं है ॥ १३ ॥

(आत्माका निरुपाधित्व तथा सोपाधित्व)– प्रभु जिनेश्वरने निश्चयसे यह आत्मा निरुपाधि है, ऐसा कहा है और अनिश्चयसे जपापुष्पयुक्त स्फटिकके समान सोपाधि कहा है । जैसे स्फटिक मणि जपापुष्पके संयोगसे लाल नहीं होनेपरभी लाल दिखता है वैसी यह आत्मा निरुपाधि है, परंतु कर्मके संयोगसे रागी, द्वेषी, मोही होती है ॥ १४ ॥

---

१ आ. देष　२ आ. मानो

शुभाशुभवशानेकसुखदुःखैकभुक्तिमान् । व्यवहारात्तथा शुद्धनयेनात्यन्तसौख्यभाक्[1] ॥ १५
परमार्थनयेनासौ संसारेण विवर्जितः । नित्यानन्दस्वभावत्वात् संसारी चापरेण सः ॥ १६
स्वात्मोपलब्धिरूपस्य स्वरूपस्य निषेधनात् । कर्मोदयादसिद्धोऽसौ सिद्ध एव सुनिश्चयात् ॥ १७
ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन विभावेन पुनर्न हि । भ्राम्यमाणो[2] भवाम्भोधौ चातुर्गतिककर्मणा ॥ १८
कर्ताऽमूर्तस्तथा भोक्ता स्वदेहप्रमितिर्भवी । उपयोगमयः सिद्धो ह्यात्मासावूर्ध्वगामिकः ॥ १९
मूर्त एव हि जीवोऽस्य भाट्टानां नास्तिकस्य च । तन्मतापह्नवायेदं ह्यमूर्त्तग्रहणं सताम् ॥ २०

व्यवहारनयसे शुभाशुभ कर्मके वश होकर आत्मा अनेक सुखदुःखोंका भोक्ता है। अर्थात् जो शुभ और अशुभ कर्म इस आत्माकेद्वारा बांधे जाते हैं, उनका उदय आनेपर वह सुखोंका और दुःखोंका अनुभव करने लगती है। संसारमें इसका भोक्तृत्व इस प्रकारका है। परन्तु शुद्धनयसे आत्मा अनन्तसुखयुक्त है ॥ १५ ॥

(आत्मा संसारी और मुक्त है।)– आत्मा परमार्थनयसे संसाररहित है। क्योंकि यह हमेशा नित्य आनन्दस्वभावका धारक है और व्यवहारनयसे संसारी है ॥ १६ ॥

(आत्मा सिद्ध और असिद्ध है।)– इस आत्मामें अशुद्धनयकी अपेक्षासे पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होनेसे असिद्धता है अर्थात् कर्मके उदयसे यह आत्मा असिद्ध है और शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा अष्टविध कर्मोंसे रहित है इसलिये शुद्ध सिद्धस्वरूप है ॥ १७ ॥

(उर्ध्वगति और संसारभ्रमण।)– स्वभावसे आत्मा उर्ध्वगतिवाली है, परंतु विभावसे उर्ध्वगतिवाली नहीं है। चतुर्गतिमें कर्मके उदयसे यह आत्मा संसारसमुद्रमें भ्रमण कर रही है। यह आत्मा कर्ता, अमूर्त, भोक्ता, स्वदेह-परिमाण, संसारी, उपयोगमय असिद्ध और ऊर्ध्वगति-वाली है ॥ १८–१९ ॥

(अन्यमत तथा जैनमतसे आत्माका वर्णन)– भाट्ट–कुमारिलभट्टके अनुयायियोंको अर्थात् मीमांसकोंको भाट्ट कहते हैं। उनकी अपेक्षासे तथा नास्तिकोंकी-चार्वाकोंकी अपेक्षासे आत्मा मूर्त है। विशेष स्पष्टीकरण–मीमांसक आत्मा कर्मरहित-शुद्ध कभीभी नहीं होती ऐसा मानते हैं। "कोयला जैसा कालाही रहता है उसे कितनाभी धो डालो वह सफेद नहीं होता, वैसेही आत्माभी कभीभी शुद्ध नहीं होती ; सर्वज्ञपना उसे प्राप्त नहीं होता है" ऐसा मीमांसक कहते हैं। चार्वाक तो शरीरसे भिन्न आत्मा हैही नहीं ऐसा मानते हैं अर्थात् वे देहकोही आत्मा मानते हैं। इन दोनों मतवालोंके निराकरणार्थ जैनोंने आत्मा कथंचित् मूर्तिक और कथंचित् अमूर्तिक मानी है ॥ २० ॥

१ आ. नानन्त　२ आ. भ्रम्यमाणो

एकान्ततोऽपि मूर्तः स्याद्यद्येष हतचेतसां । तदा[1] बाह्येन्द्रियग्राह्यः सर्वेषां स कथं न हि ॥ २१
शुद्धचैतन्यमात्रे[2] स योगानामभिसम्मतः । तन्मतस्य निरासार्थमुपयोगी निगद्यते ॥ २२
बुद्ध्यादिकगुणोच्छेदे सर्वथा तस्य किं न हि । उच्छेदश्चेतनायाश्च सर्वशून्यमतो भवेत् ॥ २३
कर्मकर्तृकता तस्य भोक्तुः[3] साङ्ख्यो निषेधति । अकर्तृत्वे कथं तेषां भोक्ता निर्लज्जचेतसाम् ॥ २४
स्वदेहप्रमितिश्चासौ कथितस्तत्त्ववेदिभिः । योगानां भाट्टसाङ्ख्यानां तद्व्यापित्वनिषेधनात् ॥२५

जिनकी विचारशक्ति नष्ट हुई है ऐसे भाट्ट और चार्वाककी अपेक्षासे यदि यह आत्मा एकान्तसे मूर्तही है तो वह सब लोगोंको बाह्य इन्द्रियोंसे ग्राह्य क्यों नहीं होती है? अतः आत्मा कथंचित् अमूर्तिक माननी चाहिये ॥ २१ ॥

यौगोंने आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र मानी है, उसके निराकरणार्थ आचार्योंने आत्मा उपयोगी मानी है । अर्थात् संसारावस्थामें आत्मामें मत्यादिज्ञानरूप उपयोग रहता है, और कर्मोंका नाश होनेपर आत्मा शुद्ध उपयोगका धारक—केवलज्ञान, केवलदर्शन ऐसे दो उपयोगोंकी धारक रहती है ॥ २२ ॥

भावार्थ—यौगोंने आत्माको शुद्ध चैतन्यमात्र मानकरभी उसके बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ऐसे नौ गुणोंका अत्यन्त क्षय होनेसे मुक्त दशा प्राप्त होती है ऐसा माना है । यह उनका मानना योग्य नहीं है ; क्योंकि बुद्ध्यादिक गुणोंका नाश होनेसे चेतनाकाभी नाश अवश्य होगा क्योंकि बुद्धिसे विभिन्न चैतन्य नहीं है । और चैतन्यका नाश होनेपर मुक्तावस्था पत्थरके टुकडेके समान हो जायगी ; जो कि किसी प्रकारसेभी स्पृहणीय नहीं है । संसार अवस्थामें अन्तरालमें अर्थात् कभी कभी सुख प्राप्त होता था वहभी मुक्तावस्थामें नहीं मिलनेसे वह संसारावस्थासेभी निकृष्ट होगी । चैतन्यावस्था पूर्णतया नष्ट होनेसे तत्स्वरूप-धारक आत्माकाभी नाश होगा जिससे सर्वशून्यता प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

(आत्माके अकर्तृत्वमें दोष ।)— सांख्य आत्माको भोक्ता मानते हैं परंतु वह कुछभी कार्य नहीं करती है ऐसा वे मानते हैं । आचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं कि, यदि आत्मा अकर्ता है तो निर्लज्जमनवाले सांख्य उसको भोक्ता कैसा मानते हैं? क्योंकि भोगनेकी क्रिया न करनेपर वह भोक्ता कैसे होगा ? इसलिये कर्तृत्व और भोक्तृत्व अविनाभावी है । आत्माका ज्ञातृत्वभी बिनाकर्तृत्वके सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि जाननेकी क्रिया करनाही ज्ञातृत्व है । अतः सांख्योंका आत्मसंबंधी अकर्तृत्ववाद सदोष है ॥ २४ ॥

यौग, भट्ट और साङ्ख्यमतियोंने आत्मा व्यापक माना है । उसके व्यापित्वका निषेध करनेके लिये तत्त्वज्ञोंने—जिनेश्वरोंने आत्मा स्वदेहप्रमाण है ऐसा कहा है ॥ २५ ॥

---

१ आ. तथा २ आ. शुद्धं चैतन्यमात्रम् ३ आ. प्रोक्ता साङ्ख्यनिषेधिनी

व्यापित्वे तस्य सर्वत्र वृत्तित्वात्किं न वेदनम्। त्रैलोक्यान्तर्गतानां हि शीतोष्णानां सुदुस्सहम्॥ २६
कर्मभोक्तृत्वमप्यस्य सौगतानां निषेधकम्[1]। तदृते पुण्यपापानां कारणं फल्गुतां व्रजेत्॥ २७
संसारी कथ्यते जीवः प्रत्याख्यानाय केवलम्। सदाशिवस्य सर्वेषां संसारस्याप्रसङ्गतः॥ २८
सिद्धत्वं तस्य जीवस्य भट्टकौलनिषेधकृत्। अन्यथा सर्वजीवानां सुखं वा दुःखमेव वा॥ २९

(आत्माके व्यापित्वका निरसन।)- आत्मा यदि व्यापी मानी जायगा तो वह सर्वत्र रहनेसे उसे त्रैलोक्यके अन्तर्गत शीतोष्णोंका सुदुःसह अनुभव क्यों नहीं आयेगा? इसलिये आत्मा देहप्रमाण माननी चाहिये, क्योंकि देहसे अन्यत्र सुखदुःखोंका अनुभव कभीभी आत्माको आताही नहीं॥ २६॥

(कर्मफल भोक्तृत्व नहीं है ऐसे सौगतपक्षका खण्डन।)- सौगत-बौद्ध आत्माको कर्मफलका भोक्तृत्व नहीं मानते हैं। परंतु यह मानना अयोग्य है, क्योंकि कर्मफलभोक्तृत्व नहीं माननेसे पुण्यपापोंकी कारणकल्पना व्यर्थ होगी। दान देना, पूजन करना, परोपकार करना ये पुण्यके कारण हैं। हिंसा करना, असत्य बोलना आदि पापके कारण हैं। ऐसा आगममें पुण्यपापके कारणोंका किया हुआ उल्लेख व्यर्थ होगा। इसलिये आत्मा कर्मफलोंका भोक्ता माननाही चाहिये॥ २७॥

(आत्मा सदामुक्त है ऐसे मतका निरसन।)- आत्मा सदाशिव है अर्थात् अनादि मुक्तावस्थाका धारक है। उसे कर्मलेप हुआही नहीं ऐसा सदाशिवका मत है। जैनाचार्यने सर्व आत्माओंकी अनादि मुक्तताका खण्डन किया है। क्योंकि यदि अनादि मुक्तता मानी जायेगी तो आत्माको संसारावस्थाका प्रसंगही नहीं प्राप्त होगा। इसलिये आत्मा संसारी है। उसका वह संसार अनादिसे है, परन्तु अनन्त नहीं है। कर्मोंका नाश करके आत्मा मुक्तावस्थाको प्राप्त करती है, इसलिये मुक्तावस्था सादि है और अनन्त हैं। सदा मुक्तावस्था जीवकी प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक आत्मा संसारमें शरीरधारी सुखदुःखोंका अनुभव लेती हुई दिखती है। जैनोंने एकान्तसे संसार नहीं माना है, क्योंकि ज्ञानादिगुणोंका विकास कर्मोंका क्षय होनेसे पूर्ण होता है, और आत्मा मुक्त होती है॥ २८॥

(आत्माको मुक्ति नहीं होती ऐसे माननेवाले भट्ट और कौलके मतका निरसन।)- जीव मुक्त नहीं होता। उससे कर्म अलग नहीं होते हैं। इसलिये वह हमेशा संसारीही रहता है ऐसा भट्ट और कौल कहते हैं यह कहना योग्य नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर सर्व जीवोंको सुखी अथवा दुःखीही मानना पडेगा। लेकिन कोई पुण्यवान् जीव सुखी देखे जाते है तथा कोई पापी

१ आ. निषे धनम्

मण्डलाख्यस्य बौद्धस्य मतव्याघातकारिणी । उद्ध्वंस्वभावता जीवे कथिता जैनवादिभिः ॥ ३०
चेद्यत्रैव[1] च मुक्तोऽसौ तत्र तिष्ठति निश्चितम् । ततो धर्मास्तिकायस्य वैकल्यं[2] केन वार्यते ॥ ३१
किञ्चिदागमतो ज्ञात्वा स्वरूपं गदितं मया । विस्तरेण तु सर्वज्ञादृते[3] केन निगद्यते ॥ ३२
जीवोऽनादिकसामान्यगुणेनैको[4] मतः सताम् । मुक्तसंसारिभेदेनपुनर्द्वैधोपजायते ॥ ३३
संसारिणां[5] हि संसारः परिवर्तनमुच्यते । तच्च पंचविधं प्रोक्तं विविधागमपारगैः ॥ ३४

जीव दुःखी देखे जाते हैं । तथा कोई जीव कभी दुःखी कभी सुखी, कोई कभी दरिद्री और कभी श्रीमान् देखे जाते हैं इत्यादिक प्रमाणसे संसार अवस्था अनेक प्रकारकी देखी जाती है । आत्माको नित्य माननेपर कोई दुःखीही हमेशा देखे जायेंगे तो कोई हमेशा सुखीही देखे जायेंगे । एकरूपताकाही अनुभव आवेगा । अतः संसारावस्थाको नष्ट करनेवाली सिद्धावस्थाभी माननी पडेगी जिसमें आत्मा स्वस्वरूपमें और अनन्तसुखादिगुणोंमें रममाण होती हुई सदा रहेगी ॥ २९ ॥

(जीवके उद्ध्वंगतिस्वभावका प्रतिपादन ।)– मण्डलनामक बौद्धोंका मत ऐसा है, कि आत्मा मुक्त होकरभी पुनः संसारमें नीचे आगमन करती है । पुनः संसारावस्था धारण करती है। इस मंडलके मतका खंडन करनेकेलिये जैनवादियोंने जीवमें उद्ध्वंगति स्वभाव माना है । अर्थात् कर्मोंका पूर्ण नाश होनेपर जीव उद्ध्वंगमन करता है और लोकशिखरपर जाकर वास्तव्य करता है । कर्मसे जीव कभी नीचे कभी ऊपर और कभी पूर्वादिक दिशामें गमन कर शरीर धारण करता था । अब कर्म विनाश होनेपर उसकी गति इधर उधर न होकर सीधी और ऊपरकोही होती है । और वह सिद्धशिलापर सदा विराजमान होता है ॥ ३० ॥

जीव जहां कर्मनाश होता है उस स्थानपरही मुक्त होकर निश्चित यदि स्थिर होता तो धर्मास्तिकाय नामक द्रव्यका–जो कि जीव पुद्गलोंके गतिका कारण माना है–उसका अभाव मानना पडता परंतु उसका अभाव नहीं है । वह धर्मद्रव्य लोकान्ततक व्याप्त है, अतः वहांतक मुक्त हुए जीवका गमन होता है । उसके आगे वह द्रव्य न होनेसे मुक्तजीव आगे गमन नहीं करते हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जीवका स्वरूप मैंने आगमसे थोडासा जानकर कहा है । सर्वज्ञके बिना विस्तारसे कौन जीव वर्णन करता है ? ॥ ३२ ॥

सज्जनोंने अनादि सामान्य गुणसे जीव एक माना है । तथा मुक्त और संसारी भेदसे जीवके दो भेद होते हैं ॥ ३३ ॥

संसारीके संसारको–(चतुर्गतिमें भ्रमणको परिवर्तन कहते हैं) नाना प्रकारके आगमोंमें प्रवीण ऐसे आचार्योंने पांच प्रकारका कहा है ॥ ३४ ॥

१ द्रव्यपरिवर्तन २ क्षेत्रपरिवर्तन ३ कालपरिवर्तन ४ भवपरिवर्तन और ५ भावपरिवर्तन ।

---

१ आ. नो २ आ. वैफल्यं ३ आ. सर्वज्ञमृते ४ आ. जीवनादिका ५ आ. संसरणं

तद्द्रव्यक्षेत्रकालादिभवभावप्रभेदतः । परिवर्तनमाख्यातं पंचधा सूत्रकोविदैः ॥ ३५
नोकर्मकर्मभेदेन द्रव्यादिपरिवर्तनम् । ख्यापिताशेषतत्त्वार्था द्विप्रकारमुशन्ति तत् ॥ ३६
त्रयाणां हि शरीराणां पर्याप्तीनां च पुद्गलाः । एकेनैवात्मना ये च गृहीताः प्रथमक्षणे ॥ ३७
स्निग्धरुक्षादिभेदेन तीव्रमन्दादिभावतः । अवस्थिता द्वितीयादिसमयेषु च सर्वथा ॥ ३८
जीर्णाश्चानन्तवारांस्ते व्यतिक्रम्य क्रमात्पुनः । यावन्नो कर्मतां यान्ति तन्नोकर्मविवर्तनम् ॥ ३९ त्रिकलम्
एकेनैव हि जीवेन गृहीताः प्रथमक्षणे । पुद्गलाः कर्मयोग्या ये समयेनाधिकाश्च[1] ते ॥ ४०
आवलिकामतिक्रम्य निर्जीर्णाः समयेषु च । द्वितीयादिषु पूर्वेण क्रमेणापि समन्ततः ॥ ४१
यावत्तस्यैव जीवस्य प्रपद्यन्ते प्रयोगतः । कर्मभावमिदं ज्ञेयं कर्मद्रव्यनिवर्तनम् ॥ ४२ त्रिकलम् ।
नोकर्मकर्मभावेन निवर्तन्तेऽत्र पुद्गलाः । ये च जीवस्य[2] विज्ञेयः संसारः पुद्गलाभिधः ॥ ४३

(द्रव्यपरिवर्तन)– द्रव्यपरिवर्तनके नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं ऐसा संपूर्ण तत्त्वार्थोंका स्पष्टीकरण करनेवाले आचार्य कहते हैं ॥ ३६ ॥

तीनशरीर–औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर और आहारक शरीर तथा आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इंद्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छवास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ऐसी छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको पहिले क्षणमें स्निग्ध, रुक्षादि भेदसे तथा तीव्र, मन्द, मध्यादि भावसे एकही आत्माने जैसे ग्रहण किये थे वे द्वितीयादि समयपर्यन्त आत्मामें रहकर जीर्ण हुए। इसके अनंतर अनंतबार अगृहीत पुद्गलोंको ग्रहण कर छोड दिया है। अनंतबार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण कर छोड दिया, अनंतबार गृहीतकोभी ग्रहण करके छोड दिया, पुनः वही जीव उनही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करें उतने कालसमुदायको नोकर्म–द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं ॥ ३७–३९ ॥

(कर्मद्रव्यपरिवर्तन)– एकही जीवने प्रथम क्षणमें कर्मयोग्य जो पुद्गल ग्रहण किये थे वे एक समयाधिक आवलिकाकालपर्यन्त रह कर द्वितीय समय, तृतीय समय आदि समयोंमें निर्जीर्ण हो गये। फिर पूर्वोक्त क्रमसे अगृहीत पुद्गलोंको अनंतबार ग्रहण करके छोड दिया, अनंतबार मिश्रपुद्गलोंको ग्रहण करके छोड दिया। अनंतबार गृहीतपुद्गलोंको ग्रहण करके छोड दिया। तदनंतर उसी जीवद्वारा प्रथम क्षणमें जैसे कर्मद्रव्य ग्रहण किये थे वैसेहि उतनेहि तीव्रमन्दमध्यादि भावसे पुनः ग्रहण किये जाते हैं उस समय कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है ॥ ४०–४३ ॥

जो पुद्गल जीवके नोकर्मरूप और कर्मरूप परिणत होते है उसको पुद्गलपरिवर्तन कहते हैं। जब दोनोंमेंसे कोई एक पूर्ण होता है तब उसे अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं। और जब दोनोंभी पूर्ण होते हैं तब एक पुद्गल परिवर्तन कहते हैं ॥ ४२ ॥

---

१ आ. समयेनाधिकां च ते　२ आ. ये जीवस्य स

लोके सर्वत्र सर्वाणि क्षेत्राणि विविधानि च । जीवोऽवगाहयत्येष यत्र[1] क्षेत्रनिवर्तनम् ॥ ४४
सर्वस्मिन्नपि लोकेऽस्मिन्प्रदेशो नास्ति कश्चन । कर्मणा येन जीवेन भुक्त्वा मुक्तः समन्ततः ॥ ४५
अत एव महात्मानो भग्नाः[2] संसारदुःखतः । तपस्यन्ति परित्यज्य भावांस्तस्य विधायिनः ॥ ४६
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्युगमित्यभिधीयते । तत्र ये सन्ति सर्वेऽपि समयावलिकादयः ॥ ४७
प्रत्येकं तेषु सर्वेषु[3] जायते भुवनत्रये । यत्तदुक्तं हि सूत्रज्ञैः कालादिपरिवर्तनम् ॥ ४८
यद्यप्येवं भवाद्दुःखं[4] कालादिपरिवर्तनात् । सहते हि[5] तथाप्येष विरामं नैव गच्छति ॥ ४९

(क्षेत्रपरिवर्तन ।)– इस त्रैलोक्यमें सर्व आकाशमें अनेक प्रकारके क्षेत्र हैं । उसमें यह जीव अवगाहन करता है वह क्षेत्रपरिवर्तन समझना चाहिये । इस संपूर्ण लोकमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, कि जो कर्मके उदयसे जीवने भोगकर नहीं छोड दिया है । अर्थात् सर्व प्रदेशोंमें यह जीव मरकर उत्पन्न हुआ है । इसलिये जो महात्मा हैं वे संसारदुःखसे भग्न होकर क्षेत्रभ्रमणके भावोंका त्याग कर तपश्चरण करते हैं ॥ ४४–४६ ॥

विशेष स्पष्टीकरण–क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं । एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन और दुसरा पर-क्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्व जघन्य अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश हैं उतनी वार धारण करके पीछे क्रमसे एक एक प्रदेश अधिक अधिककी अवगाहनाओंको धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओंको जितने समयमें धारण कर सके उतने कालसमुदायको एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं ।

कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदी लब्ध्यपर्याप्तक जीवलोकके अष्टमध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके अष्टमध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसही रूपसे उसही स्थानसे दुसरी तीसरी बारभी उत्पन्न हुआ । इसी तरह घनाङ्गुलके असंख्यातमें भागप्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश है उतनी बार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ । और श्वासके अठारहवे भागप्रमाण क्षुद्रआयुको भोग भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेशके अधिक क्रमसे जितने कालमें सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बनालें उतने कालसमुदायको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

(कालपरिवर्तन ।)– दसकोटि कोटि सागरोपम परिणामका उत्सर्पिणी काल है और अवसर्पिणी कालका प्रमाणभी इतनाही है । दोनों कालके प्रमाणको युग कहते हैं । उनमें जो समय, आवलिका, घटिका, मुहूर्त इत्यादिक भेद हैं उन सबमें यह जीव इस त्रैलोक्यमें उत्पन्न होता है । उसको सूत्रके ज्ञाताओंने कालपरिवर्तन कहा है ॥ ४७–४८ ॥

यद्यपि यह जीव कालपरिवर्तनरूप संसारसे दुःख सहता है, तथापि यह जीव विराम नहीं लेता है अर्थात् उसका भ्रमण संतत चालू रहता है ॥ ४९ ॥

१ आ. यत्तत् २ आ. रताः ३ आ. कर्मणा जायते भवी ४ आ. भवी ५ आ. ही

तिर्यग्नारकदेवानां मानवानां गतिं[1] स्वयं । जीवो याति यदावृत्य तद्भवादिविवर्तनम् ॥ ५०
सर्वेषां कर्मणां तावत्प्रकृत्यादिविभेदतः । आत्माशयविवर्तो[2] यस्तद्भावपरिवर्तनम् ॥ ५१

कालपरिवर्तनका स्पष्टीकरण– कोई जीव उत्सर्पिणीके पहिले समयमें प्रथम उत्पन्न हुआ है । इसी तरह दुसरी वार, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, तिसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तिसरी वार उत्पन्न हुआ । इसही क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके वीस कोडा-कोडी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ । तथा इसही प्रकार मरणको प्राप्त हुआ इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक कालपरिवर्तन कहते हैं । (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

(भवपरिवर्तनका वर्णन ।)– जिन कर्मोंसे आवृत होकर-आच्छादित होकर जीव, तिर्यंच, नारकी, देव और मानवपर्यायोंको धारण करके संसारमें घूमता है उसे भवपरिवर्तन कहते हैं ॥ ५० ॥

भवपरिवर्तनका स्पष्टीकरण– कोई जीव दस हजार वर्षोंके जितने समय होते हैं उतनी वार जघन्य दस हजार वर्षकी आयुसे उत्पन्न हुआ । पीछे एक एक समयके अधिक क्रमसे नरक संबंधी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे पूर्ण कर अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी वार जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यंचगतिमें उत्पन्न होकर यहांपरभी नरकगतिकी तरह एक एक समयके अधिक क्रमसे तिर्यंच गतिसम्बंधी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । पीछे तिर्यग्गतिकी तरह मनुष्यगतिको पूर्ण किया । क्योंकि मनुष्यगतिकीभी जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी तथा उत्कृष्ट तीन पल्यकी आयु है । मनुष्यगतिके बाद दस हजार वर्षके जितने समय हैं उतनी वार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे देवगतिमें उत्पन्न होकर पीछे एक एक समयके अधिक क्रमसे इकत्तीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । यद्यपि देवगतिसंबंधी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरकी है तथापि यहांपर इकत्तीस सागरही ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकत्तीस सागरतकही होती है । और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासेही है । क्योंकि सम्यग्दृष्टि संसारमें अर्धपुद्गलपरिवर्तनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नहीं रहता है । इस क्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेमें जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं । तथा इन कालमें जितना परिभ्रमण किया जाय उसको एक भवपरिवर्तन कहते हैं ।

(भावपरिवर्तन)– संपूर्ण कर्मोंके जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-प्रत्ययोंके भेदसे जो आत्माके परिणामोंमें असंख्य प्रकार उत्पन्न होते हैं उनको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥ ५१ ॥

विशेष स्पष्टीकरण– योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिस्थान इन चारोंके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है । योगस्थान–प्रकृति और प्रदेशबन्धको

---

१ आ. गतिष्वयम् २ आ. आत्माश्रितो

पञ्चप्रकारसंसारसागरे सरतोऽपि च । आपत्कल्लोलभग्नस्य जीवस्याशु निमज्जनम् ॥ ५२
श्रीजिनेन्द्रमहाधर्म सद्रत्नत्रयलक्षणम् । मुक्त्वा पोतमिमं तस्मात्तरन्ति प्राणिनः कुतः ? ॥ ५३

कारणभूत आत्माके प्रदेश परिस्पन्दरूप योगके तरतमरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान–जिन कषायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभाग बंध होता हैं, उनको अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं । स्थितिबंधाध्यवसायस्थान–स्थितिबंधको कारणभूत कषाय-परिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिस्थान–बंधरूप कर्मकी जघन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं । इसके परिवर्तनकों दृष्टान्तद्वारा कहते हैं ।

श्रेणीके असंख्यातमें भागप्रमाण योगस्थानोंके हो जानेपर एक अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता हैं। और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हो जानेपर एक कषायाध्यवसाय-स्थान होता है । तथा असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थितिस्थान होता है । इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल-प्रकृति वा उत्तर-प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है । जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोडाकोडी सागरप्रमाण जघन्यस्थितिका बंध होता है। यही यहांपर जघन्यस्थितिस्थान है। अतः इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्यही अनुभागबंधाध्यवसायस्थान जघन्यही कषायाध्यवसाय-स्थान और जघन्यही योगस्थान होते हैं । यहांसेही भावपरिवर्तनका प्रारंभ होता है । इसके आगे श्रेणीके असंख्यातमें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर दूसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है । इसके बाद फिर श्रेणीके असंख्यातवे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर तीसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है। इसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हो जानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर जघन्यस्थितिस्थान होता है । जो क्रम जघन्यस्थितिस्थानमें बताया है वही क्रम एक एक समय अधिक द्वितीयादिस्थिति-स्थानोंमें समझना चाहिये । तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्टतक समस्त-स्थितिस्थानोंके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोंकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थितिस्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। तथा इस परिवर्तनमें जितना काल लगे उसको एक भावपरिवर्तनका काल कहते है । इस प्रकार संक्षेपसे यहां पांच परिवर्तनोंका स्वरूप कहा है । इनका काल उत्तरोत्तर अनंतगुणित हैं ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड भव्यमार्गणा)

इस पांच प्रकारके संसारसमुद्रमें भ्रमण करनेवाले तथा आपदारूप कल्लोलोंसे भग्न हुए इस जीवका शीघ्र मज्जन होता है ॥ ५२ ॥

इस संसारसमुद्रमें निर्दोष रत्नत्रय जिसका लक्षण है ऐसा जो जिनेन्द्रका महाधर्म वही नौका है, इसको छोडकर प्राणी किसकी सहायतासे संसारसमुद्रको तीर जायेंगे ? ॥ ५३ ॥

येऽत्र संसारिणो जीवास्ते द्विधा परिकीर्तिताः । समनस्कामनस्कादिभेदमाश्रित्य कोविदैः ॥ ५४
मनो द्विविधमाख्यातं द्रव्यभावप्रभेदतः । तत्र पुद्गलपाकैककर्मजं द्रव्यमानसम् ॥ ५५
नो इन्द्रियस्य वीर्यस्यावरणोपशमक्षयात् । परात्मनो विशुद्धिर्या तद्भावमन इष्यते ॥ ५६
समनस्का निगद्यन्ते मनसा सहवर्तिनः । अमनस्का अतस्तेषां मनो नास्ति मनागपि ॥ ५७
द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते स्थावरेतरभेदतः । संसारिणः पुनर्द्वेधा तत्कर्मप्रभवा इह ॥ ५८
पृथिवी सलिलं तेजो मारुतश्च वनस्पतिः । पञ्चधा स्थावरा ज्ञेया विचित्रक्रमसंयुताः ॥ ५९
पृथिवी पृथिवीकायः पृथ्वीकायिक इत्यपि । प्रत्येकं त्रिविधाः सर्वे जायन्ते भेदतो ह्यमी ॥ ६०
समाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयोऽपि वा । कायत्वेन न चाप्नोति पृथ्वीं स पृथिवी मतः ॥ ६१

(संसारीके समनस्क और अमनस्क ऐसे दो भेद।)– इस जगतमें जो संसारी जीव हैं उनके समनस्क जीव और अमनस्क जीव ऐसे दो भेद विद्वानोंने कहे हैं। मन द्रव्यमन और भावमन ऐसा दो प्रकारका कहा है। उसमें द्रव्यमन पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है अर्थात् अंगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे वह उत्पन्न होता है। ज्ञानावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म इनका क्षयोपशम होनेसे और अंगोपांगनाम कर्मका उदय होनेसे गुणदोषका विचार करना, स्मरण करना, किसी पदार्थके ऊपर एकाग्रचिन्तनयुक्त होना इत्यादि कार्यके तरफ जब आत्मा अभिमुख होता है, तब उसके ऊपर उपकार करनेवाले जो पुद्गल मनरूपसे परिणत होते हैं उनको द्रव्यमन कहते हैं। भावमन–नो इंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो आत्मामें विशुद्धि प्रगट होती है उसे भावमन कहते हैं ॥ ५४–५६ ॥

जो जीव मनसे सहित हैं वे समनस्क कहे जाते हैं और जो जीव अमनस्क होते हैं उनको मन बिलकुल उत्पन्नही नहीं होता। मनसहित जीवको संज्ञी कहते हैं और जिनको मन नहीं है उनको असंज्ञी कहते हैं ॥ ५७ ॥

अमनस्क जीवोंमेंभी स्थावर और त्रस ऐसे दो भेद हैं। एकेन्द्रिय संसारी जीव स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं और जिनको त्रसनाम कर्मका उदय होता है वे जीव त्रस कहे जाते हैं। वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होते हैं ॥ ५८ ॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे स्थावर जीव पांच प्रकारके हैं। ये सब मनरहित अनेक भेदयुक्त और क्रमयुक्त हैं। इनको एक स्पर्शनेन्द्रियही होता है ॥ ५९ ॥

पृथ्वी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक ऐसे तीन भेद पृथ्वीके होते हैं। इसी प्रकारसे सलिल, सलिलकाय और सलिलकायिक; तेज, तेजस्काय और तेजस्कायिक; मारुत, मारुतकाय, मारुतकायिक; वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक ऐसे पांच प्रकारके स्थावरोंमें जल, अग्नि, वायु और वनस्पति प्रत्येकके तीन तीन भेद होते हैं, जो कि ऊपर बताये है ॥ ६० ॥

जिसमें पृथ्वीनाम कर्मका उदय हुआ है परंतु जिसने पृथिवीको शरीररूप धारण नहीं किया है उसको पृथ्वी कहते हैं ॥ ६१ ॥

पृथ्वीकायिकजीवेन यच्छरीरं विवर्जितम् । पृथ्वीकायस्तदेव स्यान्मृतमानुषकायवत् ॥ ६२
पृथ्वीकायः स यस्यास्ति स पृथ्वीकायिको मतः । इति सर्वेऽपि गीयन्ते परेऽप्यप्कायिकादयः ॥ ६३
सूक्ष्मबादरभेदेन पर्याप्तेतरतोऽपि वा । तथा साधरणत्वाच्च साधारणतया पुनः ॥ ६४
सर्वेऽप्यमी प्रजायन्ते स्थावराः स्थितिशालिनः । प्रत्येकं षट्प्रकाराश्च विचित्राकारसंयुताः ॥ ६५
तत्र त्रसाश्च विज्ञेयाः द्वीन्द्रियादय इत्यमी । सर्वेऽपि प्राणिनः प्राणैः सहिता हि भवन्ति च ॥ ६६
इन्द्रियायुर्मनोवाचा निश्वासोच्छ्वासविग्रहाः । दशप्राणा भवन्त्येते प्राणिप्राणित्वहेतवः ॥ ६७
चतुःप्राणैश्च जीवन्ति शरीरानायुरिन्द्रियैः । सर्वेऽप्येकेन्द्रिया जीवा बहुधा भेदशालिनः ॥ ६८

पृथ्वीकायिक जीवने जो शरीर छोड दिया उस शरीरको पृथिवीकाय कहते है । जैसे मृत मनुष्यका शरीर । वैसे पृथ्वीजीव जिसमेंसे निकल गया उसे पृथ्वीकाय कहते हैं ॥ ६२ ॥

पृथ्वी जिसका शरीर है वह जीव पृथिवीकायिक है । जल जिसका शरीर है वह जलकायिक है । इत्यादि ॥ ६३ ॥]

(जीवसमासकी अपेक्षासे स्थावरोंके भेद)– ये पृथिव्यादि-स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर ऐसे भेदसे दो दो प्रकारके होते है । पुनः उनके प्रत्येक और साधारण ऐसे दो दो भेद होते हैं । ये सब स्थावर स्थितिशाली हैं । इनके प्रत्येकके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद होनेसे छह प्रकार होते हैं और वे सब विचित्राकारवाले हैं । अर्थात् सूक्ष्मपर्याप्त पृथ्वी, बादरपर्याप्त पृथ्वी, सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वी, बादर अपर्याप्त पृथ्वी । ऐसेही जलादिके चार चार भेद होते हैं । वनस्पतिके साधारण और प्रत्येक मिलकर छह भेद होते हैं ॥ ६४–६५ ॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं । जिनको स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय हैं, ऐसे शंखादि जीवोंको द्वीन्द्रिय कहते हैं । स्पर्शन, रसना और नाक जिनके होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव हैं । जैसे चींटी आदिक जीव है । स्पर्शन, रसना, नाक और आंखे जिनको होती हैं ऐसे भ्रमर पतंगादिक जीव चतुरिन्द्रिय हैं । स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे तथा कान ऐसी पांच इंद्रियां जिनको हैं वे जीव पंचेन्द्रिय हैं जैसे मनुष्य, गौ, भैंस, कौवा, सर्प, देव, नारकी । इन सबको अर्थात् त्रस और स्थावर जीवोंको प्राणी कहते हैं; क्योंकि ये यथायोग्य प्राणोंसे सहित होते हैं । प्राणोंके दस भेद हैं, और वे प्राणित्वके हेतु हैं, अर्थात् उनसे प्राणी जीते हैं । वे प्राण इस प्रकार हैं–पांच इंद्रियां, आयु, मन, वचन, शरीर और श्वासोच्छ्वास ऐसे दस प्राण हैं ॥ ६६–६७ ॥

(एकेन्द्रियादि जीवोंके प्राणोंका वर्णन ।)– एकेन्द्रिय जीव चार प्राणोंसे जीते हैं । शरीरप्राण, श्वासोच्छ्वास, आयु और स्पर्शनेन्द्रिय ऐसे चार प्राण उनको होते हैं । सर्व एकेन्द्रिय जीव अनेक भेदोंसे युक्त हैं । जैसे पृथ्वीके मृत्तिका, वालुका, शर्करादिक छब्बीस भेद हैं । जलके हिमबिन्दु, शुद्धजल, घनजल आदि भेद हैं । ज्वाला, अंगार आदि अग्निके भेद हैं । महावात, घनवात, तनुवात, मण्डली वायु आदिक वायुके भेद हैं । वनस्पतिके मूल, अग्र, पर्व, बीजरुह आदिक भेद हैं ॥ ६८ ॥

वाग्रसनेन्द्रियाभ्यां च चत्वारोऽप्यधिकाः पुनः । द्वीन्द्रियेषु प्रजायन्ते शंखाद्याश्च प्रमाणतः ॥ ६९
सप्तैव त्रीन्द्रियेष्वेते घ्राणाधिकतया मताः । चक्षुषा सहिताश्चाष्टौ त एव चतुरिन्द्रिये ॥ ७०
पञ्चेन्द्रियस्य जीवस्य तिरश्चोऽसञ्ज्ञिनश्च ते । नव प्राणाः प्रजायन्ते श्रोत्राधिकतया सदा ॥७१
मनोऽधिकतया तेऽपि संज्ञिनो दश सम्मताः । प्राणाः प्राणभृतां प्रोक्ता दशैते संविभागतः ॥७२
इन्द्रियाणि तु[1] पंचैव प्रोक्तानि जिननायकैः । स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिति क्रमात् ॥ ७३
तानि द्वेधा भवन्त्येव द्रव्यभावप्रभेदतः । उपकारणनिर्वृत्ती द्रव्येन्द्रियमपि द्विधा ॥ ७४
यावन्निर्वर्त्यते तावत्कर्मणा सा द्विधा पुनः । बाह्याभ्यन्तरभेदेन निर्वृत्तिः कथ्यते बुधैः ॥ ७५
उत्सेधस्याङ्गुलासङ्ख्यविभागाः परमात्मनः । इन्द्रियत्वेन निर्वृत्ता निर्वृत्तिः सान्तरा मता ॥ ७६

द्वीन्द्रिय जीवको छह प्राण होते हैं–अर्थात् शरीरप्राण, श्वासोच्छ्वास, आयु, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और वचन ऐसे छह प्राण होते हैं । शंख आदिको द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ॥ ६९ ॥

त्रीन्द्रियोंमें उपर्युक्त छह प्राण होते हैं तथा नाक अर्थात् घ्राणेन्द्रिय यह सातवां प्राण अधिक होता है। तथा चतुरिन्द्रिय जीवमें उपर्युक्त सात प्राणोंसे अतिरिक्त आँखेंभी होती हैं अर्थात् आठ प्राण होते हैं ॥ ७० ॥

पंचेन्द्रिय असंज्ञी तिर्यंच जीवको उपर्युक्त आठ प्राणोंके साथ श्रोत्रप्राण अर्थात् कान प्राण मिलकर नौ प्राण होते हैं । तथा नौ प्राणोंसे सहित मनःप्राण जिनको होता हैं वे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव दस प्राणवाले होते हैं। ऐसे विभागके द्वारा दस प्राणोंका विवेचन किया है॥ ७१-७२॥

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय ऐसी पांच इन्द्रियाँ क्रमसे जिनेश्वरने कही हैं ॥ ७३ ॥

(द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियोंका वर्णन ।)– वे पांच इन्द्रिया द्रव्येन्द्रियरूप और भावेन्द्रियरूप हैं । द्रव्येन्द्रियके उपकरण और निर्वृत्ति ऐसे दो भेद हैं । कर्मके द्वारा जो इन्द्रियोंकी रचना होती है वह निर्वृत्ति कही जाती है । अर्थात् रचनाको निर्वृत्ति कहते हैं। उसकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति ऐसे दो भेद हैं। अर्थात् इन्द्रियोंकी अन्दरकी रचना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है और इन्द्रियोंकी बाहरकी रचनाको बाह्य निर्वृत्ति कहना चाहिये ॥ ७४–७५ ॥

उत्सेधाङ्गुलके असंख्येय भागसे प्रमित जो क्षयोपशमयुक्त आत्मप्रदेश हैं जो कि प्रतिनियत आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियोंके आकारके हुए हैं उनको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं । उन आत्मप्रदेशोंके ऊपर इन्द्रिय नामका धारक ऐसा जो पुद्गलसमूह नामकर्मके द्वारा रचा जाता है, जो कि संपूर्ण आश्चर्यका कारण है उसे विद्वान् बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । जैसे नेत्रमें मसूरके आकार की

---

१ आ. °यत्र

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशभाक् । पुद्गलानां समूहो यो जायते नामकर्मणा ॥ ७७
निर्वृत्ति बाह्यरूपां तां समस्ताश्चर्यकारिणीम् । जानन्ति जनविख्याता ज्ञानध्यानधना जिनाः ॥७८
निर्वृत्तेः क्रियते येनोपकारस्तन्निगद्यते । द्वेधोपकरणं[1] प्राज्ञैर्बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ॥ ७९
कृष्णशुक्लद्वयोपेतं गोलकं चान्तरं मतम् । बाह्यं बाह्यप्रकाराक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादिकम् ॥ ८०
लब्ध्युपयोगरूपं च भावेन्द्रियमिदं पुनः । सर्वभावविभावज्ञा भावयन्ति भवातिगाः ॥ ८१
क्षयोपशमभावो यो ज्ञानावरणकर्मणः लब्धिर्लब्धमहातत्त्वैर्भणिता भयवर्जितैः ॥ ८२
इन्द्रियाणां फलं यच्च परिच्छित्त्यात्मकं महत् । उपयोगः स विज्ञेयः सर्वसत्त्वसुखावहः ॥ ८३
इन्द्रियत्वं कथं तस्य घटनामुपढौकते । इन्द्रियाणां फलत्वेनोपयोगस्य समन्ततः ॥ ८४

गोल आत्मप्रदेशोंकी जो रचना होती है उसे अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं । ज्ञान और ध्यानही धन जिनका है ऐसे जनविख्यात जिनेश्वरोंने इस प्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिका स्वरूप कहा है । मसूराकार आदि आत्मप्रदेशोंपर नामकर्मसे पुद्गलोंकी जो प्रतिनियत आकारकी अवस्था उत्पन्न होती है, जो कि सूक्ष्म है, और जिसको इन्द्रिय कहते हैं उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहना चाहिये ॥ ७६-७७-७८ ॥

जिससे निर्वृत्तिके ऊपर उपकार किया जाता है-निर्वृत्तिका संरक्षण तथा सहाय किया जाता है उसे उपकरण कहते हैं । सुज्ञोंने उसके बाह्योपकरण और अभ्यन्तरोपकरण ऐसे दो भेद कहे हैं । जैसे आँखमें कृष्ण और शुक्लतासे युक्त जो अन्दरका गोलभाग है उसे अभ्यन्तरोपकरण कहना चाहिये । तथा बाह्य उपकरण नेत्रके बाह्यमें जो नीचे और ऊपरके विभाग तथा पक्ष्मद्वय आदिक हैं वे बाह्य उपकरण हैं । नेत्रके समान अन्य इंद्रियोंमेंभी निर्वृत्ति और उपकरण समझ लेना चाहिये ॥ ७९-८० ॥

(भावेन्द्रियका वर्णन ।)- जो संसाररहित हैं तथा सर्व पदार्थोंके स्वभाव और विभावको जानते हैं ऐसे जिनेश्वर भावेन्द्रियको लब्धिरूप और उपयोगरूप कहते हैं । स्पर्शेन्द्रिय ज्ञानावरण, रसनेन्द्रियज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमको जीवादि महातत्त्वोंके ज्ञाता और भयरहित ऐसे जिनेश्वरोंने 'लब्धि' कहा है । ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे आत्मा द्रव्येन्द्रियरूप रचना करनेकेलिये उद्युक्त होता है । यदि वह क्षयोपशम नहीं होगा तो द्रव्येन्द्रिय रचना, जो कि नेत्र, कान आदिकी दर्शक है, वह नहीं होगी । वस्तुको जाननेरूप जो इन्द्रियोंका महत्वयुक्त फल है उसे उपयोग कहते हैं । यह उपयोग सर्व प्राणियोंको सुखावह है ; क्योंकि इससे सर्व प्राणी हित प्राप्त करते हैं और अहितसे निवृत्त होते हैं ॥ ८१-८२-८३ ॥

उपयोग सर्व प्रकारसे इन्द्रियोंका फल हैं । इसलिये जो फलरूप होता है उसे इन्द्रिय कहना योग्य नहीं, उपयोगमें इन्द्रियपना घटित नहीं होता, इस शंकाका आचार्यने ऐसा उत्तर

---

[1] आ. द्विधा

नायं दोषो भवेद्यस्मात्कार्यकारणदर्शनात् । घटाकारपरिज्ञानं यथा घट इति स्फुटम् ॥ ८५
स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दश्च पञ्चधा । तेषां विषय एवायं पदार्थोऽनन्तधर्मणि ॥ ८६
ये पृथिव्यादयः कायाः[1] स्थावराः कथिताः पुरा । सर्वेऽप्येकेन्द्रिया जीवाश्चतुःप्राणा निरन्तराः ॥८७
अक्षः[2] कृमिजलौकाद्या विविधाकारधारिणः । द्वीन्द्रिया गदिता दक्षैर्भूरिशो भूरिपापिनः ॥ ८८
यूका मत्कुणपूर्वा ये वृश्चिकादय इत्यपि[3] । अनेकाकारसंयुक्तास्त्रिहृषीकाः शरीरिणः ॥ ८९
मक्षिका भ्रमरा दंशा बहुधा दुःखभागिनः । पापवर्गभुजो[4] दीना बोद्धव्याश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९०

दिया है—यह दोष नहीं है। कारणका जो धर्म है वह कार्यमें देखा जाता है जैसे घटाकार परिणत-ज्ञानको घट कहते हैं। अर्थात् ज्ञानके प्रति घट निमित्त कारण है और ज्ञान-कार्य इसलिये कारण धर्म घटत्वको कार्यरूप ज्ञानमें आरोपित कर ज्ञानकोभी घट कहते हैं। क्योंकि घटको ज्ञानने जाना है। ग्राह्यको जाननेसे ग्राहककोभी उपचारसे ग्राह्य कहते हैं। इसमें स्वार्थकीभी मुख्यता है अर्थात् इंद्रिय शब्दका जो अर्थ है वह उपयोगमें मुख्यतासे है। इंद्रको—आत्माको पहचाननेका जो लिंग चिन्ह उसको इंद्रिय कहते हैं। ज्ञानसे आत्मा पहचाना जाता है; इसलिये ज्ञान—उपयोग यहां मुख्य स्वार्थ है। इसलिये उपयोगको इंद्रिय कहना योग्यही है। उपयोग जीवका लक्षण है। 'उपयोगो लक्षणम्' ऐसा सूत्रकारका वचनभी है ॥ ८४—८५ ॥

पदार्थ अनंत धर्मात्मक है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ऐसे पांच इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ ८६ ॥

पूर्वमें पृथिवीकायादिक पांच प्रकारके स्थावर जीव कहे हैं। वे सब एकेन्द्रिय जीव हैं अर्थात् उनको एक स्पर्शनेंन्द्रिय है। तथा स्पर्शनेंद्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास और कायबल ऐसे चार प्राण निरंतर रहते हैं ॥ ८७ ॥

कौडी, कृमी, जौंक आदिक प्राणी अनेक आकार धारण करनेवाले असंख्यात द्वीन्द्रिय जीव हैं वे अतिशय पापयुक्त हैं। इनको स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ऐसी दो इन्द्रिया होती हैं ॥८८॥

जूं, खटमल, बिच्छु आदिक अनेक आकारके धारक त्रीन्द्रिय प्राणी हैं। उनके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ऐसे तीन इंद्रिया होती हैं ॥ ८९ ॥

मक्खी, भौंरा, दंश, मशक ये अनेक प्रकारके दुःख भोगनेवाले जीव हैं। पापसमूहको अनुभवनेवाले हैं। इनको चतुरिन्द्रिय समझना चाहिये। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय ऐसी चार इन्द्रियां इनको होती हैं ॥ ९० ॥

---

१ आ. सर्वे २ आ. अक्ष ३ आ. इत्यमी ४ आ. कर्म

शेषास्तिर्यङ्मनुष्याद्याः सुखदुःखैकभागिनः । शुभाशुभाशयाः[1] सर्वे सत्यं पञ्चेन्द्रिया मताः ॥९१
एकेन्द्रियेषु चत्वारः षट्पुनर्द्वीन्द्रियादिषु । पञ्चेन्द्रियेषु चत्वारः समासाः स्युश्चतुर्दश ॥ ९२
येऽपि[2] पञ्चेन्द्रिया जीवास्तेऽपि द्वेधा भवन्त्यमी । संज्ञ्यसंज्ञिविभेदेन पूर्णापूर्णतयाथवा ॥ ९३
कृत्याकृत्यविधौ ये च प्रवर्तन्ते तया[3] पुनः । शिक्षोपदेशनालापैस्तत्र[4] संज्ञितया मताः ॥ ९४
विपरीताश्च ते तेभ्यो भूरिपापभराकुलाः । असञ्ज्ञिनश्च ते सर्वे मनसा वर्जिता यतः ॥ ९५

इन जीवोंके व्यतिरिक्त तिर्यंच मनुष्यादिक शेष जीव सुखदुःखके अनुभव करनेवाले होते हैं । इनके परिणाम शुभ और अशुभ होते हैं और इनके पांच इन्द्रिया होती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ऐसी पांच इन्द्रिया इन जीवोंको होती हैं ॥९१॥

जीवसमासके चौदह भेद हैं । जिनकेद्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जाय उन धर्मोंको अनेक पदर्थोंका संग्रह करनेवाले होनेसे जीवसमास कहते हैं ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ– उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं, कि जिनकेद्वारा अनेक जीव अथवा जीवोंकी अनेक जातियोंका संग्रह किया जा सके । वे चौदह भेद इस प्रकार हैं– एकेन्द्रियोंमें चार जीवसमास, द्वीन्द्रियादिकोंमें छह जीवसमास और पंचेन्द्रियोंमें चार जीवसमास हैं । ये सब मिलकर जीवसमासके चौदह भेद हैं । एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त और एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त । द्वीन्द्रिय पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त । त्रीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त । चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याय । संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त ऐसे चौदह जीवसमास हैं ॥ ९२ ॥

(पंचेन्द्रियके संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो भेद।)– जो भी पंचेन्द्रिय जीव हैं, वे सभी संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकारके हैं तथा उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद हैं ॥ ९३ ॥

जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलापकेद्वारा यह कार्य करने योग्य है और यह कार्य करने योग्य नहीं है अर्थात् इसके करनेसे हित होगा और इसके करनेसे अहित होगा ऐसा विचार कर प्रवृत्ति करते हैं वे संज्ञी माने जाते हैं । तात्पर्य– हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसकेद्वारा किया जाता है उसको शिक्षा कहते हैं । इच्छापूर्वक हाथपैरके चलानेको क्रिया कहते हैं । वचन अथवा चाबुक आदिकेद्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं ॥

इस संज्ञीके जो विपरीत हैं उन्हें असंज्ञी कहना चाहिये । वे अतिशय पापके बोझसे पीडित हुए हैं; क्योंकि वे मनसे वर्जित हुए हैं ॥ ९४–९५ ॥

---

१ आ. वशाः　२ आ. नु. आ.　३ सदा　४ आ. स्तेऽत्र

आहारो विग्रहश्चेति मनोभाषेन्द्रियाणि च । निश्वासोच्छ्वास इत्येवं पर्याप्तय उदीरिताः ॥९६
अनिर्वातितपर्याप्ति प्रपन्ना ये शरीरिणः । अपूर्णास्तेऽत्र विज्ञेयाः पूर्णास्तदितरे पुनः ॥ ९७
त्रसस्थावरभेदेन जीवग्रामो निवेदितः । द्विप्रकारः प्रकारज्ञैर्विविधागमपारगैः ॥ ९८

(छह पर्याप्तियां ।)- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, मनःपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, इंद्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ऐसी छह पर्याप्तियां कही हैं । जो शरीरपर्याप्तिको प्राप्त नहीं हुए हैं वे अपूर्ण अर्थात् अपर्याप्त जीव हैं । और जो शरीरपर्याप्तिको पूर्ण कर चुके हैं वे पूर्ण अर्थात् पर्याप्त हैं ॥ ९६-९७ ॥

विशेष स्पष्टीकरण- पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त ऐसे जीवके तीन भेद हैं । जिनको पर्याप्ति नामक कर्मका उदय है ऐसे जीव जिनको जितनी पर्याप्तियां प्राप्त होनेकी योग्यता है, उतनी पर्याप्तियां उनको यदि प्राप्त हो गई हो, तो उनको पर्याप्त कहना चाहिये । पर्याप्त जीवके दो भेद हैं, एक पर्याप्त और दुसरे निर्वृत्यपर्याप्त । पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे जबतक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है तबतक उसको पर्याप्त नहीं कहते हैं किन्तु निर्वृत्य-पर्याप्त कहते हैं । अर्थात् इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन पर्याप्तियोंके पूर्ण न होनेपरभी यदि शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो गई तो उस जीवको पर्याप्त कहना चाहिये किन्तु उससे पूर्व उसको निर्वृत्यपर्याप्त कहना चाहिये । अपर्याप्त नामक कर्मके उदयसे जीव लब्ध्यपर्याप्त होता है, उसको जितनी पर्याप्तियां प्राप्त होनी चाहिये उतनी कभीभी प्राप्त नहीं होती और वह शरीरपर्याप्तिकी पूर्णता होनेके पूर्वही भवान्तरमें चला जाता है । ऐसा पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकका स्वरूप कहा है ॥

यहां पर्याप्तियोंका स्वरूप कहते है- पूर्वशरीरको छोडकर नवीन शरीरको कारणभूत जिस नोकर्म वर्गणाको जीव ग्रहण करता है, उसको खलरस भाग रूप परिणमानेकेलिये जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको आहारपर्याप्ति कहते हैं ।

खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूप और रसभागको रक्त आदि द्रवभागरूप परिणत करनेकी जीवकी शक्ति पूर्ण होना वह शरीरपर्याप्ति है ।

उन नोकर्मवर्गणाके स्कंधोंमेंसे कुछ वर्गणाओंको अपनी अपनी इंद्रियस्थानपर द्रव्येन्द्रिय आकाररूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णता होना इंद्रियपर्याप्ति है ।

इसही प्रकार कुछ स्कंधोंको श्वासोच्छ्वासरूप परिणत करनेकी जीवकी शक्तिकी पूर्णता होना आनपान-श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं ।

वचनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको (भाषावर्गणाको) वचनरूप परिणत करनेकी आत्मशक्तिकी पूर्णता होना भाषा पर्याप्ति है ।

भव्याभव्यविभेदेन[1] जीवराशिर्द्विधा भवेत् । पारिणामिकभावौ हि तावेतावस्य सम्मतौ ॥ ९९
पारिणामिकता तावदनयोर्ज्ञस्वभावतः । कर्मणा[2] जनितो भावः पुनरौदयिको मतः ॥ १००
सद्रत्नत्रयभावेन जीवो योऽत्र भविष्यति । स भव्य इति सूत्रज्ञैर्ज्ञापितो ज्ञानशालिभिः ॥ १०१
सम्यग्दर्शनसंज्ञानसच्चरित्रस्वभावभाक् । न भविष्यति चाभव्योऽनन्तसंसारवानयम् ॥ १०२

द्रव्यमनरूप होनेके योग्य मनोवर्गणाको द्रव्यमनके आकाररूप परिणत करनेकी जीव-शक्तिकी पूर्णता होना मनःपर्याप्ति है ।

एकेन्द्रिय जीवको आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इंद्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ऐसी चार पर्याप्तियाँ होती हैं । द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रियतक पूर्वकी चार और भाषा ऐसी पांच पर्याप्तियाँ होती हैं । तथा संज्ञी पर्याप्तकको पूर्व पांच पर्याप्तियोंके साथ मनःपर्याप्ति प्राप्त होती हैं अर्थात् छहों पर्याप्तियाँ संज्ञीको होती हैं ॥

विविध आगमोंके पारगामी और अनेक जीवप्रकारोंको जाननेवाले आचार्योंने त्रस और स्थावर भेदसे दो प्रकारके जीव कहे हैं ॥ ९८ ॥

(भव्य और अभव्यका वर्णन ।)– भव्य और अभव्यके भेदसे जीवराशि दो प्रकारकी है । इस जीवराशिके ये दो भेद परिणामिक भाववाले हैं । जिस भावको द्रव्यका निजस्वरूपही कारण है अर्थात् द्रव्यका अपने स्वरूपमें रहना पारिणामिक भाव है । इस भावकी द्रव्यमें अनादि निधनता है अर्थात् यह भाव कर्मोंका उपशम, उदय, क्षय और क्षयोपशम होकर उत्पन्न नहीं होता है, यह भाव वस्तुका निजस्वरूप है । जगत्में कोई जीव भव्यही है और कोई जीव अभव्यही हैं । ऐसा स्वभाव तर्कके अगोचर है । इसमें तर्क करना व्यर्थ है ॥ ९९ ॥

चैतन्यस्वभाव जैसा पारिणामिक है, उसमें कर्मोदयादि कारण नहीं है, वैसा भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव पारिणामिक है । जो भाव कर्मसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं ॥ १०० ॥

जीवराशिमेंसे जो जीव उत्तम निर्दोष रत्नत्रयभाव इस संसारमें धारण करेगा वह भव्य है, ऐसा ज्ञानवान सूत्र जाननेवाले उमास्वामी आदि आचार्योंने कहा है ॥ १०१ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्चारित्र ऐसा रत्नत्रय स्वभाव जो जीव नहीं धारण करता–रत्नत्रयरूप स्वभावको जो नहीं धारण करेगा वह अभव्य है, और वह अनन्तसंसारवानही होता है ॥ १०२ ॥

---

१ आ. त्व २ कर्मणो

नामतो द्रव्यतो वापि स्थापनायाश्च भावतः । चतुर्धा जायते न्यासो जीवतत्त्वस्य तत्त्वतः ॥१०३
अजीवनगुणोपेतं यत्किञ्चिद्वस्तु विद्यते । तत्रापि जीवनाम्ना स्यान्नामजीवो विभावितः ॥ १०४
काष्ठपुस्तसुचित्रादिरूपेणासौ[1] प्रकल्पितः । स एवायमिति व्यक्तं स्थापनाजीव इष्यते ॥ १०५
जीवनादिगुणोपेतं यद्द्रव्यं पारमार्थिकम् । यस्तदात्मा भवेन्नित्यं द्रव्यजीवः स सम्मतः ॥ १०६
वर्तमानस्वपर्यायस्थितिमानेष कथ्यते । भावजीव इति प्राज्ञैः प्रदिष्टाशेषदर्शनैः ॥ १०७

विशेष स्पष्टीकरण– कितनेही भव्य ऐसे हैं, कि जो मुक्तिप्राप्तिके योग्य हैं परन्तु कभी मुक्त न होंगे । जैसे वन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती स्त्रीमें पुत्र प्राप्त होनेकी योग्यता है परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न न होगा । कोई भव्य ऐसे हैं, कि जिनको नियमसे मुक्ति प्राप्त होगी जैसे वंध्यात्वदोषसे रहित स्त्रीको निमित्त मिलानेपर पुत्रोत्पत्ति होगी । इन दोनों स्वभावोंसे जो रहित है उनको अभव्य कहते हैं जैसे वन्ध्या स्त्रीको निमित्त मिलनेपरभी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

(नामादि निक्षेपोंसे जीवके चार भेद हैं ।)– नामसे, स्थापनासे, द्रव्यसे और भावसे जीवतत्त्वका यथार्थतया चार प्रकारका न्यास होता है । जीवका चार प्रकारका लोकव्यवहार होता है ॥ १०३ ॥

(नामजीव ।)– जिसमें कुछभी जीवन क्रिया नहीं है ऐसी जो कोईभी वस्तु है, उसमेंभी जीव ऐसी संज्ञासे व्यवहार करना वह नामजीव है ।

(स्थापना जीव)– काष्ठ, पुस्त, धातु आदिकमें चित्रादिरूपमे जीवको कल्पित करके वही यह है ऐसी जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनाजीव कहते हैं ॥ १०५ ॥

(द्रव्यजीव और भावजीव)– जीवन आदिक गुणोंसे जो द्रव्य युक्त है, वह परमार्थसे द्रव्यजीव है और इस संसारमें सदा उसी स्वरूपमें वह दिखता है । यहां संक्षेपसे उसका स्वरूप कहा है । जीवनपर्याय, मनुष्यजीवनपर्यायसे परिणत जीवको भावजीव कहते हैं । सामान्यकी अपेक्षासे जीवनसामान्य हमेशाही विद्यमान है वह जीवन कभी है और कभी नहीं है ऐसा नहीं । इसलिये विशेषकी अपेक्षासे गत्यन्तरमें जीव स्थित है, वह मनुष्यभावप्राप्तिके सम्मुख वा पशु आदि भवकी प्राप्तिके सम्मुख जब होता है तब भविष्यत्की अपेक्षा करके वर्तमानकालमें उसे द्रव्यजीव कहते हैं और भावजीव हमेशाही जीवनक्रिया होनेसे माना जाता है ॥ १०६ ॥

संपूर्ण दर्शनोंका स्वरूप कहनेवाले विद्वानोंने वर्तमानकालमें जो अपनी जिस पर्यायको धारण करता है उसे उस मनुष्यादि पर्यायवाला कहना भावजीव है ॥१०७॥

१ आ. पत्र

विग्रहग्रहणायास्य प्रवृत्तौ गतिकारणम् । तत्कार्मणं शरीरं स्यात्सर्वेषां बीजमादिमम् ॥ १०८
योगो वा वाङ्मनःकायसद्व्यापारैकलक्षणः । तद्गतौ कारणत्वेन निश्चिन्वन्ति विपश्चितः ॥१०९
जीवानां पुद्गलानां च लोकाकाशैकवर्तिनाम् । अनुश्रेणिगतिर्ज्ञेया गतिज्ञानं जिघृक्षुभिः ॥ ११०
एवं चेद्भास्करादीनां कथं विश्रेणिका गतिः । नैष दोषः क्वचिन्मृत्योः कालदेशाद्यपेक्षणात् ॥१११
गतिर्मुक्तस्य जीवस्य कौटिल्येन विवर्जिता । कारणाभावतः कार्यं किं क्वापि व्यवतिष्ठते ॥ ११२

(कार्मणशरीर) – पूर्वशरीर छोडकर जब आत्मा उत्तरशरीर ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्ति करता है तब उसको भवान्तरकेलिये गति करनेमें जो कारण होता है, उसे आचार्य कार्मणशरीर कहते हैं । यह शरीर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरकी उत्पत्तिमें मूल कारण है । तथा यह सब शरीरोंमें पहिला है । इसके न होनेपर सर्व शरीरोंकी उत्पत्ति नही होगी, इसके होनेसेही औदारिकादि शरीरोंकी प्राप्ति होती है ॥ १०८ ॥

(जीवकी प्रवृत्तिमें योग कारण है ।)– वचन, मन और शरीरकी जो हालचाल होती है उसे योग कहते हैं । यही योगका लक्षण है । जीवकी एकस्थानसे दूसरे स्थानमें जो गति होती है, उसमें विद्वान लोग योगको कारणरूपतासे निश्चित करते हैं ॥ १०९ ॥

(अनुश्रेणि गतिका स्वरूप ।)– लोकाकाशमें रहनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति अनुश्रेणि होती है ऐसा गतिज्ञानको ग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवालोंको जानना चाहिये । शंका– जीव और पुद्गलोंकी यदि आकाशप्रदेशोंको अनुसरण करके गति होती है, तो सूर्य, चन्द्र विद्याधरादिकोंकी विश्रेणि गति क्यों होती है ? अर्थात् तिरछी और विदिशा आदिमें क्यों होती है ? आचार्य कहते हैं कि यह दोष नहीं हैं । यहां मृत्युके समयमें कालदेशादिकी अपेक्षासे अनुश्रेणि गति जीव पुद्गलोंकी कही है । जीव जब मरते हैं, तब भवान्तरमें जाते समय उनकी अनुश्रेणि गति होती है । अर्थात् नीचेसे – अधोलोकसे सीधे ऊपर ऊर्ध्वलोकमें, ऊपरसे सीधे नीचे, पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणमें ऐसी गति होती है और उसको अनुश्रेणि गति कहते हैं । यह कालकी अपेक्षा जीवोंकी भवान्तर गति कही है । मुक्तोंकी उर्ध्वगमनकालमें नियमसे अनुश्रेणि गतिही होती है । पुद्गलोंको जो लोकके अन्ततक ले जानेवाली गति होती है वहभी अनुश्रेणिही होती है । इससे भिन्न कालमें जो गति होती है, वह अनेक प्रकारकी होती है ॥ ११०–१११ ॥

(मुक्तजीवकी गतिका स्वरूप ।)– मुक्तजीवकी गति टेढीमेढी न होकर सीधीही होती है । टेढीमेढी गति होनेका जो कारण होता है वह उनकी गतिमें नहीं होनेसे वह सीधी होती है । कार्मणशरीर गतिको - भवान्तरकी गतिको ले जाता था वह अब नहीं रहा अर्थात् कारणके अभावमें क्या कहां कुछ कार्य ठहर सकता है ? अपि तु नहीं ॥ ११२ ॥

प्राक्चतुर्भ्यो भवत्येषा जीवस्येह सविग्रहात्[1]। गतिः संसारिणः सत्यं विग्रहाय प्रवर्तिता[2]॥ ११३
निष्कुटक्षेत्रमुत्पित्सोः समुद्घातान्प्रकुर्वतः। तथा गतिश्चतुर्थेऽस्य समयेऽविग्रहा हि सा॥ ११४
एकं वा समयं जन्तुर्द्वौ वा त्रीन्वा विवर्जितः। आहारेण प्रवृत्तोऽसौ देहान्तरमनन्तरम्॥ ११५
नवमूर्त्यन्तरं तस्य मूर्च्छनातः प्रजायते। गर्भादथोपपादाद्वा विचित्रं चात्र[3] कारणम्॥ ११६
सचित्ताचित्तशीतोष्णाः संवृता विवृतास्तथा[4]। मिश्राश्च योनयो ज्ञेया नवेति भविनामिह॥११७

(विग्रहगतिका काल।)– चार समयके पूर्वमें संसारी जीवकी गति विग्रहसहित होती हैं अर्थात् मोडेवाली होती है। और वह विग्रहके–शरीरके लिये होती है। निष्कुट क्षेत्रमें जो जीव उत्पन्न होनेवाला है उसकी गति निष्कुटक्षेत्रतक सरल आकाशप्रदेश नहीं होनेसे इषुके बाणके समान सरलगति न होनेसे उस क्षेत्रको लेजानेकेलिये तीन मोडेकी गतिको प्रारंभ करता है। चौथे समयमें वह मोडा रहित सरल गमन करता है। इसके ऊपर चार मोडीवाली, पांच मोडीवाली गति नहीं होती है, क्योंकि इतने मोडे लेनेके लिये क्षेत्रही नहीं है॥ ११३–११४॥

एक समय, दो समय और तीन समयमें यह प्राणी तीन शरीर-औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरोंको और आहारादि छह पर्याप्तियोंको ग्रहण करने योग्य ऐसा आहार ग्रहण नहीं करता। और चौथे समयमें देहकी रचनाकेलिये आहारक होता है अर्थात् शरीर निर्माणयोग्य पुद्गलवर्गणाओंको ग्रहण करता है॥ ११५॥

(जन्मके तीन प्रकार।)– जीवका शरीर मूर्च्छनासे या गर्भसे और उपपादसे होता है; क्योंकि, इसके कारण विचित्र हैं। देवोंका शरीर उपपादशिलासे उत्पन्न होता है और नारकियोंके शरीर नरकबिलमें उत्पन्न होते हैं। मनुष्य और पशुओंका शरीर गर्भसे उत्पन्न होता है। तथा एकेन्द्रियादि जीवोंका शरीर सम्मर्च्छनासे होता है। अर्थात् मातापिताके रजवीर्यकी अपेक्षाके बिना चारों तरफके स्कंधोंका आकर्षण करके उनके शरीरकी अवयवरचना होती है॥ ११६॥

(जीवके जन्मके आधारभूत योनियोंका वर्णन।)– सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत, निवृत और मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ऐसे योनियोंके नौ भेद हैं। जीवोत्पत्तिके चैतन्ययुक्त स्थानको सचित्तयोनि कहते हैं। जिस जन्मस्थानके प्रदेश अदृश्य होते हैं अर्थात् नहीं दिखते हैं उसको संवृतयोनि कहते हैं। जिस जीवोत्पत्तिका स्थान ठंडा होता है उसे शीतयोनि कहते हैं। इसके उलट स्वभावके जन्मस्थानोंको अचित्त, विवृत और उष्णयोनि कहते हैं तथा जिनमें मिश्र स्वभाव रहता है उनको सचित्ताचित्त, संवृतविवृत और शीतोष्ण योनि कहते हैं। ऐसे गुणयोनियोंके नौ भेद कहे हैं। ये योनियाँ जीवोंके जन्मस्थान हैं॥ ११७॥

१ आ. सविग्रहा २ आ. प्रवर्तिनः ३ आ. विचित्राश्चर्यकारणम् ४ संवृताऽसंवृतास्तथा

अचित्तयोनिजाः सर्वे जीवा ये नारकामराः। विमिश्रयोनयोऽनन्ता गर्भजाः प्राणिनो मताः॥११८
सम्मूर्च्छिनः परे सर्वे सर्वयोनिभवाः पुनः। भवन्ति भविनो नित्यं विचित्राकारधारिणः॥ ११९
नानाकारविकाराणां मनुष्याणां चतुर्दश। योनिलक्षा मतास्तज्ज्ञैर्ज्ञानदर्शनशालिभिः॥ १२०
दुष्टकर्मभवानेकदुःखदौर्गत्यशालिनाम्। नारकाणां हि ते लक्षाश्चत्वारो गदिता जिनैः॥ १२१
देवानां दिव्यवृत्तीनां विचित्राकारधारिणाम्। लक्षाश्चत्वार इत्येवं योनीनां योजिता बुधैः॥ १२२
वधबंधक्षुधातृष्णाशीतवातादिगोचरम्। तिरश्चां भुञ्जतां दुःखं लक्षाश्चत्वार एव ते[1]॥ १२३
विकलेन्द्रियजीवानां भूरिपापपरात्मनाम्। सर्वेषां योनयो लक्षाः षडेव परिकीर्तिताः॥ १२४

(तत्तद्योनिज जीवोंका वर्णन।)– जो नारकी और देव हैं, वे जीव अचित्तयोनियोंसे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उनके उत्पत्तिस्थान उपपादप्रदेश हैं और वे अचित्त-अचेतन हैं। जो गर्भज जीव हैं वे मिश्रयोनिके हैं; क्योंकि उनके माताके उदरमें शुक्र और श्रोणित-रक्त अचित्त हैं और माताके आत्मासे मिश्रण होनेसे वह योनिस्थान सचित्ताचित्त है। किंवा जिस माताके उदरमें शुक्र शोणित पडा है वह उदरस्थान सचित्त है। इसलिये गर्भज जीव सचित्ताचित्त योनिज हैं। इन जीवोंसे भिन्न अर्थात् सर्व सम्मूच्छिन जीव तीन प्रकारके योनियोंसे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कोई सचित्त योनिके हैं, कोई अचित्त योनिके हैं और कोई सचित्ताचित्त योनिके हैं। साधारण शरीरवाले सम्मूच्छिन जीव सचित्त हैं क्योंकि वे अन्योन्यके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं। कोई सम्मूर्छनज जीव अचित्त योनिसे उत्पन्न होते हैं। तथा कोई मिश्रयोनिके होते हैं। इस प्रकार इस संसारमें जीव नाना आकारोंको धारण करनेवाले हैं॥ ११८–११९॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे शोभते हैं, ऐसे तज्ज्ञ लोगोंने नाना आकार और विकारोंको धारण करनेवाले मनुष्योंकी चौदह लक्ष योनियाँ मानी हैं॥ १२०॥

अशुभनाम, अशुभगोत्र, असातवेदनीयादि कर्मोंके उदयसे अनेक दुःख दारिद्र्यसे युक्त ऐसे नारकियोंकी चार लक्ष योनियाँ हैं ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है॥ १२१॥

अणिमामहिमादिक ऋद्धियोंके धारक तथा नाना प्रकारके आकारोंको धारण करनेवाले देवोंकी योनिसंख्या विद्वानोंने चार लक्ष कही है॥ १२२॥

वध, बंध, भूख, प्यास, ठंडी, हवा, उष्णता इत्यादिसे उत्पन्न हुआ दुःख भोगनेवाले तिर्यंचोंकी चार लक्ष योनियाँ हैं॥ १२३॥

तीव्र पापयुक्त जिनका आत्मा है ऐसे संपूर्ण विकलेन्द्रिय जीवोंकी छह लक्ष योनियाँ कही है॥ १२४॥

१ आ. ता:

पृथिवीकायिकानां हि जीवानां जितकल्मषैः । योनयः कथिता देवैः सप्तलक्षप्रमाणतः[1] ॥ १२५
घोरमिथ्यात्वसंभूतभवभावविवर्तिनाम् । मतास्तावन्त एवामी योनयो जलकायिनाम् ॥ १२६
तेजःकायभृतां तावत् तावन्तः परिकीर्तिताः । योनयो जितमात्सर्यैराराध्यैः पूर्वसूरिभिः ॥ १२७
वातकायिकजीवानां कर्मपाकहतात्मनाम् । योनीनां सप्तलक्षाणि प्रवक्ष्यन्ते विचक्षणैः ॥ १२८
नित्यं निगोदजीवानां नारकेभ्योऽतिवर्तिनाम् । योनीनां सप्तलक्षाश्च भवन्ति भववर्तिनाम् ॥१२९
तथेतरनिगोतानां अनन्तासातवर्तिनाम् । गीयन्ते योनयो नित्यं मुनिभिः सूत्रवेदिभिः ॥ १३०
भूरुहाणामनन्तानां योनयो गदिता जिनैः । दशलक्षाः प्रमाणेन प्रमाणनयनायकैः ॥ १३१
सर्वे सम्मिलिता गीता योनयो भववर्तिनाम् । जीवानां सर्वलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ १३२
द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रयः सप्त ततः पुनः । पृथ्वीदकाग्निवातानां कुलानां कोटिलक्षकाः ॥१३३

जिन्होंने पापनाश किया है, ऐसे गणधरदेवोंने पृथिवीकायिक जीवोंकी योनियाँ सात लक्ष कही हैं ॥ १२५ ॥

घोर मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए सांसारिक-भावोंसे संसारमें घूमनेवाले जलकायिकजीवोंकी योनिसंख्या सात लक्ष है ॥ १२६ ॥

जिन्होंने मत्सरभावोंको जीत लिया है और जो भव्योंके आराध्य हैं ऐसे पूर्वसूरियोंने तेजस्कायिक जीवोंकी योनिसंख्या सात लक्ष कही है ॥ १२७ ॥

अशुभ कर्मोदयसे जिनकी आत्मा मारी गयी है ऐसे वातकायिक जीवोंकी योनिसंख्या विचक्षण-चतुर आचार्य सात लक्ष कहते हैं ॥ १२८ ॥

नारकियोंसेभी अतिशय दुःखी और भवमें घूमनेवाले नित्यनिगोदी जीवोंकी योनियाँ सात लक्ष हैं ॥ १२९ ॥

अनंत दुःखोंसे व्याकुल ऐसे इतर निगोदी जीवोंकी योनिसंख्या सूत्रज्ञ मुनियोंने हमेशा सात लक्ष प्रमाण कही है ॥ १३० ॥

प्रमाणनयोंके नायक ऐसे जिनेश्वरोंने अनंत वनस्पतियोंकी योनिसंख्या दस लक्ष कही है ॥ १३१ ॥

संसारमें घूमनेवाले संपूर्ण जीवोंकी कुल योनिसंख्या चौरासी लक्ष होती है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ १३२ ॥

(कुलोंकी संख्या कहते हैं ।)- पृथिवीकायिक जीवोंकी कुलसंख्या बाईस कोटि लक्ष है । जलकायिक जीवोंकी सात लक्ष कोटि है । अग्निकायिक जीवोंकी तीन लक्ष कोटि है और वातकायिकोंकी कुलसंख्या सात लक्ष कोटि है ॥ १३३ ॥

---

१ सप्तलक्षाः

कोटिलक्षाः कुलान्याहुः सप्ताष्टौ च तथा नव । तदष्टाविंशतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियवीरुधाम् ॥ १३४
कोटिलक्षाः कुलानां हि सममर्द्धत्रयोदश । द्वादशापि दश प्रोक्ता जन्मिनां जितकल्मषैः ॥ १३५
जलजानां तथा वीनां चतुःपदयुतात्मनाम्[1] । उरसा सर्पतां तावन्नवैवैते यथाक्रमम् ॥ १३६
कुलानि[2] लक्षकोटिनां देवनैरयिकनृणां । षड्विंशतिस्तथा पंचविंशतिश्च चतुर्दश ॥ १३७
कुलानां[3] लक्षकोटिनां सर्वसंख्या जिनेश्वरैः । अर्द्धाधिकशतेनोक्ता नवतिर्नवसंयुता ॥ १३८
खरादिपृथिवीकायजीवानामायुरुत्तमम् । द्वाविंशतिसहस्राणां वर्षाणामृषिभिर्मतम् ॥ १३९
परेषां पृथिवीकायजीवानां पुनरुत्तमं । वर्षाणां द्वादशैवायुःसहस्राणि समन्ततः ॥ १४०
सप्तवर्षसहस्राणि जीवन्त्यष्कायवर्तिनः । जीवः प्रकर्षतः सर्वे विचित्राश्चर्यकारिणः ॥ १४१
तेजःकायभृतः सर्वे जीवन्त्युत्तममानतः । दिनत्रयं त्रयाधीशाः कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ १४२

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और वनस्पति इन जीवोंकी कुलसंख्या क्रमसे सात कोटि लक्ष, आठ कोटि लक्ष, नौ कोटि लक्ष और अठाईस कोटि लक्ष कही है ॥ १३४ ॥

जलचर प्राणियोंकी कुलसंख्या साडेबारह लक्ष कोटि है । पक्षियोंकी कुलसंख्या बारह लक्ष कोटि है । चतुष्पद प्राणियोंकी कुलसंख्या दस लक्ष कोटि है और छातीसे चलनेवाले साप आदि प्राणियोंकी कुलसंख्या नौ कोटि लक्ष है ॥ १३५-१३६ ॥

(देव, नारकी और मनुष्योंकी कुलसंख्या ।)- देवोंकी कुलसंख्या छब्बीस कोटि लक्ष है । नारकियोंकी कुलसंख्या पचवीस कोटि लक्ष है और मनुष्योंकी कुलसंख्या चौदह कोटि लक्ष हैं ॥ १३७ ॥

संपूर्ण जीवोंकी कुलसंख्याका प्रमाण एकसौ साठ निन्याणवे लक्ष कोटि है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा[4] है । कुल-शरीरके भेदको कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं ॥ १३८ ॥

(जीवोंकी आयुका वर्णन ।)- ऋषियोंने खरपृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बावीस हजार वर्षोंकी कही है ॥ १३९ ॥

शुद्ध पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्षोंकी है ॥ १४० ॥

जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षोंकी है । ये सब जलकायिक जीव विचित्र आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले होते है ॥ १४१ ॥

संपूर्ण तेजःकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिनोंकी है ऐसे रत्नत्रयके स्वामी जिनेश्वर कहते हैं ॥ १४२ ॥

१ आ. चतुःपादवतामतः,　२ आ. कुलानि, कुलानां इति श्लोकद्वयं　३ परंतु गोम्मटसारमें संपूर्ण जीवोंकी कुलसंख्या एक कोडाकोडी सत्ताणवे लक्ष तथा पचास हजार कोटि कही है ।
४ आ. भांपुस्तके नास्ति

त्रीणि वर्षसहस्राणि परमं वातकायिनाम् । आयुर्भवति जीवानां दुर्गदुर्गतिवर्तिनाम् ॥ १४३
दशवर्षसहस्राणि परमायुः प्रकाशितम् । भूरुहाणां जिनाधीशैर्नानाभाववितिनाम् ॥ १४४
द्वादशैव तु वर्षाणि प्रकृष्टं द्वीन्द्रियेषु तत् । एकेनोना च पञ्चाशत्त्रीन्द्रियेष्वायुरुत्तमम् ॥ १४५
चतुरिन्द्रियजीवानां षण्मासा ह्यायुरुत्तमम् । कर्मभूमिनरादीनां पूर्वकोटी तदुत्तमम् ॥ १४६

(जीवानां देहमानम् ।)

पञ्चेन्द्रियस्य जीवस्य देहमानं निगद्यते । योजनानां सहस्रैकमुत्कर्षेण जिनागमे ॥ १४७
तदेवाधिकमाख्यातं मानमेकेन्द्रिये पुनः । द्वीन्द्रिये द्वादशैवेदं योजनान्युत्तमं मतम् ॥ १४८
क्रोशत्रयप्रमाणं च शरीरं त्रीन्द्रिये परम् । चतुरिन्द्रियजीवानां एकयोजनमुत्तमम् ॥ १४९

दुःखदायक दुर्गतिमें रहनेवाले वातकायिक जीवोंकी उत्तम आयु तीन हजार वर्षोंकी है ॥ १४३ ॥

अनेक भवोंमें घूमनेवाले वनस्पतियोंकी उत्कृष्ट आयु जिनेश्वरोंने दस हजार वर्षकी प्रकाशित की है ॥ १४४ ॥

द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षोंकी कही है । और त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनचास दिनोंकी कही है ॥ १४५ ॥

चतुरिन्द्रियजीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह महिनोंकी कही है और कर्मभूमिके मनुष्य आदिकोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटीकी कही है ॥ १४६ ॥

(जीवोंकी देहावगाहना ।)– पंचेन्द्रियजीवकी देहावगाहना जिनागममें उत्कर्षसे एक हजार योजनोंकी कही है । एकेन्द्रियकीभी अवगाहना साधिकसहस्र है । भावार्थ – स्वयंभूरमण समुद्रमें स्थित महामत्स्यकी अवगाहना एक हजार योजनोंकी हैं । तथा एकेन्द्रिय कमलकीभी अवगाहना महामत्स्यके समान एक हजार योजनकीही है । द्वीन्द्रियजीवोंमें शंखकी उत्तम अवगाहना बारह योजनोंकी कही है ॥ १४६–१४७ ॥

त्रीन्द्रियजीवोंमें उत्तम अवगाहना ग्रैष्मी (चींटीकी) तीन कोश प्रमाणकी कही है । और चतुरिन्द्रिय जीवकी उत्तम अवगाहना एक योजन प्रमाणकी कही है ॥ १४८ ॥

(गर्भाद्विजन्मधारि जीवोंका वर्णन ।)– पोत, अण्डज और जरायुज ये सब जीव गर्भजही होते हैं । तथा देव और नारकी ये सब जीव औपपादिक देहवालेही होते हैं । पोत–जिनके ऊपर जालके समान वेष्टन नहीं होता है, जो परिपूर्ण अवयववाले योनिसे निकलतेही चलते फिरते हैं, ऐसे प्राणियोंको पोत कहते हैं । जरायुज–जालके समान जो प्राणियोंके ऊपर चर्मका वेष्टन रहता है उसको जरायु कहते हैं । ऐसे जरायुसे जिनका जन्म होता है वे जरायुज प्राणी हैं जैसे मनुष्य आदि ।

भवन्ति गर्भजाः सर्वे पोताण्डजजरायुजाः । औपपादिकदेहाश्च देवनारकयोनिजाः ॥ १५०
शेषाः सम्मूर्च्छिनो जीवा भूरिपापपरायणाः । गदिता विविधाकारा बहुदुःखोपजीविनः ॥ १५१
वपुर्गतीन्द्रियज्ञानक्रोधाहारसुसंयमाः । वेदभव्यत्वसम्यक्त्वलेश्येक्षायोगसञ्ज्ञिनः ॥ १५२
जीवा यासु च मार्ग्यन्ते मार्गणा विधिकोविदैः । ता इमा मार्गणा ज्ञेया विचित्रक्रमसंयुताः ॥ १५३
वपुः शरीरमाख्यातं तच्च पञ्चविधं बुधैः । जीवाधारमिदं तस्माच्छिगदामि यथाक्रमम् ॥ १५४
औदारिकमिदं रम्यं तथा वैक्रियिकं[1] पुनः । आहारकमिहाख्यातं[2] तैजसं कार्मणं महत्[3] ॥ १५५

अण्डज–जो प्राणी अण्डोंसे उत्पन्न होते है, उनको अण्डज कहते हैं जैसे पक्षी । उपपाद शिलापर देव अकस्मात् अन्तर्मुहूर्तमें तरुणके समान षोडश अलंकारोंसहित उत्पन्न होते हैं । तथा नारकी नरकबिलोंमें अन्तर्मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं । ये देव नारकी औपपादिक देहवाले कहे जाते हैं ॥ १४९–१५० ॥

सम्मूर्च्छिन जीव अतिशय पापोंमें तत्पर रहते हैं । ये सम्मूर्छिन जीव मातापिताके रक्तवीर्यके बिना उत्पन्न होते हैं । तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे और चारों तरफसे जिनके अवयवोंकी रचना होती है, उनको सम्मूर्च्छन कहते हैं । ये जीव अनेक आकारवाले और बडे दुःखसे उपजीविका करनेमें तत्पर होते हैं ॥ १५१ ॥

(मार्गणाओंके नाम और लक्षण ।)— शरीर – कायमार्गणा, गति, इन्द्रिय, ज्ञान, क्रोध, आहार, सुसंयम, वेद, भव्यत्व, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, योग और संज्ञी ये चौदह मार्गणायें हैं ॥ १५२ ॥

कर्मस्वरूप जाननेवाले विद्वानोंकेद्वारा जीव जिनमें ढूंढें जाते हैं उनको मार्गणा कहते हैं, वे मार्गणायें अनेक क्रमसे युक्त हैं ॥ १५३ ॥

(औदारिकादि पांच शरीरोंका वर्णन ।)– शरीरको वपु कहते हैं और विद्वानोंने उसके पांच भेद बताये हैं । यह शरीर जीवका आधार होनेसे मैं इसका यथाक्रम वर्णन करता हूं ॥ १५४ ॥

औदारिक, तथा रम्यवैक्रियिक, पुनः आहारक और तैजस तथा महान कार्माण ऐसे पांच प्रकारके शरीर कहे हैं । उदारका अर्थ स्थूल है अर्थात् जो शरीर स्थूल है उसको औदारिक कहते हैं । यह शरीर मनुष्य और तिर्यंचोंको होता है । जो शरीर नाना आकृतियोंको धारण करता है जो अनेक छोटा, बडा दृश्य, अदृश्य आदिक विक्रिया करता है उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं । जिनके मनमें सूक्ष्म तत्त्वमें संशय उत्पन्न हुआ है ऐसे प्रमत्तसंयत मुनिराजके मस्तकसे संशयको दूर करनेके लिये जो शरीर प्रगट होता है उसे आहारक कहते हैं । यह शरीर केवलिभगवानके पास जाता है ।

१ आ. वैक्रियिकमहाद्भुतम्　२ आ. ख्यान्ति　३ आ. तथा

उदारं स्थूलमाख्यातं नानाकारधरं परम् । आह्रियमाणमाहारं तेजोजातं सुतैजसम् ॥ १५६
कर्मणां कार्यमर्थं च यत्कार्मणमिहोदितम्[1] । परं परं हि सूक्ष्मं स्यादेतत्पञ्चविधं क्रमात् ॥ १५७
औदारिकं वैक्रियिकमाहारकमिदं वपुः । त्रिप्रकारमसंख्यातगुणाकारप्रदेशकम् ॥ १५८
क्रमशस्तैजसं तद्धि कार्मणं च शरीरकम् । कथयन्ति कथानाथाः प्रदेशानन्त्यसद्गुणम्[2] ॥ १५९
तदेवाभव्यजीवानामनन्तगुणकारकम् । अनंतप्रविभागैश्च तद्द्रव्यं[3] पुनरिष्यते ॥ १६०
वज्रादिपटलैस्तावद्व्याघातो नानयोः क्वचित् । सुसूक्ष्मत्वादयः पिण्डे तेजसोऽनुप्रवेशवत् ॥ १६१

उनके शरीरको स्पर्श कर लौटता है तब मुनिका संशय दूर होता है। यह शरीर हस्तप्रमाण होता है । घन–दृढ स्फटिकके समान रहता है । मुनिके तालुप्रदेशमें रोमाग्रके अष्टम भागप्रमाण जो छिद्र होता है, उससे यह निकलता है । जिस क्षेत्रमें तीर्थंकर परमदेव गृहस्थावस्थामें, दीक्षित छद्मस्थावस्थामें अथवा केवलीअवस्थामें होंगे उसके पास जाता है। उनके शरीरको स्पर्श कर पुनः लौटता है । उन मुनिके उस तालु छिद्रसे पुनः देहमें प्रवेश करता है तब उनका संशय नष्ट होता है और वे सुखी होते हैं । (सर्वार्थसिद्धिकी श्रुतसागरी टीका – अध्याय दूसरा)

जो तेजसे उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते हैं । जो तेजका निमित्त है उसेभी तैजस कहते है और जो कर्मका कार्य है उसे कार्मण कहते हैं । मिथ्यात्वादि कर्मोंसे यह कार्मणशरीर उत्पन्न होता है । तथा यह कर्मोंकेलिये उत्पन्न होता है अर्थात् कर्मोंको उत्पन्नभी करता है । ये पांच प्रकारके शरीर उत्तरोत्तर क्रमसे सूक्ष्म सूक्ष्म हैं ॥ १५७ ॥

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन प्रकारके शरीर क्रमसे असंख्यात गुणाकार-युक्त प्रदेशवाले हैं । औदारिकसे वैक्रियिक शरीर असंख्यात गुणित प्रदेशवाला है । वैक्रियिकसे आहारक शरीर असंख्यात गुणित प्रदेशवाला है ॥ १५८ ॥

क्रमशः तैजस और कार्मण शरीर अनन्त गुणित प्रमाण हैं । आहारक शरीरसे तैजस प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनंत गुणित है तथा तैजससे कार्मण शरीर अनंत गुणित है, ऐसा कथानक निर्वेदनी, संवेजिनी आदि कथाओंके प्रतिपादक जिनेश्वर कहते हैं ॥ १५९ ॥

वह कार्मण शरीरका द्रव्य अभव्य जीवोंसे अनंतगुणित हैं और भव्यजीवोंसे अनन्तवां विभाग है ऐसा कहा हैं ॥ १६० ॥

तैजस और कार्मण इन शरीरोंको कहींभी प्रतिबंध नहीं होता । जैसे लोहके पिण्डमें अग्निका प्रवेश उसकी–अग्निकी सूक्ष्मतासे होता है वैसे तैजस और कार्मण ये दो शरीर अतिशय सूक्ष्म होनेसे वज्रादि–पटलोमेंभी घुसकर उसमेंसे निकल जाते हैं । इसलिये इनके साथ रहा हुआ यह

---

१ आ. तत्　२ आ. नन्तसद्गुणम्　३ आ. तद्भव्यानाम्

सर्वसंसारिजीवस्यानादिसम्बन्ध इष्यते । कार्यकारणसन्तत्या ह्यनयोर्बीजवृक्षवत् ॥ १६२
विशेषापेक्षया सादिसम्बद्धे ते शरीरिणाम् । निगद्येते गतासालसंगतैर्यतिनायकैः ॥ १६३
इत्थं पञ्चविधेनामी शरीरेण शरीरिणः । व्यापत्कल्लोललोलेऽस्मिन्भ्रमन्ति भववारिधौ ॥ १६४
सर्वेऽपि नारका जीवास्तथा सम्मूर्च्छिनः पुनः । नपुंसका भवन्त्येव न देवाः पुण्यभागिनः ॥ १६५
शेषास्त्रिवेदा विज्ञेयास्तिर्यंचो मानवा अपि । त्रिवेदानुगतानेककर्मभावनिबन्धतः ॥ १६६
औपपादिकदेहा ये येऽपि चान्त्यशरीरिणः । नापवर्त्यायुषस्तेषां[1] कृतपुण्यविपाकतः ॥ १६७
मिथ्यादृष्टिस्ततस्तावत्सासादनदृगुच्यते । तृतीयो मिश्रदृष्टिश्चासंयतः सम्यग्दृक्परः ॥ १६८

जीव विग्रहगतिमें जाकर सुदूरवर्ती क्षेत्रोंमें उत्पन्न होता है । बीचमें पहाड आदिक पदार्थोंसे उन शरीरोंसे युक्त यह जीव रोका नहीं जाता है ॥ १६१ ॥

संपूर्ण संसारी जीवोंके साथ इन दो शरीरोंका सम्बन्ध अनादिकालसे हुआ है । जैसे वृक्ष बीजसे उत्पन्न होता है । वह बीज पूर्व वृक्षसे उत्पन्न हुआ । वह वृक्ष उसके पूर्व बीजसे उत्पन्न हुआ है । बीजवृक्षका संबंध जैसा अनादि कालसे है वैसा प्रस्तुत तैजस-कार्मण पूर्व तैजस-कार्मणसे उत्पन्न हुए, पूर्व तैजस-कार्मण उनके पूर्व तैजस-कार्मणोंसे उत्पन्न हुए हैं ऐसी इन तैजस कर्मणोंकी अनादि कार्यकारण–संतति है । जैसे इस बीजसे यह वृक्ष हुआ है, ऐसा कहनेसे उन बीज-वृक्षोंका सादि संबंध सिद्ध होता है, वैसे तैजस कार्मण शरीरविशेषकी अपेक्षासे सादि कह सकते हैं, जैसे सांप्रतका मिथ्यात्व-कर्मका बंध पूर्व मिथ्यात्वके उदयसे होता है । इस प्रकार इनकी कार्यकारणकी सन्तति है । विशेषापेक्षासे प्राणियोंके लिये सादिभी है । जिनकी दुखोंकी संगति दूर हुई है ऐसे यतिनायकोंने इस प्रकार तैजस-कार्मण शरीरोंका संबंध कहा है ॥ १६२–१६३ ॥

इस प्रकार पांच प्रकारके शरीरसे ये शरीरधारी प्राणी आपत्तिरूप तरंगोंसे चंचल ऐसे संसारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥ १६४ ॥

(जीवोंका लिंगनिर्णय ।)– संपूर्ण नारकी जीव तथा सम्मूर्च्छिन जीव नपुंसकही होते हैं । देव पुण्यवान होनेसे नपुंसक नहीं होते हैं ॥ १६५ ॥

शेष अर्थात् तिर्यंच और मनुष्यभी तीन वेदके धारक हैं ; क्योंकि तीन वेदोंको अनुकूल कर्मबंधके योग्य उनके भाव होते हैं ॥ १६६ ॥

जो औपपादिक देहवाले देव और नारकी हैं तथा जो अन्त्यशरीरवाले–तद्भव मोक्षगामी जीव हैं, उनको किये हुए पुण्यके उदयसे अपवर्त्यायुष्कता नहीं है । अर्थात् विष-शस्त्रादि कारणोंसे

---

१ आ. स्तेऽमी घनपुण्यविपाकतः

संयतासंयतस्तस्मात्प्रमत्ताविसुसंयतः । अप्रमत्तो यतिः पश्चादष्टमोऽपूर्वकृन्मतः ॥ १६९
अनिवृत्त्यल्पलोभौ च शान्तक्षीणकषायकौ । सयोगी च तथायोगी गुणाश्चैते चतुर्दश ॥ १७०

उनका आयुष्य कम नहीं होता है । विष शस्त्रादि कारणोंसे, तीव्र अग्न्यादि उपसर्गोंसे उनको अकालमें मरण नहीं आता ॥ १६७-१६९ ॥

(गुणस्थानोंके नाम ।)- मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे चौदह गुणस्थान हैं ॥ १७० ॥

विशेष स्पष्टीकरण- आचार्य नरेन्द्रसेनजीने यहां गुणस्थानोंके नामही बताये हैं। उनका स्वरूप विस्तारभयसे नहीं दिया । उन गुणस्थानोंका लक्षण यहां दिखाते हैं-

१ पहिला गुणस्थान मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है ।

२ दुसरा सासादन गुणस्थान है । प्रथमोपशम सम्यक्त्व अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त कालमेंसे जघन्य एक समय अथवा उत्कृष्ट छह आवलिकाल शेष रहता है उस समय अनन्तानुबंधि क्रोध, मान, माया लोभमेंसे किसीका उदय होनेसे सम्यग्दर्शन नष्ट होता है और वह जीव मिथ्यात्वके सम्मुख होता है । इस अवस्थाको सासादन गुणस्थान कहते हैं ।

३ तीसरा गुणस्थान मिश्रदृष्टि नामक है । इसमें सम्यङ्मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तब सम्यङ्मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं । वे परिणाम न सम्यग्दर्शनरूप है न मिथ्यारूप हैं । परंतु मिश्ररूपपरिणाम होते हैं । अर्थात् सर्वज्ञकथित-पदार्थस्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास-कथित अतत्त्वश्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनोंही धर्म एककाल और एक-आत्मामें घटित हो सकते हैं । इसमें कोईभी विरोधादि दोष नहीं है । जैसे दही और गुडको परस्पर मिलानेसे दोनोंका स्वाद खट्टा और मीठा मिला हुआ होता है उसही प्रकार एककालमें मिश्ररूप परिणाम- सम्यक्त्वरूप और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं ।

४ असंयत सम्यग्दृष्टि-सर्वज्ञकथित जीवादि-पदार्थोंके ऊपर श्रद्धा करता है, तथा असंयमी होता है; क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति तथा प्राणिसंयम उसको नहीं होता है । इसलिये उसको असंयमी कहते हैं । परंतु वह विनाप्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त भी नहीं होता है ।

५ संयतासंयत-अनन्तानुबंधी कषायके उपशम, क्षय, क्षयोपशमादिकसे यह श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है और अप्रत्याख्यान कषायके क्षयोपशमसे उसको अणुव्रतोंकी प्राप्ति हुई है, इसलिये इसको देशव्रती कहते हैं ।

६ प्रमत्तसंयत—संज्वलन कषाय और नोकषाय इनका उदय इस गुणस्थानमें होता है। अनंतानुबन्ध्यादि बारह कषायोंका क्षयोपशम होनेसे इस गुणस्थानमें महाव्रत प्राप्त होते हैं, परन्तु संयममें कुछ मल उत्पन्न करनेवाला प्रमाद उत्पन्न होनेसे इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।

७ अप्रमत्त संयत — जब प्रमाद नष्ट होता है और संज्वलन कषायोदय और नोकषायोदय मंद होता है, तब इसके संयम-महाव्रत अतिशय निर्मल होते हैं।

८ अपूर्वकरण — इस गुणस्थानमें अनंतानुबंध्यादि बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका क्षय अथवा उपशम करनेवाले अपूर्व ऐसे निर्मल परिणाम होते हैं, जो कि पूर्वगुणस्थानोंमें नहीं होते। जितने मुनिराज इस गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं उनमेंसे जो समानसमयवर्ती मुनि हैं उनके परिणाम सदृशभी होते हैं और विसदृशभी होते हैं परंतु भिन्न समयमें स्थित जीवोंके परिणाम सर्वदा विसदृशही होते हैं। इस गुणस्थानमें प्रतिसमयमें परिणामोंकी निर्मलता बढतीही है।

९ अनिवृत्तिकरण — इस गुणस्थानमें अधिक निर्मल शुक्लध्यानसे आयुको छोडकर शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभागकाण्डखंडन होता है और मोहनीय कर्मकी बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि आदि होती है। इस गुणस्थानमें जो मुनिराज हैं उनके प्रतिसमय एकही परिणाम होता है अर्थात् एक समयमें जितने मुनि होंगे उनमें समानही परिणाम होंगे और भिन्न समयमें जो मुनिराज होंगे वे सब विसदृश परिणामकेही धारक होंगे।

१० सूक्ष्मसांपराय — इस गुणस्थानमें धुले हुए कौसुम्बवस्त्रमें जैसी सूक्ष्मलालिमा रह जाती है वैसी रागभावना अत्यंत सूक्ष्म होती है। यहाँ मोहकी वीस प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय होता है। सिर्फ एक संज्वलन लोभ सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है। वह अत्यंत सूक्ष्म होकर रहता है।

११ उपशांतकषाय — कतकफलसे पानी निर्मल होता है और मल नीचे बैठता है, वैसा यहां संपूर्ण मोहकर्म उपशान्त होनेसे आत्मा उपशांतकषाय होता है।

१२ क्षीणकषाय — संपूर्ण मोहकर्म नष्ट होनेसे आत्मा पूर्ण कषायरहित होती है। इसलिये निर्मल स्फटिक पात्रमें रखे हुए जलके समान निर्मल होती है।

१३ सयोगकेवली — इस गुणस्थानमें जीवको केवलज्ञान प्रगट होता है और क्षायिक नौ केवललब्धियोंकी प्राप्ति होती है। फक्त योगसहित होनेसे उनको सयोगकेवली कहते हैं।

१४ अयोगकेवली — यहां अठारह हजार शीलोंकी प्राप्ति होती है और कर्मोंका आगमन—आस्रव सर्वथा बंद होता है। सत्त्व और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरजकी सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होनेसे काययोगरहित केवलीको चौदहवे गुणस्थानमें अयोगकेवली कहते हैं। यहांही पूर्णशील, पूर्णसंवर, पूर्णनिर्जरा होनेसे मुनिराज मुक्ति अवस्थाके सम्मुख होते हैं।

सुवर्णानुगता वर्णा यथा पञ्चदशप्रमाः । लोके तथात्र विज्ञेया गुणाश्चैते चतुर्दश ॥ १७१
जपापुष्पादिसान्निध्याद्यः स्वभावः प्रजायते । स्फटिकादौ तथा जीवे लेश्या स्यात्कर्मयोगतः ॥१७२
कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथा पुनः । शुक्ला च षड्विधा लेश्या जीवेऽभाणि विचक्षणैः ॥
जीवतत्त्वमिदं तावद्युक्तं वाऽयुक्तमेव वा । किञ्चिदागमतो ज्ञात्वा भणितं यन्मया पुनः ॥ १७४
श्रीजिनेन्द्रमतं पूर्वसूरिसूर्यप्रकाशितम् । तत्खद्योतनिभेनैतत्किं मया बत भाष्यते ॥ १७५
दुष्षमाकालयोगेन सम्यग्ज्ञानविवर्जितैः । सर्वत्र संशयानैस्तन्मादृशैः किं निगद्यते ॥ १७६
केवलं तत्त्वविज्ञानलिप्सालुब्धोहमूच्चकैः । दरिद्रोऽपि हि किं लोके सौराज्यं नाभिवाञ्छति ॥१७७

जैसे सुवर्णमें पंदरह वर्ण–भेद दिखते हैं वैसे इस जगतमें चौदह गुणस्थान होते हैं। जैसे अधिक वर्णमें उत्तरोत्तर शुद्धता बढती है और पंदरहवे वर्णमें सोना पूर्ण प्रायः शुद्ध होता है वैसे इस गुणस्थानमें आत्माकी उत्तरोत्तर विशुद्धता होती होती चौदहवे गुणस्थानमें निर्मलता पूर्णप्राय होती हैं ॥ १७१ ॥

लेश्यावर्णन :– स्फटिकादिक पदार्थोंमें जैसे जपापुष्पादि पदार्थोंके सान्निध्यसे जो स्वभाव प्रगट होता है, वैसे जीवमें कर्मयोगसे लेश्या होती है। स्पष्टीकरण– 'कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या' कषायके उदयसे जो मनवचनकी प्रवृत्ति होती है जिससे आत्माके प्रदेशोंमें कंप उत्पन्न होता है वह लेश्या है। इस लेश्याकेद्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करता है। ऐसे लेश्याके आचार्यने छह भेद बताये हैं। वे इस प्रकार—

कृष्णा, नीला और कापोता, पीता, पद्मा और शुक्ला ऐसी छह लेश्यायें जीवमें चतुर सूरियोंने बताई है। स्पष्टीकरण– इनमें पहिली तीन लेश्यायें क्रमसे अशुभतम, अशुभतर और अशुभ ऐसी हैं और पीत, पद्म तथा शुक्ललेश्या क्रमसे शुभ, शुभतर और शुभतम है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधमेंसे कषायोदयसे स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है। तथा योगसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है। जहांपर कषायोदय नहीं होता है, वहां केवल–योगको उपचारसे लेश्या कहते हैं। यह भावलेश्याका स्वरूप समझना चाहिये; क्योंकि, शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहते हैं ॥ १७२–१७३ ॥

यह जीवतत्त्व कुछ आगमको जानकर युक्त तथा अज्ञानसे कुछ अयुक्त मैंने कहा है। यह जिनेन्द्रका मत पवित्र और आचार्यरूपी सूर्यसे प्रकाशित हुआ है। मैं तो जुगनूके समान हूं। जिनेन्द्रमतविषयमें मैं अधिक क्या कह सकता हूं ॥ १७४–१७५ ॥

मेरे सदृश लोग दुष्षमाकालके प्रभावसे सम्यग्ज्ञानरहित हो गये हैं और सर्वत्र संशययुक्त हुए हैं। इसलिए हम क्या कह सकते हैं। परंतु तत्त्वज्ञान प्राप्तिकी इच्छासे मैं अत्यन्त लुब्ध हुआ हूं। योग्यही है, कि इस जगतमें क्या दरिद्री मनुष्यभी उत्तम राज्यको नहीं चाहता है ? अर्थात् दरिद्रीकोभी जैसे राज्यप्राप्तिकी इच्छा होती है वैसे मुझे तत्त्वज्ञानकी तीव्र इच्छा हुई है ॥१७६–१७७ ॥

कालस्यापेक्षया धर्मो नष्टः सर्वत्र सर्वथा । तं प्रकाशयतां किञ्चित् पक्षपातो[1] भविष्यति ? ॥१७८
इति वाग्देवता जैनी दुष्षमाकालवर्तिनाम् । मां प्रलपन्तमित्युच्चैर्विज्ञायोद्धरतु[2] क्षणम्[3] ॥ १७९
स्वरूपादिविभेदेन जीवतत्त्वं निरूपितम् । साम्प्रतं गतिभेदेन निगदामि यथागमम् ॥ १८०
इति निगदितमेतज्जीवतत्त्वं विदित्वा । हृदि दधति पटिष्ठाः साधवो ये सुनिष्ठाः ॥
त इह निहतकर्मव्यापदानन्दरूपम् । पदमधिगतबोधाः प्रस्फुरन्तः सरन्ति ॥ १८१
धारयन्ति मुदितान्तरात्मकाः[4] श्रीजिनेन्द्रमतभेतदद्भुतम् ।
ये त एव कलयावलम्बिनो[5] नापरे जगति जाड्यसङ्गताः ॥ १८२

इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनविरचिते जीवतत्त्वप्ररूपणः पञ्चमः परिच्छेदः ॥

कालकी अपेक्षासे सर्वत्र सर्वथा सर्व प्रकारसे धर्म नष्ट हुआ है । परंतु उसको प्रगट करनेवालोंके विषयमें कुछ पक्षपात–प्रेम उत्पन्न होता है । इसलिये जिनेश्वरके मुखकमलसे निकली हुई वाग्देवता दुष्षमाकालमें उत्पन्न हुए लोगोंको धर्मका स्वरूप कहनेवाले मुझको जानकर शीघ्र मेरा उद्धार करें ॥ १७८–१७९ ॥

स्वरूपादिभेदोंसे मैंने जीवतत्त्वका निरूपण किया है । अब मैं जिनागमानुसार गति भेदोंसे– नारकी, मनुष्य, देव, पशु ऐसी चार गतियोंकी अपेक्षासे जीवतत्त्वका वर्णन करूंगा ॥ १८० ॥

इस प्रकार कहा हुआ जीवका स्वरूप जानकर जो अतिशय चतुर और मधुरभाषी भले साधु हृदयमें धारण करते हैं वे कर्मजन्य आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले और आनंदरूप-अनन्तसुख रूप पदको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करके वृद्धिगत होते हुए प्राप्त होते हैं ॥ १८१ ॥

जिनका अंतरात्मा आनंदित हुआ है ऐसे विद्वान् इस आश्चर्यकारक जिनेश्वरके मतको धारण करते हैं । वेही कलाके अवलम्बी हैं अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञानी है परंतु जिन्होंने जिनमतको धारण नहीं किया है ऐसे अन्यलोग जाड्यसे संगत हैं-अज्ञानी हैं ॥ १८२ ॥

पण्डिताचार्य नरेन्द्रसेन विरचित श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहमें जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला यह पांचवा अध्याय समाप्त हुआ ।

१ आ. पक्षमात्रम्　२ आ. मत्युच्चैः　३ आ. क्षणात्　४ आ. शयाः　५ आ. कुशला
६ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः

षष्ठोऽध्यायः ।

नारकतिर्यङ्मानुष्यदेवगत्यादिभेदतः । चतुर्धा जायते जीवः संसारे सारवर्जिते ॥ १
आद्या रत्नप्रभानामा द्वितीया शर्कराप्रभा । वालुकादिप्रभाभूमिस्तृतीया बहुदुःखदा ॥ २
पङ्कप्रभा चतुर्थी स्यात्पञ्चमी धूमसत्प्रभा । षष्ठी तमःप्रभा निद्याभिहिता[1] जिननायकैः ॥ ३
महातमःप्रभा घोरा घोरदुःखप्रदर्शिनी । सप्तमी पापिनां दुःखान्निर्मिता[2] पापकर्मणा ॥ ४
एताश्च भूमयः सर्वा घनाम्बुवलयस्थिताः । घनाम्बुवलयं तद्धि घनवातप्रतिष्ठितम् ॥ ५
घनादिवलयं तावत्तनुवातव्यवस्थितम् । तदाकाशस्थितं तद्धि स्वप्रतिष्ठमुदीरितम् ॥ ६
वलयानि च पिण्डेन त्रीण्येतानि प्रमाणतः । प्रत्येकं योजनानां हि सहस्राणि तु विंशतिः ॥ ७
मेरोराधार भूता स्यात्पृथ्वी रत्नप्रभाभिधा । रज्ज्वन्तरालवर्तिन्यस्ततोऽधोऽधः पराश्च षट् ॥ ८
ततोऽधस्ताद्धरा शून्यं रज्जुमानं सुदुस्तरम् । क्षेत्रमस्ति निगोतादिजीवस्थानमनेकधा ॥ ९
महापापभवानेकफलानीव हतात्मनाम् । त्रिंशन्नरकलक्षाणि विद्यन्ते प्रथमक्षितौ ॥ १०

छटा अध्याय ।

इस सारवर्जित संसारमें नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंके भेदसे यह जीव चार प्रकारका होता है ॥ १ ॥

(नरकगतिके जीवोंका आधारभूत स्थान ।)– पहिली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा और अतिशय दुःख देनेवाली तीसरी वालुकाप्रभा नामक भूमि, चौथी पंकप्रभा, पांचवी धूमप्रभा तथा छठ्ठी तमःप्रभा भूमि है । जिननायकोंने वे भूमियाँ निंद्य हैं ऐसा कहा है । घोर दुःखको देनेवाली प्राणियोंके पाप कर्मने दुःखसे निर्माण की गई सातवी महातमःप्रभा नामक नरक भूमि है । ये सातोंही भूमियाँ घनाम्बुवातवलयसे चारों तरफसे घिरी हुई हैं । घनाम्बुवातवलय घनवातके आधारसे रहा है, और घनवातवलय तनुवातवलयसे व्यवस्थित है । तथा वह तनुवातवलय आकाशमें है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है– अपनेही आधारसे है अर्थात् वह आकाश स्वयं अपनेको आधारभी है तथा अपनेमें रहनेसे आधेयभी है ॥ २–६ ॥

(तीन वातवलयोंका विस्तार ।)– तीन वातवलयोंमेंसे प्रत्येकका पिण्डप्रमाण बीस बीस हजार योजनोंका है । पहली रत्नप्रभा नामक पृथ्वी मेरूको आधारभूत है । तदनन्तर दूसरी, तीसरी आदि छह पृथ्वियाँ एक एक रज्जुके अन्तरालमें हैं । उसके नीचे पृथ्वीरहित एक रज्जुविस्तारके अवकाशमें सुदुस्तर ऐसा स्थान है, जो कि निगोद जीवोंका स्थान है और अनेक प्रकारका है ॥ ७–९ ॥

---

१ आ. गदिता २ आ. प्राणिनां मन्ये निर्मिता पापकर्मणाम् ।

द्वितीयायां पुनस्तानि विद्यन्ते पञ्चविंशतिः । तथा पञ्चदश प्राज्ञैस्तृतीयायां मतानि च ॥ ११
दशलक्षाणि विद्यन्ते चतुर्थ्यां नरकावनौ । नरकाणि निमेषार्द्धमपि सौख्यातिगानि च ॥ १२
पञ्चम्यां त्रीणि लक्षाणि षष्ठ्यां पुनरुदीरितम् । पञ्चोनमेकं लक्षं च सप्तम्यां पञ्चकं पुनः ॥ १३
अथाशीतिसहस्रैश्च लक्षमेकमुदीरितम् । बाहुल्यं[1] बहुधा रत्नप्रभायां जिननायकैः ॥ १४
द्वात्रिंशच्च सहस्राणि पृथुत्वं योजनानि तु । द्वितीयायां मतं प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ १५
योजनानां सहस्राणि बाहुल्यं ह्यष्टविंशतिः । तृतीयायां भवन्त्यत्र[2] श्वभ्रभूमेर्विनिन्दितम् ॥ १६
विस्तारः कथितस्तज्ज्ञैश्चतुर्थ्यां नरकक्षितौ । योजनानां सहस्राणि चतुर्विंशतिरित्ययम् ॥ १७
पञ्चम्यां विंशतिः पिण्डः षष्ठ्यां षोडश वा पुनः । अष्टौ च सप्तमपृथ्व्यां योजनानां सहस्रकाः ॥ १८
पञ्चम्या नरकभूमेश्च विंशतिर्योजनं मतम् । षष्ठ्यां षोडशसंख्या च सप्तम्यां योजनाष्टकम् ॥ १९
तिर्यग्विस्तार एवासामेकरज्जुप्रमाणतः । मध्यस्थो लोकमानोऽत्र त्रसनालिर्बहिर्भवेत् ॥ २०

(नरकभूमियोंमें बिलसंख्या।)– जो अत्यंत दीन है ऐसे नारकियोंके महापापोंसे उत्पन्न मानो अनेक फल, ऐसे तीस लाख बिल पहले नरकमें हैं। दूसरे नरकमें पच्चीस लाख बिल हैं। तिसरे नरकमें पंद्रह लाख बिल हैं। चौथे नरकमें दस लाख नरक बिल हैं। ये सर्व नरक बिल निमिषार्द्धभी सुखयुक्त नहीं हैं। अर्थात् हमेशा इन बिलोंमें नारकी दुःखही भोगते हैं। पांचवे नरकमें तीन लाख नरक बिल हैं। छठे नरकमें एक लाखमें पांच कमी अर्थात् निन्यानवे हजार नौसौ पिचानवे बिल हैं। पुनः सातवे नरकमें पांचही नरक बिल हैं ॥ १०–१३ ॥

जिननायकोंने रत्नप्रभाका बाहुल्य-मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनोंका कहा हैं ॥ १४ ॥

जिनका संपूर्ण पाप नष्ट हो गया है ऐसे बुद्धिमानोंने दूसरे शर्कराप्रभानरककी मोटाई बत्तीस हजार योजन कही है ॥ १५ ॥

तिसरी निन्द्य नरकभूमि वालुकाप्रभाकी मोटाई अट्ठावीस हजार योजन है ॥ १६ ॥

चतुर्थ नरक पङ्कप्रभाकी मोटाई तज्ज्ञ लोगोंने विस्तृत चौवीस हजार योजनकी कही है ॥ १७ ॥

पांचवी नरकभूमीकी मोटाई बीस हजार योजनप्रमाणकी कही है। तथा छठी नरक-भूमीकी मोटाई सोलह हजारकी कही है। और सातवी नरकभूमीकी मोटाई आठ हजार योजनोंकी कही है ॥ १८–१९ ॥

इन सात पृथ्वियोंका तिर्यग्विस्तार एक राजुप्रमाण है। यह लोग जिसके बीचमें नाभिके समान त्रसनालि है और वह लोकप्रमाण अर्थात् चौदह राजुप्रमाण ऊंची है ॥ २० ॥

१ आ. बाहुल्यं २ आ. भवत्यत्र

योजनानां सहस्रैकबाहुल्या मन्दराश्रया[1] । चित्रा मही तया सार्द्धमधोभागो[2] व्यवस्थितः ॥२१
खरभागो भवेत्तावद्योजनानां हि षोडश । सहस्राणि स बाहुल्याद्बहुधा कौतुकावहः ॥२२ युग्मम्
तदधस्तात्स विज्ञेयः पङ्कभागोऽपि विस्तरात् । योजनानां सहस्राण्यशीतिश्च चतुरुत्तरा ॥ २३
सहस्राशीतिबाहुल्यस्ततोऽब्बहुल[3] इत्यपि । भागो भवति भूरीणां नारकाणां समाश्रयः ॥ २४
एवं रत्नप्रभाभूमिर्भागत्रयविभाजिता । सहस्राशीतिलक्षैकबाहुल्या बहुदुःखदा ॥ २५
प्रथमं भावनानां हि भवनानि घनानि च । नवानां सन्ति साधूनि विचित्राकारधारिणाम् ॥२६
तथा सप्तप्रकारेण[4] व्यन्तराणां सुशोभनाः । आवासाः सन्ति तत्रैव खरभागे विभागतः ॥ २७
पङ्कभागे पुनर्भव्यगृहाण्यसुररक्षसाम् । तृतीये नरकाः सन्ति नारकाणां समाश्रयाः ॥ २८
योजनानां सहस्रैकं सर्वासु श्वभ्रभूमिषु । उपर्यधः परित्यज्य पटलानि भवन्ति च ॥ २९

चित्रा नामक पृथ्वी जो कि मंदरपर्वतको आधारभूत है वह एक हजार योजनप्रमाणकी है । उसके नीचे उसके साथ अधोभाग व्यवस्थित हैं । उसके नीचे खरभाग है । वह मोटाईसे सोलह हजार योजनप्रमाणका है और अनेक प्रकारोंसे कौतुकयुक्त है ॥ २१–२२ ॥

खरभागके नीचे पंकभागभी जानने योग्य है । उसका विस्तार चौरासी हजार योजनोंका है । उसकेभी नीचे अब्बहुलभाग है । उसका विस्तारका प्रमाण अस्सी हजार योजनोंका है । वह बहुत नारकी जीवोंका आश्रयस्थान है ॥ २३–२४ ॥

इस प्रकार रत्नप्रभाभूमि खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुलभाग ऐसे तीन विभागोंसे विभक्त हुई है । उसकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनप्रमाणकी है और अतिशय दुःखदायक है ॥ २५ ॥

पहले खरभागमें विचित्र आकार धारण करनेवाले नौ प्रकारके भवनवासियोंके दृढ और सुंदर रत्नमय भवन हैं । अर्थात् नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक् ऐसे नौ प्रकारके भवनवासियोंके स्थान हैं । तथा उसी खरभागमें सात प्रकारके व्यंतरदेवोंके सुंदर आवास विभागक्रमसे हैं । किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच्च ऐसे सप्त व्यंतरोंके निवास हैं । खरपृथ्वीभागके ऊपरके हजार योजनोंका और नीचेके हजार योजनोंका प्रदेश छोडकर बीचके चौदह हजार योजनोंके विस्तृत प्रदेशमें असुर और राक्षसोंको छोडकर भवनवासी और व्यंतरोंके निवास हैं । पङ्कभागमें पुनः असुर और राक्षसोंके भव्य गृह हैं । तीसरे अब्बहुल विभागमें नारकियोंके निवासस्थान अर्थात् नरक बिल हैं ॥ २६–२७–२८ ॥

संपूर्ण नरकभूमियोंमें ऊपरका और नीचेका हजार हजार योजनोंका प्रदेश छोडकर मध्य-

१ आ. मन्दरोऽस्तु यः　२ आ भागे.　३ आ. बाहल्यः　४ आ. सप्तप्रकाराणां

सप्तम्यां मध्यभागे स्युर्नारका नरकाश्रयाः । अब्बहुलभागेऽन्यासु सर्वास्वेते निवेदिताः ॥ ३०
पटलानि भवन्त्येव प्रथमायां त्रयोदश । एकादश नवैतानि सप्त पंच यथाक्रमम् ॥ ३१
द्वितीयायां तृतीयायां चतुर्थ्यां च तथा पुनः । पंचम्यां त्रीणि षष्ठ्यां च सप्तम्यामेकमेव तत् ॥ ३२ युग्मं
तत्र सीमंतसंज्ञं स्यात्प्रथमे प्रस्तरे बिलम् । नृलोकपरिमाणं तत्प्रथमायां यदिन्द्रकम् ॥ ३३
बिलान्येकोनपञ्चाशच्छ्रेणीभूतानि सन्ति[1] च । चतुर्दिक्ष्वप्यसङ्ख्यातयोजनानि दिशं प्रति ॥ ३४
अष्टाधिका भवेत्तेषां चत्वारिंशद्विदिक्ष्वपि । दिगवस्थितरूपाणां प्रकीर्णान्यन्तरे पुनः ॥ ३५
सर्वाण्येकोनपञ्चाशत्सर्वासु श्वभ्रभूमिषु । पटलानि च तेष्वेव क्रम एवं[2] विवर्ण्यते ॥ ३६
श्रेणिश्रेणिगतं किंतु पटलं प्रति हीयते । एकैकमिति सप्तम्यां यावदेकदिशं प्रति ॥ ३७
प्रथमे प्रतरे तावन्नारकाणां समुच्छ्रयः । प्रथमायां त्रयो हस्ता ज्ञातव्यास्तत्ववेदिभिः ॥ ३८
प्रतरे प्रतरे तावद्विवर्द्धन्ते यथाक्रमम् । सहार्धषट्[3] च पञ्चाशदङ्गुलाश्च त्रयोदश ॥ ३९

प्रदेशमें पटल हैं । सातवे नरकके मध्यभागमें नारकोंके आश्रयस्थान ऐसे नारकावास हैं । अब्बहुल भागमें और अन्य सर्व नारकपृथ्वीमें ये नारकावास कहे गये हैं ॥ २९–३० ॥

(नरकपटलोंका वर्णन ।)– पहिली रत्नप्रभामें तेरह पटल हैं । दुसरीमें ग्यारह पटल हैं । तीसरीमें नौ हैं । चौथीमें सात हैं । पांचवीमें पांच हैं । छठीमें तीन हैं और सातवीमें एक है ॥ ३१–३२ ॥

पहली पृथ्वीमें पहले प्रस्तरमें सीमंत नामक बिल है । वह मनुष्यलोकपरिमाणका पैंतालीस लाख योजन परिमाणका है । पहिले नरकमें वही इन्द्रक बिल है ॥ ३३ ॥

पहले प्रस्तारमें प्रत्येक दिशामें-चार दिशामें उनंचास उनंचास श्रेणिबद्ध बिल हैं और वे असंख्यात योजनोंके हैं । विदिशाओंमें जो बिलश्रेणि हैं उनमें अडतालीस अडतालीस बिल हैं । दिशा और विदिशाओंके अन्तरालोंमें प्रकीर्णक बिल हैं ॥ ३४–३५ ॥

सर्व नरकोंमें उनंचास पटल हैं । अब उनमेंही इस प्रकारसे वर्णन करते हैं ॥ ३६ ॥

एकेक पटलकी श्रेणि श्रेणिमें एक एक बिल कम होता है । इस प्रकार कम होते होते सातवे नरकमें एक एक दिशामें एक एक बिल अवशिष्ट रहता है ॥ ३७ ॥

(प्रथमनरकमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाईका वर्णन ।)– पहली पृथ्वीमें पहले प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई तीन हाथ है, ऐसा तत्त्वज्ञोंने कहा है ॥ ३८ ॥

प्रत्येक प्रस्तारमें यथाक्रम ऊंचाई बढती जाती है । तेरहवे प्रस्तारतक साढे छप्पन अंगुलतक बढती जाती है । अर्थात् दो हाथ साढे आठ अंगुल बारह जौतक बढती जाती है । तेरहवे पटलमें सात धनुष्य, तीन हाथ और छह अंगुलप्रमाण नारकियोंके देहकी ऊंचाई है ॥ ३९–४० ॥

---

१ आ. तस्य च २ आ. एव ३ आ. सहार्धानि च षष्टांशादङ्गुलान्या त्रयोदशम्

धनूंषि सप्त जायन्ते त्रयो हस्ताः षडङ्गुलैः । समं त्रयोदशे मानं नारकाणां समुच्छ्रयः ॥ ४०
द्वितीयायां स एव स्यादुत्सेधः प्रथमे महान् । प्रतरे वर्धते तस्मात्त्रिकरैस्त्र्यङ्गुलाधिकम्[1] ॥ ४१
एकादशे धनूंष्याहुः पञ्चाधिकतया दश । हस्तद्वयं शरीरस्य मानं सद्विदशाङ्गुलम् ॥ ४२
तृतीयायां स एव स्यात्प्रथमे प्रतरे महान् । उत्सेधो यो द्वितीयायां कथितश्चान्तिमे बुधैः ॥४३
सहार्द्धैकोनविंशत्या सप्तहस्तैः प्रकीर्तिता । वृद्धिस्ततः परा यावन्नवमप्रतरं भवेत् ॥ ४४
उत्सेधं च धनूंष्याहुरेकत्रिंशत्करोधिकम् । नवमे[2] च तृतीयायां प्रतरे प्रज्ञयान्विताः ॥ ४५
चतुर्थ्यां हि स एव स्यात्प्रथमे प्रतरे ततः । वृद्धिर्धनूंषि पञ्चैव सा विंशत्यङ्गुलैः सह ॥ ४६
उत्सेधो नारकाणां च हस्तद्वयसमन्वितः । स्यात्स एव हि पञ्चम्यमादिमे प्रतरे ततः ॥ ४७
सप्तमे प्रतरे तत्स्याद्द्वाषष्टिर्धनुषां मतः । दश पंच च चापानि साधहस्तद्वयं पुनः ॥ ४८
प्रतरे प्रतरे वृद्धिर्यावत्पञ्चमकं भवेत् । पञ्चमे च शतं तस्माद्धनुषां पञ्चविंशतिः ॥ ४९

(दूसरे नरकमें नारकीके देहकी ऊंचाई ।)– दूसरी पृथ्वीमें - शर्कराप्रभामें पहले प्रस्तरमें वही उत्सेध है अर्थात् सात धनुष्य तीन हाथ और सहा अंगुलप्रमाण नारकियोंका देह ऊंचा है । तदनंतर प्रत्येक प्रस्तरमें तीन हाथके ऊपर तीन अंगुल वृद्धि होती है । ऐसी यह वृद्धि ग्यारहवे प्रस्तारतक होती जाती है । ग्यारहवे प्रस्तारमें पंद्रह धनुष्य दो हाथ बारह अंगुलका शरीर ऊंचा रहता है ॥ ४१–४२ ॥

(तीसरे नरकमें नारक देहकी ऊंचाई ।)– दूसरे नरकके अन्तिम पटलमें जो नारकियोंके शरीरका उत्सेध विद्वानोंने कहा है, वही तीसरे नरकके प्रथम प्रतरके नारकियोंके शरीरका उत्सेध है । तदनंतर आगे प्रत्येक प्रतरमें वृद्धि होती जाती है वह तीसरे नरकके नवमें प्रतरतक होती रहती है । तीसरे नरकके नवमें प्रतरतक सात हाथ साडे उन्नीस अंगुलप्रमाण वृद्धि होती है । जो प्रज्ञासे युक्त है ऐसे गणधर देवने तीसरे नरकके नवमें पाथडेमें नारकियोंका शरीर इकत्तीस धनुष्य एक हाथ ऊंचा कहा है ॥ ४३–४५ ॥

(चौथे और पांचवे नरकके नारकियोंके देहका उत्सेध ।)– चौथे नरकके पहले प्रतरमें वही शरीरोत्सेध है । उसके अनंतर पांच धनुष्य और बीस अंगुलप्रमाण वृद्धि प्रत्येक प्रतरमें होती हुई पांचवे नरकपृथ्वीके पहले प्रतरमें नारकियोंका शरीरोत्सेध वही है–पूर्वोक्त है। तदनन्तर आगेके प्रतरोंमें शरीरोत्सेध बढता हुआ सातवे प्रतरमें बासष्ट धनुष्य हुआ है । तदनंतर प्रत्येक प्रतरमें पंद्रह धनुष्य अढाई हाथकी वृद्धि होती हैं और पांचवे प्रतरमें एकसौ पच्चीस धनुष्य प्रमाण शरीरका उत्सेध होता है । अर्थात् पांचवे नरकके अन्तिम पटलमें नारकियोंका शरीरोत्सेध एकसौ पच्चीस धनुष्य प्रमाणका होता है ॥ ४६–४९ ॥

---

१ आ. त्र्यङ्गुलाधिकैः २ आ. नवमेऽनु तृतीयायाः

पञ्चम्यां पञ्चमेऽभाणि य उत्सेधः स आदिमे। षष्टयां च प्रतरे प्राज्ञैः कथितो यतिनायकैः ॥ ५०
प्रतरे प्रतरे वृद्धिस्ततः सार्धद्वयान्विता। जायते धनुषां षष्ठिस्तृतीयं यावता भवेत् ॥ ५१
उत्सेधो जायते षट्यां[2] तृतीये प्रतरे पुनः। पञ्चाशदधिकं तावद्धनुषां च शतद्वयम् ॥ ५२
सप्तम्यां[3] प्रतरे तावन्नारकाणां समुच्छ्रयः। ख्यातः पञ्चाशतान्येषां धनुषां यतिनायकैः[4] ॥ ५३
एकस्त्रयस्तथा सप्त दश सप्तदशापि वा। द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरास्तासु जीवितम् ॥ ५४
प्रथमायां यदुत्कृष्टं द्वितीयायां हि तत्पुनः। जघन्यमिति सर्वासु क्रमोऽयं वर्णितो बुधैः ॥ ५५
आयू रत्नप्रभायां तत्प्रथमे प्रतरे मतम्। दशवर्षसहस्राणि नवतिः परमं पुनः ॥ ५६
दशलक्षं जघन्यं स्याद्द्वितीये नवतिः परम्। तदायुर्नारकाणां हि कथितं जिननायकैः ॥ ५७
जघन्यं नवतिलक्षास्तृतीये कथितं जिनैः। उत्कृष्टं पूर्वकोटी[5] स्यादायुस्तत्र हतात्मनाम् ॥ ५८

(षष्ठनरकमें नारकियोंका शरीरोत्सेध।)— पांचवे नरकके पांचवे प्रतरमें जो शरीरोत्सेध नारकियोंका कहा है, वही छठी पृथ्वीमें पहले प्रतरमें विद्वान यतीश्वरोंने कहा है। इसके अनंतर प्रत्येक प्रतरमें साडेबासष्ट धनुष्य प्रमाण शरीरोत्सेध बढता है। वह बढते बढते तृतीय प्रतरमें ढाईसौ धनुष्यप्रमाण शरीरका उत्सेध हुआ है ॥ ५०–५२ ॥

(सातवे नरकमें नारकियोंका शरीरोत्सेध।)— सातवे नरकके प्रथम प्रतरमें नारकियोंकी शरीरकी ऊंचाई पांचसौ धनुष्य है ऐसा यतिनायकोंने कहा है ॥ ५३ ॥

(सात नरकोंमें नारकियोंके आयुष्यका वर्णन।)— प्रथम नरकको आरंभकर सातवे नरकतक क्रमसे नारकियोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सतारह सागर, बावीस सागर और तेहतीस सागर प्रमाण है। पहले नरकमें जो उत्कृष्ट आयु कही है वह दूसरे नरकमें जघन्य है। इस प्रकारसे सातवे नरकतक विद्वानोंने आयुःक्रमका वर्णन किया हैं ॥ ५४–५५ ॥

(पहले नरकके प्रत्येक प्रतरमें जघन्य और उत्कृष्ट आयुका प्रतिपादन।)— पहले नरकके पहले प्रतरमें दस हजार वर्षोंकी जघन्य आयु है और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्षकी है ॥ ५६ ॥

दूसरे प्रतरमें नारकियोंकी जघन्य आयु नब्बे हजार वर्षकी है और उत्कृष्ट आयु दस लाख वर्षकी है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है। तीसरे प्रतरमें दीन नारकियोंकी जघन्य आयु नब्बे लक्ष है और उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटिवर्ष--प्रमाण है। चौथे प्रतरमें एक पूर्वकोटि आयु जघन्य है और उत्कृष्ट आयु सागरका दसवा भाग है। चतुर्थ प्रतरमें जो उत्कृष्ट आयु है, वह पांचवे प्रतरमें जघन्य समझना चाहिये। पांचवे प्रतरमें सागरका जो दशमअंश जघन्य आयु कही है उसके दो अंश प्रमाण आयु उत्कृष्ट है। छठे प्रतरमें जघन्य आयु सागरके दश अंशमें दो अंश है और उत्कृष्ट तीन अंश है। आगेके प्रतरोंमें एक एक अंशकी वृद्धि होती है ऐसा निश्चय हैं। इसका स्पष्टीकरण ऐसा है—सातवे

१ आ. पञ्चम्याः　२ आ. षष्ठयाः　३ आ. सप्तम्याः　४ धृतिनायकः　५ आ. पूर्वकोटिः

चतुर्थे प्रतरे तस्याः पूर्वकोटिर्जघन्यकम् । दशमो भाग उत्कृष्टं सागरस्येह कथ्यते ॥ ५९
आयुस्त्रयोदशे ज्ञेयमुत्कृष्टं सागरोपमम् । जघन्यं तस्य भागायुर्नवैवेति सुनिश्चितम् ॥ ६०
पञ्चमे च जघन्यं तद्यदुत्कृष्टं चतुर्थके । तावेव द्वौ विभागौ स्यादुत्कृष्टं तस्य[1] जीवितम् ॥६१
परेष्वेकोत्तरा वृद्धिर्भागानामिह निश्चिता । आयुर्जघन्यमुत्कृष्टं तथा तेषु निगद्यते ॥ ६२
ऊर्ध्वक्षितिस्थितेर्यस्तु विशेषः प्रतरैर्हृतः । स्वकीयैर्गुणितः स्वेच्छं तेनामोत्कृष्टमिष्यते (?)॥६३
नित्याशुभतरा लेश्यास्तेषु ते सन्ति नारकाः । स्वभाववेदनादेहविक्रियादुष्टभागिनः ॥ ६४
प्रथमायां द्वितीयायां सर्वे कापोतलेश्यकाः । नारकाः सन्ति दुःखार्ताः पच्यमानाः पदे पदे ॥६५
उपरिष्टात्तृतीयायां जीवाः कापोतलेश्यकाः । अधस्तान्नीललेश्याःस्युर्मिथ्यात्वचलभावनाः ॥६६

प्रतरमें जघन्य आयु तीन अंश है उत्कृष्ट आयु चार अंश है। आठवे प्रस्तारमें सागरके चार अंश जघन्य आयु है और सागरके पांच अंश उत्कृष्ट आयु है। नौवे पाथडेमें जघन्य आयु पांच अंश है उत्कृष्ट आयु छह अंश है। दसवे प्रतरमें जघन्य आयु छह अंश है और उत्कृष्ट आयु सात अंश है। ग्यारहवे प्रतरमें जघन्य आयु सात अंश है और उत्कृष्ट आठ अंश है। बारहवे पाथडेमें जघन्य आयु सागरके आठ अंश है और उत्कृष्ट आयु नौ अंश है। तेरहवे पाथडेमें उत्कृष्ट आयुष्य एकसागरोपम है और जघन्य आयु सागरके नौ अंश प्रमाण निश्चित हैं ॥ ५७-६२ ॥

आगेके प्रतरके भागोंमें एक एक भाग अधिक वृद्धि होती है उसको उत्कृष्ट कहना चाहिये। तथा पूर्व पूर्वभाग मात्र आयु जो आगेके प्रतरमें होती हैं उसको जघन्य आयु कहते है ॥६३॥

उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका अन्तर निकालकर प्रतरोंकी संख्यासे उसे भाजित कर पहली पृथ्वीकी उत्कृष्ट स्थितिमें जोडनेपर दूसरी पृथ्वीके प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति होती है ॥ ६३ ॥

(नारकियोंके लेश्यादिक अशुभतरही हैं ऐसा कथन।)- उन सात नरकोंमें वे नारकी हमेशा अशुभतर लेश्या, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना, अशुभतर स्वभाव और अशुभतर विक्रिया आदिक दोषवाले होते हैं। स्पष्टीकरण- मध्यलोकमें तिर्यंचोंमें जो अशुभ लेश्या, देह, वेदनादिक होते हैं, उससे अधिक अशुभलेश्या, देह, वेदनादिक नारकियोंके होते हैं; ऐसा अभिप्राय व्यक्त करनेके लिये 'अशुभतर' कहा है। अथवा रत्नप्रभादि उपरके नरकोंकी अपेक्षा नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर लेश्या, देह, वेदना परिणामादिक अशुभतर अशुभतर होते है ॥ ६४ ॥

पहले और दूसरे नरकमें सर्व नारकी कापोत लेश्यावाले तथा दुर्भावना युक्त और दुःखोंसे पीडित और वहांके प्रतिस्थानमें वे दुःखसे पचते रहते हैं। तथा वालुकाप्रभा नरकके उपरिष्ट भागमें उत्तम कापोत लेश्या है और नीचेके विभागमें नीललेश्या हैं। इन नारकियोंके भाव मिथ्यात्वसे चंचल होते हैं ॥ ६५-६६ ॥

---

१ आ. तत्र

चतुर्थ्यां नीललेश्यास्ते पञ्चम्यामुपरि स्थिताः । नीलाः कृष्णास्त्वधः षष्ठ्यां कृष्णा एव निरन्तराः ॥
सप्तम्यां कृष्णकृष्णास्ते नारका नरकावनौ । क्षेत्रस्वभावतो हीना[1] जायन्ते ते नपुंसकाः ॥ ६८
असुरोदीरितानेकदुःखिनस्त्रिषु ते पुनः । ततः परस्परं दुःखान्युद्गिरन्ति दुराशयाः ॥ ६९
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैस्तीव्रभावगैः । जायते दुर्गतिः सत्यं सत्त्वानामिति नारकाः ॥ ७०
वेदना द्विविधा तेषां बाह्याभ्यन्तरभेदतः । असातजनिताश्चित्तसम्भवा देहजाः पराः ॥ ७१
क्षेत्रस्वभावतो घोरा शीतोष्णजनिता परा । वेदना जायते तेषां नारकाणामसातजा ॥ ७२
आचतुर्थ्या भवन्त्येते नारका ह्युष्णवेदनाः । पञ्चम्यामुपरिष्टात्ते द्वे लक्षे चोष्णवेदने ॥ ७३
लक्षमेकमधस्ताच्च तस्याः शीतैकवेदनाः । षष्ठ्यां चैव तथा पञ्च सप्तम्यां शीतवेदनाः ॥ ७४
असंज्ञिनश्च ये तावज्जीवाः पञ्चेन्द्रिया मृताः । यान्ति ते नरकेऽधस्तात्प्रथमे[2] न परेष्वमी ॥७५

चतुर्थी पृथ्वीमें–पंकप्रभामें नीललेश्या है, पांचवी धूमप्रभाके उपरके भागमें नीललेश्या है और अधोभागमें कृष्णलेश्या है । छठे नरकमें कृष्णलेश्या है और सातवे भागमें कृष्णकृष्णलेश्या है । इस प्रकार नरकपृथिवीओंमें लेश्याओंका क्रम है । क्षेत्रस्वभावसे वे अतिशय दुःखी, हीन हैं और वे नपुंसक होते हैं ॥ ६७–६८ ॥

तीसरे नरकतक असुरोंके द्वारा वे नारकी दुःखित किये जाते हैं । चौथे नरकसे सातवे नरकतक वे नारकी जीव दुर्भावनाओंसे अन्योन्यको दुःख देते हैं । नाना प्रकारके दुःखोंसे वे अन्योन्यको पीडित करते हैं ॥ ६९ ॥

तीव्र परिणामोंसे युक्त ऐसा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे जीवोंको दुर्गति प्राप्त होती है, अर्थात् वे जीव नरकमें नारकी होकर जन्मते हैं ॥ ७० ॥

उन नारकियोंको नाना प्रकारकी वेदना भोगनी पडती हैं । वे वेदनायें बाह्यवेदना और अभ्यन्तर वेदना ऐसी दो प्रकारकी हैं । असातावेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई वेदनाएं, मानसिक वेदनायें, और देहसे उत्पन्न हुई वेदनायें, क्षेत्रस्वभावसे भयंकर शीत और उष्णसे उत्पन्न हुई वेदनायें ऐसे वेदनाके अनेक प्रकार हैं । वे असाता वेदनीयसे उत्पन्न होती हैं ॥ ७१–७२ ॥

(नरकबिलोंके शीतोष्णत्वका वर्णन ।)– पहली पृथ्वीसे आरंभ कर चौथी पृथ्वीतक जो नरकबिल हैं वे उष्णवेदनाको उत्पन्न करते हैं । अर्थात् वहां अत्यंत उष्णता है । पांचवी पृथ्वीके उपरके दो लक्ष बिल उष्णवेदनाके धारक हैं । और पांचवी नीचले भागमें एक लाख नरकबिल शीतवेदनावाले होते हैं अर्थात् उन बिलोंमें अत्यन्त शीतवेदना है । छठे नरकके एक लाख बिल और सातवी नरकके पांच बिल ये शीतवेदनाके हैं ॥ ७३–७४ ॥

कौन कौनसे जीव किस किस नरकमें उत्पन्न होते हैं–जो असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं,

१ आ. हीना　२ आ. यान्ति चेन्नरके

द्वितीयायां मृता यान्ति सरटाः पक्षिणः पुनः । तृतीयामेव गच्छन्ति चतुर्थ्यामुरसर्पकाः ॥ ७६
सिंहाश्च हस्तिनो यान्ति पञ्चम्यां च तथा स्त्रियः । षष्ठ्यामेव प्रबध्नन्ति नारकं कर्म दुस्तरम् ॥ ७७
मनुजेषु पुमांसश्च तथा मत्स्यादयः परे । सप्तम्यां च मृता यान्ति कर्मणा नारकेन च ॥ ७८
सप्तम्या निःसृता जीवा मानुषत्वं न जातुचित् । लभन्ते च भवन्त्येव तिर्यञ्चः केवलं पुनः ॥ ७९
षष्ठीतो निर्गता जीवा जायन्तेऽनन्तरे भवे । मानुषा यदि ते नैव संयमेन विभूषिताः ॥ ८०
संयमोऽपि भवत्येव पञ्चम्या आगतस्य च । न कर्मान्तक्रिया तस्य दुःखभावविभाविनः ॥ ८१
चतुर्थ्या निर्गतस्यास्य निर्वृतिर्जायते क्वचित् । न जातु तीर्थकारित्वं तथा शक्तेरभावतः ॥ ८२
तीर्थकारित्वमप्यस्य जीवस्य जायते ध्रुवम् । तृतीयाया द्वितीयायाः प्रथमान्निर्गतस्य च ॥ ८३
नरकान्निर्गतानां न तस्मिन्नेव भवे भवेत् । चक्रित्वं वासुदेवत्वं बलदेवत्वमित्यपि ॥ ८४
आहारोऽपि भवेत्तेषामाभोगविनिवृत्तितः । उच्छ्वसन्ति च ते सर्वे भस्त्रायन्त्रमिवानिशम् ॥ ८५

वे पहले नरकमें उत्पन्न होते हैं । वे दूसरे तीसरे आदि नरकभूमिमें उत्पन्न नहीं होते । गिरगिट नामक प्राणी मरणोत्तर दूसरे नरककी भूमिमें उत्पन्न होते हैं। पक्षी जीव तीसरे नरकतक उत्पन्न होते हैं । इसके आगे वे उत्पन्न नहीं होते । छातीसे चलनेवाले गोह आदि प्राणी चौथे नरकतक जाते हैं । उसके आगेके नरकमें वे उत्पन्न नहीं होते । सिंह और हाथी ये प्राणी पांचवे नरकमें उत्पन्न होते हैं । अर्थात् पहलेसे पांचवे नरकतक उत्पन्न होते हैं । स्त्रियाँ अर्थात् मनुष्य-स्त्रियाँ छठे नरकमें उत्पन्न होती हैं । अर्थात् छठी नरकभूमितककी पापसे उत्पन्न होनेकी योग्यता उनकी हैं । सातवे नरकमें उनका जन्म नहीं होता है । मनुष्योंमें पुरुष तथा तिर्यंचोंमें मत्स्यादिक प्राणी सातवे नरकमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रथम नरकसे सातवे नरकतक वे उत्पन्न होते हैं ॥ ७५-७८ ॥

(कौनसी नरक भूमीसे निकले हुए जीव कौनसी अवस्थाको प्राप्त होते हैं? उत्तर)- सातवी नरकभूमीसे निकले हुए नारकी जीव मध्यलोकमें अनंतरभवमें मनुष्यपर्याय कदापि धारण नहीं करते हैं अर्थात् सातवे नरकमेंसे निकले हुए जीव मध्यलोकमें केवल तिर्यंचोंमेंही जन्म धारण करते हैं । छठी पृथ्वीसे निकले हुए जीव अनंतरभवमे यदि मनुष्यपर्याय धारण करें तो नियमसे, संयमभूषित नहीं होते हैं । पांचवे नरकसे निकला हुआ जीव मनुष्य होकर संयमभी धारण कर सकता है । परंतु संक्लेशपरिणामोंसे संस्कृत होनेसे उसको कर्मक्षय न होनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । चौथे नरकसे निकले हुए जीवको क्वचित् मोक्षप्राप्ति होती हैं । परंतु तीर्थकरपना उसको प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि तीर्थकर होनेकी शक्ति उस जीवमें प्रगट नहीं होती है । जो जीव तीसरा नरक, दूसरा नरक और पहले नरकसे निकलते हैं उनको तीर्थकरपदकी प्राप्ति होती है । नरकसे निकले हुए जीवोंको उसी भवमें चक्रवर्तिपद, वासुदेवपद और बलदेवपदभी प्राप्त नहीं होता है । नारकियोंको आहारभी होता है परंतु उनको कभी तृप्ति नहीं होती हैं। और वे हमेशा भस्त्राके समान श्वासोच्छ्वास करते हैं ॥ ७९-८५ ॥

तप्तायोरसपानं च तप्तायस्तम्भरोहणम् । घनाभिघातनं तीक्ष्णवासीक्षुरविकर्तनम् ॥ ८६
तत्रैव क्षारतैलानामभिषेकं सुदुःसहम् । अयसः कुम्भीपाकैकभर्जनं यन्त्रपीडनम् ॥ ८७
छेदनं भेदनं दुष्टं त्रासनं भीषणं भयम् । इत्यादिबहुदुःखैकहेतुभूतं सुदुस्सहम् ॥ ८८
जन्तुघातभवानेकरौद्रध्यानविवर्द्धिनः । लभन्ते नारका ह्यर्थं दुःकर्मपरिपाकतः ॥ ८९
ज्ञात्वेति भव्यजीवेन दुर्गतेर्दुःखमायतम् । अहिंसादिव्रतं पूतं धियते श्रीजिनोदितम् ॥ ९०
संसारकानने भीमे नारकादिकुयोनिषु । सरन्नपि न विश्रामं ह्यो जीवो याति जातुचित् ॥ ९१
मुक्त्वा जैनेश्वरं धर्मं सर्वशर्मकरं परम् । जीवो दुर्गतिदुःखेभ्यो ध्रियते केन सत्सुखे ॥ ९२
नरकगतिगतानां प्राणिनां वृत्तमेतत्[1] । हृदि धृतमपि दुःखं यज्जनानां ददाति ॥

वहां नारकी आपसमें तपे हुए लोहेका रस पिलाते हैं, तपे हुए लोहेके खंभोपर चढाते हैं, घनोंसे मस्तकपर खूब पीटते हैं। तीक्ष्ण वासी और उस्तरेसे वे शरीरोंको छीलते हैं, विदारण करते हैं। उन नरकोंमें वे नारकी क्षारजलोंका अभिषेक छीले हुए नारकियोंके अंगोंपर करते हैं जिससे उनको अत्यंत दुस्सह वेदना होती है। लोहेकी कढाईमें पकाना, भुंजाना और यंत्रमें पेलना, छेदन करना, भेदन करना, दोषयुक्त त्रास देना, भीषण भय दीखाना ये सब कार्य अत्यन्त दुःखके मुख्य हेतुभूत हैं और अतिशय दुःस्सह हैं ॥ ८६-८८ ॥

नारकी जीव प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए अनेक रौद्रध्यानोंको बढानेवाले ऐसे नारकीय अनर्थोंको दुष्कर्म परिपाक होनेसे-अशुभ कर्मका उदय होनेसे भोगते हैं ॥ ८९ ॥

नारकियोंको प्राप्त हुए दुर्गतिके विस्तीर्ण दुःखोंको इस प्रकार जानकर भव्यजीवोंकेद्वारा श्रीजिनेश्वरने कहे हुए पवित्र अहिंसादि व्रत धारण किये जाते हैं ॥ ९० ॥

अरेरे ! इस भयंकर संसाररूप वनमें नारकादिक अनेक कुयोनियोंमें इस जीवने स्वल्प विश्रामभी कदापि प्राप्त नहीं किया है ॥ ९१ ॥

संपूर्ण सुखको देनेवाला अर्थात् अनन्त सुखरूप मुक्तिको प्रदान करनेवाला जिनेश्वरका उत्तम धर्म छोडकर दूसरा कौनसा धर्म-वैदिकादि धर्म जीवको दुर्गतिदुःखोंसे निकालकर उत्तम दुःखरहित सुखमें स्थापन करता है ? अर्थात् जीवोंको अन्यधर्म दुःखरूप चतुर्गतिमें भ्रमण करानेके कारण हैं ॥ ९२ ॥

नरकगतिमें जो प्राप्त हुए हैं, ऐसे प्राणियोंका यह वृत्त हृदयमें धारण करनेपरभी लोगोंको दुःखित करता है। तो भी ज्ञान और चारित्रसे हीन अर्थात् अज्ञानी और स्वच्छंदी पुरुष उन

---

१ आ. दुःख

तदपि यदि निहीना ज्ञानचारित्रहीना । न हि परिगणयन्ते हा हतास्ते हताशाः ॥ ९३
अतुलितमहिमानं वर्द्धमानं ह्यमानम् । जिनवरवरवीरं चारुचारित्रधीरम् ॥
हृदयगतमनूनं यो दधात्यत्र नूनम् । नरकगतिविशेषस्तस्य नामैकशेषः ॥ ९४

इति[1] श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते नरकगतिस्वरूपप्ररूपणः षष्ठः परिच्छेदः

दुःखोंको ध्यानमें नहीं लाते हैं । नरकोंमें तीव्र दुःख असदाचारसे भोगना पडता है इस बातका विचारही नहीं करते हैं । अहह ! ऐसे हताश पुरुष नष्टही हुए ऐसा समझना चाहिये ॥ ९३ ॥

जिनकी महिमा अनुपम है और जो अमान–गर्वरहित हैं अर्थात् उपलक्षणसे क्रोधादि कषाय और ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित हुए हैं, जिनका ज्ञान पूर्ण वृद्धिगत हुआ है, जो सर्वज्ञ हुए हैं, जिन्होंने सुंदर चारित्र–यथाख्यात चारित्र धारण किया है, तथा जो धीर हैं–अनन्त शक्तिमान हैं, जो जिनवरमें गणधरादिकोंमें वर–श्रेष्ठ है ऐसे वीरभगवानको, जोकि अनून अर्थात् महान् है, गुणोंसे परिपूर्ण जो हृदयमें उनको धारण करते हैं उनको नरकगतिका विशेष नामसेहि शेष है अर्थात् वे नरकगतिको प्राप्त होते नहीं ॥ ९४ ॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनजीके रचे हुए सिद्धान्तसार संग्रहमें नरकगतिका स्वरूप कथन करनेवाला छठा अधिकार समाप्त हुवा ।

१ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रह आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥

सप्तमः परिच्छेदः

अथ तिर्यङ्मनुष्यलोकं कथयामि यथागमम् । तिर्यङ्मानवदेवानामानन्दैकप्रदायकम् ॥ १
जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः शुभनामान इत्यमी । लवणोदादयः सर्वे समुद्रास्तत्र विश्रुताः ॥ २
जम्बूद्वीपस्ततो द्वीपो धातकीखण्ड इत्यपि । पुष्कराख्यस्तृतीयः स्याच्चतुर्थो वारुणीवरः ॥ ३
पञ्चमः क्षीरनामा च षष्ठो घृतवरो मतः । सप्तमो मुनिभिर्गीतस्तथेक्ष्वादिवरो महान् ॥ ४
नन्दीश्वरस्तथा पूतश्चाष्टमो नवमः पुनः । अरुणाख्य इति ख्यातस्ततोऽरुणवरो महान् ॥ ५
अरुणादिवराभासो द्वीपश्चैकादशो मतः । द्वादशः कुण्डलाख्यश्च कुण्डलादिवरः परः ॥ ६
चतुर्दशस्तदाभासः कथितो मुनिभास्करैः । शङ्खस्ततः परो ज्ञेयस्तस्माच्छङ्खवरः परः ॥ ७
ततः शङ्खवराभासो रुचकस्तत्परो वरः । रुचकादिवरस्तस्माद्रुचकाभास इत्यपि ॥ ८
भुजगः कथितो[1] द्वीपो भुजगादिवरस्ततः । भुजगादिवराभासः कुशः कुशवरो महान् ॥ ९
कुशाभासश्च विज्ञेयः क्रौञ्चः क्रौञ्चवरस्ततः । स क्रौञ्चादिवराभासो नामतोऽमी निवेदिताः ॥१०
अतः परमसङ्ख्याता द्वीपाः सन्ति सुशोभनाः । यावदन्तिमको द्वीपः स्वयम्भूरमणाभिधः ॥११

(सातवा अध्याय)

अब मैं (पंडिताचार्यनरेन्द्रसेन) आगमका अनुसरण करके तिर्यंच, मनुष्य और देवोंको आनन्द देनेवाले तिर्यङ्मनुष्यलोकका वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

इस मध्यलोकमें जो शुभनाम हैं उनको धारण करनेवाले सर्व जम्बूद्वीपादिक प्रसिद्ध द्वीप हैं और शुभनाम धारण करनेवाले लवणोदादिक प्रसिद्ध समुद्र हैं ॥ २ ॥

(द्वीपोंके नाम ।)– पहला जम्बूद्वीप है तदनन्तर धातकीखण्डद्वीप है। तीसरा पुष्कर-द्वीप है । चौथा वारुणीवर द्वीप, पांचवां क्षीरवरद्वीप, छठा घृतवर द्वीप, सातवां महान्द्वीप इक्षुवर है । आठवे द्वीपका नाम नन्दीश्वर है । नौवां द्वीप अरुणनामका है । दसवां द्वीप अरुणवर है । ग्यारहवां द्वीप अरुणवराभास नामका है । बारहवां द्वीप कुण्डल नामवाला है । कुण्डलवरद्वीप तेरहवां है । मुनिओंमें सूर्यसमान तेजस्वी गणधरोंने चौदहवां द्वीप ऐसे कुंडलवरा भास कहा है । तदनंतर शंख नामक द्वीप पंद्रहवां है । इसके अनंतर सोलहवे द्वीपका नाम शंखवर है । इसके अनंतर शंखवराभास, तदनन्तर रुचक, पुनः रुचकवर, तदनंतर बीसवां द्वीप रुचकाभास नामका है । इसके अनंतर भुजगद्वीप है । फिर भुजगवरद्वीप है । तदनंतर भुजगवराभास नामका द्वीप है । इसके अनंतर कुशद्वीप, तदनंतर महान् कुशवरद्वीप है । पुनः कुशवराभासद्वीप है । पुनः क्रौंचद्वीप हैं । तदनंतर क्रौंचवरद्वीप है । इसके अनंतर क्रौंचवराभास द्वीप है ऐसे नामोल्लेख करके अठ्ठाईस द्वीप कहे हैं । इन द्वीपोंके अनन्तरभी सुंदर ऐसे असङ्ख्यातद्वीप हैं । और वे अन्तिमद्वीपतक हैं और अन्तिमद्वीपका नाम स्वयंभूरमण हैं ॥ ३–११ ॥

---

१ आ. कथ्यते

लक्षयोजनमानेन जम्बूद्वीपः प्रमाणभाक्[1]। लक्षद्वयप्रमाणेन लवणोदेन वेष्टितः ॥ १२
चतुर्लक्षप्रमाणोत्थधातकीखण्ड इत्यपि। लक्षाष्टकप्रमाणेन कालोदवलयान्वितः ॥ १३
ततः षोडशलक्षैकविस्तारः पुष्कराभिधः। मानुषोत्तरशैलस्य वलयेन द्विधाकृतः ॥ १४
पुष्कराख्यसमुद्रेण द्विगुणेनाभिवेष्टितः। द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्सन्त्यन्ये द्वीपसागराः ॥ १५
वलयाकृतयः सर्वे तिर्यग्लोकव्यवस्थिताः। स्वयम्भूरमणो यावद्द्वीपश्चान्तिमको भवेत् ॥ १६
समुद्रा अपि सर्वेऽपि वलयाकृतयः परे[2]। विद्यन्ते द्वीपनामानो मुक्त्वाद्यद्वितयं पुनः ॥ १७
द्रवल्लवणसंवादिरसतोयभृतौ[3] पतौ। लवणोदस्तु कालोदः सत्यं तोयरसः स्मृतः ॥ १८
पुष्कराम्बुधिरप्येवं स्वयम्भूरमणोऽपि च। उदकैकरसौ ज्ञेयौ जिनागमनिवेदितौ ॥ १९
वारुणीवर इत्येवं यस्य नामेह विश्रुतम्। मदिरैकरसास्वादतोयसंपूरितः स च ॥ २०

(जम्बूद्वीपादि द्वीपसमुद्रोंका विस्तारवर्णन।)- विस्तारसे एक लाख योजन प्रमाणको धारण करनेवाला जम्बूद्वीप, दो लाख प्रमाण युक्त लवणोद समुद्रसे वेष्टित है। इस लवणसमुद्रको चार लाख योजन प्रमाणको धारण करनेवाले धातकी खंडने वेष्टित किया है। इसको आठ लाख योजनका विस्तार धारण करनेवाले कालोद समुद्रने घेरा है। इस कालोदसमुद्रको घेरनेवाला द्वीप पुष्कर नामका है। वह सोलह लाख योजन विस्तारवाला है। उसके बीचमें मानुषोत्तर पर्वतका वलय है। उससे वह द्विधा हुआ है अर्थात् उसके दो भेद हुए हैं। इस पुष्करद्वीपको पुष्करवरनामक समुद्रने जोकि बत्तीस लाख योजन विस्तारका है, घेरा है। इसके अनन्तर समुद्रसे द्विगुण विस्तारवाला द्वीप और द्वीपसे दुगुने विस्तारवाला समुद्र ऐसे द्वीपसमुद्र हैं, वे सब वलायाकार हैं और तिर्यग्लोकमें विशिष्ट अवस्थासे व्यवस्थित हैं। उनका वर्णन आगममें हैं। इस तिर्यग्लोकमें अन्तिमद्वीप स्वयंभूरमण नामवाला है। सब समुद्रभी द्वीपके समान वलयाकार हैं। जो समुद्र हैं वे द्वीपके नामवाले है परंतु जम्बूद्वीप और धातकीखंड ये दो द्वीप छोडकर अर्थात् जम्बूसमुद्र, धातकी समुद्र ऐसे नाम पहिले और दूसरे समुद्रके नहीं है पहिले समुद्रका नाम लवणोदसमुद्र है और दूसरे समुद्रका नाम कालोद है परंतु उनके आगेके समुद्रोंके नाम द्वीपके नामका अनुसरण करते हैं अर्थात् पुष्करद्वीप, पुष्करसमुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरद्वीप, क्षीरसमुद्र इत्यादिमें सर्वत्र द्वीपके नामही समुद्रके नाम हैं ॥ १२-१७ ॥

(पहिले दो समुद्रोंके जलका स्वाद।)- द्रवीभूत नमकके समान स्वादवाला पानी लवणसमुद्रका है। और कालोदका पानी पानीके स्वादकाही माना है। पुष्करसमुद्रभी जलस्वाद-वाला है। तथा स्वयंभूरमण समुद्रका पानीभी जलस्वादवालाही है ऐसा जिनागमने कहा है ॥ १८-१९ ॥

(अन्यसमुद्रके जलास्वादोंका वर्णन।)- इस मध्यलोकमें जिसका नाम वारुणीवर ऐसा प्रसिद्ध है वह केवल मदिरारसके आस्वादको धारण करनेवाले जलोंसे भरा हुआ हैं। जो क्षीरो-

१ आ. सुवृत्तभाक्　२ आ. पराः　३ संवाद

क्षीरोदकवरो यस्तु समुद्रस्तेषु विश्रुतः । खण्डसम्मिश्रसत्क्षीररसास्वादाम्बुपूरितः ॥ २१
सुगन्धघृतसंवादितोयसन्दोहपूरितः । घृतादिकवरो वर्यैः कथितो जिननायकैः ॥ २२
मध्विक्षुरससंवादिजलजातप्रपूरिताः । शेषाः सर्वेऽपि विज्ञेयाः समुद्राः श्रीजिनागमात् ॥ २३
एषु द्वीपसमुद्रेषु पर्वताद्युपरि स्थिताः । व्यन्तराणां समावासा विद्यन्ते विविधाः पुनः ॥ २४
लवणोदे च कालोदे स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । मत्स्यादयः प्रभूताः स्युर्न परेषु कदाचन ॥ २५
मेरुनाभिः शुभो वृत्तो मध्यस्थो[1] हि यतो महान् । जम्बुद्वीपस्ततोऽप्येवं कथयामि विशेषतः ॥ २६

दकवर नामक समुद्र समुद्रोंमें प्रसिद्ध है वह खाण्डका मिश्रण जिसमें है ऐसे दूधके रसके आस्वादको धारण करनेवाले जलोंसे भरा हुआ है ॥ २०–२१ ॥

श्रेष्ठ ऐसे जिननायकोंने-वृषभादि तीर्थंकरोंने घृतवर-समुद्र सुगंधित घीके समान आस्वादवाले जलसमूहोंसे भरा हुआ है ऐसा कथन किया है । बाकीके समस्त समुद्र मधु और ईखके रसका स्वाद धारण करनेवाले जलसमूहोंसे भरे हुए हैं ऐसा श्रीजिनेश्वरके आगमसे जानना चाहिये ॥ २२–२३ ॥

(व्यंतरोंके आवासस्थान ।)– इन द्वीपोंमें और समुद्रोंमें और विजयार्द्ध, कुलपर्वत, मेरुपर्वत और इतर पर्वतोंपर व्यंतरोंके आवासस्थान हैं तथा और भी व्यंतरोंके नाना निवास-स्थान हैं । स्पष्टीकरण–इस जम्बूद्वीपसे आगे असंख्य द्वीपसमुद्रोंको उल्लंघकर ऊपरके खरभागमें राक्षसोंको छोडकर सात व्यंतरोंके निवासस्थान हैं, अर्थात् किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच ऐसे व्यंतर जातियोंके निवासस्थान हैं । राक्षसोंके निवासस्थान पङ्कबहुलभागमें हैं । तथा इस भूतलपरभी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, त्रिक–तीन मार्ग जहांसे निकलते हैं उसको त्रिक कहते हैं, चतुष्क– जहांसे चार मार्ग निकलते है ऐसा स्थान, गृहका अंगण, तथा विस्तृत मैदान, जलाशय, उपवन, देवमंदिरादिक अनेक निवासस्थान हैं, जहां व्यंतरदेव रहते हैं । तथा गंगादिक नदियोंमें व्यंतरदेवदेवियोंके निवासस्थान हैं । समुद्रमें मागध, प्रभास आदिक व्यंतरदेव रहते हैं । विजयार्ध पर्वतपर व्यतरोंके निवासस्थान हैं । इस प्रकार व्यंतरोंके अनेक निवासस्थान हैं ॥ २४ ॥ (तत्त्वार्थवार्तिक अ. ३ रा)

(मत्स्य कौनसे समुद्रोंमें हैं ? उत्तर)– लवणोदसमुद्र, कालोदसमुद्र और स्वयम्भूरमण समुद्र इन तीन समुद्रोंमें मत्स्यादिक जलचर प्रभूत है । परंतु इनको छोडकर अन्य पुष्करादि समुद्रोंमें ये जलचर प्राणी कदापि उत्पन्न नहीं होते ॥ २५ ॥

(जम्बूद्वीपका विशेषतासे वर्णन ।)– यह जम्बूद्वीप शुभ, गोल-सूर्यमंडलके समान है । असंख्यात द्वीपसमुद्रोंके बीचमें है । इस जम्बूद्वीपके बिलकुल बीचमें मेरुपर्वत है, वह इसकी मानो नाभि है । ऐसे महान् द्वीपका मैं (नरेन्द्रसेनाचार्य) विशेषतासे वर्णन करता हूं ॥ २६ ॥

१ मध्यस्थोऽस्ति यो

तत्र सन्ति विचित्राणि सप्त क्षेत्राणि सर्वतः । भरतो हिमवर्षश्च हरिवर्षः सुशोभनः ॥ २७
विदेहो रम्यको नाम हैरण्यवतमायतम् । ऐरावतं ततः क्षेत्रं विद्यते विस्मयावहम् ॥ २८
पूर्वापरायता अस्य[1] पर्वतास्तद्विभाजिनः । हिमवानाद्य इत्येवं महादिहिमवान्परः ॥ २९
निषधश्च तृतीयोऽसौ चतुर्थो नील इष्यते । रुक्मी च शिखरी तस्मात् षडेते मणिपार्श्वकाः ॥३०
हिमवान्हेमवर्णोऽसौ पीतवस्त्रनिभः शुभः । शुक्लः सर्वोऽपि सर्वत्र द्वितीयो द्युतिमानयम् ॥ ३१
तपनीयमयस्तावत्तृतीयश्च चतुर्थकः । स वैडूर्यमयोऽभाणि मयूरग्रीवसन्निभः ॥ ३२
रजतैकमयो ज्ञेयः पञ्चमः पर्वतो महान् । षष्ठो हेममयस्तस्मात्कथ्यते कौतुकावहः ॥ ३३
तेषामुपरि विद्यन्ते सरांसि ह्रदनामतः । पद्मो महादिपद्मश्च तिगिञ्छः केसरी ततः ॥ ३४
महादिपुण्डरीकश्च पुण्डरीक इति ध्रुवाः । ह्रदाः सर्वेऽपि विद्यन्ते नदीनां निर्गमाश्रयाः ॥ ३५
हिमवन्मस्तकस्थाच्च पद्मनाम्नो ह्रदान्नदी । गङ्गेति विश्रुता पूर्वतोरणेन प्रवर्तते ॥ ३६

(भरतादिक सप्तक्षेत्रोंके नाम ।)– इस जम्बूद्वीपमें विचित्र आश्चर्यावह भरतादिक सात क्षेत्र सर्वत्र हैं । अर्थात् इन क्षेत्रोंसे युक्त जम्बूद्वीपका भूदेश है । इनको छोडकर अन्य क्षेत्र नहीं हैं । इन क्षेत्रोंके नाम-भरत, हिमवर्ष-हैमवतक्षेत्र, सुंदर हरिवर्ष-हरिक्षेत्र, विदेहक्षेत्र, रम्यक-क्षेत्र, दीर्घ हैरण्यवतक्षेत्र, और तदनंतर विस्मय उत्पन्न करनेवाला ऐरावतक्षेत्र ऐसे सात क्षेत्र हैं ॥ २७–२८ ॥

(हिमवदादिक छह कुलपर्वत ।)– इस जम्बूद्वीपके जो हिमवदादि छह पर्वत हैं वे भरतादिक क्षेत्रोंके विभाग करनेवाले होनेसे उनको वर्षधर कहते हैं । अर्थात् भरतादिक वर्षको-क्षेत्रको विभक्त रखकर धारण करनेवाले ये पर्वत हैं । ये पर्वत पूर्वदिशासे पश्चिम दिशातक दीर्घ हैं । इनमें पहला पर्वत हिमवान हैं । दूसरा पर्वत महाहिमवान है । तीसरा पर्वत निषध, चौथा नील पर्वत है, पांचवां पर्वत रुक्मी, और छठा शिखरी पर्वत हैं । इन छहों पर्वतोंके दोनों पसवाडे नाना मणियोंसे विचित्रित हैं । हिमवान् पर्वत सुवर्णवर्णका है, पीले वस्त्रके समान वह दिखता है। दूसरा महाहिमवान् पर्वत है । वह सर्वत्र संपूर्ण शुक्ल है । तीसरा कान्तिमान् निषध पर्वत सुवर्णमय है । चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमणिओंसे खचित् अर्थात् नील वर्णका है । मोरके कण्ठके समान नील रंगका है । पांचवा महान् पर्वत सर्व बाजुओंसे रजतमय है चांदीका है । उसको रुक्मी पर्वत ऐसा नाम है । छठा पर्वत शिखरी है ; वह सुवर्णमय है और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है ॥ २९–३३ ॥

(हिमवदादि पर्वतोंपरके सरोवरके नाम ।)– उन पर्वतोंपर ह्रद नामके छह सरोवर हैं । उनके नाम पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे हैं। ये सरोवर अनादिनिधन–नित्य हैं, तथा गंगादिनदियोंके उत्पत्तिके आधारस्थान हैं ॥ ३४–३५ ॥

(पद्मसरोवरसे निकली हुई गंगानदीका वर्णन ।)– हिमवत्पर्वतके मस्तकपर जो पद्म

१ आ. स्तमपीषत्

षड्योजनसुविस्तारा[1] क्रोशाधिकतया पुनः । अर्धक्रोशावगाहा सा निर्गमे गदिता जिनैः ॥ ३७
पूर्वेण दिग्विभागेन पर्वतोपरि गच्छति । यावच्छतानि पञ्चैव योजनानां सुशोभना ॥ ३८
गंगाकूटसमीपे[2] सा व्यावर्त्य दक्षिणेन तु । भूमिकुण्डे पतत्याशु सुविस्तीर्णे सुशोभने ॥ ३९
तस्य[3] दक्षिणमार्गेण विनिर्गत्याभिगच्छति । भरतक्षेत्रमध्यस्थं रूप्याद्रिं रूपसंयुतम् ॥ ४०
पूर्वापरमभिव्याप्य समुद्रान्तं स्थितो हि सः । विजयस्यार्द्धभागे यद्विजयार्धं इतीरितः ॥ ४१
पञ्चविंशतिरित्येव[4] योजनान्युदये मतः । विस्तरेण तु पञ्चाशद्योजनानि जयावहः ॥ ४२
अधस्ताद्योजनान्यस्य दशमत्वात्सुशोभने[5] । विभागे श्रेणयः सन्ति विद्याधरसमाश्रयाः ॥ ४३
नगर्यः सन्ति पञ्चाशद्दक्षिणश्रेणिसंश्रिताः । उत्तरश्रेणिगाः षष्टिर्विचित्रजनसंकुलाः ॥ ४४
द्वितीयदशके सन्ति विचित्राकारधारिणः । व्यन्तराणां समावासा नवकूटानि मस्तके ॥ ४५
नवमे सिद्धकूटेऽस्ति पूर्वस्यां दिशि शोभने । जिनचैत्यगृहं रम्यमकृत्रिममनिन्दितम् ॥ ४६

नामक हृद है, उससे गंगा नामकी प्रसिद्ध नदी उसके पूर्वतोरणसे निकलती हैं। उग्दमस्थानमें गंगानदीका विस्तार छह योजन और एक कोश अधिक अर्थात् सव्वा छह योजन प्रमाणका है। तथा वह आधा क्रोश अवगाहवाली है ऐसा जिनोंने कहा है। वह सुंदर नदी पर्वतपरसे पूर्वदिशाके तरफ पांचसौ योजनतक बहती है। अनंतर गंगाकूटके समीप पहुंचकर वह दक्षिण दिशाको मुडती है। और वही सुंदर तथा सुविस्तीर्ण ऐसे भूमिकुण्डमें गिरती है। उसके दक्षिण मार्गसे निकलकर वह नदी भरतक्षेत्रके मध्यस्थित सुंदर रूप्याद्रि पर्वतके पास आती हैं ॥ ३६–४० ॥

(विजयार्द्धपर्वतका वर्णन ।)– यह विजयार्द्धपर्वत समुद्रके पूर्व और पश्चिम विभागको व्याप्त कर रहा हैं अर्थात् पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्रमें विजयार्द्धके तट प्रविष्ट हुए हैं। इसको विजयार्द्ध नाम अन्वर्थक हैं। क्योंकि चक्रवर्तीके विजयका आधा भाग यहां पूर्ण होता हैं इसलिये इसे विजयार्द्ध कहते हैं। यह पर्वत पच्चीस योजन ऊंचा है और इसका विस्तार पचास योजनोंका है। चक्रवर्तीको विजयप्राप्ति करानेवाला यह पर्वत है। जमीनसे दश योजन ऊपर जानेपर पर्वतके विभागपर विद्याधरोंके आधारस्थानरूप श्रेणियाँ है। उनमें-दक्षिणश्रेणिमें पचास नगरियां हैं। और उत्तर श्रेणीमें नानाजनोंसे व्याप्त ऐसी साठ नगरियां हैं ॥ ४१– ४४ ॥

विद्याधरश्रेणीके ऊपर पुनः दशयोजन गमन करनेपर व्यन्तरदेवोंके विचित्र आकृतिके धारक निवासस्थान हैं। अर्थात् जैसी दो विद्याधरश्रेणियां कही है वैसीही दश योजन विस्तारवाली और पर्वतकी जितनी लंबाई है उतनी दीर्घतावाली व्यंतरोंकी दो श्रेणियां है। वहां सोम, यम, वरुण और वैश्रवण ऐसे इंद्रके लोकपाल और आभियोग्य जातीके व्यंतरदेवोंके निवासस्थान हैं। इस पर्वतके ऊपर नौ कूट हैं। उनमेंसे आठ कूटोंपर दक्षिणार्धभरत, वृत्तमाल्यदेव आदिकोंके प्रासाद हैं। उनमें उन उन नामोंके देव रहते हैं। नौवे कूटपर सिद्धकूट नामका अकृत्रिम जिनमंदिर है ॥ ४४–४६ ॥

१ आ. षड्योजनानि विस्तारः २ आ. समीपात् ३ आ. तस्मात् ४ आ. रित्येवं ५ आ. दश गत्वा

तमिस्रायां[1] विशालायां मार्गान्निर्गत्य[2] गच्छति । आर्यखण्डमभिव्याप्य किञ्चित्पूर्वपयोनिधौ ॥४७
चतुर्दशसहस्रैः सा नदीनां परिवारिता । प्रवेशे विस्तृता सार्धं द्विषष्टियोजनानि च ॥ ४८
विस्तरेणावगाहेन परिवारप्रदेशिताः[3] । गङ्गावत्सिन्धुरप्यस्ति भारतेऽत्र महानदी ॥ ४९
आरोपितमहाचापसमाकारं सुविस्तरम् । नदीभ्यां विजयार्द्धेन षट्खण्डं भारतं भवेत् ॥ ५०
विस्तारेण तदेव स्याद्योजनानां शतानि च । पञ्चैव हि षड्विंशत्या सहितानि कलाश्च षट् ॥५१
पद्मनामह्रदः पूतो दीर्घेणैकसहस्रकम् । योजनानां तदर्धं स्याद्विस्तरेणेति[4] विस्तृतः ॥ ५२
तच्छ्रीदेवी निवासैकस्थानं तन्मध्यगं महत् । सत्पद्मं विद्यते चारु चारुतारदलाकुलम् ॥ ५३

इस पर्वतमें दो गुहायें हैं उनके नाम तमिस्रागुहा और खंडप्रपातागुहा । विशाल तमिस्रागुहामेंसे जो गंगानदीको मार्ग मिला उससे वह निकलकर आर्यखंडमें आई और उसे कुछ व्याप्त करके पूर्व समुद्रमें उसने प्रवेश किया । चौदह हजार परिवारनदियोंसे मिलकर उसने जहां प्रवेश किया है, उस स्थानमें वह साडेबासठ योजनप्रमाण विस्तृत हुई है ॥ ४७–४८ ॥

जैसा गंगा नदीका अवगाह और विस्तार है तथा जितनी परिवारनदियाँ उसको मिली हैं, वैसाही अवगाह और विस्तार सिंधुनदीका है तथा उतनीही परिवार नदियां सिंधुको मिली हैं। वह सिंधुनदीभी इस भारतमें आर्यखंडमें आकर पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हुई है ॥ ४९ ॥

(भरतक्षेत्रका संक्षेपसे विवरण ।)– यह भरतक्षेत्र सज्य किये हुए महाधनुष्यके समान आकृतिको धारण करनेवाला है और उत्तम विस्तारवाला है । दो नदियोंसे (गंगा और सिंधु) तथा विजयार्द्ध-पर्वतसे इस भरतके छह विभाग हुए हैं । स्पष्टीकरण– भरतक्षेत्रके बिलकुल मध्यमें विजयार्ध पर्वत पूर्वसे पश्चिम दिशातक सीधा दीवारके समान खडा हुआ है । इससे भरतके दक्षिण भरत और उत्तर भरत ऐसे दो विभाग हुए हैं । तथा गंगानदी और सिन्धु नदी ये दो नदियां उत्तर भरत और दक्षिण भरतके बीचमेंसे बहती हुई लवणसमुद्रको जाकर मिली हैं, इससे उत्तर भरतके तीन विभाग और दक्षिण भरतके तीन विभाग होनेसे भरतक्षेत्र षट्खण्ड युक्त हुआ है ॥ ५० ॥

यह भरतक्षेत्र विस्तारसे पांचसौ छब्बीस योजन और छह कला प्रमाण है । अर्थात् एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग लेना चाहिये इतना भरतखण्डका विस्तार है ॥ ५१ ॥

(पद्मह्रदका और हिमवान् पर्वतका वर्णन ।)– हिमवान् पर्वतपर पद्मनामका अनादि निधन और पवित्र सरोवर है । वह एक हजार योजनप्रमाण लंबा है । तथा पांचसौ योजनप्रमाण चौडा है । इस प्रकार उसका विस्तार कहा है । यह सरोवर श्रीदेवीका मुख्य निवासस्थान है । इस सरोवरके बिलकुल बीचमें प्रशस्त और सुंदर पद्मनामक महाकमल है वह सुंदर और प्रकाशमान दलोंसे पूर्ण है ॥ ५२–५३ ॥

---

१ आ. तिमिस्त्रायां २ आ. गंगा ३ आ. प्रदेशतः ४ आ. णाति ५ दलसङ्कुलम्

हिमवानुदयेऽभाणि योजनानां शतं पुनः । सहस्रद्विपञ्चाशत्कला द्वादश विस्तरात् ॥५४
हिमवन्मस्तकस्थानपद्मादिकह्रदात्पुनः । रोहितास्या नदी रम्या निःसरत्युत्तरेण सा ॥ ५५
योजनार्धेन सन्त्यज्य नाभिपर्वतमुत्तमम् । तमर्धदक्षिणं कृत्वा पश्चिमं याति वारिधिम् ॥ ५६
गंगासिन्धुनदीसवतस्वरूपाद्द्विगुणा श्रिता[1] । स्वरूपेण स्वरूपं किं वर्ण्यतेऽस्याः कवीश्वरैः ॥५७
महाहिमवतः साधुमस्तकस्थात्सुशोभनात् । महापद्महृदाद्रोहिन्नदी निर्गत्य गच्छति ॥ ५८
नाभिदक्षिणतो मुक्त्वा पर्वतं योजनार्द्धतः । रोहितास्यास्वरूपा च पूर्वस्यां याति वारिधौ ॥५९
पद्मादिकह्रदात्सोऽयं महापद्महृदो महान् । ह्रीदेवता निवासोऽयं द्विगुणोऽभाणि सूरिभिः ॥ ६०

हिमवान् पर्वतका उदय अर्थात् ऊंचाई सौ योजनोंकी कही है । और उसका विस्तार एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे बारह भाग अर्थात् बारह कला इतना है ॥ ५४ ॥

हिमवत्पर्वतके मस्तकपर जो पद्मसरोवर है, उसके उत्तरतोरणद्वारसे रोहितास्यानामक रमणीय महानदी निकली है ॥ ५५ ॥

वह नदी उत्तम नाभिपर्वतसे आधा योजनप्रमाण दूर रहकर तथा उसको दूरसे आधी प्रदक्षिणा देकर पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हुई है ॥ ५६ ॥

गंगानदी और सिंधु नदीके जो स्वरूप हैं उससे इसका विस्तार दुगुना है, अर्थात् साडेबारह योजन विस्तार इस नदीका है । एक योजनप्रमाण इसकी धाराकी मोटाई है । इस नदीका अवगाह उत्पत्ति स्थानमें एक कोसका है और प्रवेशस्थानपर अवगाह ढाई योजनका है । उत्पत्तिस्थानमें इसकी चौडाई साडेबारह योजनोंकी है और मुखमें सवासौ योजन विस्तार है । इत्यादि स्वरूप गंगानदीके स्वरूपसे द्विगुण है । गंगानदीके स्वरूपसे इसका स्वरूप कवीश्वरोंके द्वारा क्या कहा जावेगा ? ॥ ५७ ॥

(महाहिमवान और महापद्मसरोवरका वर्णन ।)– महाहिमवत्पर्वतके सुंदर और पवित्र मस्तकपर जो महापद्मसरोवर है उससे रोहित् नामक नदी निकलकर नाभिपर्वतके समीप जाती है । उसको आधा योजनके फासलेपर प्रदक्षिणा देकर उसे छोडकर आगे बहती है और पूर्व दिशामें समुद्रमें प्रवेश करती है । इसका स्वरूप, अवगाह, विस्तार सबकुछ रोहितास्या नदीके समान है ॥ ५८–५९ ॥

महापद्महृद पद्मसरोवरसे बडा है अर्थात् उसकी लंबाई, विस्तार, अवगाह दुगुने है । इस महापद्मसरोवरमें महापद्मनामक कमलके बीचमें सुंदर प्रासादमें ह्री देवीका निवासस्थान है । वह पद्म कमलस्थित प्रासादसे द्विगुणप्रमाणका है ऐसा आचार्योंने कहा है ॥ ६० ॥

---

१. आ. मता,
S. S. 21.

हिमवत्पर्वतात्प्रोक्तो महादिहिमवान्[1] शुभः । द्विगुणोत्सेधसंयुक्तो विशुद्धतरदर्शनः ॥ ६१
सहस्राणि तु चत्वारि योजनानां शतद्वयम् । दशाधिकश्च विस्तारो महाहिमवतो मतः ॥ ६२
तयोर्मध्येऽतिविस्तीर्णं क्षेत्रं हैमवतं महत्[2] । तन्मध्ये नाभिपूर्वत्वान्नाभिपूर्वोऽस्ति पर्वतः ॥ ६३
योजनानां हि तत्क्षेत्रं सहस्रद्वयमायतम् । शतं च पञ्चभिर्युक्तं कलाः पञ्च तथा पुनः ॥ ६४
जघन्या भोगभूमिस्तत्कल्पवृक्षसमन्वितम् । पल्योपमायुषस्तत्र क्रोशैकोत्सेधमानवाः ॥ ६५
हरिकान्ता नदी तस्मान्महापद्महृदात्पुनः । उत्तरेण विनिर्गत्य नाभिं मुक्त्वार्द्धयोजनम्[3] ॥ ६६
रोहिन्नद्याः स्वरूपेण द्विगुणा समुदायतः । अनेकाश्चर्यसंयुक्ता पश्चिमं याति वारिधिम् ॥ ६७
निषधस्थमहागाधतिगिञ्छहृदनिर्गता । हरिन्नामनदी याति पूर्ववत्पूर्ववारिधिम् ॥ ६८
महापद्महृदात्सोऽपि तिगिञ्छो द्विगुणो मतः । धृतिदेवीनिवासश्च पुण्डरीकसमन्वितः ॥ ६९

(हैमवत जघन्यभोगभूमिका वर्णन ।)- हिमवत्पर्वतसे शुभ और विशुद्धतर-अतिशय शुभ्र वर्णका धारक महाहिमवान् पर्वत द्विगुण ऊंचाईवाला है । अर्थात् दोसौ योजनप्रमाण ऊंचा है । इस पर्वतका विस्तार चार हजार दोसौ दस योजनप्रमाण है । हिमवान् और महाहिमवान् इन दो पर्वतोंके बीचमें महान् हैमवतक्षेत्र है वह अतिविस्तीर्ण है । इस क्षेत्रकी मानो नाभि ऐसा नाभि पर्वत ठीक बीचमें है । हैमवतक्षेत्र दो हजार एकसौ पांच योजन और पांच कलायुक्त है । यह हैमवतक्षेत्र जघन्य भोगभूमि है । इसमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं । उनसे यहांके भोगभूमिजोंकी इच्छायें पूर्ण होती हैं । यहांके भोगभूमिजोंकी आयु एक पल्यकी कही हैं । उनकी ऊंचाई एक कोसकी है । क्षेत्रकी दीर्घता दो हजार एकसौ पांच योजनप्रमाणकी है । तथा पांच कला अधिक है ॥ ६१-६५ ॥

(हरिकान्ता नदीका वर्णन ।)- उस महापद्मसरोवरसे हरिकान्ता नामक नदी उत्तर तोरणद्वारसे निकलती है । नाभिपर्वतको अर्धयोजन अन्तरसे छोडकर अनेक आश्चर्योंसे युक्त होती हुई पश्चिम समुद्रको जाकर मिलती है । यह हरिकान्ता नदी रोहिन्नदीके समान है अर्थात् दीर्घता, अवगाह, परिवार नदियोंकी संख्या आदिक बातें रोहित् नदीके समान हैं ॥ ६६-६७ ॥

(निषधपर्वत, तिगिञ्छ सरोवर और हरिन्नदीका वर्णन ।)- निषधपर्वतके महान् और अगाध ऐसे तिगिञ्छ सरोवरसे निकली हुई हरित् नामकी नदी पूर्वनदीके समान अर्थात् हरिकान्ता नदीके समान पूर्वसमुद्रमें जाकर प्रवेश करती है ॥ ६८ ॥

महापद्म- सरोवरसे वह तिगिञ्छ सरोवरभी द्विगुण है अर्थात् चार हजार योजन दीर्घ और दो हजार योजन चौडा तथा चालीस योजन अवगाहवाला है । इस सरोवरके मध्यभागमें जो कमल है, उसके महलमें धृति देवीका निवास है । इसके आसमन्तात् अनेक कमल परिवार है ॥ ६९ ॥

१ आ. हिमवच्छुभः २ आ. मतम् ३ आ. अर्धयोजने

निषधोऽप्युदयेऽभाणि योजनानां चतुःशती । विस्तरे तु सहस्राणि षोडशाष्टशतानि च ॥ ७०
चत्वारिंशच्च विज्ञेया द्व्यधिका च कलाद्वयम् । पूर्वापरसमुद्रान्तं यावद्दीर्घेण सुस्थितः ॥ ७१ युग्मम्
तस्य दक्षिणतः पूतो हरिवर्ष इतीरितः । मध्यमा भोगभूमिश्च कल्पवृक्षसमाकुला ॥ ७२
पल्योपमद्वयं तत्र जीवन्ति युगलानि च । द्विक्रोशोत्सेधयुक्तानि भोगयुक्तानि नित्यशः ॥ ७३
निषधस्यहृदात्पूताद्[1] उत्तरेण विनिर्गता । सीतोदेति नदी याति मध्ये देवकुरोः कियत् ॥ ७४
गजदन्तं विभिद्यैषा मुक्त्वा मेरुप्रदक्षिणा । सहस्रार्द्धेन[2] विस्तीर्णा पश्चिमं याति वारिधिं ॥ ७५
विदेहो भण्यते मध्ये नीलस्य निषधस्य च । यतो देहं विमुञ्चन्ति तीर्थेशा यत्र सर्वदा ॥ ७६
नाभिभूतोऽस्य विख्यातः सुवर्णाद्रिः सुशोभनः । उत्सेधेन सहस्राणां नवतिश्च नवाधिका ॥ ७७
अवगाहः सहस्रं स्यादादौ भूमिगतः[3] पुनः । योजनानां सहस्राणि दश वृत्तो विराजते ॥ ७८

निषध पर्वतकी उच्चता चारसौ योजन है। और उसकी चौडाई सोलह हजार आठसौ बियालीस योजन और दो कला है। यह पर्वत पूर्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्रको अपनी दीर्घतासे स्पर्श करता है ॥ ७०–७१ ॥

(हरिवर्ष क्षेत्रका वर्णन।)– इस निषध पर्वतके दक्षिणमें हरिवर्ष नामक पवित्र क्षेत्र है। इसमें शाश्वत मध्यभोगभूमि है। इसमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। यहां के भोगभूमिज मनुष्य और पशुओंकी आयु दो पल्योपम हैं। ये सब भोगभूमिज युगलरूपसे जन्म लेते हैं। इन युगलोंकी शरीरकी ऊंचाई दो कोसकी होती है। हमेशा उनको कल्पवृक्षसे नाना भोगोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७२–७३ ॥

(सीतोदानदी वर्णन।)– पवित्र निषध पर्वतके हृदयसे अर्थात् तिगिञ्छ सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे सीतोदा नामक नदी निकली है। वह देवकुरुभोगभूमिके मध्यप्रांतमें कुछ प्रवेश कर गजदन्त पर्वतको भेदकर मेरुका स्पर्श न करती हुई उसको प्रदक्षिणा देकर मुखमें पांचसौ योजन विस्तीर्ण होकर पश्चिम समुद्रको प्राप्त होती है ॥ ७४–७५ ॥

(विदेह क्षेत्रमें सीता और सीतोदा नदी तथा मेर्वादिक पर्वत और विदेहके देशोंका अविस्तर वर्णन।)– नील और निषध पर्वतोंके बीचमें विदेह क्षेत्र है। इसमें हमेशा तीर्थंकर देहका त्याग करके मुक्त होते हैं; इसलिये इस देशको जिनेश्वर विदेह कहते हैं ॥ ७६ ॥

इस विदेह क्षेत्रकी मानो नाभि ऐसा सुंदर और प्रसिद्ध मेरु पर्वत है। वह सुवर्णमय है। उसकी ऊंचाई निन्यानवे हजार योजन प्रमाणकी है। इस मेरुका अवगाह अर्थात् नीव जमीनमें एक हजार योजनकी है। तथा इसका जमीनपर विस्तार दस हजार योजनका है। यह सामान्य कथन है। स्पष्टीकरण– तत्त्वार्थवार्तिकमें मेरुका जमीनपरका विस्तार सूक्ष्मतासे इस प्रकार कहा है– 'दश

१ आ. सुहृदात्　२ आ. योजनार्द्धेन　३ आ. भूमितले

एकादशसहस्राणि[1] उपर्युपरि हीयते । यावत्सहस्रमेकं स्यान्मस्तके विस्तृतो महान् ॥ ७९
देवसद्भवनानेकविचित्राश्चर्यसङ्कुलः । तथा कृत्रिमसच्चैत्यगृहाणामालयोऽपि च ॥ ८०
तस्योत्तरविभागे च दक्षिणे च सुशोभनम् । गजदन्तसमाकारं पर्वतानां चतुष्टयम् ॥ ८१
नीले च निषधे लग्नमग्रभागेन चायतम् । तिष्ठत्यकृतजैनेन्द्रचतुश्चैत्यालयान्वितम् ॥ ८२
तेषां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये मेरोरुत्तरदक्षिणे । उत्कृष्टभोगभूसंज्ञमस्ति क्षेत्रद्वयं महत् ॥ ८३
उत्तरादिकुरुर्मेरोरुत्तरं कथ्यते जिनैः । दक्षिणं देवकुर्वाख्यं कल्पवृक्षसमन्वितम् ॥ ८४
उत्तरादिकुरोर्मध्ये मेरोरीशानदिक्पथे । सीतानीलान्तरे रम्ये जम्बूवृक्षोऽस्त्यकृत्रिमः ॥ ८५

हजार नव्वे योजन और एक योजनके ग्यारह भाग कर उनमेंसे दस भाग ग्रहण करना चाहिये।" ॥ ७७–७८ ॥

यह मेरु पर्वत दीवारके समान नही है । इसके ग्यारह हजार ऊंचीपर जानेसे इसका एक हजार योजनका विस्तार घटता है । घटते घटते मस्तकपर मेरुपर्वत एक हजार योजनका रह जाता है । इस मेरुके ऊपर देवोंके निवासस्थान आदि अनेक आश्चर्योंके स्थान है । अर्थात् यह अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओंसे भरा हुआ है । तथा यह पर्वत अकृत्रिम सुंदर जिनमंदिरोंका स्थान है । अर्थात् सौमनस, भद्रशाल, नंदन और पाण्डुवनमें, प्रत्येकमें चार चार अकृत्रिम जिनमंदिर हैं ॥ ७९–८० ॥

इस मेरुके उत्तर विभागसे और दक्षिण विभागसे सुंदर चार गजदन्त पर्वत हैं, जो हाथीके दांतके आकार सदृश दिखते हैं । इसलिये 'गजदन्त' ऐसा उनका अन्वर्थ नाम है ॥८१॥

इन गजदन्त पर्वतोंके अग्रभाग नील और निषध पर्वतोंको स्पर्श करते हैं । तथा इन गजदन्त पर्वतोंपर चार अकृत्रिम जिनमंदिर हैं । अर्थात् प्रत्येक गजदन्तपर एक एक अकृत्रिम जिनमंदिर है ॥ ८२ ॥

मेरुपर्वतकी उत्तर दिशामें दो गजदन्त पर्वत हैं, और मेरुकी दक्षिणमें दो गजदन्त पर्वत हैं । इन दो दो गजदन्त पर्वतोंके बीचमें अर्थात् मेरुके उत्तरमें और दक्षिणमें उत्कृष्ट भोगभूमि नामक दो बडे क्षेत्र हैं । उनमेंसे जो क्षेत्र मेरुकी उत्तरदिशामें है उसको जिनोंने उत्तरकुरु उत्तम भोगभूमि कहा है । और मेरुकी दक्षिण दिशामें जो है, उसे देवकुरु उत्तम भोगभूमि कहा है । ये दोनों भोगभूमियाँ दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे सम्पन्न हैं ॥ ८३–८४ ॥

मेरुपर्वतकी ऐशानदिशामें उत्तर कुरुक्षेत्रमें सीतानदी और नीलपर्वतके सुंदर मध्यप्रदेशमें अकृत्रिम जम्बूवृक्ष है ॥ ८५ ॥

---

१ आ. एकादशांशहान्या.

सीतोभयतटे रम्ये पर्वतद्वितयं मतम् । युग्मकारव्यमिति ख्यातं प्रख्यातं मुनिपुङ्गवैः ॥ ८६
तस्माच्च युग्मकद्वन्द्वाद्दक्षिणे[1] कियदन्तरम् । सीतायाश्च नदीमध्ये पद्मादिहृदपञ्चकम् ॥ ८७
सान्तरं विद्यते येषां[2] पार्श्वयोरुभयोः पुनः । प्रत्येकं पर्वतानां च दशकं दशकं मतम् ॥ ८८
सौवर्णाश्चारुसंस्थाना जिनालयविमण्डिताः । ते सर्वे प्राणिनां मन्ये पुण्यपुञ्जा इव स्थिताः॥ ८९
मेरोर्दक्षिणभागे च तथा सर्वविचक्षणैः । शाल्मलीवृक्षसंयुक्तं ज्ञातव्यं नान्यथा क्वचित् ॥ ९०
एकादशसहस्राणि शतानामष्टकं पुनः । चत्वारिंशद्द्वयोपेता योजनानां कलाद्वयम् ॥ ९१
उत्तरादिकुरोश्चैष विस्तारः कथितो जिनैः । विस्तारो विस्तृतज्ञानैस्तथा देवकुरोरपि ॥ ९२
सुमेरोः पूर्वदिग्भागे श्रीभद्रसालसद्वनम् । द्वाविंशतिसहस्राणि विष्कम्भं चारुवेदिकम् ॥ ९३
तत्र या वेदिका तस्यः पूर्वं कच्छाभिधं मतम् । सीतोत्तरतटे क्षेत्रं क्षेमानामपुरीयुतम् ॥ ९४
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । सुकच्छा क्षेत्रमध्ये च चारुक्षेमपुरीयुतम् ॥ ९५
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पूर्वं सुपुष्कलम् । महाकच्छाभिधं क्षेत्रमरिष्टाख्यपुरी[3] युतम् ॥ ९६

(युग्मकपर्वत तथा सौ सुवर्णपर्वत ।)– सीताके दो तटोंपर 'युग्मक' नामसे प्रसिद्ध और मुनियोंद्वारा वर्णन किये हुए दो पर्वत हैं जिनको यमकपर्वतभी कहते हैं। उन दो युग्मक पर्वतोंके दक्षिणदिशामें कुछ अन्तर चले जानेसे सीतानदीके मध्यमें पद्मादिक पांच हृद हैं, जो कि अन्तरसहित हैं ॥ ८६–८७ ॥

प्रत्येक सरोवरके दोनों तटपर दश दश पर्वत है। वे सुवर्णके हैं और उनकी आकृति सुंदर हैं। तथा वे जिनालयोंसे भूषित हैं। मानो वे सर्व पर्वत प्राणियोंके पुण्यपुंज हैं ऐसा मैं (नरेन्द्रसेनाचार्य) समझता हूं ॥ ८८–८९ ॥

मेरुके दक्षिणभागमें देवकुरुक्षेत्रमें शाल्मलिवृक्षसंयुक्त भूप्रदेश है ऐसा सर्व विद्वान जानें। जैनागममें कहांभी अन्यथा प्रतिपादन नहीं हैं ॥ ९० ॥

(उत्तरकुरू और देवकुरुका विस्तार ।)– विस्तृतज्ञानी जिनेश्वरोंने उत्तरकुरु भोगभूमिका विस्तार ग्यारह हजार आठसौ बियालीस योजन और दो कला कहा है। इतनाही विस्तार देवकुरुकाभी कहा है ॥ ९१–९२ ॥

(भद्रसालवन और कच्छादि देश तथा वक्षार पर्वत वर्णन।)– सुमेरुपर्वतकी पूर्व दिशाके विभागमें शोभायुक्त प्रशस्त भद्रशाल वन हैं। वह बावीस हजार योजनप्रमाण विस्तारवाला तथा सुंदर वेदिकावाला हैं। उसकी वेदिकाकी पूर्व दिशामें कच्छ नामक देश है। वह सीतानदीके उत्तर तटपर है। उसमें क्षेमापुरी नामक नगरी (राजधानीका स्थान) है ॥ ९३–९४ ॥

२ तदनन्तर वक्षार नामका महान् पर्वत है। इसके अनन्तर महान् सुकच्छ नामक देश है। उसमें क्षेमपुरी नामक सुंदर राजधानी है ॥ ९५ ॥

३ इसके अनन्तर विभंगा नामकी नदी है। उसकी पूर्व दिशामें विस्तृत महाकच्छ नामक देश है। और उसकी राजधानी अरिष्टा नामकी नगरी है ॥ ९६ ॥

१ आ. सत्पर्वतद्वन्द्वात्. २ आ. तेषां. ३ आ. रिष्टादिनगरी.

ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । क्षेत्रं कच्छावती नाम गरिष्ठादिपुरीयुतम् ॥ ९७
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पूर्वं सुपुष्कलम् । आवर्ताख्यं महाक्षेत्रं खड्गनामपुरीयुतम् ॥ ९८
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । लाङ्गलावर्तकं क्षेत्रं मापूषानगरीयुतम्[1] ॥ ९९
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पूर्वं सुपुष्कलम् । पुष्कलानाम तत्क्षेत्रं[2] वृषभानगरीयुतम् ॥१००
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । पुष्कलादिवतीक्षेत्रं यत्पुरी पुण्डरीकिणी ॥ १०१
ततः पूर्वसमुद्रस्य समीपतरवर्ति[3] यत् । देवारण्यं[4] च विस्तीर्णा वेदिका विद्यते परा ॥ १०२
सीतादक्षिणतो भान्ति[5] क्षेत्राणि विविधानि च । नगराण्यपि तेषां हि विभागः कथ्यतेऽधुना ॥१०३
देवारण्याश्रिता या तु विद्यते वेदिका स्तुता[6] । तस्याः पश्चिमतः क्षेत्रं वत्सानाम सुशोभनम् ॥१०४
सुसीमानगरीयुक्तं विचित्राश्चर्यकारकम् । प्राणिनां बहुपुण्येन निर्मितं वा विभाति यत् ॥ १०५

---

४ तदनंतर पुनः वक्षार पर्वत है। इसके आगे महान् क्षेत्र कच्छावती नामका है और उसमें गरिष्ठा नामक नगरी है ॥ ९७ ॥

५ तदनंदर विभंगा नामक सिन्धु नदी है। तथा उसके पूर्वमें विस्तृत आवर्त नामक महादेश है और उसमें 'खड्गा' नामक नगरी (राजधानी) है ॥ ९८ ॥

६ पुनः वक्षार पर्वत है और उसके अनन्तर लांगलावर्त नामक क्षेत्र-देश है उसके राजधानीका नाम मापूषा है ॥ ९९ ॥

७ तदनंतर विभंगा नामकी नदी है और उसके पूर्व दिग्भागमें सुविस्तृत आवर्तक नामक महाक्षेत्र-देश है और उसकी राजधानीका नाम वृषभानगरी ऐसा है ॥ १०० ॥

८ पुनः वक्षार पर्वत है और इसके अनंतर महान् पुष्कलावती नामक क्षेत्र है और उसमें पुण्डरीकिणी नामक नगरी है ॥ १०१ ॥

(देवारण्य और उसकी वेदिका)— इसके अनंतर पूर्वसमुद्रके अधिक समीप देवारण्य नामक वन है और उसकी सुंदर वेदिका है अर्थात् वह वन उत्तम वेदिकासे सुशोभित है ॥१०२॥

सीता नदीके दक्षिण तटपर अनेक क्षेत्र और उनकी नगरियाँ (राजधानी) शोभायमान है। अब उनका विभाग हम कहते हैं ॥ १०३ ॥

देवारण्यके आश्रयसे जो उत्तम वेदी है उसकी पश्चिम दिशामें वत्सा नामक शोभायुक्त क्षेत्र-देश है। उसकी राजधानी सुसीमा नामक नगरी है ॥ १०४ ॥

१ यह क्षेत्र नाना प्रकारके आश्चर्योंसे भरा हुआ है। जो मानो प्राणियोंके विपुल पुण्योंने उत्पन्न किया हुआसा शोभता है ॥ १०५ ॥

---

१ आ. मयूषा २ आ. पुष्कलानामसत्क्षेत्रं ३ आ. वर्तिनः ४ आ. देवारण्यस्य ५ आ. यानि ६ आ. शुभा

ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । सुवत्सा नाम सत्क्षेत्रं कुण्डलापूःसमन्वितम् ॥१०६
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । महावत्साभिधं क्षेत्रं यत्पूरस्त्यपराजिता ॥१०७
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । प्रभाकरीपुरीयुक्तं सत्क्षेत्रं वत्सकावती ॥ १०८
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । रम्यानामधरं क्षेत्रं पुरी पङ्कावती[1] परा ॥१०९
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतः परं महत् । रम्यकानामसत्क्षेत्रं पद्माख्यपुरसंयुतम् ॥ ११०
विभङ्गाख्या ततः सिन्धुस्तस्याः पश्चिमतः परम् । अस्ति रम्यामहाक्षेत्रं शुभानामपुरीयुतम् ॥१११
ततो वक्षारनामास्ति पर्वतोऽतःपरं महत् । मङ्गलादिवती क्षेत्रं यत्पुरं रत्नसञ्चयम् ॥ ११२
क्षेत्राणि षोडशैतानि मेरोः पूर्वगतानि च । तावन्त्यस्तेषु विद्यन्ते नगर्योऽप्यतिसुन्दराः ॥ ११३
द्वाविंशतिशतान्येषां समं द्वादशभिः पुनः । सर्वेषां विस्तरः किञ्चिदधिकः कथ्यते जिनैः ॥ ११४
शतानां नवकं तावद्द्वाविंशतिसमन्वितम् । सहस्रे द्वे च विस्तारो देवारण्यस्य कथ्यते ॥ ११५

२ उसके अनंतर वक्षार नामक पर्वत है और इसके अनंतर महान् सुवत्सा नामक उत्तम क्षेत्र है । उसकी राजधानी कुण्डला नामक नगरी है ॥ १०६ ॥

३ विभंगा नामक नदीकी पश्चिम दिशामें महावत्सा नामक विशालदेश है । इस देशकी राजधानी अपराजिता नामक नगरी है ॥ १०७ ॥

४ तदनंतर वक्षार नामक पर्वत है और इसके अनंतर वत्सकावती नामक देश है; जो कि प्रभाकारीनामक राजधानीसे युक्त है ॥ १०८ ॥

५ तदनंतर विभंगा नामक सिन्धु नदी है । उसकी पश्चिम दिशामें रम्या नामक क्षेत्र है । उसमें पंकावती नामक उत्तम राजधानीका नगर है ॥ १०९ ॥

६ इसके अनंतर वक्षार पर्वत है । और उसके आगे रम्यका नामक उत्तम क्षेत्र है ; जो कि पद्मपुरसे युक्त है ॥ ११० ॥

७ इसके अनंतर विभंगा नदीकी पश्चिम दिशामें रम्या नामक महाक्षेत्रमें शुभा नामक नगरी है ॥ १११ ॥

८ इसके अनंतर फिर वक्षार पर्वत है और उसके अनंतर मंगलावती नामक सुंदर देश है । उसमें रत्नसंचय नामक सुंदर राजधानीका नगर है ॥ ११२ ॥

ये सोलह क्षेत्र अर्थात् देश मेरूके पूर्वदिशामें हैं । और इन सोलह देशोंमें अतिशय सुंदर सोलह राजधानीके नगर हैं ॥ ११३ ॥

ये जो सोलह देश कहे हैं, उनका विस्तार बावीससौ बारा योजनोंसे किञ्चित् अधिक है, ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ ११४ ॥

देवारण्यका विस्तार दो हजार नौसौ बावीस योजन है, ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ ११५ ॥

१ आ. पुर्यपङ्कावती

इति पूर्वविदेहोऽसौ मेरोः पूर्वविभावितः । पश्चिमेन तथैव स्याद्विदेहः पश्चिमाभिधः ॥ ११६
नामान्येव विभिद्यन्ते तत्र नान्यत्किंचित्पुनः । क्षेत्राणां च पुरीणां च तान्यतो निगदाम्यहम् ॥ ११७
सीतोदा दक्षिणे[1] पद्मा सुपद्मा च तथा पुनः । महापद्मा ततोऽपि स्यात्तत्क्षेत्रं पद्मकावती ॥ ११८
संख्या च नलिना तस्मात्कुमुदा सरिता सह । इत्येवं क्षेत्रनामानि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥ ११९
अश्वादिकापुरी सिंहपुरी चापि महापुरी । विजयाराजा च विरजाऽशोका वीतादशोकिका ॥ १२०
नगर्यः क्षेत्रमध्यस्थाः सुविस्तीर्णाः सुशोभनाः । निषधस्योत्तरे भागे विद्यन्ते क्षेत्रमध्यगाः ॥ १२१
भूतारण्यवनं देवारण्यवद्विस्तृतं मतम् । तस्य या वेदिका तस्याः पूर्वतः क्षेत्रमुत्तमम् ॥ १२२
सीतोदायास्तटे रम्ये नीलपर्वतदक्षिणे । वप्रानाममहाक्षेत्रं विजयानगरान्वितम् ॥ १२३
सुवप्राथ महावप्रासत्क्षेत्रं वप्रकावती । गंधिका[2] च सुगन्धा च गन्धिला गन्धमालिनी ॥ १२४
क्षेत्राण्यष्टातिरम्याणि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः । नगर्योऽपि तथा तावच्छ्रीभद्रा सालवेदिका ॥ १२५

मेरुके पूर्व दिशामें बसे हुए विदेहक्षेत्रके देशोंको पूर्व विदेह कहते हैं और मेरुकी पश्चिम दिशामें विद्यमान विदेहदेशोंको पश्चिम विदेह कहते है । इन दोनों विदेहोंके देशोंके और नगरियोंके नामही भिन्न भिन्न हैं इनसे व्यतिरिक्त कुछ विशेषता उनमें नहीं है । इनके विस्तारादिक समान हैं । अब क्षेत्रोंके और नगरियोंके नाम मैं कहता हूं ॥ ११६-११७ ॥

सीतोदा नदीके दक्षिण तटपर जो देश हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं-पद्मा[1], सुपद्मा[2], महापद्मा[3], पद्मकावती[4], संख्या[5], नलिना[6], कुमुदा[7] और सरिता[8] ऐसे आठ देशोंके नाम विद्वानोंके जानने योग्य हैं ॥ ११८-११९ ॥

(नगरियोंके नाम)- अश्वपुरी[1], सिंहपुरी[2], महापुरी[3], विजयापुरी[4], अरजापुरी[5], विरजापुरी[6], अशोकापुरी[7], तथा वीतशोकापुरी[8] ये आठ नगरियां उपर्युक्त आठ क्षेत्रोंके बीचमें हैं । ये नगरियां विस्तीर्ण और सुंदर हैं । निषधपर्वतके उत्तर भागमें और क्षेत्रके मध्यमें हैं ॥ १२०-१२१ ॥

देवारण्यके समान भूतारण्य विस्तृत है और उसकी जो वेदिका है उसके पूर्वभागमें उत्तम क्षेत्र है ॥ १२२ ॥

सीतोदाके रमणीय तटपर और नील पर्वतके दक्षिण दिशामें वप्रा[1] नामक महाक्षेत्र है, जो कि विजया नामक नगरीसे युक्त है । तदनंतर सुवप्रा[2] महावप्रा[3], वप्रकावती[4], गंधिका[5], सुगंधा[6], गंधिला[7], और गंधमालिनी[8] ऐसे आठ क्षेत्र अत्यंत रमणीय है ; सो विद्वानोंके द्वारा जानने योग्य हैं ॥ १२३-१२४ ॥

(इन देशोंके नगरियोंके नाम ।)- भद्रसाल वनकी वेदीपर्यन्त ये आठ देश और नगरियां है । नगरियोंके नाम इस प्रकार हैं-वैजयन्तीपुरी[1], जयन्तीपुरी[2], रम्यापुरी[3], अपराजितापुरी[4],

१ आ. दक्षिण　२ आ. गंधा　३ आ. यावत्

वैजयन्ती जयन्ती च पुरी रम्यापराजिता । चक्रादिका पुरी पूता तथा खड्गपुरी परा ॥ १२६
अयोध्या च तथावध्या ज्ञातव्या सुमनोषिभिः । शेषं पूर्वविदेहस्य स्वरूपं पूर्वमेव तत् ॥ १२७
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि षट् तथा पुनः । चतुर्भिरधिकाशीतिः कलानां हि चतुष्टयम् ॥१२८
विदेहस्यापि विष्कम्भः कथितः कथितप्रियैः । जिनेन्द्रैर्जितकर्मौघैरार्धिविध्वंसकारिभिः[1] ॥१२९ युग्मम्
पूर्वापरविदेहे स्याच्चतुर्थेन समः सदा । कालः कोटिश्च पूर्वाणां जीवितव्यं नृणां परम् ॥१३०
मेरोरुत्तरतो यानि क्षेत्राणि विविधानि च । विद्यन्ते तानि सर्वाणि दक्षिणानीव सर्वथा ॥१३१
केशर्यादिह्रदेष्वताः केवलं सन्ति देवताः । आद्ये कीर्तिस्ततो बुद्धिर्लक्ष्मीश्चान्त्ये व्यवस्थिता ॥१३२
नरकान्ता च नारी च रूप्यकूला तथा पुनः । सुवर्णा च मता कूला रक्ता रक्तोदका पुनः ॥ १३३
रम्यकादिषु विद्यन्ते नद्यो नामविभेदतः । शेषं दक्षिणवत्सर्वं जानन्ति यतिनायकाः ॥ १३४
चतुर्गोपुरसंयुक्तः प्राकारोऽस्ति महानघः[2] । मर्यादायाः परं हेतुर्जम्बूद्वीपसमुद्रयोः ॥ १३५
योजनानि स विस्तीर्णो भूमुखे द्वादशैव हि । ऊर्ध्वभागे च चत्वारि तथाष्टौ मध्यमे[3] पुनः ॥१३६

चक्रापुरी[5], पवित्र खड्गपुरी[6], अयोध्यापुरी[7] और अवध्यापुरी[8] ऐसी आठ नगरियां विद्वानोंको जानने योग्य हैं। अन्य सब स्वरूप पूर्वविदेहके समान हैं ॥ १२५-१२७ ॥

(विदेहक्षेत्रका विस्तार।)- विदेहक्षेत्रका विस्तार तेहतीस हजार छसौ चौरासी योजन और चार कला इतना है। जिन्होंने कर्मसमूह नष्ट किया है, जिनकी मानसिक व्यथा अथवा संपूर्ण परिग्रह नष्ट हुए हैं, जिनका कथन प्रिय है, ऐसे जिनेश्वरोंने इस प्रकार विदेहका विस्तार कहा है ॥ १२८-१२९ ॥

पूर्वविदेहक्षेत्रमें और अपरविदेहक्षेत्रमें चतुर्थ काल सदा समान विद्यमान है और इन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मानवोंका जीवितव्य अर्थात् आयु एक कोटिपूर्व वर्षोंकी है। यह उनके उत्कृष्ट आयुका प्रमाण कहा है ॥ १३० ॥

(मेरुके उत्तर दिशाके क्षेत्रादिकोंका संक्षिप्त कथन।)- मेरुके उत्तर दिशामें जो अनेक क्षेत्र हैं, वे सर्वथा दक्षिणके भरतादिक क्षेत्रोंके समान समझने चाहिये। केसरी, पुण्डरीक और महापुण्डरीक सरोवरोंमें देवतायें निवास करती है। केसरी सरोवरमें कीर्ति देवता, पुण्डरीकमें बुद्धि देवता और महापुण्डरीकमें लक्ष्मी देवता ऐसी देवतायें निवास करती हैं ॥ १३१-१३२ ॥

नरकान्ता नदी, नारी, रूप्यकूला, सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा ये नदियाँ रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमेंसे बहती हुई पूर्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्रमें प्रवेश करती हैं। बाकीका सर्व स्वरूप यतिनायक जिनेश दक्षिणके क्षेत्र, नदी, सरोवरादिकोंके समान जानते हैं ॥ १३३-१३४ ॥

(जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रके तटका वर्णन।)- जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रका जो तट है वह चार गोपुरोंसे विराजित है और अतिशय निर्दोष रचनावाला है। वह इस द्वीप तथा

१ आ. रघ　२ आ. महानथ　३ आ. ष्टावुदये मतः

तस्योपरि महापद्मवेदिका विद्यते परा । द्विक्रोशोत्सेधसंयुक्ता क्रोशपादं सविस्तरा[1] ॥ १३७
लक्षत्रयं सहस्राणि षोडशैव तथा पुनः । योजनानां शतद्वन्द्वं[2] सप्तविंशतिसंयुतम् ॥ १३८
गव्यूतित्रितयं तस्माच्छतं च धनुषां पुनः । अष्टाविंशतिसंयुक्तमङ्गुलानि त्रयोदश ॥ १३९
अङ्गुलार्द्धमिति ज्ञेयो जम्बूद्वीपस्य शोभनः । परिक्षेपोऽप्रमज्ञानैः कथितो मुनिपुङ्गवैः ॥ १४०
जम्बूद्वीपपरिधिः ३१६२२७ यो. ३ गव्यू. १२८ ध. १३ अंगुलानि तथा अर्धाङ्गुलम् ॥
पूर्वेण विजयद्वारं वैजयन्तं सुदक्षिणे । जयन्तं पश्चिमे भागे ह्यपराजितमुत्तरे ॥ १४१
तद्बहिः सुमहाँल्लक्षत्रयं वलयविस्तृतः । जलोत्सेधः सहस्राणि योजनानां हि षोडश ॥ १४२
विद्यते लवणाम्भोधेर्बहुधा कौतुकावहः । लक्षयोजनगम्भीरो[3] वडवाग्निसमन्वितः ॥ १४३
ततोऽस्ति धातकीखण्डो द्वीपो मेरुयुगान्वितः । योजनानां चतुर्लक्षैर्वलयैर्विस्तृतो[4] महान् ॥ १४४
चतुर्भिरधिकाशीतियोजनानां समुन्नतम् । क्षुद्रं मेरुद्वयं तत्र विद्यते विस्मयावहम् ॥ १४५

समुद्रको मर्यादाभूत है। यह तट प्रारंभमें बारह योजनोंका है, ऊपरके भागमें चार योजनोंका और मध्यभागमें आठ योजनोंका। इस तटके ऊपर सुंदर महापद्म नामकी वेदिका है। वह दो कोश उंचाईको धारण करती है। और पाव कोसकी रुंद है ॥ १३५-१३७ ॥

इस तटका परिक्षेप तीन लाख सोलह हजार दोसौ सत्ताईस योजन तीन गव्यूति (तीन कोस) एकसौ अट्ठाइस धनुष्य तेरह अंगुल और अर्धाङ्गुल अधिक इतना है (राजवार्तिकमें तेरह अंगुलके अनंतर अर्धांगुलसे कुछ अधिक अंगुल ऐसा उल्लेख है) ॥ १३८-१४० ॥

इस तटको पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओंमें क्रमसे विजयद्वार, वैजयन्तद्वार, जयन्तद्वार और अपराजित द्वार ऐसे चार द्वार हैं ॥ १४१ ॥

उस तटके बाहर महान् तीन लाख योजनोंकी और वलयाकार विस्तृत ऐसी लवण-समुद्रकी जलकी ऊंचाई है, जो कि सोलह हजार योजन प्रमाणकी है और नाना प्रकारके कौतुक उत्पन्न करनेवाली है। यह लवणसमुद्र एक लाख योजन परिमाणकी गंभीरता धारण करता है और वडवाग्निसे युक्त है ॥ १४२-१४३ ॥

(धातकीखंडका संक्षेपसे वर्णन।)- लवणसमुद्रको जिसने घेर रखा है, ऐसा धातकीखंड चार लक्ष योजन परिमाणवाला वलयाकार विस्तृत है। इसमें चौरासी हजार योजन ऊंचे दो मेरु पर्वत हैं। जम्बूद्वीपस्थ मेरुसे छोटे होनेसे इनको क्षुद्र मेरु कहते हैं। लवणसमुद्र और कालोद-समुद्रकी वेदिकाको स्पर्श करनेवाले दो इष्वाकार पर्वत हैं, एक दक्षिण दिशामें और दूसरा उत्तर-

---

१ आ. सुविस्तरम् २ आ. द्वयं ३ आ. गम्भीर ४ आ. वलये.

लवणाम्भोधिकालोदवेदिकास्पर्शकारकौ । इष्वाकारगिरी तत्र विद्येते दक्षिणोत्तरौ ॥ १४६
योजनानां सहस्रं स विष्कम्भे हृच्छये पुनः । शतानां च चतुष्कं स्यात्तद्द्वीपार्धविभागकृत् ॥ १४७
जम्बूद्वीपे यथा सर्वं भरताद्यं मतं तथा । खण्डद्वयेऽपि तत्सर्वं तत्र मेरुद्वयाश्रितम् ॥ १४८
तत्र ये सन्ति विस्तीर्णाः सर्वेऽपि कुलपर्वताः । चक्कारवत्सुसंस्थाना वर्षास्तद्विवराणि वा ॥१४९
वेष्टितं वलयेनैतत्कालोदस्य पयोनिधेः । पुष्करद्वीपमप्यस्ति धातकीखण्डवत्ततः ॥ १५०
योजनानां सुलक्षाणि विस्तीर्णः षोडशावनौ । तदर्द्धे वलयाकारो मानुषोत्तरपर्वतः ॥ १५१
यस्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति द्वीपद्वयसमाश्रितः । जम्बूद्वीपात्स विज्ञेयः सर्वो लोकानुयोगतः ॥ १५२
मानुषोत्तरशैलान्ते[1] मानुषं क्षेत्रमुत्तमं । तद्बहिर्न यतः सन्ति मानुषा इत्यतोऽन्वयात् ॥ १५३
मानुषोत्तरशैलाग्रे स्वयम्भूरमणार्द्धके । नागेन्द्राख्यो नगः सर्वं परिक्षिप्य व्यवस्थितः ॥ १५४

दिशामें है। वे दोनों पर्वत एक हजार योजन चौडाईको धारण करनेवाले हैं और चारसौ योजनकी उनकी ऊंचाई है। इन दो पर्वतोंने इस धातकीखंडके दो विभाग किये हैं ॥ १४४–१४७ ॥

जम्बूद्वीपमें जैसे भरतादिक क्षेत्र, हिमवदादिक पर्वत, पद्मादिक सरोवर गंगासिन्ध्वादिक नदियाँ हैं वैसे धातकीखंडमेंभी हैं और पुष्करार्द्धमेंभी हैं। सिर्फ इन दो खंडोमें दो दो मेरु होनेसे भरतादिक क्षेत्र दो दो हैं। हिमवदादिक पर्वतभी दो दो हैं। पद्मादिक सरोवरभी दो दो हैं। ऐसेही गंगासिन्ध्वादिक नदियाँभी दो दो हैं ॥ १४८ ॥

धातकीखंडमें क्षेत्रादिकोंकी संख्या द्विगुण कही है। इस धातकीखंडमें जो सर्व विस्तीर्ण कुलपर्वत हैं वे चक्रके आरेकी आकृतिको धारण करते हैं तथा उनमें जो क्षेत्र हैं वे विवरोंका आकार धारण करते हैं ॥ १४९ ॥

(पुष्करद्वीपका संक्षिप्त वर्णन ।)– कालोदसमुद्रके वलयसे वेष्टित धातकी खण्डके समान पुष्करद्वीप नामक द्वीप है। वह द्वीप सोलह लाख योजन विस्तारको धारण करता है। इस द्वीपके आधे भागमें वलयाकार मानुषोत्तर नामक पर्वत है। जम्बूद्वीपकी अपेक्षा इन दोनों द्वीपोंमें जो कुछ विशेषता है वह सब लोकानुयोग नामक शास्त्रसे जानने योग्य है ॥ १५०–१५२ ॥

(मनुष्यक्षेत्र कहांतक है ?)– मानुषोत्तोर पर्वतके अन्ततक उत्तम मनुष्यक्षेत्र है। इस मनुष्यक्षेत्रके बाहर मनुष्य नहीं है, अतः मानुषोत्तर यह नाम अथवा मनुष्यक्षेत्र यह नाम योग्य है ॥ १५३ ॥

मानुषोत्तर शैलके आगे और स्वयंभूरमण द्वीपके आधे भागमें नागेंद्र नामक पर्वत वलयाकार है उसने आधे स्वयम्भूरमण द्वीपको घेर रखा है ॥ १५४ ॥

१ आ. शैलान्तर्मानुषं

ततः पूर्वेष्वसङ्ख्येषु द्वीपेषु सागरेषु च। विद्यन्ते व्यन्तरावासास्तिर्यञ्चोऽपि निरन्तराः ॥ १५५
तिरश्चां जीवितं तस्मिन्नेकपल्योपमप्रमम् । भोगभूमिर्जघन्यासौ यतो जैनैर्निवेदिता ॥ १५६
नागेन्द्राच्च बहिर्भागे[1] स्वयम्भूरमणार्द्धके । विदेहवत्समुद्रे च कर्मभूमिर्विचक्षणैः ॥ १५७
परं न मानुषाः सन्ति मानुषान्ते च केवलम् । द्वीपेष्वर्द्धतृतीयेषु तेऽपि द्वेधा भवन्त्यमी ॥ १५८
आर्या म्लेच्छाश्च ते सर्वे कर्मजा भोगभूमिजाः ।आर्यखण्डभवास्त्वार्या म्लेच्छाश्च म्लेच्छखण्डजाः॥
कर्मभूमिप्रसूता ये[2] सर्वे ते कर्मभूमिजाः । भोगभूमिसमुद्भूताः कथ्यन्ते भोगभूमिजाः ॥ १६०
द्वीपेष्वर्द्धतृतीयेषु स्युस्त्रिंशद्भोगभूमयः । तथा पंचदशैवात्र सन्त्येताः कर्मभूमयः ॥ १६१
गुणैरर्यन्त इत्यार्यास्तेऽपि द्वेधा भवन्ति च । केचिदृद्धीस्तु संप्राप्ताः केचित्तदितरे पुनः ॥ १६२

मानुषोत्तरपर्वतके असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें नागेन्द्र पर्वततक व्यंतरदेवोंके निवासस्थान हैं और पशुभी सर्वत्र रहते हैं ॥ १५५ ॥

इन द्वीपसमुद्रमें तिर्यञ्चोंकी आयु एक पल्योपम वर्षोंकी है । इन द्वीपादिकोंको जिनेश्वरोंने जघन्य भोगभूमि कहा हैं ॥ १५६ ॥

नागेन्द्र पर्वतके बाह्यभागमें, आधे स्वयंभूरमण द्वीपमें और स्वयंभूरमण समुद्रमें विदेहके समान कर्मभूमि है ऐसा विद्वानोंने–आचार्योंने कहा है । परंतु इनमें मनुष्य नहीं है । मनुष्य सिर्फ मानुषोत्तर पर्वततक हैं यानी ढाई द्वीपोंमें हैं और वे दो प्रकारके हैं ॥ १५७–१५८ ॥

(आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन ।)– आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योंके दो भेद हैं । वे सब कर्मभूमिज और भोगभूमिज हैं । आर्यखण्डमें जो उत्पन्न हुए हैं वे आर्य हैं, और म्लेच्छ खण्डमें जो उत्पन्न हुए हैं, वे म्लेच्छ हैं । कर्मभूमिमें जो उत्पन्न हुए हैं वे सब कर्मभूमिज हैं । तथा भोगभूमिमें जो उत्पन्न हुए हैं वे सब भोगभूमिज हैं ॥ १५९–१६० ॥

ढाई द्वीपोंमें तीस भोगभूमियाँ हैं और कर्मभूमियाँ पंद्रह हैं । पांच हैमवत, पांच हरिक्षेत्र, पांच रम्यकक्षेत्र, पांच हैरण्यवत, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु क्षेत्र ऐसी तीस भोगभूमियाँ हैं । इनमें पांच उत्तरकुरु और पांच देवकुरु, उत्तम भोगभूमियाँ हैं । पांच हैमवत और पांच हैरण्यवत जघन्य भोगभूमियाँ हैं । पांच हरिवर्ष और पांच रम्यक मध्यमभोगभूमियाँ है । कर्मभूमियाँ पंद्रह हैं । पांच भरतक्षेत्र, पांच विदेहक्षेत्र और पांच ऐरावतक्षेत्र ऐसी पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं ॥ १६१ ॥

(आर्योंका वर्णन ।)– जो सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे सेवे जाते हैं उन्हें आर्य कहना चाहिये अर्थात् जिनमें सम्यग्दर्शनादि गुण उत्पन्न होते हैं, जो आर्योंके कुलमें उत्पन्न होते हैं वे आर्य हैं । वे आर्य दो प्रकारके हैं । कोई ऋद्धिको प्राप्त किये हुए हैं उनको ऋद्धि-प्राप्तार्य कहते

१ आ. र्शेया　२ आ. ते

त एते ऋद्धीसम्पन्नाः पञ्चधा परिकीर्तिताः। क्षेत्रार्याश्च सुजात्यार्याः कर्मार्याश्च तथा पुनः ॥१६३
चारित्रार्याश्च विज्ञेया दर्शनार्याश्च ते पुनः। श्रीजिनेन्द्रस्य सद्वाक्यविश्वस्तैर्मुनिभिः सदा ॥ युग्मम्

है और कोई जिनको ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई हैं वे अनृद्धि-प्राप्तार्य है। जो ऋद्धि-प्राप्तार्य हैं वे पांच प्रकारके कहे हैं। क्षेत्रार्य, सुजात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। श्रीजिनेन्द्रके सत्य वचनोंपर विश्वास रखनेवाले मुनियोंने अनृद्धिप्राप्तार्यके ऐसे पांच भेद कहे हैं॥ १६२–१६४ ॥

स्पष्टीकरण– १ क्षेत्रार्य– काशीकोशलादि स्थानोंमें उत्पन्न हुए जो आर्य है उनको क्षेत्रार्य कहते हैं। २ जात्यार्य– इक्ष्वाकुआदिवंशोंमें उत्पन्न हुए आर्योंको जात्यार्य कहते हैं। अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मणोंके जो अनेक वंशभेद हैं उनमें उत्पन्न हुए आर्योंको जात्यार्य कहना चाहिये। ३ कर्मार्यके तीन भेद हैं– सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य।

१ सावद्यकर्मार्योंके यह भेद हैं– असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक् कर्म अर्थात् असिकर्मार्य, मसिकर्मार्य, कृषिकर्मार्य, विद्याकर्मार्य, शिल्पकर्मार्य और वणिक्कर्मार्य।

१ असिकर्मार्य– तरवार, धनुष्य आदि आयुधोंके प्रयोगमें कुशल आर्योंको असिकर्मार्य कहते हैं। २ मसिकर्मार्य– धनकी आय और व्ययादि लिखनेमें चतुर आर्योंको मसिकर्मार्य कहते हैं। ३ कृषिकर्मार्य– हल आदि खेतीके उपकरणोंके जानकार आर्योंको कृषिकर्मार्य कहते हैं। ४ विद्याकर्मार्य– चित्रकला गणितादि बाहत्तर कलाओंमें चतुर आर्योंको विद्याकर्मार्य कहते हैं। ५ शिल्पकर्मार्य– धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदिकोंको शिल्पकर्मार्य कहते हैं। ६ वणिक्कर्मार्य– चन्दनादिगंध, घी, तेल आदिक रस, शालि आदिक धान्य, कपास आदिकोंके वस्त्र, मोती, रत्न आदि नाना वस्तुओंका संग्रह करनेवाले आर्योंको वणिक्कर्मार्य कहते हैं। ये छहों प्रकारके आर्य अविरतियुक्त होनेसे सावद्य कर्मार्य कहे जाते हैं।

२ अल्पसावद्य कर्मार्य अर्थात् श्रावक, जोकि स्थावरहिंसाके त्यागी नहीं है और त्रसहिंसाके त्यागी तथा अणुव्रतके पालक होते हैं।

३ असावद्यकर्मार्य– संपूर्ण हिंसादिपापोंके पूर्ण त्यागी मुनिराज असावद्यकर्मार्य हैं। क्योंकि कर्मक्षयके लिये उद्यत ऐसे विरतिरूप परिणामोंके वे धारक होते हैं।

चारित्रार्य– इनके अभिगत–चारित्रार्य और अनभिगत–चारित्रार्य ऐसे दो भेद हैं। चारित्रमोहकर्मका उपशम होनेसे और क्षय होनेसे बाह्य उपदेशकी अपेक्षाके बिना आत्माकी प्रसन्नता होनेसेही चारित्रपरिणामोंको धारण करनेवाले उपशांत-कषाय और क्षीण-कषाय मुनिराजोंको अभिगतचारित्रार्य कहते हैं।

अनभिगत चारित्रार्य– अंतरंगमें चारित्रमोहकर्मका क्षयोपशम होनेसे और बाह्यमें उपदेशका निमित्त प्राप्त होनेसे जिनको विरतिरूप परिणाम होते हैं उसको अनभिगतचारित्रार्य कहते हैं।

विक्रियाबुद्धिसत्क्षेत्रबलौषधितपोरसैः । ऋद्धिमन्तो मताः सप्त प्रकारास्ते तथाविधैः ॥ १६५

दर्शनार्य–दश प्रकारके हैं। १ आज्ञा दर्शनार्य– भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ प्रणीत आज्ञामात्रको प्रमाण मानकर श्रद्धा करनेवाले आर्य आज्ञादर्शनार्य हैं। २ मार्गदर्शनार्य– परिग्रहरहित मोक्षमार्गका श्रवण करनेसे जिनको रुचि उत्पन्न हुई है, ऐसे आर्य मार्गदर्शनार्य हैं । ३ उपदेश दर्शनार्य– तीर्थंकर बलदेव आदिकोंके शुभचरित सुननेसे जिनको श्रद्धा हुई है वे उपदेशदर्शनार्य है । ४ सूत्रदर्शनार्य- दीक्षा, और मुनियोंके आचारोंके सूत्रोंके श्रवणसे जिनको रुचि हुई है ऐसे आर्योंको सूत्रादर्शनार्य कहते हैं । ५ बीजदर्शनार्य- बीजरुचि-बीजपदोंको ग्रहण करनेसे सूक्ष्मार्थका परिज्ञान होनेसे जिनको श्रद्धा होती है, वे बीजदर्शनार्य कहे जाते हैं । ६ संक्षेपदर्शनार्य– जीवादि पदार्थोंके सामान्य उपदेश-श्रवणसे जिनको सम्यग्दर्शन हुआ है ऐसे आर्योंको संक्षेपदर्शनार्य कहते हैं । ७ विस्तारदर्शनार्य- अंग और पूर्वोंके विषय भूत जीवादि पदार्थोंका विस्तार प्रमाण और नयोंके द्वारा सुननेसे जिनको श्रद्धा हुई है, ऐसे आर्य विस्तारदर्शनार्य हैं । ८ अर्थदर्शनार्य–वचनविस्तारसे रहित ऐसा अर्थग्रहण होनेसे जिनको श्रद्धा हुई हैं ऐसे आर्य अर्थदर्शनार्य हैं । ९ अवगाढदर्शनार्य– आचारांगादि द्वादशांगोंका ज्ञान होनेसे जिनके श्रद्धानमें दृढता आई है ऐसे आर्योंको अवगाढदर्शनार्य कहते हैं और १० परमावगाढदर्शनार्य– परमावधिज्ञान केवलज्ञानसे प्रकाशित जीवादिक पदार्थविषयक श्रद्धानको धारण करनेवाले आर्योंको परमावगाढ दर्शनार्य कहते है ।(राजवार्तिक अध्याय ३ रा आर्या म्लेच्छाश्च सूत्रका भाष्य)

(ऋद्धि प्राप्तार्योंके भेद ।)– विक्रियाऋद्धि, बुद्धिऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि, बलऋद्धि, औषध-ऋद्धि, तपऋद्धि और रसऋद्धि आदि ऋद्धियोंसे युक्त ऐसे आर्योंको ऋद्धिमदार्य कहते हैं।।१६५।।

विक्रियाऋद्धिमदार्य– अणिमा, महिमा आदिक आठ प्रकारकी विक्रिया है । छोटा रूप धारण करना, बडा रूप धारण करना, एक अनेक रूप धारण करना आदि विक्रियाके धारकोंको विक्रियाऋद्धिमदार्य हैं ।

बुद्धिऋद्धिमदार्य– बुद्धिऋद्धि अठारह प्रकारकी है। केवलज्ञान,अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारित्व, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरसे आस्वादन, दर्शन, स्पर्शन, घ्राण, श्रवण इनमें समर्थता, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टांगमहानिमित्तज्ञत्व, प्रज्ञाश्रवणत्व; प्रत्येकबुद्धता और वादित्व । इन ऋद्धियोंको धारण करनेवाले आर्योंको बुद्धिऋद्धिमदार्य कहते हैं। सम्यग्ज्ञानाधिकारमें इनका वर्णन आया है ।

क्षेत्रऋद्धि–के धारक आर्य दो प्रकारके होते है । अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय । अक्षीणमहानस– लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम जिनमें अतिशय प्रकर्षको प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनिराजोंको जिस पात्रमेंसे आहार दिया जाता है उस पात्रका आहार चक्रवर्तीके संपूर्ण सैन्यकोभी दिया जाय तो भी कमी नहीं होता है । ऐसे मुनीश्वरको अक्षीणमहानसार्य कहते हैं ।

अक्षीणमहालय– इस ऋद्धिके मुनि जहाँ बैठते हैं वहां देव, मनुष्य, पशु सब यदि बैठ जाय तो भी वे परस्परोंको बाधा न देते हुए सुखसे बैठते हैं। ऐसे मुनिको अक्षीणमहालयमुनि कहते हैं।

बलऋद्धि– मनोबलऋद्धि, वचनबलऋद्धि और कायबलऋद्धि, मनःश्रुतावरणकर्मका और वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम परमप्रकर्षको प्राप्त होनेसे अन्तर्मुहूर्तमें संपूर्ण श्रुतज्ञानके अर्थका चिन्तन करनेमें चतुरता प्राप्त होती है।

वचनबलऋद्धि– मनःश्रुतावरण, जिह्वाश्रुतावरण और वीर्यान्तरायकर्मका अतिशय प्रकर्षयुक्त क्षयोपशम होनेसे अन्तर्मुहूर्तमें संपूर्ण श्रुतका उच्चारण करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है। और सतत तथा उच्च उच्चारण करनेपरभी श्रमरहित और कंठमें विकाररहितपना उत्पन्न होता है।

कायबलऋद्धि– वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे शरीरमें असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिससे मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि कालका प्रतिमायोग धारण करनेपरभी श्रम और थकावट आतीही नहीं – प्रसन्नता रहती है।

औषधऋद्धि– आठ प्रकारकी होती है। जिनके हस्तपादादिक अवयवोंके स्पर्शसे असाध्य रोगभी नष्ट होते हैं वह आमर्शौषध ऋद्धि है। जिनके मुखकी लाली औषधके समान रोग दूर करती है वे मुनि क्ष्वेलौषधर्द्धिके धारक हैं। जिनके पसीनेमें मिली हुई धूलि रोगहरण करती है ऐसे मुनीश्वरोंको जल्लऋद्धिके धारक कहते हैं। जिनके कान, नाक, दन्त और आंखोंके मल औषधरूप हुए हैं वे मल्लौषधर्द्धिके धारक हैं। जिनकी विष्ठा औषधस्वरूप होकर रोग दूर करती हैं वे विडौषधर्द्धिके धारक हैं।

सर्वौषधिऋद्धि– जिनके अंग, प्रत्यंग, नख, केशादिक सर्व अवयव औषधरूप बने हैं तथा जिनको स्पर्श करनेवाले वायु जलादिकभी औषधमय होते हैं वे मुनि सर्वौषर्द्धिके धारक हैं।

आस्याविषर्द्धि– उग्रविषयुक्त आहारभी जिनके मुखमें जानेपर निर्विष होता है अथवा जिनके मुखसे निकले हुए वचन सुनकर महाविषसे व्याप्त शरीरवालेभी जीव निर्विष होते हैं उनको आस्याविष मुनि कहते हैं।

दृष्टयविष– जिनके दर्शनसे अति तीव्र विषसे दूषित लोगभी निर्विष होते हैं वे दृष्टयविष ऋद्धिके धारक हैं।

तपोऽतिशयर्द्धि– सात प्रकारकी है। १ उग्र तपऋद्धि– चतुर्थ, षष्ठ (दो उपवास) अष्टम (तीन उपवास) दशम (चार उपवास) द्वादय (पांच उपवास) पक्ष (पंद्रह उपवास) और मास (एक महिनेके उपवास) इस प्रकारके उपवासोंमेंसे कोई एक प्रकारका उपवास आमरण करनेवाले मुनीश्वरोंको उग्र तपऋद्धिके धारक कहते हैं।

२ दीप्ततपस्– महोपवास करनेपरभी जिनका मनवचनशरीर सामर्थ्य बढताही है,

जिनका मुख दुर्गंधरहित है, जिनका श्वासोच्छवास पद्मके समान गंधवाला होता है तथा जिनका शरीर कान्तियुक्त होता है वे दीप्ततप ऋद्धिके धारक मुनिराज हैं।

३ तप्ततपस्– तपे हुए कटाहपर पडे हुए जलबिंदु सूख जाते है वैसा जिन्होंने लिया हुआ आहार मलरुधिरादिरूपतासे परिणत नहीं होता है, वे मुनि तप्ततपस्ऋद्धिके धारक हैं।

४ महातपस्– सिंहनिःक्रीडितादि महोपवास करनेवाले मुनि महातप ऋद्धिके धारक हैं।

५ घोरतपस्– नाना प्रकारके रोगोंसे पीडित होनेपरभी उपवास कायक्लेशादि तपश्चरणको नहीं त्यागनेवाले मुनीश्वरको घोरतपऋद्धिके मुनि कहते हैं।

६ घोर पराक्रम– वे ही मुनि जब अपना उपवास कायक्लेशादि तप अधिकाधिक बढाते हैं तब उन्हें घोर पराक्रम ऋद्धि धारक कहते हैं।

७ घोर ब्रह्मचारी– जिनका ब्रह्मचर्य अस्खलित होता है और जिनकी कभी दुःस्वप्न पडतेही नहीं वे घोरब्रह्मचारी हैं।

रसऋद्धिके छह भेद होते हैं– १ आस्यविष– उत्कृष्ट तपोबलके धारक मुनि 'तू मर' ऐसा जिसको कहते हैं वह तत्काल विषव्याप्त होकर मरता है ऐसे मुनीश्वरको आस्यविषऋद्धि होती है।

२ दृष्टिविष– उत्कृष्ट तपस्वी क्रुद्ध होकर जिसे देखते हैं वह तत्काल उग्रविषसे व्याप्त होकर मरता है, ऐसे मुनि दृष्टिविषर्द्धिके धारक समझना चाहिये।

३ क्षीरास्रावि– विरस अन्नभी जिनके हाथमें पडनेपर दूधके रससे परिणत होता है वे क्षीरास्राविऋद्धिके धारक हैं। अथवा जिनके वचन दूधके समान क्षीणलोगोंको संतुष्ट करनेवाले होते हैं वे क्षीरास्रावि मुनि हैं।

४ मध्वास्रावि– जिनके हाथमें पडा हुआ आहार नीरस होनेपरभी मधुररसवाला और शक्तिवर्धक होता हैं, तथा जिनके वचन दुःखपीडितोंको मधुके समान पुष्ट करते हैं वे मध्वास्रावि मुनिराज हैं।

५ सर्पिरास्रावि– जिनके हाथमें आया हुआ आहार नीरस होनेपरभी– रूक्ष होनेपरभी घीके समान रस और शक्तिवाला होता है अथवा जिनके वचन प्राणियोंको घीके समान सन्तोषप्रद होते हैं वे मुनि सर्पिरास्रावी ऋद्धिके धारक हैं।

६ अमृतास्रावि– जिनके हस्तपुटमें पडा आया हुआ अन्न अमृत हो जाता है अथवा जिनके भाषण अमृतके समान प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं वे अमृतास्रावी ऋद्धिके धारक मुनि हैं।

तत्त्वार्थवार्तिकमें इन सात ऋद्धिके सिवाय क्रियाऋद्धि आठवी ऋद्धि मानी है। इस ऋद्धिके दो भेद हैं, चारणत्व और आकाशगामित्व। चारणभी अनेक प्रकारके हैं। जल, जंघा, तन्तू, पुष्प, पत्र, श्रेणि, अग्निशिखादिकोंका अवलंबन लेकर गमन करनेवाले चारणमुनि जलादिकमें, जमीनके समान पांव उठाकर रखते हुए गमन करते हैं। तथापि जलादिकोंके जन्तुओंको पीडा नहीं

म्लेच्छाश्च द्विविधाःप्रोक्ताःकार्माश्चम्लेच्छभूमिजाः।कर्मभूमिषुयेसन्तितेसर्वे कर्मभूमिजाः॥ १६६
अन्तर्द्वीपजास्तावदन्तरद्वीपवर्तिनः । ते च द्वीपा भवन्त्यत्र जम्बूद्वीपपयोनिधौ ॥ १६७
योजनानि शतान्यस्मात्तिर्यक् पञ्च प्रविश्य ते। दिक्षु द्वीपा भवन्त्यष्टौ लवणाम्भोधिमध्यगाः॥ १६८
सार्द्धपञ्चशतान्यस्माद्योजनानां प्रविश्य च। द्वीपा विदिक्षु ते ह्यष्टौ विद्यन्ते कौतुकावहाः॥ १६९
वेदिकायाः समुद्रान्तः षड्योजनशतेषु च। गतेषु पर्वतान्तेषु द्वौ द्वौ द्वीपौ मतौ ततः ॥ १७०
चतुर्विंशतिसंख्यास्ते जम्बूद्वीपस्य सन्निधौ । तत्सङ्ख्या धातकीखंडसमीपे गदिता जिनैः ॥ १७१
शतयोजनविस्तारा दिक्षु द्वीपा अमी पुनः। स्युर्विदिक्षु तदर्द्धास्ते शैलान्ते पञ्चविंशतिः ॥ १७२
प्राच्यामेकोरुकाः सर्वेऽपाच्यां ते तु विषाणिनः । लाङ्गलिनः प्रतीच्यां यदुदीच्यां वायिवर्जिताः॥

होती है । जमीनपरसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें अतिशय शीघ्र सेकडो योजन गमन करनेवाले मुनि जंघाचरण मुनि हैं ।

आकाशगामी– पर्यङ्कासनसे अथवा कायोत्सर्गसे पांव नहीं उठाते हुए आकाशमें गमन करनेवाले मुनि आकाशगामी ऋद्धिके धारक हैं । इस प्रकार ऋद्धिमदार्योंका वर्णन हुआ । (राजवार्तिक 'आर्याम्लेच्छाश्च' सूत्रका भाष्य)

(म्लेच्छोंके भेदोंका वर्णन ।)– कर्मभूमिज म्लेच्छ और म्लेच्छभूमिज म्लेच्छ ऐसे म्लेच्छोंके दो भेद हैं । जो कर्मभूमिमें रहते हैं वे सर्व कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं ॥ १६६ ॥

अन्तरद्वीपमें रहनेवाले म्लेच्छोंको आन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहते हैं तथा ये अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके समुद्रमें हैं । अर्थात् लवणसमुद्रके द्वीपोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको आन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहते हैं । इनको कुभोगभूमिजभी कहते हैं ॥ १६७ ॥

लवणसमुद्रके अंदर पांचसौ योजन प्रवेश करनेपर लवणसमुद्रके मध्यमें पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ऐसी चार दिशाओंमें आठ द्वीप हैं ॥ १६८ ॥

तथा लवणसमुद्रमें साडे पाँचसौ योजनतक प्रवेश करनेपर विदिशाओंमें आश्चर्यकारक आठ द्वीप हैं ॥ १६९ ॥

वेदिकासे लवणसमुद्रमें छहसौ योजन प्रवेश करनेपर पर्वतोंके अन्तपर– टोकोंपर दो दो द्वीप हैं । सब मिलकर जम्बूद्वीपके सन्निध चौवीस द्वीप हैं । धातकीखंडके समीपके द्वीपोंकीभी जिनेश्वरोंने ऐसीही संख्या कही हैं । अर्थात् धातकीखंडके कालोद समुद्रमेंभी चौवीस अन्तरद्वीप हैं ॥ १७१ ॥

दिशाओंमें जो द्वीप हैं वे सौ योजन विस्तारवाले हैं और विदिशाओंमें जो द्वीप हैं वे पच्चीस योजन विस्तारवाले हैं । तथा पर्वतोंपर जो द्वीप हैं वे पच्चीस योजन विस्तारवाले हैं ॥ १७२ ॥

पूर्व दिशाके द्वीपोंमें जो अन्तर्द्वीपज मनुष्य हैं वे सब एकोरुक हैं अर्थात् एक पांववाले हैं। दक्षिण दिशाके द्वीपोंमें सींगवाले मनुष्य हैं । पश्चिम दिशाके द्वीपोंमें पूंछवाले मनुष्य हैं और

शशादिशकुलीकर्णा महिष्यावरणाः पुनः । लम्बकर्णा विदिक्ष्वेते भवन्ति मनुजाधमाः ॥ १७४
अश्वसिंहमुखास्तावच्छ्वमुखेभमुखाः पुनः । वराहव्याघ्रकाकैकक्षपिवर्गमुखाः परे ॥ १७५
विद्युन्मेषमुखाः सर्वे पार्श्वयोरुभयोर्मताः । शिखरिण्यस्य शैलस्य विविधाकारधारिणः ॥ १७६
मत्स्यमेषमुखाः कालमुखा हिमवतस्ततः । तत्पार्श्व उभयोः सन्ति सर्वे पल्योपमायुषः ॥ १७७
आदर्शहस्तिवक्त्राश्च पार्श्वयोरुभयोर्मताः । उत्तरस्यां हि रूप्याद्रेः समुद्रान्तैकवर्तिनः ॥ १७८
दक्षिणस्यां हि रूप्याद्रेः पार्श्वयोरुभयोः पुनः । गोमेषवदनाः सन्ति मानुषाश्चिरजीवनाः ॥ १७९
एकोरुका मृदाहारा गुहायां सन्ति वासिनः । शेषाः पुष्पफलाहारा वृक्षैकतलवासिनः ॥ १८०
द्वीपाः सर्वेऽपि ते तोयात् योजनोत्सेधवर्तिनः । कालोदेऽपि तथा ज्ञेयाः कुत्सिता भोगभूमयः ॥ १८१
कर्मभूमिभवाः सर्वे पुलिन्दा नाहलादयः । पापकर्मरता नित्यं दुष्टा दुर्गतिगामिनः ॥ १८२

उत्तर दिशाके द्वीपोंमें वचनरहित अर्थात् मूक मनुष्य हैं । विदिशाओंमें जो द्वीप हैं उनमें रहनेवाले मनुजाधमोंके कान शशके समान, शष्कुलीके समान—भैंसके समान हैं तथा आवरणके समान कर्ण हैं और लंब कर्ण हैं ॥ १७३—१७४ ॥

अश्वके समान मुखवाले, सिंहके समान मुखवाले, कुत्तेके समान मुखवाले, हाथीके समान मुखवाले, वराह—सूकर, व्याघ्र, कौवा और बंदर इन प्राणिओंके समान मुखवाले ऐसे अन्तर्द्वीपज विदिशाके द्वीपमें रहते हैं ॥ १७५ ॥

बिजलीके समान मुखवाले, मेष-बकरेके समान मुखवाले, मनुष्य शिखरी नामक कुल पर्वतके दोनो पार्श्वोंपर जो द्वीप हैं उनमें रहते हैं । हिमवान पर्वतके दोनों पार्श्वोंपर जो द्वीप हैं उनमें मत्स्यमुखवाले, मेषके मुखवाले और काले मुखवाले ये सभी मनुष्य हैं । ऐसे विविधाकारको धारण करनेवाले ये सभी मनुष्य एक पल्योपम आयुके धारक हैं । समुद्रके बीचमें जिसके अन्त घुस गये हैं ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके उत्तरके जो पार्श्व भाग हैं उनके द्वीपोंमें दर्पणके समान मुखवाले और हाथीके समान मुखवाले म्लेच्छ रहते हैं । विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणके दो पार्श्वभागमें जो द्वीप हैं उनमें गायके मुखसमान मुखवाले और बकरेके मुखसमान मुखवाले दीर्घकालीन आयुवाले मनुष्य हैं ॥ १६७—१७९ ॥

जो एक पांववाले हैं वे गुहामें रहते हैं । और मृत्तिकाभक्षण करते हैं तथा बाकीके पुष्प और फलोंका आहार लेते हैं तथा वृक्षके तलमें रहते हैं ॥ १८० ॥

वे सर्वद्वीप पानीसे एक योजनकी ऊंचाईपर है । कालोदसमुद्रमेंभी लवणसमुद्रके समान कुत्सित भोगभूमि हैं ॥ १८१ ॥

पुलिन्द, नाहल—पक्षियोंको पकडनेवाले पारधी, आदि शब्दसे शक, यवन, शबर आदिक कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं । वे कर्मभूमिज म्लेच्छ पापकर्म करनेमें प्रीति रखते हैं । हमेशा दुष्ट होनेसे दुर्गतिमें जानेवाले हैं ॥ १८२ ॥

सर्वार्थसिद्धिसौधैकप्रापकस्य सुकर्मणः । दुःकर्मणस्त्वधोभूमिप्रापकस्य समाश्रयः ॥ १८३
यास्ताः कर्मभुवो ज्ञेयाः शेषां भोगैकभूमिकाः । कर्ममात्राभिसंस्थानं जगत्सर्वं निगद्यते ॥ १८४
षड्विधस्य महापापकर्मणः कर्मभूमयः । संस्थानं पात्रदानादि सुमहाकर्मणोऽपि च ॥ १८५
समस्तकर्मणां मोक्षं भव्याः कुर्वन्ति यत्र वा । नान्यस्मिन्नत एवासौ कर्मभूमिर्निगद्यते ॥ १८६
कर्मभूमावपि प्राप्य मानुषत्वं सुदुर्लभम् । ही मोहान्धतमश्छन्नो नात्मानमधियास्यति[1] ॥ १८७

(कर्मभूमिका स्वरूप ।)– सर्वार्थसिद्धिरूपी प्रासादकी प्राप्ति करनेवाले शुभकर्मका बंध जहां होता है तथा जो सप्तमनरक– भूमिकी प्राप्ति करानेवाले दुष्कर्मका बंध करानेवाली है उसे कर्मभूमि कहते हैं । तात्पर्य यह है, कि सर्वार्थसिद्धिकी प्राप्ति करनेवाली तथा तीर्थकरत्व महाऋद्धिको उत्पन्न करनेवाले असाधारण शुभ कर्मका बंध जीवको कर्मभूमीमेंही होता है । अन्यत्र ऐसा उत्कृष्ट शुभ कर्मबंध नहीं होता । तथा अप्रतिष्ठान नरकभूमिमें ले जानेवाला अत्यंत अशुभकर्म कर्मभूमीमें ही जीव उपार्जित करते हैं । अन्यत्र अत्यंत तीव्र अशुभकर्मका बंध नहीं होता । क्योंकि कर्मबंध जो होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होता है । कर्मभूमिमेंही उत्कृष्ट शुभाशुभ कर्मबंध होने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंका संयोग होता है अन्यत्र नहीं । तथा संसारकारण कर्मोंकी निर्जरा भी यहांही होती है । अतः एव भरतादि क्षेत्रोंकोही आचार्योंने कर्मभूमि कहा है ॥ १८३ ॥

उपर्युक्त कर्मभूमिका लक्षण जिनमें है उनको कर्मभूमि कहते हैं । बाकीकी भूमियाँ भोगभूमियाँ कही हैं । यद्यपि आठ प्रकारके कर्मबंध सर्व मनुष्यक्षेत्रोंमें साधारण हैं । तथापि विशिष्ट कर्मबंधकी अपेक्षासे यहां कर्मभूमिका लक्षण किया है; तथा वह लक्षण देवकुरु, उत्तरकुरु विरहित समस्त विदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्रमें चला जाता है। अतः उनकोही कर्मभूमि कहना चाहिये। बाकीके स्थान भोगभूमि स्वरूप हैं; क्योंकि संपूर्ण जगत् सामान्यतया कर्मबंधनका स्थान है ॥ १८४ ॥

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ऐसे छह प्रकारके महापाप उत्पन्न करनेवाले कर्मोंकी प्रवृत्ति कर्मभूमिमेंही देखी जाती है । तथा देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ऐसे छह शुभ कर्मोंमें प्रवृत्तिभी इस कर्मभूमिमेंही देखी जाती है । यहांही संपूर्ण कर्मोंका नाश कर भव्य मोक्षप्राप्ति कर लेते हैं । अतः भरतादि क्षेत्रोंकोही कर्मभूमि कहना चाहिये । अन्यत्र जीवनके षट्कर्म, देवपूजादि शुभ षट्कर्म, और कर्मनिर्जरा तथा कर्ममुक्तता नहीं होती है । अतः ऐसे देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंको भोगभूमिही कहते हैं ॥ १८६ ॥

कर्मभूमिमेंभी मनुष्यपना प्राप्त करके मोहान्धकारसे व्याप्त होकर मनुष्य अपने आत्माकी प्राप्ति नहीं करता है यह बात उसको दूषणास्पद है ॥ १८७ ॥

१ आ. मधियस्यति ।

पल्योपमत्रयं तावन्नृणामायुरथोत्तमम् । जघन्यं जायते तेषामान्तर्मुहूर्तकं पुनः ॥ १८८
व्यावहारिकमाद्यं स्यादुद्धाराख्यं द्वितीयकम् । अद्धापल्यं तृतीयं तदिति पल्यत्रयं मतम् ॥ १८९
व्यवहारैकहेतुत्वादुत्तरस्यादिमं मतम् । व्यवहारैकपल्यं तदर्थेनैव च केवलम् ॥ १९०
उद्धाराख्यं द्वितीयं स्याल्लोमच्छेदैस्तदुद्धृतैः । भवत्येव यतस्तस्याप्यन्वर्थः स्फुट एव हि ॥ १९१
अद्धाकालस्थितिर्यस्माज्जायते तत्त्वगोचरैः । इत्यन्वर्थबलात्तस्याप्यद्धापल्यत्वमीरितम् ॥ १९२
प्रमाणाङ्गुलसम्भूतयोजनैकप्रमाणतः । दीर्घावगाहविष्कम्भः कुसूलः पल्यमिष्यते ॥ १९३

. . . . . .

(मनुष्यकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु ।)– मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम हैं, तथा उनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तकी होती हैं ॥ १८८ ॥

(पल्योपम– संख्याका निर्णय ।)– पल्यके तीन भेद हैं, व्यवहार पल्य, यह पहला पल्य है, दूसरा पल्य उद्धार नामक है; तथा तीसरा पल्य अद्धापल्य है । ऐसे तीन पल्य जैन शास्त्रमें माने हैं ॥ १८९ ॥

पहला पल्य आगेके पल्योंके व्यवहारका कारण होनेसे व्यवहारपल्य नामसे कहा जाता है । अतः उसका नाम अन्वर्थक है ॥ १०० ॥

दूसरे पल्यका नाम 'उद्धार पल्य' ऐसा है; क्योंकि उससे निकाले गये लोमच्छेदोंसे द्वीपसमुद्र संख्याका निर्णय किया जाता है । इसलिये 'उद्धारपल्य' यह नाम अन्वर्थ है, सो स्पष्टही है ॥ १९१ ॥

अद्धा- कालको अद्धा कहते हैं । इससे स्थितिका– कालका निर्णय होता है । इसलिये यह अद्धापल्य नाम तत्त्वगोचर– यथार्थताका विषय है । अन्वर्थता होनेसे इसकोभी अद्धापल्य कहते हैं ॥ १९२ ॥

(व्यवहारपल्यका स्वरूप ।)– प्रमाणङ्गुलोंसे उत्पन्न हुए योजनके प्रमाणसे जिसकी दीर्घता अवगाह और विष्कंभ– विस्तार है ऐसा एक कुसूल गड्हा खोदना चाहिये । उसको पल्य कहते है । स्पष्टीकरण– आठ यवमध्योंका एक उत्सेधांगुल होता है । इस उत्सेधांगुलको पांचसौ संख्यासे गुणनेसे प्रमाणांगुल होता है । यह प्रमाणांगुल अवसर्पिणीमें प्रथम चक्रवर्तीका आत्मांगुल माना जाता है । उस आत्मांगुलसे चक्रवर्तीके समयोंके ग्राम नगरादि– प्रमाणका निर्णय होता है । इतर समयमें जो मनुष्योंका आत्मांगुल होता है उससे ग्रामनगरादि प्रमाणका निर्णय होता है । जो प्रमाणांगुल है, उससे द्वीपसमुद्र, जगतीवेदिका, पर्वत, विमान, नरकप्रस्तार, आदिक अकृत्रिम द्रव्योंके दीर्घता, विस्तार आदि जाने जाते हैं । इस प्रमाणांगुलसे उत्पन्न हुए योजनके द्वारा किया हुआ एक प्रमाण योजनके अवगाहका, एक प्रमाण योजन दीर्घतासे युक्त और एक प्रमाण योजन विस्तारवाला ऐसा गड्ढा खोदना चाहिये उसे पल्य कहते हैं ॥ १९३ ॥

तदहर्जाविलोमाग्रच्छेदैः पूर्णं घनीकृतम् । व्यवहारमिदं[1] पल्यं कथ्यते यतिनायकैः ॥ १९४
एकैकलोमसंकर्षाद्धृते[2] वर्षशते शते । यावद्रिक्तं भवेत्पल्यं स च पल्योपमो मतः ॥ १९५
असंख्याताब्दकोटीनां यावन्तः समयाः पुनः । तावन्मात्रपरिच्छिन्नतल्लोमच्छेदसम्भृतम् ॥ १९६
उद्धाराख्यं मतं पल्यं समये[3] पूर्णता ततः । एकैकस्मिन्हृते लोम्नि यावद्रिक्तं प्रजायते ॥ १९७
स सर्वोपि मतः कालो ह्युद्धारः पल्यसंज्ञकः[4] । कोटीकोट्यो दशैतेषां उद्धारः सागरोपमः ॥१९८
अर्द्धतृतीयसंख्यानां उद्धाराणां भवन्ति ये रोमच्छेदाश्च तावन्तः कथ्यन्ते द्वीपसागराः ॥ १९९
पुनरुद्धारपल्यस्य रोमच्छेदैः प्रजायते । शताब्दसमयच्छिन्नैरद्धापल्यं प्रपूरितम् ॥ २००
एकैकस्मिन्हृते तस्मिन्समये समये ततः । यावद्रिक्तं भवेत्सोऽयमद्धापल्योपमो मतः ॥ २०१
कोटिकोट्यो दशैतेषां स्यादद्धा सागरोपमः । कोटिकोट्यो दशैतेषां एका स्यादवसर्पिणी ॥ २०२
तथैवोत्सर्पिणी ज्ञेया यस्यामुत्सर्पणं सदा । सर्वेषां हि पदार्थानामायुरुत्सेधपूर्विणाम् ॥ २०३

जिनको जन्म लेकर एक दिन हुआ है ऐसे मेषोंके केशाग्रोंसे – जिनका पुनः टुकडा नहीं होता है ऐसे केशाग्रोंसे वह गड्ढा दृढतया भरना चाहिये तब उसको यतिनायक व्यवहारपल्य कहते हैं ॥ १९४ ॥

(व्यवहारपल्योपमका लक्षण ।)– सौ वर्ष बीतनेपर एक रोमाग्र निकालना चाहिये। पुनः सौ वर्ष समाप्त होनेपर दूसरा लोमाग्र निकालना चाहिये, पुनः सौ वर्ष समाप्त होनेपर, तिसरा, इस प्रकार लोमाग्र निकालते निकालते जब वह गड्ढा जितने कालसे पूर्ण रिक्त होता है उतने कालको व्यवहारपल्योपम कहते हैं ॥ १९५ ॥

(उद्धारपल्योपमका लक्षण ।)– पुनः असंख्यात वर्ष– कोटियोंके जितने समय होते हैं उतने समयोंसे परिगणित एक एक मेषकेशाग्रोंसे भरा हुआ जो गड्ढा उसको उद्धारपल्य कहते हैं । वह उद्धारपल्य पूर्ण भरनेपर एक समयमें एक रोमाग्र निकालना चाहिए, पुनः एक समयमें एक रोमाग्र निकालना चाहिए, इस प्रकारसे निकालते निकालते जब वह गड्ढा जितने कालसे खाली हो जाता है– रिक्त होता है उतने बडे कालको उद्धारपल्योपम कहा जाता है। दश कोटि कोटि उद्धारपल्योपमोंका एक उद्धारसागर होता है । ढाई उद्धारसागरोपमोंके जितने रोमच्छेद होते हैं उतने इस मध्यलोकमें द्वीप और समुद्र है ॥ १९६–१९९ ॥

(अद्धापल्योपम अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका लक्षण ।)– सौ वर्षोंके जितने समय होते हैं उतने टुकडे उद्धार पल्यके एक एक रोमच्छेदके करने चाहिये । और ऐसे रोमच्छेदोंसे वह अद्धापल्य भरना चाहिये। इसके अनंतर एक एक समयमें एक एक रोमच्छेद वहांसे निकालना चाहिये । ऐसा निकालते निकालते जब वह रिक्त होगा तब उस कालको उसे अद्धापल्योपमकाल कहते हैं। दस कोटी कोटी अद्धापल्योपमोंका एक अद्धासागरोपम होता है । और दस कोटीकोटी

१ आ. वै व्यावहारिकं पल्यं. २ आ. संकर्षाहते ३ आ. समये समये ततः ४ आ. सञ्ज्ञकः

अवसर्पणतस्तेषामेवाभाण्यवसर्पिणी[1] । तस्याः कालकलाषट्कं सुषमासुषमादयः ॥ २०४
कोटीकोटयश्चतस्रः स्युः[2] सुषमासुषमादयः । सुषमासुषमाकालः सर्वसौख्यकरो नृणाम् ॥ २०५
कोटीकोटयस्तथा तिस्रः सुषमाकाल इष्यते । सुषमादुःषमाकालः[3] कोटीकोटिद्वयं मतः ॥ २०६
दुष्षमासुषमाकालः[4] कोटिकोटिर्निगद्यते । द्विचत्वारिंशता हीनः सहस्राणां हि कोविदैः ॥ २०७
एकविंशतिरुद्दीता सहस्राणां हि दुःषमा[5] । तथातिदुःषमाकालो[6] बहुदुःखप्रदो नृणाम् ॥ २०८
उत्सर्पिण्यास्तथा चैते षट्कालाः सम्प्रकीर्तिताः । अतीवदुष्षमा[7] आद्या सुषमासुषमान्तिका॥२०९
नारकतिर्यग्देवानां मनुष्याणामनेन च । अद्धापल्येन कर्मायुःकालस्थितिरुदीर्यते ॥ २१०
तिरश्चामायुरुत्कृष्टं त्रिपल्योपममीरितम् । अन्तर्मुहूर्तकं[8] तेषां जघन्यं मुनिनायकैः ॥ २११
उत्सेधः परमो नृणां क्रोशानां त्रितयं मतम्[9] । अङ्गुलासङ्ख्यभागश्च जघन्यो मध्यमः परः ॥११२

अद्धासागरोपमकालकी एक अवसर्पिणी होती है । उत्सर्पिणीकालका परिमाणभी दस कोटीकोटी अद्धासागरोपमकाल है । दोनों मिलकर अर्थात् बीस कोटीकोटी अद्धासागरोपमकालको एक कल्पकाल कहते है । जिसमें सर्व पदार्थोंकी आयु, ऊंचाई, आदि गुण बढते हैं उस कालको उत्सर्पिणीकाल कहते हैं, तथा ये जिसमें कम कम होते हैं उसे अवसर्पिणीकाल कहते हैं । इस कालके सुषमासुषमादिक छह भेद हैं । पहला सुषमासुषमाकाल मनुष्योंको सर्व प्रकारके सुखोंको देनेवाला है । यह काल चार कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है । तीन कोटीकोटी सागरोपमकाल सुषमा नामका है । सुषमादुःषमानामका काल दो कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है और दुःषमासुषमा-नामक काल एक कोटीकोटी सागरोपमवर्षोंका है । मात्र उसमेंसे बियालीस हजार वर्ष कम करने चाहिये ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । उसमें दुःषमाकाल इकईस हजार वर्षोंका है और अतिदुःष-माकालभी इतनाही है और वह मनुष्योंको अतिशय दुःखप्रद है । उत्सर्पिणीके छह काल कहे हैं; परन्तु उसमें अतिदुःषमा पहला भेद है और सुषमासुषमा यह अन्त्यका अर्थात् छठा भेद है ॥ २००–२०९ ॥

(अद्धापल्यसे कौनसी वस्तुओंकी गणना की जाती ?)– नारकी, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य इनकी अद्धापल्यके द्वारा कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुः स्थिति और शरीरस्थिति जानने योग्य होती है ॥ २१० ॥

(तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु ।)– तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है ऐसा मुनिनायक कहते हैं और उनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त परिमाण की है ॥ २११ ॥

(मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य ऊंचाईका कथन)– मनुष्योंकी उत्तम ऊंचाई तीन कोसोंकी हैं । और जघन्य ऊंचाई अङ्गुलासंख्यात भाग है और मध्यम ऊंचाई अनेक प्रकारकी है ॥ २१२ ॥

---

१ आ. मेषा २ आ. स ३ आ. दुःखमा ४ आ. दुःखमा ५ आ. दुःखमा ६ आ. दुःखमा ७ आ. अतीव दुःखमा या सा सुखमासुखमान्तिका ८ आ. मौहूर्तिकं ९ आ. मतः

मत्स्यानां पूर्वकोटयेका परमायुः प्रकीर्तितम् । कर्मभूमिगतानां च तथैव मुनिपुङ्गवैः ॥ २१३
वर्षाणां च सहस्राणि चत्वारिंशद्द्विरुत्तरा । सर्पाणां च परं प्रोक्तमायुरायुर्विवर्जितैः ॥ २१४
द्विसप्ततिसहस्राणि[1] पक्षिणामायुरुत्तमम् । कथयन्ति जिनाधीशा विविधागमपारगाः ॥ २१५
लवणाम्बुधिमध्यस्थमत्स्यदेहः प्रमाणतः । योजनान्यष्टसंयुक्तदशैतानि मतो जिनैः ॥ २१६
नदीमुखेषु सर्वेषु पुनरेतत्प्रमाणतः । योजनानि नवैवाहुर्विश्वतत्त्वविचारकाः ॥ २१७
षट्त्रिंशद्योजनान्याहुः कालोदे मत्स्यविग्रहम् । अष्टादश नदीद्वारे प्रमाणाद्यतिनायकाः ॥ २१८
स्वयम्भूरमणे सन्ति मत्स्याः सहस्रकायिकाः[2] । अन्ये पञ्चशतान्येते परमोत्सेधधारिणः ॥ २१९
मसूरिकाकुशाग्रस्थबिन्दुसूचिपताकिनः । पृथ्व्युदकाग्निवाताश्च संस्थानेन निरूपिताः ॥ २२०
नानासंस्थानसंयुक्ता हरित्कायास्तथा त्रसाः । अव्यक्तहुण्डसंस्थाना नारकाः कथिता जिनैः ॥ २२१

(मत्स्योंकी उत्कृष्ट आयु ।)– कर्मभूमिगत मत्स्योंकी उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटीकी है ऐसा श्रेष्ठ मुनियोंने कहा है ॥ २१३ ॥

(सर्पोंकी उत्कृष्ट आयु।)– आयुकर्मरहित तीर्थंकर परमदेवोंने सर्पोंकी आयु चौरासी हजार वर्षोंकी कही है ॥ २१४ ॥

(पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु।)– नानाविध आगमोंके पारगामी जिनेश्वरोंने पक्षियोंकी आयु बहात्तर हजार कही है ॥ २१५ ॥

(मत्स्योंकी शरीरावगाहनाका वर्णन ।)– लवणसमुद्रके मध्यमें रहनेवाले मत्स्योंका शरीरावगाहन अठारह योजनप्रमाणका है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है । विश्वतत्त्वका विचार जिन्होंने किया है ऐसे गणधरोंने गंगादि नदियोंके मुखमें रहनेवाले मत्स्योंकी शरीरावगाहना नौयोजनप्रमाणकी कही है । कालोदसमुद्रमें मत्स्योंकी शरीरावगाहना छत्तीस योजनोंकी है। गंगादिनदियोंके मुखमें अठारह योजनोंकी मत्स्यशरीरोंकी अवगाहना है । स्वयंभूरमणसमुद्रमें मत्स्य हजारयोजनोंके रहते हैं और नदियोंके मुखमें पांचसौ योजनोंकी अवगाहनावाले मत्स्य है ऐसा यतिनायकोंने कहा है ॥ २१६–२१९ ॥

(पृथ्वीजलादिकोंका आकार ।)– पृथ्वीजीवका आकार मसूरके समान है । जलका आकार दर्भाग्रके ऊपरकी जलबिन्दु समान, अग्निका आकार सूईयोंके समूहके समान, वातका आकार पताकाके समान है ॥ २२० ॥

(वनस्पति त्रस और नारकियोंका आकार ।)– वनस्पति और त्रसोंके आकार नानाविध है । तथा नारकियोंका आकार हुंड संस्थानका है ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है । अर्थात् नारकियोंके शरीरका आकार अव्यक्त टेडामेडा अनेक प्रकारका होता है, बीभत्स होता है ॥२२१॥

१ आ. सप्तत्यब्दसहस्राणि　२ आ. साहस्त्रिकान्तराः

उत्कर्षेणैव जायन्ते ज्योतिर्व्यन्तरभावनाः । मिथ्यादृशस्तपोदानयुक्ताअपि सुनिश्चितम् ॥ २२२
ब्रह्मलोकावधिं कृत्वा तापसानां परा गतिः । मिथ्यात्वबलयुक्तानां न पुरस्तात्कदाचन ॥ २२३
जीविकाया निमित्तं ते[1] जिनलिंगं समाश्रिताः । तन्मिथ्यात्वममुञ्चन्तो ब्रह्मव्रतसमन्विताः ॥ २२४
यदि यान्ति मृताः स्वर्गंसहस्रारं न चाग्रतः । ततोऽन्यलिङ्गिनां नास्ति समुत्पत्तिः कदाचन ॥ २२५
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाज्ञामात्रधारिणः । उत्कृष्टतपसा यान्ति यावद्ग्रैवेयकं परम् ॥ २२६
निर्ग्रन्थश्रावकाणां च समुत्कर्षात्प्रजायते । आरणाच्युतदेवानामुपपादो मनोरमः ॥ २२७
दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयस्यैकधारकाः[2] । निर्ग्रन्था एव जायन्ते पंचानुत्तरवर्त्तिनः ॥ २२८
ये मिथ्यात्ववशात्प्राप्ता देवत्वमतिनिन्दितम्।आ ऐशानाच्च्युतास्तेऽमी गच्छन्त्येकेन्द्रियेषु च॥२२९
ततः परं सहस्रारादाद्यावत्ते प्रच्युताः पुनः । अनन्तरभवे यान्ति तिर्यङ्मानवयोनिषु ॥ २३०
ततः परं सुधर्मेण पूर्वं वा स्वर्गगामिनः । तस्माच्च्युता मनुष्येषु तिर्यक्षु न कदाचन ॥ २३१

(मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्तिका निर्णय ।)– मिथ्यादृष्टि जीव तप करनेपर और दान देनेपरभी निश्चयसे उत्कृष्ट ज्योतिष्क, व्यन्तर और भवनवासि देवोंमें उत्पन्न होते है । जो मिथ्यादृष्टि तापसी साधु है वे मिथ्यात्वसहित ब्रह्मस्वर्गतकही जन्म लेते है । उनकी उत्कृष्ट गति वहांतकही है । उसके आगे कभीभी उनकी उत्पत्ति नही होती है ॥ २२२–२२३ ॥

जिन्होंने जीविकाके निमित्त जिनलिंगका आश्रय किया है, जो मिथ्यात्वको नहीं छोडते हुए ब्रह्मचर्य व्रतके धारक है, वे यदि मरनेके बाद स्वर्गमें जाते है तो सहस्त्रारस्वर्गतक जायेंगे, उसके आगे अन्यलिंगियोंकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती है ॥ २२४–२२५ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस रत्नत्रयकी आज्ञा फक्त धारण करनेवाले मुनि उत्कृष्ट ग्रैवेयकतक जन्म ग्रहण करते है ॥ २२६ ॥

(निर्ग्रंथ मुनि और श्रावक इनकी उत्पत्ति)– निर्ग्रंथ मुनि और श्रावक इनका उत्कर्षसे मनोहर जन्म आरण अच्युत देवोंमें होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक ऐसे निर्ग्रन्थही पंचानुत्तरपर्यन्त उत्पन्न होते है ॥ २२७–२२८ ॥

जिन्होंने मिथ्यात्व वश होकर ऐशान स्वर्गतक निन्दित देवत्व प्राप्त किया है, वे आयुष्य समाप्ति होनेपर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं । तथा जो मिथ्यादृष्टि जीव सहस्त्रारस्वर्गतक देव होकर उत्पन्न हुए हैं, वे जब वहांसे आयु समाप्त होनेपर च्युत होते हैं, तब अनन्तरभवमें तिर्यंच अथवा मनुष्यभवमें जन्म धारण करते है ॥ २२९ ॥

जिन्होंने पूर्वभवमें सुधर्मसे–रत्नत्रयसे स्वर्ग प्राप्त किया है, वे आयुष्य समाप्त होनेपर वहांसे च्युत होकर मनुष्योंमें जन्म धारण करते हैं, वे तिर्यंचोंमें कदापि जन्म धारण नहीं करते ॥ २३० ॥

लोकके भेदस्वरूपी तिर्यग्लोकका किञ्चित् वर्णन मैंने किया है । अब ऊर्ध्व लोकके आश्रयसे किञ्चित् वर्णन करना चाहता हूं ॥ २३१ ॥

---

१ आ. ये २ आ. सम्यग्दर्शनचारित्रत्रितयस्यैक

तिर्यग्लोकगता किञ्चित्कृता लोकस्य[1] वर्णना। ऊर्ध्वलोकाश्रिता तावत्साम्प्रतं सा विधीयते॥२३२

इत्याद्यनेकभवगर्तविवर्तवर्तियोनिष्वनादि विचरन्नपि जीव एषः।
नाद्यापि भङ्गमलमङ्ग समाकलय्य जैनेश्वरं श्रयति हा किमिहातनोमि॥ २३३

जैनेश्वरं मतमिहाप्य च सिद्धबोधाः शृण्वन्ति साधु कलयन्ति विचारयन्ति।
ये ते जगत्त्रयशिरःशुभशेखरत्वमात्मन्यनन्तसुखमाशु निमापयन्ति॥ २३४

इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे [2]पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते [3]मध्यलोकविचारणानिरूपणं समाप्तम् सप्तमः परिच्छेदः।

पूर्वमें कहा हुआ जो संसाररूपी गडहा वही भौंरारूपी जो चौरासी हजार योनि उनमें यह जीव अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है। हे जीव! यह संसार अद्यापि नष्ट नहीं होता ऐसा जानकर तू जिनेश्वरका मतका आश्रय कर। हे जीव! अब मैं इससे अधिक तुझे क्या कहूं? जिनका ज्ञान निर्मल है ऐसे जो भव्य जीव जिनेश्वरका मत प्राप्त करके उसे सुनते हैं, धारण करते हैं और उसका विचार करते हैं, वे जगत्त्रयको सुखदायक ऐसे जिनमतमें स्थिर रहकर शुभकार्योंमें शेखररूप– अर्थात् श्रेष्ठ ऐसा अनन्त सुख आत्मामें प्राप्त करते हैं॥ २३३–२३४॥

श्रीपंडिताचार्य नरेन्द्रसेनविरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमें मध्यलोकविचारणाका निरूपण करनेवाला सातवा अध्याय समाप्त हुआ।

१ आ. जीवस्य　२ आ. 'पण्डित' इति नास्ति　३ आ. मध्य इति नास्ति

अष्टमः अध्यायः ।

देवा निकायभेदेन जायन्तेऽत्र चतुर्विधाः । यतो दीव्यन्ति सर्वत्र तन्नामाभ्युदये सति ॥ १
भावना व्यन्तरास्तस्माज्ज्योतिष्काः कल्पवासिनः । चतुर्विधा भवन्त्येते विविधर्द्धिसमन्विताः ॥२
कृष्णा नीला च कापोता पीता चैव तथा पुनः । आदितस्त्रिषु देवानां लेश्याः समुपवर्णिताः ॥ ३
भावना दशधा देवा व्यन्तराश्चाष्टधा मताः । ज्योतिष्काः पञ्चधा कल्पवासिनो द्वादशप्रमाः ॥ ४

आठवा अध्याय ।

(ऊर्द्ध्वलोक वर्णन तथा देव निरुक्ति ।)– इस लोकमें निकायोंके भेदसे देव चार प्रकारके होते हैं। देवगतिनाम कर्मका उदय होनेसे जो सर्वत्र क्रीडा करते हैं उनको देव कहते हैं। स्पष्टीकरण– जो अभ्यन्तर कारण देवगतिनाम कर्मका उदय और बाह्य कारण जो कान्ति ऐश्वर्यादिक उनसे द्वीप, समुद्र, सरोवर, पर्वतादि स्थलोंमें यथेष्ट क्रीडा करते हैं उनको देव कहते हैं ॥१॥

(देवोंके चार भेद ।)– भावन– भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ऐसे ये देव चार प्रकारके होते हैं । इनमें अणिमा, महिमा आदि नाना प्रकारकी विक्रिया ऋद्धियां होती हैं । स्पष्टीकरण– अणिमा- अतिशय छोटा शरीर बनाना । महिमा– मेरूसेभी बडा शरीर बनाना । गरिमा– वज्रसेभी अधिक वजनवाला शरीर बनाना । लघिमा– वायुसेभी हलका शरीर बनाना । प्राप्ति– जमीनमें खडे होकर अंगुलीके अग्रभागसे मेरुशिखर सूर्यादिकोंको स्पर्श करना । प्राकाम्य– जमीनपर जैसा गमन करते हैं वैसा पानीमें गमन करना । पानीमें जैसा उन्मज्जन निमज्जन करते हैं वैसा भूमिमें करना । ईशित्व– त्रैलोक्यके ऊपर प्रभुत्व रखना । वशित्व– सर्व जीवोंको वश करना । अप्रतिघात–पर्वतमें आकाशके समान गमनागमन करनेका सामर्थ्य रहना । अन्तर्धान– अदृश्यरूप धारण करना । कामरूपित्व–युगपत्– एक कालमें अनेक आकारके रूप प्रगट करनेका सामर्थ्य होना । ऐसी अनेक प्रकारकी ऋद्धियां देवोंको प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥ (राजवार्तिक आर्या म्लेच्छाश्च सूत्रका भाष्य)

(पहिलेके तीन निकायोंके देवोंमें लेश्यायें ।)– प्रथमके तीन निकायोंमें–भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्यायें हैं ॥ ३ ॥

स्पष्टीकरण– लेश्याका स्वरूप पूर्व अध्यायमें कहा गया है । कृष्णलेश्यावालेके लक्षण कृष्णलेश्यावाला जीव तीव्र क्रोधी, वैरको न छोडनेवाला, लडनेका स्वभाव धारण करनेवाला, धर्म और दयासे रहित, और किसीके वश न होनेवाला होता है । नील लेश्यावाला जीव मंद, कार्य करनेमें विवेकरहित, कलाचातुर्य– रहित, इन्द्रियलंपटी, मानी, कपटी, अतिशय निद्रालु और दूसरोंको ठगानेमें अतिदक्ष, धनधान्योंमें तीव्र अभिलाषी होता है ।

कापोत लेश्यावाला जीव– दूसरेके ऊपर रोष करनेवाला, निन्दा करनेवाला, भययुक्त और शोक करनेवाला, दूसरेके ऐश्वर्यादिक सहन नहीं करनेवाला, अन्योंका तिरस्कार करनेवाला, स्वप्रशंसा करनेवाला, दूसरोंके ऊपर विश्वास न करनेवाला, तथा प्रशंसकोंको धन देनेवाला होता है ।

असुरादिकुमारास्ते नागविद्युत्कुमारकाः । सुपर्णाग्निकुमाराश्च तथा वातकुमारकाः ॥ ५
स्तनितोदधिसद्द्वीप दिक्कुमारा भवन्त्यभी । भावना भवनावासास्तत्सामान्यविशेषतः ॥ ६
किन्नराः किम्पुरुषाश्च व्यन्तरास्ते महोरगाः । गन्धर्वाश्च तथा यक्षा राक्षसा भीमविग्रहाः ॥ ७
भूताश्चेति[1] पिशाचाश्च विविधान्तरवासिनः । यतोऽमी व्यन्तरास्तस्मान्निगद्यन्ते मनीषिभिः ॥८

पीतलेश्यावाला– कार्य अकार्यको समझता है, सेव्य असेव्यको जानता है। सबके विषयोंमें समदर्शी, दया और दानमें तत्पर, और कोमलपरिणामी होता है।

पद्मलेश्यावाला– दानशील, भद्रपरिणामी, उत्तम कार्य करनेवाला, क्षमाशील तथा मुनि, गुरु आदिकी पूजामें तत्पर होता है।

शुक्ललेश्यावाला– पक्षपात नहीं करता है, निदान नही बांधता है, समदर्शी होता है, इष्टसे राग और अनिष्टमें द्वेष नहीं करता है।

पहले तीन निकायोंके देवोंकी कृष्णादिक चार लेश्यायें भावलेश्यायें हैं। द्रव्यलेश्यायें इन देवोंकी भिन्न भिन्न हुआ करती है। भावलेश्याके अनुसार द्रव्यलेश्यायें इनकी नहीं होती हैं।

(भवनादि देवोंके प्रभेद।)– भवनवासी देव दश प्रकारके, व्यन्तर देव आठ प्रकारके, ज्योतिष्क देव पांच प्रकारके और कल्पवासी देव बारह प्रकारके हैं ॥ ४ ॥

(भवनवासियोंके दश प्रकार।)– असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार ऐसे भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। स्पष्टीकरण– सामान्यकी अपेक्षासे इन दश प्रकारके देवोंको 'भवनवासी देव' कहते हैं और विशेषकी अपेक्षासे असुरादि भेद हैं। मूलकर्म देवगति नाम है। उसके अन्तर्भेद भवनवास्यादि चार हैं; तथा असुरादिक विशेष संज्ञायें हैं, और वे विशिष्ट नामकर्मोदयसे प्राप्त हुई हैं। अतः ये सब भेद देवगति–नामकर्मके हैं। अर्थात् इस गतिनामकर्मके असंख्यात भेद होते हैं। इन सर्व देवोंकी आयु और स्वभाव निश्चित होनेपरभी कुमारावस्थावालोंके समान उद्धतवेष, भाषा, आभरण, आयुध, यान वाहनादिक रहते हैं। रागक्रीडामें इनको अत्यंत रुचि रहती है। इसलिये इनको कुमार कहते हैं ॥ ५–६ ॥

(व्यंतरोंके अवान्तर भेद।)– किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष और भयानक शरीरवाले राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद व्यंतरोंके हैं। व्यंतर यह इन देवोंकी सामान्य संज्ञा है। विविध देशोंमें इनके निवासस्थान हैं इसलिये इनको व्यन्तर कहते है। इनके जो किन्नरादिक आठ भेद कहे हैं वे किन्नर नामकर्मोदय, किंपुरुष नामकर्मोदय, महोरग नामकर्मोदय इत्यादिकसे उत्पन्न हुए हैं। ये सब देवगति नामकर्मके विशेष भेद हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ७–८ ॥

---

१ आ. श्चैते

सूर्याचन्द्रमसौ तस्माद्ग्रहनक्षत्रतारकाः । ज्योतिःस्वभावरूपत्वाज्ज्योतिष्काः कथिता जिनैः ॥ ९
तारकाणां विमानानि शतानि सप्तसंयुताः । नवतिश्च जिनैः प्रोक्ता योजनानि महीतलात् ॥ १०
अस्मादेव समाद्भूमिविभागाद्योजनानि च । नवत्यामा शतान्यूर्ध्वं सप्त सन्ति सुतारकाः ॥ ११
दशैव योजनान्यूर्ध्वं ततः सूर्याश्चरन्ति ते । ततोऽशीतिं परित्यज्य तदूर्ध्वं शीतभानवः ॥ १२
नक्षत्राणि च विद्यन्ते योजनानां त्रये ततः । योजनत्रितयं गत्वा ततोऽप्यूर्ध्वं बुधाश्रयाः ॥ १३
योजनत्रितये शुक्रास्तदूर्ध्वं त्रितये पुनः । बृहस्पतिविमानानि विद्यन्ते शोभनानि च ॥ १४
अङ्गारकास्तदूर्ध्वं ते योजनानां चतुष्टये । विचरन्ति ततोऽप्यूर्ध्वं तथैते च शनैश्चराः ॥ १५
ज्योतिर्ग्रहगणाकीर्णप्रदेशो नभसो मतः । दशाधिकशतं तावद्योजनानां स विस्तरात् ॥ १६
तिर्यक्पुनः स विज्ञेयस्तिर्यग्लोकप्रमाणतः । मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयस्ते नृमण्डले ॥ १७
एकविंशतिसंयुक्ताः शतैकादशयोजनैः । मेरुं त्यक्त्वा[1] भ्रमन्त्यत्र[2] ज्योतिष्का भ्रमणान्विताः ॥१८
[3]आभियोगिकदेवौघैरुह्यमानविमानकैः । तैरेव क्रियते सर्वः कालोऽयं व्यावहारिकः[4] ॥ १९

(ज्योतिष्क देवोंके अवान्तर भेद ।)– सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारका ये पांच प्रकारके देव ज्योतिःस्वभाववाले होनेसे ज्योतिष्क देव कहे जाते हैं । सूर्य, चंद्र, ग्रह– शुक्र, बुध, अश्विनी आदिक संज्ञाविशेष नामकर्मोदयसे उत्पन्न होते है, ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ ९ ॥

तारकाओंके विमान इस समान भूमिभागसे ऊपर सातसौ नब्बे योजन आकाशमें ऊंचे जानेपर सुशोभित हैं ऐसा जिनेश्वरोंने कहा हैं ॥ १०–११ ॥

इनके ऊपर दश योजन जानेसे सूर्य भ्रमण करते हैं । तदनन्तर अस्सी योजन पुनः ऊपर जानेपर चन्द्र भ्रमण करते हैं । उनके ऊपर तीन योजन जानेपर नक्षत्र फिरते हैं । पुनः तीन योजनोंपर जानेसे बुधोंके स्थान हैं । पुनः तीन योजनोंपर शुक्र हैं । पुनः तीन योजनोंपर बृहस्पतिके विमान हैं । उनके ऊपर चार योजन क्षेत्र जानेसे अंगारक – मंगल भ्रमण करते हैं । उसके ऊपर चार योजन जानेसे शनैश्वर विहार करते हैं । इस प्रकार ज्योतिष्क देवसमूहसे आकाशप्रदेश व्याप्त हुए है, अर्थात् एकसौ दस योजनप्रमाणका आकाश इन्होंने व्याप्त किया है। इतने आकाशके विस्तारमें ज्योतिर्गण है । तथा आसमन्तात् तिर्यग्लोकप्रमाण आकाशमें ज्योतिर्मंडल है । ये सब ज्योतिष्क देव मंडलाकारसे मेरुको प्रदक्षिणा देते हैं और इनका घूमना सतत चलता है । ये ज्योतिष्क देव ग्यारह सौ इक्कीस योजनतक मेरुको छोडकर उसके आसपास भ्रमण करते है ॥ १२–१८ ॥

आभियोग्य देव, ज्योतिष्क देवोंके – सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारकाओंके विमान लेकर घूमते हैं तथा वे ही सर्व व्यावहारिक काल समय, आवली, घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, मास आदिक रूप कालको उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥

---

१ आ. मुक्त्वा २ आ. भ्रमन्त्येते ३ आ. आभीतियोगिकैर्देवैः ४ आ. वैवहारिकः

नृलोकान्ते बहिर्भागे सर्वे तावदवस्थिताः । विद्यन्ते प्रस्फुरज्ज्योतिःप्रकाशितदिगन्तराः ॥ २०
जम्बूद्वीपे मतं प्राज्ञैः सूर्यचन्द्रद्वयं द्वयम् । ते चत्वारश्च चत्वारो लवणाम्भोधिध्यगाः ॥ २१
आदित्याश्च तथा चन्द्राश्चत्वारिंशद्द्विरुत्तराः । कालोदाम्बुधिमध्यस्था निगद्यन्ते मनीषिभिः॥२२
द्वादश द्वादश प्राज्ञैश्चन्द्रादित्या निवेदिताः । धातकीखण्डमध्यस्थाः परमोद्योतकारिणः ॥ २३
सप्ततिर्द्व्यधिका प्रोक्ता पुष्करार्द्धेऽतिविस्तृते। चन्द्राणां भास्कराणां च तमस्तोमापहारिणाम्[1]॥२४
जम्बूद्वीपान्तरेऽशीतियोजनानां तथा शतम् । लवणाम्भोनिधौ त्रिंशत्सहितं च शतत्रयम् ॥ २५
चारक्षेत्रमिदं तावत्प्रथितं चन्द्रसूर्ययोः । समुदायेन पञ्च स्युः शतानि दशभिः समम् ॥ २६
चतुर्भिरधिकाशीतिः शतमादित्यवर्त्मनाम् । पंचदशैवं[2] चन्द्रस्य कथितास्तत्र तद्विदैः ॥ २७
जम्बूद्वीपान्तरे तत्र सङ्क्रान्तौ कर्कटस्य च । दक्षिणायनसंरंभे ह्यादिमार्गेण गच्छतः ॥ २८
आदित्यस्य विमानस्थं जिनबिम्बमिहाद्भुतम्।ज्ञात्वायोध्यास्थितश्चक्री[3] भरतोऽर्घं प्रयच्छति॥२९

(ढाई द्वीपके बाहरके ज्योतिष्क देव स्थिर हैं।)– मनुष्य लोकके बाहरके सर्व ज्योतिष्क देव स्थिर विद्यमान है, तथा स्फुरायमान कान्तिके द्वारा उन्होंने सब दिशायें उज्ज्वल की हैं ॥२०॥

(ढाई द्वीपोंमें चन्द्र और सूर्योंकी संख्याका वर्णन ।)– जम्बूद्वीपमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं ऐसा विद्वानोंने माना है । लवणसमुद्रके मध्यमें चार चंद्र और चार सूर्य हैं। कालोदसमुद्रके मध्यमें बयालीस चन्द्र ओर बयालीस सूर्य हैं । धातकीखंडके मध्यमें उत्तम प्रकाश करनेवाले बारह चंद्र और बारह सूर्य हैं । अतिशय विस्तृत पुष्करार्द्धद्वीपमें बहत्तर चंद्र और बहत्तर सूर्य हैं । अंधकार नष्ट करनेवाले चंद्र और सूर्योंकी इस प्रकार ढाई द्वीपमें संख्या कही है ॥२१–२४॥

(जम्बूद्वीपमें और लवणसमुद्रमें चंद्रसूर्योंका चारक्षेत्र)– जम्बूद्वीपमें चंद्र–सूर्योंका चारक्षेत्र एकसौ अस्सी योजनोंका है । तथा लवणसमुद्रमें चन्द्र – सूर्योंका चारक्षेत्र तीनसौ तीस योजनोंका है । इस प्रकार चन्द्रसूर्योंका चारक्षेत्र दोनोंका मिलकर समुदायसे पांचसौ दस योजनोंका होता है । सूर्योंके मार्ग एकसौ चौरासी हैं और चंद्रके मार्ग पंद्रह हैं, ऐसा ज्योतिर्विदोंका कथन है ॥ २५–२७ ॥

(कर्कटसङ्क्रान्तिमें सूर्य पहिले मार्गपर आता है ।)– जम्बूद्वीपके मध्यमें कर्कटसंक्रान्तिके समयमें दक्षिणायनका आरंभ होता है । उस समय पहिले मार्गसे गमन करनेवाले सूर्यके विमानमें जो अद्भुत जिनबिंब है, उसे अयोध्यामें तिष्ठा हुआ भरत चक्रवर्ती अर्घ्य देता है । तबसे सभी

१ आ. तमस्तोमापसारिणाम्　२ आ. पंचदशैव　३ आ. वध्या

ततः प्रभृति लोकोऽयमादित्येऽर्घं प्रयच्छति । परमार्थमजानन्तस्तत्र[1] जैनेश्वरं महः ॥ ३०
योजनानां सहस्राणि नवतिश्चतुरुत्तरा । पञ्चविंशतियुक्तानि तथा पञ्चशतानि च ॥ ३१
दक्षिणायनसंरंभे ह्याद्यमार्गावलम्बिनः । रवेर्घर्मस्य विस्तारः पौर्वापर्येण सम्मतः ॥ ३२
अष्टादशमुहूर्तैःस्याद्दिवसस्तत्र विस्तृतः । रात्रिर्द्वादशभिः प्रोक्ता मुहूर्तैस्तत्प्रकर्षतः ॥ ३३
तन्मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्य च । भागैको हीयते तस्माद्दिवसं दिवसं प्रति ॥ ३४
क्रमादातपहानौ च[2] सङ्क्रान्तौ मकरस्य च । यावत्पयोनिधावन्त्ये मार्गे सूर्योऽधिगच्छति[3] ॥३५
सहस्राणां त्रिषष्टिः स्याद्योजनानि तु षोडश । तत्रादित्यविमानस्य धर्मविस्तार इष्यते ॥ ३६
द्वादशभिर्मुहूर्तैः स्याद्दिनं[4] रात्रिस्तु जायते । अष्टादशमुहूर्तैश्च जघन्येनोत्तरायणे ॥ ३७
कोटिकोटिस्तु[5] षट्षष्टिः सहस्राणि तथा नव । शतानि पञ्चसप्तत्या समं चन्द्रस्य तारकाः ॥३८
अष्टाशीतिर्ग्रहाणां च नक्षत्राण्यष्टविंशतिः । इत्येवं परिवारोऽपि चन्द्रस्यैकस्य कथ्यते ॥ ३९
सर्वज्योतिर्विमानानां पीठार्द्धकपित्थवत् । तस्योपरि तथा सन्ति प्रासादाश्च यथाभवम्[6] ॥ ४०

लोगभी सूर्यको अर्घ्य देने लगे । सूर्यविमानमें जिनबिंब है और उसको भरतचक्रवर्ती पूजता है, अर्घ्य देता है इस परमार्थ अभिप्रायको लोगोंने नहीं जाना ॥ २८–३० ॥

(पहले मार्गपर आनेसे सूर्यका प्रकाश कितने योजन फैलता है ?)– दक्षिणायनके प्रारंभमें जब सूर्य प्रथम मार्गका आश्रय लेता है तब सूर्यका जो प्रकाश आगे और पीछे फैलता है उसका विस्तारप्रमाण चौरानवे हजार पांचसौ पच्चीस योजनोंका होता है ॥ ३१–३२ ॥

(दक्षिणायनमें रात्रि और दिनका प्रमाण ।)– दक्षिणायनके प्रारंभमें अठारह मुहूर्तोंका दिवस होता है और रात्रिका प्रमाण दिनका प्रकर्ष होनेसे बारह मुहूर्तका रह जाता है ॥ ३३ ॥

तदनंतर दो मुहूर्तके इकसठ भाग करने चाहिये और प्रत्येक दिनमें एक एक भाग कम कम होता जाता है । इस प्रकार क्रमसे सूर्यके प्रकाशकी हानि होती जाती है और मकर-सङ्क्रान्तिके समयमें जब सूर्य लवणसमुद्रके अन्त्यमार्गमें चला जाता है, तब सूर्यके विमानका प्रकाशविस्तार त्रेसष्ट हजार सोलह योजन प्रमाणवाला होता है । और उस समय दिन बारह मुहूर्तका होता है और रात्रि अठारह मुहूर्तकी होती है । अर्थात् उत्तरायणके प्रारंभमें दिन रात्रिकी जघन्यतया ऐसी परिस्थिति होती है ॥ ३४–३७ ॥

(चन्द्रके तारका, नक्षत्र, ग्रहादिपरिवारका वर्णन ।)– एक चन्द्रका तारकापरिवार छ्यासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोडाकोडी है । तथा ग्रहोंका परिवार अठासी और नक्षत्रोंका अट्ठाईस है ॥ ३८–३९ ॥ (देखो ति. प. भाग २ अ. ७ गाथा ७१ पृ. ६६१)

संपूर्ण ज्योतिर्विमानोंका तलभाग आधे कैथके समान है और उसके ऊपर यथायोग्य प्रासादोंकी रचना है ॥ ४० ॥

---

१ आ. अजानानः २ आ. तु ३ आ. अभिगच्छति ४ आ. दिवसो ५ आ. सु. ६ आ. भवेत्

सर्वोऽपि वर्तुलाकारो गोलको मिलितोऽपि सः। मध्याह्ने वा पराह्णे वा पूर्वाह्णे वृत्तदर्शकः ॥ ४१
मानुषोत्तरशैलाद्या विद्यन्ते द्वीपवेदिकाः। तस्याः सहस्रपञ्चाशद्योजनानि पयोनिधौ ॥ ४२
वलयाकारसत्पङ्क्त्या क्षेत्रं वेष्टय समन्ततः।आदित्याश्च तथा चन्द्राःसर्वे तिष्ठन्ति निश्चलाः॥४३
चतुर्भिरधिका तावच्चत्वारिंशच्छतं तथा। सन्त्यत्र वलये सर्वचन्द्राश्च बहुशोभनाः ॥ ४४
लक्षे लक्षे ततः सन्ति योजनानां गते सति। सूर्याणां च तथेन्दूनां वलयानि यथाक्रमम् ॥ ४५
परं विशेष एवायं वलये वलये स्वतः। सूर्याश्चन्द्राश्च चत्वारो वर्द्धन्ते यावदष्टमम् ॥ ४६
अष्टमाच्च पुनस्तस्मात्प्रथमं वलयं भवेत्। आद्याद्द्विगुणसूर्येन्दुसहितं साधवो जगुः ॥ ४७
लक्षे लक्षे ततः सन्ति वलया[1] येषु केवलं। सूर्याश्चन्द्राश्च वर्द्धन्ते चत्वारो यावदन्तिमम् ॥ ४८
स्वयम्भूरमणाम्भोधेर्बहिर्या वज्रवेदिका। तावत्पर्यन्त एवायं ज्योतिष्कक्रम[2] इष्यते ॥ ४९
एकपल्योपमः कालस्तेषां समधिकः कियान्। आयुरुत्कृष्टमाख्यातं तदष्टांशो जघन्यकम् ॥ ५०
[3]एकषष्टिविभागा ये योजनस्य विभाजिताः। षट्पञ्चाशद्विभागास्ते विमाना रोहिणीपतेः ॥५१

सर्वज्योतिष्क देवके विमान वर्तुलाकार गोलकरूप है। तथा मध्याह्नमें, अपराह्णमें और पूर्वाह्णमें वे गोलही दिखते है ॥ ४१ ॥

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे जो द्वीपोंकी वेदिकायें हैं उनमें पचास हजार योजनके अन्तरपर चन्द्र और सूर्योंके वलय हैं। तथा मानुषोत्तर पर्वतके आगे जो जो समुद्र हैं उनमेंभी पचास पचास हजार योजनोंके अन्तरपर चन्द्रसूर्योंके वलय हैं और वे उतना उतना क्षेत्र वेष्टित करके रहते है। संपूर्ण वलयोंमेंसे प्रत्येक वलयमें एकसौ चवालीस चन्द्र और सूर्य हैं। तदनन्तर एक एक लाख योजन अन्तर चलकर जानेमें सूर्य और चन्द्रके क्रमसे वलय होते हैं। परंतु विशेषता यह है, कि प्रत्येक वलयमें चार चन्द्र और चार सूर्य बढते हैं। ऐसा बढना आठवे वलयतक होता है। आठवे वलयके अनंतर पुनः पहिला वलय होता है और वह वलय–प्रथम वलय दुगुने चन्द्र और सूर्योंसे सहित होता है ऐसा मुनिराज कहते हैं। फिर एक एक लाख योजनके फासलेपर एक एक वलय होता है। और उसमें चार सूर्य और चार चन्द्र प्रतिवलयमें बढते जाते हैं। यह बढना स्वयंभूरमण समुद्रकी जो बाहरकी वज्रवेदिका है वहांतक है ऐसा ज्योतिःक्रम समझना चाहिये ॥ ४२–४९ ॥

(ज्योतिष्क देवोंका उत्कृष्ट और जघन्य आयुष्य।)– ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम और कुछ अधिक है और जघन्य आयु पल्योपमका अष्टमांश है ॥ ५० ॥

(चन्द्रके विमानका प्रमाण।)– योजनके इकसठ विभाग करके उनमेंसे छप्पन विभागोंका जो प्रमाण होगा उतने प्रमाणवाले चन्द्रोंके विमान होते हैं ॥ ५१ ॥

स्पष्टीकरण–चंद्रके विमानोंका विस्तार और दीर्घता ऊपर बताये हुए प्रमाणका अनुसरण करते हैं। और उनके विमानकी मोटाई योजनके इकसठ भागोंमेंसे अठाईस भागप्रमाण है। ये

१ आ. वलयान्येषु　२ आ. ज्योतिषां　३ आ. एकषष्टि

चत्वारिंशन्मतास्तावदष्टाधिकतया पुनः । विभागास्तादृशा एव विमानं भास्करस्य च ॥ ५२
अन्यदागमतः सर्वं ज्ञातव्यं चन्द्रसूर्ययोः । दिङ्मात्रं तदिदं किञ्चिन्निर्लज्जेन मयाकथि ॥ ५३
भावनव्यन्तराणां च विमानाः[1] कथिताः पुरा । आयुरुत्सेधसौख्यादि ज्ञातव्यं पुरतः पुनः ॥ ५४
आदौ मध्ये तथान्ते च द्वादशाष्टौ चतुष्टयम् । योजनानि तु विस्तीर्णा चत्वारिंशत्तथोच्चका[2] ॥ ५५
या मेरुचूलिका रम्या तस्या उपरि शोभनं । ऋज्वाख्यं[3] सद्विमानं स्यात्केशाग्रान्तरितं महत् ॥ ५६
तद्विमानं विधायादौ मेरुं[4] मध्ये विधाय च । सौधर्मैशानयोर्युग्मं विचित्राश्चर्यकारकम् ॥ ५७
सार्धैकरज्जुमानं यन्मेरुशैलात्सुशोभनम् । आकाशक्षेत्रमस्त्येव तत्पर्यन्तं विभाव्यते ॥ ५८
सार्धैकरज्जुपर्यन्तं ततःस्याद्युगलं पुनः । सनत्कुमारमाहेन्द्रस्वर्गयोर्निगदन्ति[5] तत् ॥ ५९

विमान सोलह हजार देवोंके द्वारा धारण किये जाते हैं । इस विमानके पूर्वादिक दिशाओंमें चार चार हजार देव सिंह, हाथी, अश्व और बैलके रूप धारण करके इस विमानको धारण करते हैं।

(सूर्योंके विमानोंका प्रमाण)– सूर्योंके विमान योजनके इकसठ भागोंमेंसे अडतालीस भागप्रमाणके हैं । योजनके इकसठ भागोंमेंसे छप्पन भाग चन्द्रके विमानके हैं। और सूर्यके विमानके विभाग ऊपर कहे हैं ।

स्पष्टीकरण– सूर्यके विमान तप्तसुवर्णके समान हैं, लोहित्तमणिमय और अर्धगोलकाकार हैं । सोलह हजार देव क्रमसे विमानके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भागमें सिंह, हाथी, बैल और अश्वके रूप धारण करके विमानको वहते हैं ॥ ५२ ॥

चन्द्र और सूर्यके विषयमें इतर अनेक बातें आगमसे जानने योग्य हैं । यहां निर्लज्ज होकर अर्थात् अज्ञान होकरभी मैंने थोडासा कहा है ॥ ५३ ॥

भावनदेव और व्यन्तरदेवोंके विमान पूर्वमें कहे हैं । आयुष्य, शरीरकी ऊंचाई, सुख आदिकोंका वर्णन आगे ज्ञातव्य हैं ॥ ५४ ॥

(ऋजुविमान मेरुचूलिकाके ऊपर है ।)– जो मेरुपर्वतकी रम्य चूलिका चालीस योजनोंकी ऊंची है । तथा वह आरंभमें बारह योजन विस्तीर्ण है, मध्यमें आठ योजन विस्तीर्ण है और अन्तमें चार योजन विस्तीर्ण है । इस चूलिकाके ऊपर महान् ऋजुनामक विमान है और वह चूलिकासे एक केशाग्र अन्तरपर है ॥ ५५–५६ ॥

(सौधर्म ऐशान आदिक स्वर्गयुगलोंका वर्णन ।)– ऋजुविमानको आरंभ कर और मेरुको मध्यमें कर सौधर्मैशान स्वर्गके युगल विचित्र और आश्चर्यकारक हैं । मेरुपर्वतसे ऊपर जो डेड रज्जुपर्यन्त आकाशक्षेत्र है वहांतक सौधर्मैशान-स्वर्गका युगल है । इसके ऊपर डेड रज्जुपर्यन्त आकाशक्षेत्रमें सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गका युगल है, ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ५७–५९ ॥

१ आ. निवासाः　२ आ. न्नता　३ आ. ऋत्वाख्यम्　४ आ. मेरुमध्ये　५ आ. शुभसंयुतम्

ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधम् । स्वर्गयुग्मं हि विस्तीर्णं कीर्तयन्ति क्रियाविदः ॥ ६०
ततो रज्ज्वर्द्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । चारुलान्तवकापिष्टसञ्ज्ञयोर्निगदन्ति तत् ॥ ६१
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । अस्ति शुक्रमहाशुक्राभिधानं चारुतान्वितम् ॥ ६२
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । सच्छतारसहस्रारसंज्ञया प्रथितं भवेत् ॥ ६३
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । आनतप्राणताह्वं स्यात्सर्वसौख्यकरं वरम् ॥ ६४
ततो रज्ज्वर्धपर्यन्तं स्वर्गयोर्युगलं महत् । आरणाच्युतसंज्ञं यद्विद्यते विस्मयावहम् ॥ ६५
आद्ये युग्मद्वये तत्र तन्नामानः सुशोभनाः । इन्द्राश्चत्वार एवामी विज्ञेया ऋद्धिसंयुताः ॥ ६६
तदूर्ध्वं सिद्धिसोपानस्वर्गयुग्मचतुष्टये । प्रत्येकमेक एवेन्द्रस्तन्नामासौ निगद्यते ॥ ६७
तदूर्ध्वं च[1] युगद्वन्द्वे इन्द्राश्चत्वार एव च[2] । सर्वे[3] स्वर्गेषु जायन्ते द्वादशैते समासतः ॥ ६८
एकरज्ज्वन्तरे तस्मादूर्ध्वग्रैवेयकानि च । ततश्चानुदिशान्याहुर्नवानुत्तरपञ्चकम् ॥ ६९
द्वादशयोजनान्यस्मादूर्ध्वं मुक्तशिला[4] मता । अष्टयोजनबाहुल्या नृलोकपरिमाणतः ॥ ७०

उसके अनन्तर अर्थात् सानत्कुमारमाहेन्द्र – स्वर्गयुगलके अनंतर आधी रज्जुपर्यन्तके आकाशप्रदेशमें ब्रह्मब्रह्मोत्तर – स्वर्गका युगल है । इसके अनन्तर अर्ध रज्जु – प्रमित आकाश-प्रदेशोंमें लान्तवकापिष्टका युगल है, इसके अनन्तर अर्धरज्जुपर्यन्तके आकाशप्रदेशमें शुक्र महा-शुक्र नामक सुंदर स्वर्गयुगल है । उसके अनन्तर अर्धरज्जु – प्रमित आकाशप्रदेशमें शतारसहस्रार-युगल है । तदनंतर अर्ध रज्जुप्रमाण आकाशमें आनत-प्राणत नामक स्वर्गयुगल है, जो कि उत्तम और सर्व सुखोंका आगर है । इसके अनंतर आधे रज्जुके आकाशप्रदेशमें आरणअच्युत नामक महान् स्वर्गयुगल है, जो कि जीवोंको अपनी रचनासे आश्चर्यचकित करता है ॥ ६०–६५ ॥

(सोलह स्वर्गोंमें अधिपति इंद्रोंका वर्णन ।)– पहले दो युगलोंमें अर्थात् सौधर्मसे सानत्कुमारतक चार स्वर्गोंमें सौधर्मादि स्वर्गके नामवाले शोभायुक्त चार इंद्र हैं । वे महर्द्धिके धारक हैं । उनके ऊपर सिद्धि – मुक्तिके पैडी के समान चार स्वर्गयुगलोंमेंसे प्रत्येकमें स्वर्गके नामवाला एक एक इन्द्र है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें ब्रह्मेन्द्र नामक इन्द्र है । लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें लांतवेन्द्र है । शुक्रमहाशुक्रमें शुक्रेन्द्र है और शतारसहस्रारमें शतारेन्द्र हैं । ऐसे चार इन्द्र हैं । इनके ऊपर आनतादि दो स्वर्गयुगलमें चार इन्द्र हैं । ऐसे सर्व स्वर्गोंमें – सोलह स्वर्गोंमें बारह इन्द्र हैं ॥ ६६–६८ ॥

(एकरज्जु प्रदेशमें नवग्रैवेयकादिक और सिद्धजीव हैं ।)– एकरज्जुके अन्तराल रूप आकाशप्रदेशमें नवग्रैवयक विमान, नवअनुदिश विमान, और पंचानुत्तर विमान हैं । पञ्चानुत्तरके ऊपर द्वादश योजन जानेपर मुक्तिशिला है । वह आठ योजन मोटी और मनुष्यलोकके समान

१ आ. तु　२ आ. हि　३ आ. सर्व　४ आ. मोक्ष

तस्या उपरि यत्तावद्वातत्रयमुदीर्यते । तनुवातेऽत्र तिष्ठन्ति सिद्धा लोकाग्रवर्तिनः ॥ ७१
भावनानां जघन्येन जीवितं कथितं जिनैः । दशवर्षसहस्राणि सागरोपममुत्तमम् ॥ ७२
तत्रासुरकुमाराणां सागरोपममीर्यते । पल्यत्रयं तु नागानां सार्धपल्यद्वयं पुनः ॥ ७३
सुपर्णेषु मतं द्वीपकुमारेषु द्वयं तथा । सार्धपल्यं च शेषेषु परमायुरिति ध्रुवम् ॥ ७४
दशवर्षसहस्राणि व्यन्तराणां जघन्यकम् । साधिकं पल्यमुत्कृष्टं जीवितं विविधात्मनाम् ॥ ७५
उत्कर्षतो मतं चन्द्रे जीवितं लक्षसंयुतम् । पल्यमेकं सहस्रेण सहितं तद्धि भास्करे ॥ ७६
सौधर्मैशानयोरायुः साधिकं पल्यमीरितम् । जघन्यं हि तदुत्कृष्टं साधिकं सागरद्वयम् ॥ ७७
सानत्कुमारमाहेन्द्रयुगले जीवितं परम् । साधिकं कथितं जैनैः सागरोपमसप्तकम् ॥ ७८
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे युग्मे साधिका दशसागराः । गिरन्ति गरिमायुक्ता गुरवो गुरुसंयमाः ॥ ७९
ततो लान्तवकापिष्ठयुग्मे जीवितमुत्तमम् । चतुर्दशाधिकाः किञ्चित्तत्थैते सागरोपमाः ॥ ८०
आयुः शुक्रमहाशुक्रयुगले परमं मतं । सागराः साधिकाः किञ्चित्षोडश क्षिप्तकल्मषैः ॥ ८१

पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली है । इसके ऊपर जो तीन वातवलय कहे गये हैं उनमें अन्तिम तनुवातमें – लोकके अग्रभागमें सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं ॥ ६९–७१ ॥

(भवनवासी और व्यन्तरोंके आयुका वर्णन ।)– भवनवासी देवोंका जघन्य आयुष्य जिनोंने दस हजार वर्षोंका और उत्कृष्ट आयुष्य सागरोपम वर्षोंका कहा है । असुरकुमारोंकी आयु सागरोपम है । नागकुमारोंकी आयु तीन पल्योंकी है । ढाई पल्योपम आयु सुपर्णकुमारोंकी है । द्वीपकुमारोंकी आयु दो पल्योपमकी है तथा शेष छह कुमारोंकी आयु डेढ पल्योपमकी है । ऐसा भवनवासियोंके उत्कृष्ट आयुका क्रम कहा है ॥ ७२–७४ ॥

अनेक स्वभाव धारण करनेवाले व्यंतरोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्षोंकी है और उत्कृष्ट आयु एक पल्य और कुछ अधिक कही है ॥ ७५ ॥

(चंद्रसूर्योंकी उत्कृष्ट आयु ।)– चन्द्रकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य और एक लाख वर्षकी है । तथा सूर्यकी आयु एक पल्य और एक हजार वर्षोंकी है ॥ ७६ ॥

(सौधर्मादि अच्युतान्त देवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु ।)– सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु एक पल्य और कुछ अधिक है । और उत्कृष्ट आयु दो सागर और कुछ अधिक है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम वर्षोंकी और कुछ अधिक है ऐसा जैनोंने-गणधरादिकोंने कहा है । ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दस सागरसे कुछ अधिक है ऐसा महान् संयम धारण करनेवाले प्रभावशाली गुरु कहते हैं । तदनन्तर लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें देवोंकी उत्तम आयु चौदह सागरोंसे कुछ अधिक कही है । जिन्होंने पापविनाश किया है ऐसे महापुरुषोंने शुक्र और महाशुक्र स्वर्गके देवोंकी उत्तम आयु सोलह सागरोंसे कुछ अधिक कही है ॥ ७७–८१ ॥

शतारे च सहस्रारे ते चाष्टादशसाधिकाः । आनतप्राणतद्वन्द्वे जीवितं विंशतिः परम् ॥ ८२
आरणाच्युतयुग्मे तद्द्वाविंशतिमुदीरितम् । एकैकं वर्द्धते तस्मान्नवग्रैवेयकेषु च ॥ ८३
नवस्वनुदिशेष्वेतत् द्वात्रिंशत्परमं मतम् । अनुत्तरेषु सर्वेषु त्रयस्त्रिंशन्नदीशिनः ॥८४
पूर्वस्वर्गे यदुत्कृष्टं जघन्यं हि तदुत्तरे । मुक्त्वा सर्वार्थसिद्धिं च तस्यामुत्तममेव तत् ॥ ८५
प्रतरादिषु सर्वेषु विशेषो यस्तु कश्चन । सर्वो लोकानुयोगात्स ज्ञातव्यो नात्र गौरवात् ॥८६
इन्दन्त्यपरदेवानामसाधारणवृत्तितः । आज्ञैश्वर्यगुणोपेता इन्द्रास्ते गदिता जिनैः ॥ ८७
[1]सप्तधातुविनिर्मुक्ता गुरूपाध्यायवत्सदा । आयुर्वीर्यादिभिस्तेषां समाः सामानिका मताः ॥८८

शतार और सहस्रार स्वर्गके देवोंकी उत्तम आयु अठारह सागरोपमसे कुछ अधिक कही है । तथा आनत प्राणत स्वर्गोंके देवोंकी उत्तम आयु बीस सागरोपमकी कही है । आरण और अच्युत स्वर्गोंमें देवोंकी उत्तम आयु बाईस सागरोपमोंकी होती है । तदनंतर नवग्रैवेयकोंमें एक एक सागर आयु बढती है, अन्तिम नववे ग्रैवेयकमें एकत्तीस सागरोपमकी उत्कृष्ट आयु है और नव अनुदिशोमें बत्तीस सागरोपमकी उत्तम आयु है । तथा सर्व अनुत्तरोंमें अर्थात् विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिमें तेत्तीस सागरोपम उत्तम आयु है ॥८२-८४॥

(स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नवानुदिश तथा सर्वार्थसिद्धिके बिना चार अनुत्तरोंमें जघन्य आयुका वर्णन ।)- पूर्व स्वर्गमें जो उत्कृष्ट आयु होती है वह उत्तर स्वर्गमें जघन्य होती है ऐसा क्रम सर्वार्थसिद्धिको छोडकर चार अनुत्तर विमानोंतक समझना चाहिये । जैसे सौधर्म स्वर्गमें उत्कृष्ट दो सागर आयु है वही सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी जघन्य समझनी चाहिये । आरणाच्युत देवोंकी उत्तम आयु बाईस सागर है वही प्रथम ग्रैवेयककी जघन्य आयु समझनी चाहिये । नौवेवेयककी उत्तम आयु इकत्तीस सागरकी है वह अनुदिशोमें जघन्य समझना । अनुदिशोंकी बत्तीस सागर आयु उत्कृष्ट है वह चार अनुत्तरोंमें जघन्य समझे, परंतु सर्वार्थ-सिद्धिमें कभी जघन्य आयुबंधवाला जन्मही नहीं लेता है; इसलिये सर्वार्थसिद्ध देव उत्कृष्ट आयुके तेत्तीस सागर आयुवालेही होते हैं ॥ ८५ ॥

संपूर्ण प्रतरादिकोंमें तथा स्वर्गपटलोंमें जो कुछ विशेष होता है वह सर्व लोकानुयोग ग्रंथसे जानना योग्य है । यहां विस्तारके भयसे हम नहीं कहते हैं ॥ ८६ ॥

(देवोंके इन्द्रादि-दश-भेदोंका वर्णन ।) - १ इन्द्र -इतर देवोंमें नहीं पाये जानेवाले असाधारण अणिमामहिमादि गुणोंसे जो परमैश्वर्यवाले माने जाते है, जिनकी आज्ञा इतर देव शिरोधार्य समझते हैं, जो ऐश्वर्यगुणसे युक्त हैं ऐसे देव, जिनेश्वरके द्वारा इन्द्र कहे जाते हैं ॥८७॥

२ सामानिक देव- सब देव सप्तधातुओंसे रहित अर्थात् दिव्य शरीरवाले होते हैं, उनमें जो गुरु और उपाध्यायके समान हैं तथा जो आयु, वीर्य, परिवार तथा भोगोपभोगादि सामग्रियोंसे इंद्रके समान हैं परंतु आज्ञा और ऐश्वर्य जिनका इन्द्रके समान नहीं है ऐसे देवोंको सामानिक देव कहते हैं ॥ ८८ ॥

१ आ. आज्ञैश्वर्यविनिर्मुक्ताः

पुरोहितमहामंत्रिस्थानीया ये दिवौकसः । त्रयस्त्रिंशत्सुसंख्यानास्त्रायस्त्रिंशा भवन्त्यमी ॥ ८९
पीठमर्दनसङ्काशाः परिषत्परिवर्तिनः । देवाः पारिषदाः सर्वे तेऽत्र संवादिनो मताः ॥९०
अङ्गरक्षसमाना ये ते सर्वे ह्यात्मरक्षकाः । लोकैकपालनोद्युक्ता लोकपाला भवन्त्यमी ॥ ९१
सप्तानीकभुवोऽनीकाः प्रकीर्णाः पौरसन्निभाः । आभियोग्यमता दासा देवा देवगतावपि ॥ ९२
ये चान्तेवासिवच्चोचा दीनां दुर्गतिगामिनः । प्रायशो बहुदुःखार्ताः किल्बिषाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ ९३
इत्येवं दशधा देवा निकायेषु निवेदिताः । लोकपालास्त्रयस्त्रिंशा न ज्योतिर्व्यन्तरेषु च ॥९४
द्वौ द्वाविन्द्रौ मतौ तेषु भावनव्यन्तरेषु च । सर्वेषां ज्योतिषामिन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ पुनः ॥ ९५

---

३ त्रायस्त्रिंश– पुरोहित तथा महामंत्रियोंके समान जो देव हैं, तथा जिनकी संख्या तेहतीसही नियत रहती है वे त्रायस्त्रिंश देव हैं ।

४ पारिषद– जो देव मित्र और हसी मस्करी करनेवालोंके समान सभामें बैठते हैं, तथा जो सभामें प्रामाणिक माने जाते हैं, उनको पारिषद देव कहते हैं ।

५ आत्मरक्ष– अंगरक्षकोंके समान जो देव हाथमें शस्त्र धारण कर इन्द्रके पीछे रहते हैं, उनको आत्मरक्ष देव कहते हैं ।

६ लोकपाल– प्रजाके समान देवोंको पालन करनेवाले देव लोकपाल कहे जाते हैं ।

७ अनीक – सात प्रकारके सैन्योंके समान जो देव होते हैं उनको अनीक देव कहते हैं ।

८ प्रकीर्णक– प्रजाके समान जो देव हैं उनको प्रकीर्णक देव कहते हैं ।

९ आभियोग्य– देवगतिके होनेपरभी जो देव दासके समान वाहनादि बनकर उच्च देवोंकी–अपने स्वामियोंकी सेवा करते हैं उनको आभियोग्य देव कहते हैं ।

१० किल्बिषिक– जो अन्तेवासियोंके समान अर्थात् चाण्डालोंके समान नीच हैं, दीन है तथा दुर्गतिको जानेवाले हैं, प्रायः बहुदुःखोंसे पीडित हैं उनको किल्बिष कहते हैं । किल्बिष– पाप जिनको है अर्थात् जिनको पापोंका उदय है ऐसे देवोंको किल्बिषक कहते हैं ॥ ८९–९३ ॥

ये दश प्रकारके देव चार निकायोंमें इस प्रकारसे कहे गये हैं । परंतु लोकपालदेव और त्रायस्त्रिंशदेव ये दो प्रकारके देव भवनवासि देव और व्यंतरदेवोंमें नहीं होते हैं । भवनवासिदेव और व्यंतरदेवोंमें दो दो इन्द्र माने हैं । तथा संपूर्ण ज्योतिष्कदेवोंके चन्द्र और सूर्य ऐसे दो इन्द्र माने गये हैं ॥ ९४–९५ ॥

स्पष्टीकरण– भवनवासी देवोंके दस भेद हैं और उनमें प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र है अतः भवनवासियोंके इन्द्र वीस हैं । व्यंतरोंके भेद आठ हैं तथा प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्र होनेसे व्यंतरोंके सब इन्द्र सोलह होते हैं ।

आ ऐशानान्मता देवाः सङ्क्लिष्टपरिणामतः । कायेनैव प्रवीचारं प्रकुर्वाणा मनुष्यवत् ॥ ९६
सानत्कुमारमाहेन्द्रद्वये देवा भवन्त्यमी । दिव्यदेवाङ्गनास्पर्शमात्रेणापि[1] सुनिर्वृताः ॥ ९७
ततः कापिष्टपर्यन्ते देवा देवीविलोकनात् । परमं सुखमायान्ति बहुपुण्यमनोरमाः ॥ ९८
आसहस्रारमत्यन्तमधुरस्वरमात्रतः । देवीनां सौख्यमञ्चन्ति देवा दिव्याङ्गधारिणः ॥ ९९
अच्युतान्तेषु सर्वेषु[2] तद्भूर्ध्वं स्मरणादपि । देवीनां दिव्यरूपाणां सुखिनः सर्वदैव[3] ते ॥ १००
अच्युतादूर्ध्वतः सर्वे[4] प्रवीचारविवर्जिताः । सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सङ्क्लेशापगता यतः ॥ १०१
भावनेष्वसुराणां हि प्रमाणं पञ्चविंशतिः । धनुषाणि तु देहस्य कथितं पूर्वसूरिभिः ॥ १०२
धनूंषि दश शेषाणां व्यन्तराणां च दर्शनम्[5] । ज्योतिष्काणां च सप्तैव धनूंषि कथितं वपुः ॥१०३
सौधर्मैशानयोः सप्तहस्तो[6] देहो निगद्यते । सनत्कुमारमाहेन्द्रयुग्मे हस्ताश्च षट् पुनः ॥ १०४
ततः कापिष्टपर्यन्तं पंचहस्ताः प्रमाणतः । देहमानं च देवानां दिव्यरूपैकधारिणाम् ॥ १०५
आसहस्रारमस्माच्च देवानां देह उच्यते । चतुर्हस्तप्रमाणश्च स्फुरद्द्युतिसमन्वितः ॥ १०६
आनतप्राणतद्वन्द्वे सार्द्धहस्तप्रमाणतः[7] । आरणाच्युतयोर्हस्तत्रयं देहो दिवौकसां ॥ १०७

(प्रवीचारयुक्त और अप्रवीचारयुक्त देवोंका वर्णन ।)– भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव तथा सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देव ये संक्लेशयुक्त परिणाम होनेसे मनुष्योंके समान शरीरकेद्वारा मैथुनसेवन करते हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र-स्वर्गमें जो देव हैं वे दिव्य ऐसी देवाङ्गनाओंके स्पर्शमात्रसे अतिशय सुखी होते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गतक देव, जो कि विशाल पुण्यसे मनोहर हैं, वे देवियोंको देखकर अतिशय सुखी होते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गतकके दिव्यांगधारक देव देवियोंके अत्यन्त मधुर स्वर सुनकर सुखी होते हैं। सहस्रार स्वर्गके ऊपर आनत-प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव देवियोंके दिव्यरूप का स्मरण कर सर्वदा सुखी होते हैं। अच्युत स्वर्गके ऊपर सर्वार्थसिद्धितक जो अहमिन्द्रदेव हैं, वे प्रवीचारकामसेवासे वर्जित-रहित हैं अर्थात् उनके संक्लेशपरिणामोंका अभाव हैं। क्यों कि उसके सद्भावमें कामेच्छा प्रगट होती है ॥ ९६–१०१ ॥

(देवोंके देहोंकी उच्चताका वर्णन ।)– भवनवासियोमें असुरोंके देह पच्चीस धनुष्य प्रमाणके होते हैं ऐसा पूर्वाचार्य कहते है। नागकुमारादि नौ भवनवासि देव तथा व्यंतरदेवोंके देहका उत्सेध दश धनुष्य-प्रमाण होता है। ज्योतिष्क देवोंके शरीरकी ऊंचाई सात धनुष्य प्रमाण है। सौधर्मैशान स्वर्गके देवोंकी शरीरकी ऊंचाई सात हाथकी हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंके शरीर छह हस्तप्रमाण हैं। अनंतर दिव्य-रूपकोही धारण करनेवाले कापिष्ठ स्वर्गतक देवोंकी शरीरकी ऊंचाई पांच हस्त प्रमाणकी है। कापिष्ठ स्वर्गके सहस्रारस्वर्गतकके सुंदर, कान्तियुक्त देवोंके देहकी ऊंचाई चार हस्त प्रमाणवाली है। आनत प्राणत स्वर्गके देवोंके शरीर साडेतीन

---

१ आ. दिव्या　२ आ. कल्पेषु　३ आ. देवताः　४ आ. सर्वप्रवीचारविवर्जिताः　५ आ. तथा दश　६ आ. हस्ताः　७ आ. हस्तत्रयं मतः

अधोग्रैवेयकेषूक्तं सार्द्धहस्तद्वयं पुनः । देहमानं हि देवानां मध्यग्रैवेयके द्वयम् ॥ १०८
सार्द्धहस्तप्रमाणोऽयं देहोऽभाणि पुरातनैः उर्ध्वग्रैवेयकस्थानां देवानां द्युतिशालिनाम् ॥ १०९
ततः परं हि सर्वेषां देवानां देह उच्यते । एकहस्तप्रमाणेन प्रमाणज्ञैर्यतीश्वरैः ॥ ११०
सौधर्मैशानयोः पीतलेश्या देवा भवन्त्यमी । सनत्कुमारमाहेन्द्राः पीतपद्मादिलेश्यकाः ॥ १११
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लांतवे च तथा पुनः । कापिष्ठे सर्वदेवाः स्युः पद्मलेश्याः समन्ततः ॥११२
शुक्रे चापि महाशुक्रे शतारे सर्वसुन्दरे । सहस्रारे च देवानां पद्मशुक्ला[1] हि सा पुनः ॥ ११३
आनतादच्युतान्तेषु शुक्ललेश्या दिवौकसः । महाशुक्लैकलेश्याः स्युस्ततो यावदनुत्तरम् ॥ ११४
पूर्वं ग्रैवेयकेभ्यो ये देवास्ते कल्पवासिनः । कल्पातीताः परे सर्वे पुण्यपक्वफलाशिनः ॥ ११५
लौकान्तिकाश्च ते देवा ब्रह्मलोकान्तवासिनः । अथानन्तर एवामी भवे लोकान्तकारिणः ॥११६
पूर्वोत्तरविभागे ते सन्ति सारस्वता मताः[2] । पूर्वस्यां हि तथादित्या आग्नेय्यामग्निसंज्ञकाः ॥११७

हस्तप्रमाण है। और आरण अच्युतके देवोंके शरीर तीन हस्तप्रमाण हैं। अधोग्रैवेयकके अहमिन्द्रोंके देहकी ऊंचाई ढाई हाथकी है। मध्यमग्रैवेयकके देवोंका देहमान दो हाथका है। कान्तिशाली ऐसे जो ऊर्ध्वग्रैवेयकके देव हैं उनका देह पुरातन आचार्योंने डेढ हाथ प्रमाणका कहा है। तथा उसके आगेके संपूर्ण देवोंका देह हस्तप्रमाण है, ऐसा देव देहप्रमाण देह यतीश्वरोंने कहा है। अर्थात् नव अनुदिश और पंचानुत्तरके निवासी अहमिंद्र देवोंका देह एक हस्तप्रमाण है ॥ १०२-११० ॥

(सौधर्मसे सर्वार्थसिद्धितक देवोंकी लेश्यायें)- सौधर्मैशान स्वर्गके देव पीतलेश्याके धारक हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव पीतलेश्या और पद्मलेश्याके धारक हैं। ब्रह्मस्वर्ग तथा ब्रह्मोत्तरस्वर्गके देवोंमें तथा लांतवकापिष्ट स्वर्गके देवोंमें सर्वत्र पद्मलेश्या हैं। शुक्र, महाशुक्र तथा सर्वमनोरम ऐसे शतारस्वर्गमें और सहस्रारस्वर्गमें देवोंकी पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या है। आनतसे अच्युततकके देव शुक्ललेश्यावाले हैं। तदनन्तर नवग्रैवेयकसे लेकर पंचानुत्तरतक संपूर्ण अहमिन्द्र देव महाशुक्लरूप ऐसी एकलेश्याके धारक हैं ॥ १११-११४ ॥

(कल्पवासी और कल्पातीत ।)- नवग्रैवेयकोंके पूर्वके देव अर्थात् सौधर्मस्वर्गसे अच्युततकके जो देव हैं, उनको कल्पवासी देव कहते हैं। और नवग्रैवेयकसे पंचानुत्तरतक संपूर्ण अहमिन्द्रोंको कल्पातीत कहते हैं। ये सर्वदेव पुण्यरूपी पक्वफल भक्षण करनेवाले हैं ॥ ११५ ॥

(लौकान्तिक देवोंका स्वरूप ।)- ब्रह्मस्वर्गके अन्तिम पटलमें निवास करनेवाले देवोंको लौकान्तिक देव कहते हैं। ये देव अनन्तर मनुष्यभव धारण कर लोकान्तकारी-संसारका अन्त करनेवाले होते हैं। उनके सारस्वतादिक आठ भेद हैं, तथा अग्न्याभसूर्याभादि सोलह भेद हैं। पूर्वोत्तर दिशाके कोनेमें सारस्वत विमानमें सारस्वतनामक लौकान्तिक देव रहते हैं। पूर्व दिशाके

---

१ आ. पद्मा　२ आ. मराः

अरुणा दक्षिणस्यां च नैऋत्ये गर्दतोयकाः। तुषिताः पश्चिमायां च [1]अव्याबाधास्तदन्तरे ॥११८
उत्तरस्यामरिष्टानां विमानानि तदन्तरे। द्वौ च द्वौ च[2] गणौ ज्ञेयौ विचित्राकारधारिणौ ॥११९
अग्निसूर्याभनामानौ चन्द्रसत्याभनायकौ। श्रेयः क्षेमङ्करावेतौ वृषकामचरौ वरौ ॥ १२०
निर्वाणादिरजोदिव्यदिगन्तरसुरक्षितौ। आत्मरक्षितसर्वादिरक्षितौ दिव्यविग्रहौ ॥ १२१
मरुद्वस्वश्वविश्वौ च क्रमादन्तरवर्तिनौ। लौकान्तिकसुदेवानामिति वाचो विपश्चिताम् ॥१२२
देवानामर्च्चनीयास्ते सर्वे लौकान्तिकामराः। प्रतिबोधपरास्तीर्थकृतां पूर्वधराः पुनः ॥ १२३
तेषामायुः प्रमाणं स्यात्तदष्टौ सागरोपमं। देवर्षयश्च ते सर्वे संक्लेशेन विवर्जिताः ॥ १२४
विजयादिषु ये देवास्ते तद्द्विचरमा मताः। तस्मिन्नेव भवे मुक्ताश्च्युताः सर्वार्थसिद्धितः ॥ १२५

आदित्य विमानमें आदित्यनामक देव रहते हैं। पूर्व–दक्षिण दिशामें–आग्नेय दिशामें अग्निनामक देव रहते हैं। दक्षिण दिशामें अरुण विमानमें अरुणदेव रहते है। नैऋत्य दिशामें गर्दतोय विमानमें गर्दतोयदेव रहते हैं। पश्चिम दिशामें तुषित देव रहते हैं। उत्तरपश्चिम दिशाके अव्याबाध विमानमें अव्याबाधनामक देव रहते हैं। उत्तर दिशाके अरिष्टनामक विमानमें अरिष्टनामक देव रहते हैं। तथा इन सारस्वतादिकोंके बीचमें औरभी दो दो देवगण, जो आश्चर्यकारक आकार धारण करते हैं, रहते हैं। उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है– सारस्वत और आदित्यके अन्तरालमें अग्न्याभ और सूर्याभ देव रहते हैं। आदित्य और वह्निके अन्तरमें चन्द्राभ और सत्याभ देव रहते है। वह्नि और अरुणके अन्तरालमें श्रेयस्कर क्षेमंकर देव रहते हैं। अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमें वृषभेष्ठ और कामचर ये देव रहते हैं। गर्दतोय और तुषित देवोंके अन्तरालमें निर्माणरज और दिगंतरक्षित देव रहते हैं। तुषित और अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित देव रहते हैं। अव्याबाध और अरिष्टके अन्तरालमें मरुद् और वसु रहते हैं। अरिष्ट और सारस्वतोंके मध्यमें अश्व और विश्व देव रहते हैं। ये सर्व लौकान्तिक देव देवोंमें श्रेष्ठ हैं ऐसा विद्वान कहते हैं। ये सर्व लौकान्तिक देव देवोंके द्वारा पूजनीय है। तीर्थंकरोंको जब वैराग्य होता है, तब उनको प्रतिबोध करनेमें तत्पर रहते हैं। ये चौदह पूर्वोंके ज्ञानको धारण करते हैं। उनके आयुका प्रमाण आठ सागरोपम वर्षोंका होता है। इनको देवर्षि कहते हैं, क्योंकि ये संक्लेशपरिणामोंसे रहित होते हैं ॥ ११६–१२४ ॥

(द्विचरम देवोंका स्पष्टीकरण।) – विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, तथा नव अनुदिश विमानवासि देव द्विचरम हैं। मनुष्यभवकी अपेक्षासे चरमत्व यहां समझना चाहिये। जिनके दो चरम देह हैं उनको द्विचरम कहना चाहिये। विजयादिकोंसे च्युत होकर सम्यक्त्वसे मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। पुनः संयमकी आराधना कर विजयादिकोंमें उत्पन्न होते हैं और पुनः वहांसे च्युत होकर सम्यक्त्वके साथ मनुष्यभव धारण कर मुक्त होते हैं इसलिये वे द्विचरम

१ आ. देव्योबाधाः　　२ आ. देवगणौ

उपपादो[1] हि देवानां[2] देवीनां च तथा पुनः । आ ईशानात्ततो नैव देवीनां ते निवेदिताः ॥ १२६
आरणाच्युतपर्यन्तं देवा गच्छन्त्यतः परम् । न गच्छन्ति न चायान्ति विज्ञेयमिति निश्चितम् ॥१२७
सद्व्यन्तरकुमाराणामवधिः पञ्चविंशतिः । सङ्ख्यातयोजनान्येष ज्योतिष्काणां जघन्यतः ॥१२८
असुराणामसंख्यातकोट्यः शेषेषु सोऽवधिः । असंख्यातसहस्राणि ज्योतिष्काणां परो मतः ॥१२९
सौधर्मैशानदेवानामवधिः प्रथमावनिः । सनत्कुमारमाहेन्द्राः जानन्त्याशर्कराप्रभम्[3] ॥ १३०
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे लान्तवे तस्य चापरे[4] । दिव्यावधिर्भवत्येषां तृतीयावधिर्महान्[5] ॥ १३१
आसहस्रारमेतेभ्यो जायतेऽवधिरुत्तमः । चतुर्थं नरकं तावदभिव्याप्नोति निर्मलः ॥ १३२
आनते[6] प्राणते देवाः पश्यन्त्यवधिना पुरः । पंचमं नरकं यावद्विशुद्धतरभावतः ॥ १३३
आरणाच्युतदेवानां षष्ठीपर्यन्त इष्यते । ग्रैवेयकेषु सर्वेषु सप्तम्या विधितोऽवधिः ॥ १३४

देहवाले कहे जाते हैं। तथा जो अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धिसे यहां मनुष्यजन्म धारण करते हैं, वे उसी भवमें मुक्त होते हैं; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि यह नाम अन्वर्थक होनेसे वहांके अहमिन्द्र देव एकचरम होते हैं ॥ १२५ ॥

(देव और देवियोंका उपपादस्थान।) – देव और देवियोंके सौधर्म ऐशान तक उपपाद जन्मस्थान है। देवोंके तो सर्व स्वर्गोंमें उपपादस्थान है; परन्तु देवियोंके उपपादस्थान ऐशान स्वर्गके आगे नहीं है। नीचेके देव आरण अच्युतपर्यन्त जाते हैं और आते हैं, परंतु उसके ऊपर ग्रैवेयकादिकोंमें नीचेके देव न जाते हैं और न आते हैं ऐसा निश्चित है ॥ १२६–१२७ ॥

(भवनत्रिकमें अवधिज्ञानकी मर्यादा।) – व्यंतरदेवोंको पच्चीस योजनपर्यन्तका अवधिज्ञान होता हैं। जहां उनके अवधिज्ञानका उपयोग किया हो वहांसे पच्चीस योजनतकका क्षेत्र द्रव्य, काल और भाव उनके अवधिज्ञानका विषय होता है। ज्योतिष्कदेवोंका जघन्यसे अवधिज्ञान क्षेत्र संख्यात योजनोंका होता है। असुरकुमार देवोंका अवधिज्ञान क्षेत्र असंख्यात कोटि योजनोंका है। बाकी नागकुमारादिक नव भवनवासियोंका अवधिक्षेत्र असंख्यातसहस्र योजनोंका होता है। ज्योतिष्कदेवोंका उत्कृष्ट अवधिज्ञान असंख्यात सहस्र योजनोंका है ॥ १२८–१२९ ॥

(कल्पवासि और कल्पातीत देवोंका अवधिज्ञान।) – सौधर्मैशानदेवोंका अवधिज्ञान-क्षेत्र पहला नरक है। वे पहले नरकमें अवधिज्ञानसे नारकियोंकी प्रवृत्तियाँ जानते हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्रदेव शर्कराप्रभातक अवधिज्ञानसे जानते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ट स्वर्गके देवोंका महान दिव्यावधिज्ञान तीसरे नरकतक है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार ऐसे चार स्वर्गके देवोंका उत्तम निर्मल अवधिज्ञान चौथे नरकको व्यापता हैं। आनत प्राणत स्वर्गके देव विशुद्धतर परिणामोंसे पांचवे नरकतक देखते हैं। आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंका अवधिज्ञान छठे नरकतक होता है। संपूर्ण ग्रैवेयकोंमें अवधिज्ञान सातवे नरकतक होता

---

१ आ. उपपादा २ देव्यो ३ आ. त्यावालुकप्रभम् ४-५ आ. तावत्, चान्तरे
६ आ. आनत प्राणते

ततः परे च पश्यन्ति सर्वलोकावधिं[1] पुनः[2] । सम्यग्ज्ञानादिसद्धर्मप्रभावप्रभवा यतः ॥ १३५
तथा[3] रत्नप्रभायां स नारकोऽवधिरुच्यते । योजनैकप्रमाणोऽसौ क्रोशार्द्धं हीयते ततः ॥ १३६
शक्राग्रमहिषी शक्रलोकपालामराश्च[4] ते । दक्षिणेन्द्राश्च लौकान्ताश्च्युता निर्वृतिगामिनः ॥१३७
आज्योतिष्काश्च ये देवास्तेऽनन्तरभवे न हि । शलाकापुरुषा ये तु केचिन्निर्वृतिगामिनः ॥ १३८
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानसच्चारित्रविभूषिताः । निर्धूय सर्वकर्माणि निर्वृतिं यान्ति मानवाः ॥ १३९
अनन्तसुखनिर्मग्ना जरामृत्युविवर्जिताः । अव्याबाधाश्च ते तत्र भाविनं कालमासते ॥ १४०
यत्कन्दर्पसुखं लोके यच्च दिव्यं[5] महासुखम् । न तन्मोक्षसुखस्यास्यानन्तभागो निगद्यते ॥ १४१
अहो धर्ममहो धर्मं सद्रत्नत्रयलक्षणम् । ये श्रयन्ति महाभव्यास्तेषां किमिह दुर्लभम् ॥ १४२

है। और उसके बाद नव अनुदिश और पंचानुत्तरके देवोंका अवधिज्ञान सर्व लोककी मर्यादा धारण करनेवाला होता है। ये सब अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदिक धर्माचारसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये इनमें उपर्युक्त सामर्थ्य प्रगट होता है॥ १३०–१३५ ॥

(नारकियोंका अवधिज्ञान।)– रत्नप्रभा नामक पहले नरकमें नारकियोंको जो अवधिज्ञान होता हैं वह एक योजनतकका विषय जानता है। आगे दूसरे नरकसे सातवे नरकतक आधा आधा कोस कम होता है। अर्थात् दूसरे नरकमें साडे तीन कोस, तीसरे नरकमें तीन कोस, चौथे नरकमें ढाई कोस, पांचवे नरकमें दो कोस, छठे नरकमें डेढ कोस और सातवेमें एक कोसका होता है॥ १३६ ॥

(एक भव धारण कर मुक्त होनेवालोंका वर्णन।)– सौधर्मेन्द्र और उसकी अग्रमहिषी अर्थात् शची देवी, सौधर्मेन्द्रके लोकपालदेव–कुबेर, यम, वरुण और ईशान ये देव, दक्षिण दिशाके इन्द्र तथा लौकान्तिक देव ये स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्यभव धारण करते हैं और वे उसी भवमें कर्मक्षयसे मुक्त होते हैं॥१३७ ॥

भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क देव वे अनंतरभवमें शलाका पुरुष नहीं होते हैं। अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र नहीं होते हैं। परंतु इनमेंसे कोई मनुष्यभवमें आकर मोक्षगामी होते हैं॥ १३८ ॥

(मोक्षप्राप्ति किनको होती हैं।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रोंसे भूषित हुए मानव सर्व कर्मोंका नाश कर मुक्तिको जाते हैं। मोक्षमें सिद्ध हुए जीव तत्काल और भावी कालमें अनंत सुखी होते हैं, जरामरणसे रहित होते हैं और बाधारहित होकर रहते हैं। उनका संपूर्ण भावी काल उपर्युक्त गुणोंसे परिपूर्ण होता है॥ १३९–१४० ॥

(मोक्षसुख।)– जो जगतमें कामसुख है, तथा जो जगतमें दिव्य ऐसा महासुख है वह मोक्षसुखके अनंतवे अंशकाभी साम्य नही धारण करता॥ १४१ ॥

उत्तम–अतिचाररहित रत्नत्रय लक्षण–धर्म आश्चर्यकारक और प्रशंसनीय धर्म है।

१ आ. सर्वं लोकावधि　२ आ. सुराः　३ आ. तेषां　४ आ. शक्रो　५ आ. दिव्य

यदित्थमनुवादेन[1] किञ्चिदागमरूपतः । अविज्ञातपरार्थेन जीवतत्त्वं निरूपितम् ॥ १४३
अन्यानुवादतो नास्ति सा शक्तिर्मम वर्णने । जीवतत्त्वस्य सर्वस्याथवा ग्रन्थस्य गौरवात् ॥ १४४
सद्गुणाद्यनुवादेन जीवतत्त्वमनेकधा । यदुक्तं मुनिभिः पूर्वं तन्मया कथ्यते कथम् ॥ १४५
गुणस्थानानि चत्वारि देवानां नारकेषु च । तिरश्चां पंच विद्यन्ते मनुष्येषु चतुर्दश ॥ १४६
इत्याद्यागमतः सर्वं ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः । न ज्ञातुं नैव कर्तुं वा शक्तोऽहं बुद्धिवर्जितः ॥ १४७
ज्ञात्वा जीवमजीवं जिनवरवरवीरभाषितं जगति । हिंसासत्यादीनां परिहारो युज्यते नृणाम् ॥१४८

इसका जो महाभव्य आश्रय करते हैं उनको इहलोकमें कौनसी वस्तु दुर्लभ है? सर्व उत्तम वस्तु इस श्रेष्ठ रत्नत्रयधर्मसे प्राप्त होती है ॥ १४२ ॥

जिसको जीवादि-पदार्थोंका ज्ञान नहीं है, ऐसे मैंने इस प्रकार अनुवादसे आगमद्वारा किञ्चित् जीवतत्त्वका निरूपण किया है । निर्देशादिक अनुयोगके आधारसे मैंने यह वर्णन किया है । सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शनादि अनुयोगोंके द्वारा जीवादितत्त्वोंका वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूं ॥ १४३-१४४ ॥

उत्तम गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास इत्यादिक अनुवादोंकी अपेक्षासे मुनियोंने जीव-तत्त्वका अनेक प्रकारोंसे पूर्व कालमें वर्णन किया है । वैसा वर्णन करनेमें मैं समर्थ नहीं हूं ॥१४५

(चतुर्गतिमें गुणस्थान ।)- देवोंमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि ऐसे चार गुणस्थान होते हैं । नारकियोंकोभी वेही चार गुणस्थान होते हैं । पशुओंको उपर्युक्त चार और पांचवा देशसंयम ऐसे पांच गुणस्थान होते हैं तथा मनुष्योंको चौदह गुणस्थान होते हैं (इन गुणस्थानोंका वर्णन पूर्वमें आया है) ॥१४६॥

(ग्रंथकारकी नम्रता ।)- तत्त्व जाननेवाले आचार्योंको गुणस्थानादिकोंका सर्व स्वरूप आगमसे जानना चाहिये । उनका स्वरूप मैं जाननेके लिये और कहनेके लिये असमर्थ हूं क्योंकि मैं बुद्धि रहित हूं ॥ १४७ ॥

जिनोंमें – मुनियोंमें वर-श्रेष्ठ ऐसे गणधरोंके नायक-स्वामी श्रीवीरप्रभुके द्वारा उपदेश गये जीव और अजीव तत्त्वोंको जानकर इस जगतमें मनुष्योंको हिंसा, असत्य भाषण, चोरी आदि पातकोंका त्याग करना योग्य होता है, अर्थात् जीवादिद्रव्योंका स्वरूप समझनेसे हिंसादिकका क्यों त्याग करना चाहिये? इस शंकाका स्पष्टीकरण हो जाता है । सम्यग्ज्ञान होनेसे जीव-राग-द्वेषादिकोंके कारण हिंसा, असत्य भाषणादिपापोंका त्याग करता है । जिससे वह चारित्रसंपन्न, रत्नत्रययुक्त होकर शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है ॥ १४८ ॥

---

१ आ. इत्थं गत्यनुवादेन

सुविहितचरणः शरणे जिनवरनाथस्य करणहतवृत्तिः ।
न सरति स कथं पटुतामटति भवाम्भोधिसन्तरणे[1] ॥ १४९

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते गत्यनुवादद्वारे जीवतत्त्व-प्ररूपणं अष्टमोऽध्यायः ॥

जिसने उत्तम चारित्रका पालन किया है, जो गणधरोंके स्वामी है ऐसे वीर प्रभूको जो शरण आया है, परन्तु इन्द्रियोंके वश होनेसे जिसका मन चरित्रभ्रष्ट हुआ है, वह पुरुष यदि पुनः चारित्रमार्गमें प्रवेश नहीं करेगा तो संसारसमुद्रके पार जानेमें कैसे समर्थ होगा? तात्पर्य–चारित्रसे रत्नत्रयपूर्ण होता है और उससे यदि जीव च्युत होगा तो वह संसारसमुद्रमें डूबे विना नहीं रहेगा ॥ १४९ ॥

पंडिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेन–विरचित सिद्धान्तसारसंग्रह शास्त्रमें गत्यनुवादद्वारसे जीवतत्त्वका निरूपण करनेवाला आठवा अधिकार समाप्त हुआ ।

१ आ. सत्तरणे

नवमोऽध्यायः ।

यो जीवनगुणाज्जीवस्तस्मादन्योऽभिधीयते । अजीव इति सूत्रज्ञैः सामान्येन जिनागमे ॥ १
धर्माधर्मनभःकालपुद्गला इति पञ्चधा । विशेषेण पुनः प्राज्ञैः कथितस्तत्त्ववेदिभिः ॥ २
जीवपुद्गलयोर्यौ तौ गतिस्थितिनिबन्धनौ धर्माधर्मौ तथाकाशमवकाशैकलक्षणम् ॥ ३
वर्तनालक्षणः कालः स च कायविवर्जितः । परे पञ्चास्तिकायाः स्युर्जीवतत्त्वसमन्विताः ॥ ४

.....

नववाँ अध्याय ।

जीवनगुण–चेतना–ज्ञानदर्शनसे जो युक्त है उसे जीव कहते हैं। जिसमें जीवनगुण नहीं है उसे सूत्रज्ञ आचार्य जिनागममें सामान्यतया ' अजीवतत्त्व ' कहते हैं ॥ १ ॥

स्पष्टीकरण– जीवका लक्षण उपयोग-ज्ञानदर्शनस्वरूपता कहा है। यह लक्षण जिसमें नहीं पाया जाता वह अजीव तत्त्व है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीवतत्त्वके विशेष हैं।

धर्म अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीवतत्त्वके पांच भेद हैं ऐसा तत्त्वज्ञोंने कहा है ॥ २ ॥

(धर्माधर्मादि-द्रव्योंका लक्षण।) – जीव और पुद्गलोंकी गति होनेमें जो कारण हैं उसे धर्मद्रव्य कहते हैं, तथा जो इनके स्थितिके लिये कारण है उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। अर्थात् जीव और पुद्गलोंकी गतिमें जो द्रव्य सहायक होता है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। तथा जो उनकी स्थितिमें सहायक है वह अधर्मद्रव्य है। ऐसे इन द्रव्योंके लक्षण कहे हैं। तथा जो संपूर्ण द्रव्योंको– धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीवद्रव्योंको अवकाश अवगाह-स्थान देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं ॥ ३ ॥

वर्तना यह लक्षण जिसका है ऐसे द्रव्यको द्रव्यकाल कहते हैं। वह कायरहित है। जीवतत्त्वके साथ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य ऐसे पांच द्रव्योंको 'पंचास्ति काय ' कहते हैं। जीवादिक द्रव्योंमें जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं उनकी उत्पत्तिमें जो असाधारण-साधकतम है उसको कालद्रव्य कहते हैं, जैसे दीपक अथवा प्रकाशके बिना अध्ययन नहीं होता इसलिये वह जैसा अध्ययनका साधकतम कारण है वैसा यह कालद्रव्य जीवादिकोंके पर्याय उत्पन्न होनेमें साधकतम है। उसके विना जीवादिकी पर्यायें उत्पन्नही नहीं होती। अतः वर्तना-पर्याय उत्पन्न करना यह कार्य जिस करणरूपके होनेसे होता है वह काल है ऐसा कालका लक्षण है। जो पदार्थोंमें नया, पुराना इत्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं उसे धर्मादिक द्रव्य कारण नहीं है, आकाशभी कारण नहीं है, वह केवल अवकाशदान देनेका कार्य करता है। अतः कल, आज, नया,

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवर्णसमन्वितः । गलनात्पूरणाद्वापि पुद्गलः स[1] मतो जिनैः ॥ ५
पुद्गलस्य च कायत्वं युक्तमन्येषु तत्कथम् । शरीराभावतस्तस्मादुपचारेण तद्भवेत् ॥ ६
पुद्गलप्रचयात्मत्वाच्छरीरं काय इष्यते । प्रदेशप्रचयात्मत्वात्तथान्ये चोपचारतः ॥ ७
यदुक्तं सूरिभिः पूर्वमसंख्येयाः प्रदेशकाः । धर्माधर्मैकजीवानामसाधारणवर्तिनाम् ॥ ८
कायाभावश्च कालस्य ह्येकप्रादेशिकत्वतः । अणोरपि[2] भवेत्तस्याप्यणूनां हि तथा स्थितेः ॥ ९

पुराना इत्यादि पदार्थोंकी अवस्थाओंकी उत्पत्तिमें जो सहायक है वह कालही ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥ (वर्तनापरिणाम इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीका)

(पुद्गलका लक्षण ।)– रूप, गंध, रस, स्पर्श, शब्द तथा वर्ण ऐसे गुणोंसे जो द्रव्य युक्त है अर्थात् जिसमें रूपादिक रहते हैं उसे पुद्गलद्रव्य कहना चाहिये । अथवा जिनमें गलन और पूरण होता है उन्हें पुद्गल कहते हैं । अर्थात् भेदसे, संघातसे और भेदसंघातसे जिनमें पूरण और गलन होता है उसे पुद्गल कहते हैं । यह पुद्गल शब्द इस प्रकारसे अन्वर्थक है । अर्थात् एक पुद्गलस्कन्ध फूटकर अलग होता है, तब उसकी गलन क्रिया हुई । दूसरे स्कन्धमें मिल जानेसे पूरणक्रिया उसने की और एकसे फूटकर दूसरेमें मिल जानेसे पूरण गलन दोनों क्रियायें हुई । इसलिये इस द्रव्यको जिनेश्वर पुद्गल कहते हैं ॥ ५ ॥

(अन्य द्रव्योंमें कायपना औपचारिक है ।)– पुद्गलको कायपना है, यह योग्यही है; परंतु अन्यद्रव्योंमें कायपना कैसे समझना चाहिये ? काय शब्दका अर्थ शरीर होता है, और पुद्गलके बिना अन्यद्रव्य शरीररहित होनेसे-शरीररूप न होनेसे उनको काय कैसे कहा जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर-उपचारसे अन्यद्रव्योंको काय कहना चाहिये । स्पष्टीकरण–शरीर पुद्गलसमूहरूप होनेसे उसको काय कहते हैं । वैसे प्रदेशोंका समूह धर्म, अधर्म आकाश और जीवोंमें पुद्गलके समान होनेसे इन द्रव्योंकोभी 'काय' कहना योग्यही हैं । अत एव धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव, जो कि असाधारण लक्षणयुक्त हैं, उनमें आचार्योंनें असंख्यात प्रदेश कहे हैं ॥ ६–८ ॥

(कालमें कायत्व नहीं है ।)– कालद्रव्य एक एक अणुरूप है और उसमे एकप्रदेशसे अधिक प्रदेश रहतेही नहीं ? परन्तु जो पुद्गलाणु हैं उसमें कायत्वभी है, क्योंकि अणु अन्य अणुओंसे रूक्षता और स्निग्धता गुण होनेसे मिलकर स्कन्धरूप होता है । वैसे कालाणु आपसमें अन्योन्यमें नहीं मिलते हैं । वे रत्नराशिके समान अलग रहते हैं । इसलिये कालाणुओंको उपचारसेभी काय नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

---

१ आ. पुद्गलोऽसौ　२ आ. अणोरिव

यथा दर्शनविज्ञानसुखवीर्यचतुष्टयम् । जीवसाधारणं[1] तद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयम् ॥ १०
पुद्गलेऽपि मतं सर्वं साधारणमतीन्द्रियम् । अणोरपि हि तच्छुद्धे जीवे ज्ञानादिवद्भवेत् ॥ ११
रागादिस्नेहयुक्तत्वात्कर्मबन्धव्यवस्थितौ । सज्ज्ञानादेरशुद्धत्वमात्मनोऽपि यथा भवेत् ॥ १२
स्निग्धरूक्षगुणत्वेन द्विगुणादौ व्यवस्थितेः । बन्धस्यास्यापि रूपादेरशुद्धत्वं निगद्यते ॥ १३
यथा शुद्धात्मरूपस्य भावनाया बलेन च । रागादिस्नेहहानौ स्याज्ज्ञानादेः शुद्धतात्मनि ॥ १४
जघन्यैकगुणानां तदणूनां केवलात्मनाम् । बन्धाभावात्स्वरूपादेः शुद्धत्वं गदितं जिनैः ॥ १५
जीवेनैव समं तानि षड्द्रव्याणि जिनागमे । भूपयःपवनाग्नीनां मनसः[2] पुद्गलात्मता ॥ १६

(जीव पुद्गलोंका साधारणलक्षण ।)- जैसे दर्शन, ज्ञान, सुख और शक्ति ये चार गुण समस्त जीवोंमें हैं, इसलिये उनको जीवके साधारण-गुण कहते हैं। वैसे संपूर्ण पुद्गलोंमें भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये गुण रहते हैं, इसलिये ये पुद्गलके साधारण गुण हैं। जैसे शुद्ध जीवमें ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति ये चार गुण अतीन्द्रिय है वैसे पुद्गलाणुमें ये स्पर्शादिक चार गुण अतीन्द्रिय हैं। परमाणु इंद्रियोंसे नहीं जाना जाता है, वह अतीन्द्रिय हैं। जो अतीन्द्रिय पदार्थ होते हैं उनके गुणभी इंद्रियग्राह्य न होनेसे अतीन्द्रिय होते हैं। शुद्ध जीव इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिये उसके ज्ञानादि गुण अतीन्द्रिय होते हैं ॥ १०-११ ॥

पुद्गलमें स्निग्धगुण और रूक्षगुण रहते हैं। इनसे बंध होता है। एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ इन गुणोंसे बंध होता है। तथा दो गुण अधिक जिसमें रहते हैं, वह परमाणु बंध योग्य होता है। अर्थात् जिसमें दो गुण कम हैं उसके साथ उसका बंध होता हैं। परंतु जब जिन दो परमाणुओंमे समगुण होंगे वे परमाणु रूपी कहे जाते हैं और ऐसे रूपी परमाणुओंको शुद्ध कहते हैं और उनका बंध नहीं होता है ॥ १२ ॥

जब आत्माके सम्यग्ज्ञानादिक गुण रागादि-स्नेहसे युक्त होते हैं तब जीव कर्मोंसे बद्ध होता है और आत्माके सम्यग्ज्ञानादिक गुणभी अशुद्ध होते हैं ॥ १३ ॥

जैसे शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनाका सामर्थ्य जब अत्यंत वृद्धिगत होता है, तब रागादि स्नेहकी हानि होती है। जिससे आत्मामें ज्ञानादिक गुणोंकी निर्मलता होती है वैसे जिनमें जघन्य एक गुण है ऐसे अणुओंको 'केवल' कहते हैं। उनका किसीभी परमाणुके साथ बंध नहीं होता अतः उनके स्वरूपको उनके स्पर्शादिकोंको जिनेश्वरने 'शुद्ध' कहा है ॥ १४-१५ ॥

जीवके साथ धर्म, अधर्म आकाश, काल और पुद्गल इन द्रव्योंको जिनागममें षड्द्रव्य कहा है। तथा पृथ्वी, पानी, हवा-वायु अग्नि और मनको जिनागममें पुद्गल कहा है ॥ १६ ॥

१ आ. जीवे २ आ. मनसा

पुद्गलत्वं कथं तेषामेषा भाषा न युज्यते । तद्रूपाद्यन्वयत्वेन तत्स्वभावविभावनात् ॥ १७
अथेदमुच्यते चित्ते बाह्यरूपाद्यदर्शनात् । तत्रान्वयाप्रसिद्धत्वात्कथं पुद्गलतानयोः ॥ १८
तन्न युक्तमनुद्भूतरूपो वायुर्यतो मतः । अत एव न चक्षुर्भ्यां गृह्यते परमाणुवत् ॥ १९
रूपादिमानयं वायुः स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवत् । प्रसिद्धो धीमतां यस्मात्पुद्गलात्मा[1] प्रभञ्जनः॥२०
चक्षुषाग्रहणान्नास्य तदभावो विभाव्यते । अतिप्रसङ्गदोषेण दुष्टत्वात्परमाणुषु ॥ २१
तथापो गन्धवत्यश्च पृथ्वीवत्स्पर्शवत्वतः । तेजोऽपि रसगन्धाढ्यं रूपित्वात्तद्वदेव हि ॥ २२

(इन पदार्थोंमें पुद्गलत्वकी सिद्धि ।)– इन पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, और मनको पुद्गल कैसा कहें ? ऐसी भाषा अर्थात् ऐसा प्रश्न पूछना योग्य नहीं है । क्योंकि, पुद्गलके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इन गुणोंका अन्वय पृथिवी, पानी आदिकमें दिखता है । अत एव इनमें पुद्गलके स्वभाव प्रगट हैं, ऐसा माननेमें कुछ विरोध नहीं दिखता । अर्थात् जलादिकमें स्पर्श, रस, गंधादिक गुण जो कि पुद्गलमें दिखते हैं वे होनेसे उनकोभी पुद्गल कहना चाहिये ॥ १७ ॥

(वायु और मनकी पुद्गलत्व सिद्धि ।)– अब आप इस विषयमें ऐसा कहेंगे कि मनमें रूप स्पर्शादिक नहीं दिखते हैं । वायुमें स्पर्श दिखता है परंतु रूपादिक गुण नहीं दिखते है, अनुभवमें नहीं आते हैं । अतः मन और वायुको पुद्गलपना नहीं है । आचार्य उत्तर देते हैं– " आपका कहना योग्य नहीं हैं; क्योंकि, वायुभी पुद्गल है उसमें रूपगुण है । परंतु वह अनुद्भूत हैं अप्रगट है । इसलिये वह आखोंसे नहीं दिखता । " हम अनुमानसे वायुमें रूपगुणकी सिद्धि करते हैं– जैसे ' वायु रूपरसादि-गुणवाला है, क्योंकि, वह स्पर्शयुक्त है जैसे घडा । ' अतः विद्वान लोग वायु स्पर्शवान् होनेसे उसे पुद्गलात्मा–रूपवान् मानते हैं यह बात प्रसिद्ध है । यदि आप इसके ऊपर फिरभी ऐसा कहोगे " वायु आखोंसे ग्रहण नहीं किया जाता । अतः उसमें रूपका अभाव है " यह आपका कहना योग्य नहीं है । यह आपका कहना अतिप्रसंग–दोषसे दुष्ट है; क्योंकि, आप परमाणुओंमें रूप मानते हैं परंतु क्या वह आखोंसे दिखता है ? नहीं दिखता है । एतावता वायुमें रूप नही है ऐसा कहोगे तो परमाणुमेंभी रूप नहीं दिखता है । अतः परमाणु रूपगुणरहित मानो ऐसा हम कहेंगे जिससे परमाणुमें अतिप्रसंगदोष आवेगा । जब परमाणुमें आप रूपवत्व मानते हैं तो वायु, जो कि स्पर्शनेन्द्रियसे अनुभवमें आता है उसमें तो अवश्य रूपवत्व माननाही चाहिये । परमाणुको कोईभी इन्द्रिय नहीं जानती है । वायु तो स्पर्शनेन्द्रियसे जाना जाता है । अतः उसे रूपवान् मानना विरोधरहित है ॥ २१ ॥

(जलादिकभी पुद्गल हैं ।)– जैसा वायु रूपवान् है वैसा जलभी गंधयुक्त है; क्योंकि उसमें स्पर्शगुण है जैसा पृथ्वीमें है । अग्निभी रस और गंधसे युक्त है; क्योंकि वह रूपवान् है ।

१ आ. अस्मात्

मनो द्विविधमाख्यातं द्रव्यभावप्रभेदतः । तत्र भावमनो ज्ञानमात्मन्यन्तर्भवेद्यतः[1] ॥ २३
आत्मैव कथ्यते तावदान्तरं द्रव्यमानसम् । बाह्यं रूपादिमत्त्वात्तत्पुद्गलद्रव्यमीर्यते ॥ २४
ज्ञानोपयोगहेतुत्वान्मनो रूपादिवन्मतम् । चक्षुरिन्द्रियवत्प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ २५
शब्दे मूर्तेऽपि तद्दृष्ट्वा व्यभिचारो न युज्यते । तस्य पौद्गलिकत्वेन मूर्तिमत्त्वोपपत्तितः[2] ॥२६
पुद्गलत्वं न चासिद्धं शब्दे तस्य प्रसाधनात् । बहिरिन्द्रियसंग्राह्यः शब्दो यस्माद्घटादिवत् ॥२७
शिखरादिप्रपातस्याभिघातात्कथमन्यथा[3] । ततः स एव शब्दस्य पुद्गलत्वं प्रसाधयेत् ॥ २८

जैसी पृथ्वी रूपवती है । इन दो अनुमानोंसे जल और अग्निमें वायुके समान पुद्गलस्वरूपता जैनाचार्योंने सिद्ध की है ॥ २२ ॥

(भावमन आत्मतत्वमें और द्रव्यमन पुद्गलमें अन्तर्भूत है ।)– द्रव्य और भाव ऐसे भेदसे मनभी दो प्रकारका कहा है । अर्थात् द्रव्यमन और भावमन ऐसे मनके दो भेद हैं । उनमें भावमन ज्ञानरूप होनेसे आत्मामें उसका अन्तर्भाव होता है क्योंकि भावमन वास्तविक आत्माही है । वह आत्मरूप होनेसे उसे अन्तःकरण कहते हैं । नो इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे युक्त जो आत्मप्रदेश है उन्हें भावमन कहते हैं । जिनका सब पाप नष्ट हुआ है ऐसे विद्वानोंने चक्षुके समान रूपादियुक्त होनेसे बाह्य द्रव्यमनको पुद्गलद्रव्य माना है । जैसा चक्षू ज्ञानोपयोगको कारण होनेसे पुद्गलरूप है वैसा मनभी ज्ञानोपयोगको कारण होनेसे रूपादिमान् है ॥ २३–२४ ॥

(शब्दभी पौद्गलिकही है ।)– नैयायिकादिक कहते हैं, कि शब्द अमूर्त होकरभी ज्ञानोपयोगके लिये हेतु होता हैं । अर्थात् मूर्तिमान् पदार्थही ज्ञानोपयोगके हेतु होते हैं ऐसा समझना ठीक नहीं है । अमूर्तिक पदार्थभी ज्ञानोपयोगके हेतु होते हैं । अतः मूर्तिमत्त्व मनमें सिद्ध करनेके लिये दिया हुआ ज्ञानोपयोग हेतु विपक्षभूत अमूर्तिक पदार्थोंमें चला जानेसे अनैकांतिक हुआ ऐसा प्रतिपक्षीने कहा । इसके अनन्तर वादी जैन कहते हैं, कि यह व्यभिचार दोष योग्य नहीं है, क्योंकि, जिस शब्दको आप अमूर्तिक समझ रहे हैं वह वैसा नहीं हैं, क्योंकि वहभी चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान मूर्तिमान् है । इसलिये उसकोभी जैन पौद्गलिकही कहते हैं । शब्दमें पुद्गलत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि घटादिक जैसे बाह्य इन्द्रियसे-चक्षुरादिकसे ग्रहण किये जाते हैं वैसे शब्दभी बाह्य इन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं अतः वेभी पौद्गलिक हैं ॥ २५–२७ ॥

पर्वतके शिखरादिक पडनेसे बडा शब्द उत्पन्न होता है, जो कि कर्णके ऊपर आघात करता है । इसलिये शब्द पौद्गलिक अर्थात् मूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुका आघात नहीं होता, मूर्तिक वस्तु आघातयोग्य-अभिभवयोग्य होती है । इसलिये अभिघात होना, अभिघात करना इत्यादि धर्म

---

१ आ. आत्मन्यन्तर्भवत्यपि २ आ. मूर्तिमत्त्वोपपत्तितः ३ आ. शिखरादेः

सूक्ष्मस्थूलादिधर्मत्वाच्छब्दोऽयं पुद्गलात्मकः । यतोऽमी पुद्गलद्रव्यपर्याया गदिता जिनैः ॥ २९
अतिस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं च सूक्ष्मकम्। सूक्ष्मस्थूलं सूक्ष्मसूक्ष्मं[1] कथयन्ति जिनेश्वराः ॥३०
ततस्तद्धर्मयुक्तत्वाच्छब्दोऽयं पुद्गलात्मकः । भाषाभाषात्मकत्वेन द्विप्रकारो भवत्यपि ॥ ३१
चतुर्भाषात्मको यस्तु स भाषात्मा निगद्यते । आर्यम्लेच्छमनुष्येषु व्यवहारैकहेतुतः ॥ ३२

शब्दकी पुद्गलताके साधक हैं। शब्दमें सूक्ष्मधर्म, स्थूलताधर्म, अभिघातधर्म, अभिभाव्यधर्म, आदि धर्म होनेसे वह पुद्गलात्मक हैं। स्थूलता, सूक्ष्मतादिक पुद्गलद्रव्यके पर्याय हैं ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ २८-२९ ॥

जिनेश्वरने पुद्गलद्रव्य छह प्रकारका है ऐसा कहा है। वे प्रकार-अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल और सूक्ष्मसूक्ष्म। अतिस्थूल इसको बादरबादरभी कहते हैं। जिसका छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण-दूसरे स्थानमें पहुंचाना होता है वह अतिस्थूल है। जैसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि। स्थूल-जिसका छेदन, भेदन न हो सके परंतु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको स्थूल वा बादर कहते हैं। जैसे जल, तैल आदि। स्थूलसूक्ष्म-जिसका छेदन, भेदन अन्यत्र प्रापण कुछभी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको स्थूलसूक्ष्म कहते हैं जैसे-छाया आतप, चांदनी आदि। सूक्ष्मस्थूल-नेत्रको छोडकर शेष इंद्रियोंके विषयभूत पुद्गल स्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द, गंध, रस आदि। सूक्ष्म-जिसका किसी इंद्रियके द्वारा ग्रहण न हो सके उस पुद्गल स्कन्धको सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्म। और सूक्ष्मसूक्ष्म जो स्कंधरूप नहीं है ऐसे अविभागी पुद्गलपरमाणुको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं। पुद्गलके ऊपरके श्लोकमें जो धर्म बताये हैं, वैसे धर्म शब्दमें होनेसे शब्द पुद्गलात्मक है। तथा यह शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसा दो प्रकारकाभी होता है ॥ ३०-३१ ॥

जो चार भाषात्मक है उसे भाषात्मक शब्द कहते हैं। यह भाषात्मक शब्द आर्य और म्लेच्छोंको व्यवहारके लिये कारण है। स्पष्टीकरण-सत्यभाषा, असत्यभाषा, उभयभाषा और अनुभयभाषा ऐसे भाषाके चार भेद हैं। अथवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा ऐसी चार भाषायें काव्यका शरीर मानी गई हैं। दस प्रकारके सत्यार्थके वाचक वचनको सत्यवचन कहते हैं। जो इससे विपरीत है उसको असत्यभाषा कहते हैं। जो कुछ सत्य और कुछ असत्यका वाचक है उसे उभयभाषा कहते हैं। तथा जो सत्यरूप न हो और मृषारूप-असत्यरूप न हो उसको अनुभयवचन कहते हैं। असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमंत्रणी आदिक भाषायें अनुभयभाषा कही जाती हैं। आमंत्रणी आदिक नौ भाषायें अनुभय-वचन-रूप मानी हैं।

१ आ. सुसूक्ष्मं च

अभाषात्मा तिरश्चां स्याच्छ्रीजिनेन्द्रध्वनावपि। स च प्रायोगिकोऽन्यश्च वैस्रसिकस्तथा परः॥ ३३
वीणावंशादिसंभूतः प्रायोगिक इतीरितः। वैश्रसिकश्च मेघादिप्रभवोऽनेकधा पुनः॥ ३४
पुद्गलोत्पन्न एवायं पौद्गलिकोऽपि कथ्यते। उपचारेण जीवस्य तद्व्यापारप्रयोगतः॥ ३५
ततो न व्यभिचारोऽस्ति मनोरूपित्वसाधने। शब्दज्ञानोपयोगित्वात्तस्य पौद्गलिकत्वतः॥ ३६
ततः पृथ्वी पयश्छाया चतुरिन्द्रियगोचरम्। कर्माणि परमाणुश्च पर्यायाः पुद्गलस्य च॥ ३७
दिशोऽप्याकाश एवायमादित्याद्युदयादिह। तस्य पङ्क्तिव्यवस्थासु[1] व्यवहारोपपत्तितः॥ ३८
तस्मात्षडेव द्रव्याणि नाधिकानि जिनागमे। धर्माधर्मनभःकालास्तेषु नित्या मता जिनैः॥ ३९

क्योंकि, इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनोंही अंशोंका बोध होता है। इसलिये सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे असत्यभी नहीं कह सकते हैं, और विशेष अंशके व्यक्त न होनेसे सत्यभी नहीं कह सकते हैं॥ ३२॥

यह अनुभयभाषा तिर्यंचोंकी-द्वीन्द्रियादि-जीवोंकी है तथा श्रीजिनेश्वरकी जो दीव्य-ध्वनि है वहभी अनुभयभाषात्मक हैं। अभाषात्मक शब्दके प्रायोगिक और वैस्रसिक ऐसे दो भेद हैं। वीणावंशादि वाद्योंसे जो शब्द उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं। मेघादिकसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वैस्रसिक है और उसके अनेक प्रकार हैं। यद्यपि शब्द पुद्गलसेही उत्पन्न होता है। इसलिये उसको पौद्गलिक कहते हैं तोभी उपचारसे शब्द जीवकाभी कहा जाता है; क्योंकि उसके प्रयत्न उसकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। इतने विवेचनसे मनको रूपी सिद्ध करनेमें जो 'ज्ञानोपयोगहेतुत्व' नामक हेतु दिया है, शब्दको पौद्गलिकत्व साधनेमें वह उपयुक्त होनेसे अनैकान्तिक हेतु नहीं होता है। इतने विवेचनसे पृथ्वी, जल, छाया और नेत्रेन्द्रियको छोडकर शेष चार इंद्रियोंका विषय, कर्म और परमाणु ये सब पुद्गलके पर्याय हैं ऐसा सिद्ध हुआ है॥ ३३-३७॥

(दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है।)- दिशाओंका आकाशमें अन्तर्भाव होता है; क्योंकि आकाशके प्रदेशोंमेंही सूर्य-चन्द्रादिकोंके उदयसे पूर्व पश्चिम इत्यादि व्यवहार होता है। अतः दिशा यह द्रव्य यह अलग नहीं है। उसका आकाशमेंही अन्तर्भाव होता है॥ ३८॥

(जैनागममें छहही द्रव्य कहे हैं।)- इसलिये जिनागममें छहही द्रव्य कहे हैं उनसे अधिक नहीं हैं। छहों द्रव्योंमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य जिनेश्वरोंने नित्य माने हैं। जो लक्षण जिस द्रव्यका आचार्यने कहा है, वह लक्षण इससे कभी नष्ट नहीं होता है। अर्थात् उस द्रव्यमें उसका लक्षण हमेशाही रहता है। अन्यथा वह द्रव्य कैसे पहचाना जायगा? धर्मद्रव्यका गतिहेतुत्व लक्षण है, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व लक्षण है, आकाशका अवगाहनहेतुत्व लक्षण है और कालका वर्तना लक्षण है। ये लक्षण अपने अपने द्रव्योंको कभीभी नहीं

---

१ आ. पङ्क्तिप्रदेशेषु

अमूर्ता निःक्रियाश्चामी जिनागमे विशेषतः । तथात्मकपरिज्ञानं कर्तव्यं सुमनीषिभिः ॥ ४०
आकाशस्य प्रदेशाः स्युरनन्ताः पुद्गलस्य च । तेऽसङ्ख्येयाश्च संख्येया अनन्ताश्च भवन्त्यपि ॥ ४१
कश्चित्सङ्ख्येयदेशः स्यादसंख्येयप्रदेशभाक् । कश्चित्कस्याप्यनन्तास्ते प्रदेशाः समुदीरिताः ॥४२
असंख्यातप्रदेशो वा लोकः सर्वोऽपि कथ्यते । तत्रानन्तप्रदेशस्य तस्याधारो विरुध्यते ॥ ४३
नैष दोषो यतः सूक्ष्मपरिणामावगाहतः । आकाशैकप्रदेशेऽपि तदानन्त्येन तिष्ठति ॥ ४४
सूक्ष्मावगाहसच्छक्तिस्तेषामव्याहतास्ति च । प्रमाणप्रतिपन्नत्वादग्नेर्दाहकशक्तिवत् ॥ ४५
नाणोः प्रदेशनानात्वमविभागस्वभावतः । नास्मादल्पप्रमाणं तत्किञ्चिदल्पप्रमाणकम् ॥ ४६

छोडते हैं इसलिये इनको नित्य कहना योग्यही है । ये द्रव्य नित्य है, अमूर्तिक है, और निःक्रिय है, ऐसा जिनागममें विशेषतः प्रतिपादन किया है । जैसा आगममें प्रतिपादन किया है, वैसा विद्वान् उनको जान लेवें ॥ ३९–४० ॥

(आकाश और पुद्गलोंके प्रदेशोंका वर्णन ।)– आकाशके प्रदेश अनन्त है, पुद्गलोंके प्रदेश संख्यात असंख्यात और अनंत हैं । अर्थात् पुद्गलोंके प्रदेश तीनों प्रकारके हैं । कोई पुद्गल संख्यात प्रदेशवाला, कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेशवाला और कोई पुद्गल अनंत प्रदेशवाला है । इस प्रकारसे पुद्गलोंके प्रदेश तीन प्रकारके कहे हैं ॥ ४१–४२ ॥

लोकाकाश असंख्यात प्रदेशवाला है । वह अनंत प्रदेशवाले पुद्गलोका आधार कैसे होता है ? इस शंकाका उत्तर––

सर्व लोकाकाश असंख्यात प्रदेशवाला है ऐसा कहा जाता है और पुद्गल अनंत प्रदेशवालाभी है । अतः वह अनन्तप्रदेशवाले पुद्गलोंका आधार कैसे हो सकता है ? यह बात विरुद्ध है । आचार्य कहते हैं, कि इसमें दोष नहीं है । सूक्ष्मत्वशक्ति और अवगाहनशक्ति परमाणुओंमें और व्यणुकादिकोंमें अव्याहत है । इसलिये उपर्युक्त शंका यहां उत्पन्न नहीं होती । परमाणु और व्यणुकादिक स्कंध सूक्ष्मभावसे परिणत होकर एकेक आकाशप्रदेशमेंभी अनंतानंत रहते हैं। अवगाहनशक्तिभी इनकी अव्याहत है । इसलिये एक आकाशप्रदेशमेंभी अनंतानंत परमाणुओंका और सूक्ष्मस्कंधोंका वास्तव्य विरुद्ध नहीं । जैसे अग्निकी दाहशक्ति लोहेके गोलेमें प्रवेश करती है वैसे पुद्गलपरमाणु और सूक्ष्मस्कंधोंमें अवगाहनशक्ति होनेसे एक आकाशप्रदेशमेंभी अनंतानंत परमाणुओंका स्कंधभी रहता है ॥ ४३–४५ ॥

(परमाणुका स्वरूप)– परमाणुमें अनेक प्रदेश नहीं हैं, क्योंकि, वह अविभागि स्वभाववाला है । परमाणुके पुनः खंड नहीं होते हैं । वही सबसे अल्पप्रमाणवाला है । उससे कोई छोटा पदार्थ हैही नहीं ॥ ४६ ॥

---

५ आ. त्रयात्मक

लोकाकाशेऽवगाहोऽस्ति धर्मादीनामशेषतः । आकाशस्यावगाहस्तु स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥४७
धर्मादीनि विलोक्यन्ते यत्र लोकः स इष्यते । तमभिव्याप्य सर्वत्र धर्माधर्मौ व्यवस्थितौ ॥ ४८
यत्र लोकस्तदेवाहुर्लोकाकाशं जिनेश्वराः । तद्रहितमनन्तं तदलोकाकाशमञ्जसा ॥ ४९

स्पष्टीकरण- जैसे एक आकाशप्रदेशमेंभी दूसरा प्रदेश न होनेसे उसे अप्रदेशी कहते हैं वैसे परमाणुमेंभी सिर्फ प्रदेशमात्रत्व होनेसे प्रदेशभेद नहीं है । यदि परमाणुसेभी कोई छोटी वस्तु होती तो परमाणुमें प्रदेशभेद मानना पडता । परमाणु स्वतः आत्मआदि, आत्ममध्य और आत्मा-अन्त है । जिसमें प्रदेशाधिक्य होता है उसमें आदि, मध्य, अन्त ऐसे भागोंकी कल्पना होती है । परमाणुमें प्रदेशभेद न होनेसे- वह स्वयंप्रदेशमात्र होनेसे वह स्वतःही आदिरूप है, मध्यरूप है और अन्तरूपभी है । जैसे किसी मनुष्यको एकही पुत्र होता है, तो उसमेंही बडा, छोटा और मध्यमकी कल्पना करनी पडती है; वैसे परमाणुमें स्वयं आदि, मध्य और अन्तकी कल्पना करनी पडती है । तथा वह परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है ॥ ४६ ॥

(लोकाकाशका वर्णन ।)- धर्मादि द्रव्योंका लोकाकाशमेंही अवगाह है । लोकाकाशने धर्मादि द्रव्योंको अपनेमें आश्रय दिया है । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य और कालद्रव्य लोकाकाशमेंही हैं । लोकाकाशमें धर्मादिक अमूर्तद्रव्य अन्योन्य प्रदेशोंमें बिना व्याघातसे रहे हैं । तथा जितना लोकाकाश है, उतने प्रदेशोंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्यके अणु समान रूपसे रहे हैं । लोकाकाशके एक प्रदेशमें धर्मद्रव्यका एक प्रदेश, अधर्मद्रव्यका एक प्रदेश और एक अणुरूप कालद्रव्य रहता हैं । लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतनेही धर्मद्रव्यके प्रदेश हैं, उतनेही अधर्मद्रव्यके प्रदेश हैं और उतनेही कालाणु हैं । इसलिये तिलमें जैसा तैल सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है, वैसे धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशमें समानरूपसे व्याप्त होकर रहे हैं । धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं है, ऐसा अभिप्राय व्यक्त करनेकेलिये यहां धर्मादिक आधेय और लोकाकाश आधार है ऐसी कल्पना है । धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशमें हैं, परंतु लोकाकाश अथवा आकाश स्वयं अपनेमेंही है । एवंभूतनयकी अपेक्षासे सभी द्रव्य स्वस्वरूपमेंही रहते हैं । आकाशसे दूसरा कोईभी द्रव्य अधिक परिमाणका नही है जिसमें आकाश स्थित होगा । वह सर्वतः अनन्त है ॥ ४७-४८ ॥

धर्मादिक द्रव्य जिसमें देखे जाते हैं, उसको लोक कहते हैं । इस लोकको व्याप्त करके धर्म और अधर्म सर्वत्र व्यवस्थित रहे हैं । जहां यह लोक है, जिनेश्वर उसको लोकाकाश कहते हैं । तथा इस लोकसे रहित सर्वतः जो अनंत आकाश फैला है, उसे परमार्थतया अलोकाकाश कहते हैं ॥ ४९ ॥

असंख्येयविभागादिष्ववगाहक्रमादयम् । जीवानां तत्र जानन्ति यावल्लोकं विशारदाः ॥ ५०
यद्येवमप्यसंख्येया विभागा जगतो मताः । आश्रयाः सर्वजीवानां कथं तेषामनन्तता ॥ ५१
नैष दोषो यतो जीवाः सूक्ष्मबादरभेदतः । भवन्ति द्विविधाः सर्वे विविधाकारधारिणः ॥ ५२
सप्रतीघातदेहास्ते बादराः परितो मतः । सूक्ष्माश्च न तथा सूक्ष्मभावादेव भवन्त्यमी ॥ ५३
सूक्ष्मनिगोदजीवैकावगूढैकप्रदेशके । सूक्ष्माः साधारणानन्तास्तिष्ठन्त्यन्योन्यमिश्रिताः ॥ ५४
न ते बादरवर्गाणां[1] व्याहन्यन्ते परस्परम् । अतः श्रीगुरुपादानां न दोषस्तन्निवेदने ॥ ५५
जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थित्युपकारकौ । धर्माधर्मौ तदाकाशमवगाहोपकारकम् ॥ ५६
जलवन्मत्स्यदेहस्य गच्छतो गतिकारणम् । धर्मद्रव्यं हि जीवस्य पुद्गलस्य न तिष्ठतः ॥ ५७
अधर्मद्रव्यमप्येवं तिष्ठतः स्थितिकारणम् । जीवपुद्गलयोर्नापि गच्छतोस्तत्कदाचन ॥ ५८

(जीव लोकाकाशके कितने असंख्यातवे भागमें रहता है इस प्रश्नका निर्णय।)– लोकाकाशके असंख्यात भाग करनेपर जो एक भाग, दो भाग, तीन भाग आदिक भागभी असंख्यात प्रदेशोंकेही होते हैं, क्योंकि, असंख्यातको छोटे असंख्यातसे भाजित करनेपर जो भागाकार आता है, वह असंख्यातरूपकाही आता है। जीवका अवगाह लोकाकाशके एक-दो-तीन आदि असंख्येय भागोंमें होता है। तथा लोकपूरण समुद्घातके समय जीवका अवगाह संपूर्ण लोकमें होता है। एक जीवकी अपेक्षासे यह कथन किया। नाना जीवोंकी अपेक्षासे तो सर्व लोक अवगाह है॥ ५०॥

यद्यपि लोकाकाशके असंख्येयविभाग माने गये हैं और वे जीवोंके आश्रयभूत हैं; किन्तु जीव तो अनंत हैं और आश्रय असंख्येयरूप हैं। इसलिये द्रव्यप्रमाणसे अनन्तानन्त सशरीर जीव उनमें कैसे अवगाह पा सकेंगे ? आचार्य इस शंकाका परिहार करते हैं– यह दोष नहीं है, क्योंकि, विविध आकार धारण करनेवाले जीव दो प्रकारके हैं अर्थात् सूक्ष्मजीव और बादरजीव। जिनका देह सप्रतिघात है, अर्थात् दूसरेसे जिनको बाधा पहुंचती हैं वे सप्रतिघात-बादरदेह हैं। सूक्ष्मजीव सशरीर होनेपरभी उनमें सूक्ष्मता होनेसे एक निगोदजीव जितने आकाशके प्रदेशोंमें रहता है उतनेमें साधारण शरीरवाले जीव अनन्तानन्त रहते हैं। परंतु वे अन्योन्यसे बाधित नहीं होते हैं और बादरोंसेभी बाधित नहीं होते हैं। इसलिये श्रीगुरुपादोंका उनका वर्णन करनेमें कुछभी दोष नहीं है॥ ५१–५५॥

(धर्म, अधर्म आकाशद्रव्योंके उपकारोंका वर्णन।)– जीव और पुद्गलोंके गतिमें उपकारक धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गलद्रव्यके स्थितिमें अधर्मद्रव्य उपकारक है और आकाशद्रव्य अवगाहमें उपकारक है। पानी जैसा चलनेवाले मत्स्यदेहके गतिमें कारण है उसी तरह धर्मद्रव्यभी गतिमें कारण है, परंतु स्थिर जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यकी, गतिकेलिये कारण नहीं है। अधर्मद्रव्यभी जो पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य स्थिर है उनकी स्थितिमें कारण है। परंतु जो जीव और पुद्गल गतिमान् हो रहे हैं उनके स्थितिमें अधर्मद्रव्य कारण नहीं है॥ ५६–५७–५८॥

१ आ. बादरवर्गेण

शरीरपञ्चकैर्वाचा मनसा च तथा पुनः । प्राणापानकजीवानां[1] पुद्गलोपकृतिर्मता ॥ ५९
अथ कार्मणदेहस्य पुद्गलत्वमसङ्गतम् । अनाकारत्वतस्तस्य साकारत्वेन निर्णयात् ॥ ६०
तन्न युक्तं विपाकेन मूर्तिमत्त्वस्य साधनात् । विपाकः सर्वभावेषु मूर्तेष्वेव विलोक्यते ॥ ६१
उदकादिकसम्बन्धाद्व्रीह्यादेः परिपाकतः । तथा पुद्गलता सिद्धा तेषां कर्मण्यबाधिता ॥ ६२
स्वाद्वम्लकटुलावण्यस्रग्वनितादियोगतः । कण्टकाद्यस्त्रसंयोगात्तद्विपाकोऽपि दृश्यते ॥ ६३
तस्मात्तत्पच्यमानत्वात्कर्म पौद्गलिकं मतम् । अन्यद्रव्यस्य सम्बन्धे व्रीह्यादिवदनेकधा ॥ ६४
मनोवाक्पुद्गलत्वं च पूर्वमेव निवेदितम् । प्राणापानस्वरूपं तु किञ्चिदत्र निगद्यते ॥ ६५

(पुद्गलके उपकारका वर्णन ।)– औदारिकादिक पांच शरीर, वचन, मन, श्वास और उच्छ्वास इनकेद्वारा पुद्गल जीवके ऊपर उपकार करता है । यहां शिष्यने शंका की है– कार्मणदेहको आप पुद्गल मानते हैं यह असंगत है । क्योंकि वह अनाकार है–आकाररहित है, जो आकाररहित है उससे उपकार होना शक्य नहीं है । उपकारके लिये साकारत्वकी आवश्यकता है । आचार्य खुलासा करते हैं– यह आपका कहना योग्य नहीं है । कार्मणशरीरका विपाक होता है, उसका उदय होकर नया कर्म बंध–जाना आदि फल मिलता है इससे वह मूर्तिमान् है ऐसा सिद्ध होता है । कार्मणशरीरका उदय मूर्तिमान् पदार्थके संबंधसे होता है और वह उसके संबंधसे सुखदुःखादि फल देता है । सर्व अवस्थामें जो कर्मविपाक होता है, वह मूर्तिक होनेसेही होता है । जैसे जलादिकका संबंध होनेसे शालि आदिक धान्य पक जाता है वैसे विष कण्टकादिकोंका संबंध होनेसे कार्मणशरीर विपाकयुक्त होकर सुखदुःखरूप फल देता है । नये रागद्वेषादिक विकार उत्पन्न करता है; जिससे नया कर्म बंध जाते हैं ॥ ५९–६१ ॥

जल, हवा आदिके संयोगसे व्रीहि आदिक धान्य परिपक्व होता है अर्थात् जलादिक मूर्तिक पदार्थोंका संयोग होनेसे व्रीह्यादि बीज अंकुररूप होकर उससे व्रीह्यादि फलनिष्पत्ति होती है । तद्वत् कार्मणशरीरमें अबाधित ऐसा पुद्गलपना सिद्ध होता है । मिष्ट, अम्ल, कडु, क्षार आदि पदार्थ पुष्पमाला, स्त्री आदिकोंका संयोग होनेसे तथा कण्टक, शस्त्रादिकोंका संयोग होनेसे कर्मकाभी सुख दुःख रूप फल देने रूप विपाक दिखता है । इसलिये कर्म अनाकार होनेसे पुद्गल नहीं, इत्यादिक कहना अयुक्त है ॥ ६२–६४ ॥

मन और वचन ये पुद्गल है ऐसा पूर्वमेव कह चुके हैं । प्राण और अपानके स्वरूपके विषयमें यहाँ कुछ कहते हैं ॥ ६५ ॥

---

१ प्राणापानैश्च

क्षयोपशमतो ज्ञानावृतिवीर्यान्तराययोः । आत्मनोदस्यमानस्तु प्राणः कोष्ठ्यः समीरणः ॥ ६६
आत्मनाभ्यन्तरे यस्तु बाह्यो वायुर्विधीयते । निश्वासलक्षणः सोऽयमपान इति कथ्यते ॥ ६७
समानोदानसद्व्याना अभिन्नाः सन्ति वायवः । स्वरूपमनयोरेव तेषां समवतिष्ठते ॥ ६८
तेषामपि मनःप्राणापानादीनां हि मूर्तता । सप्रतीघाततः सिद्धा हन्त हन्तुं न शक्यते ॥ ६९
सुरामूर्च्छादिभिस्तस्य मनसो भयहेतुभिः । दृश्यते सप्रतीघातस्ततः पौद्गलिकं मनः ॥ ७०
सत्प्राणापानयोर्बाधाः श्लेष्महस्ततलादिभिः । व्याघातो दृश्यते तस्मान्मूर्तित्वमनयोर्ध्रुवम् ॥ ७१
अत एवात्मनः सिद्धिस्तत्कर्मापेक्षया मता । यथा यन्त्रमये रूपे चेष्टा पुरुषहेतुका ॥ ७२
आभिमानिकसत्सौख्यं जीवितं मरणं तथा । दुःखं वा जीवतत्त्वस्य पुद्गलेभ्यः प्रजायते ॥ ७३

(प्राणापनका स्वरूप ।)– ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामके उदयकी अपेक्षासे आत्माके द्वारा बाहर जो निकाला जाता है ऐसे कोठेके वायुको प्राण कहते हैं। इसका दूसरा नाम उच्छ्वास है। बाहरका वायु आत्माके द्वारा अभ्यन्तरमें ग्रहण किया जाता है उसको अपान कहते हैं, इसको निश्वासभी कहते हैं। समान, उदान, व्यान आदि जो वायु हैं, वे प्राण और अपानसे अभिन्न हैं अर्थात् समानादिकभी वायुही हैं। प्राण और अपानका जो स्वरूप है वही स्वरूप समानादिकोंकाभी है। स्थानभेदसे एकही वायु भिन्न भिन्न भिन्न नामधारक है ॥ ६६–६८ ॥

मन, प्राण और अपानादिकभी मूर्तिक हैं क्योंकि ये प्रतिघातसहित हैं। इनकी मूर्तिकता अबाधित है। स्पष्टीकरण– भयके कारण वज्रपात इत्यादिकसे मनको आघात पहुंचता है। मद्यपानादिकसे मनका अभिभव होता है। वह विचारशून्य बनता है। इसलिये मन पौद्गलिक है। हाथसे मुख दबानेसे उच्छ्वासनिःश्वासका घात होता है। जब श्लेष्मा बढता है तब उच्छ्वास निःश्वासमें बाधा आती है। प्राणापानादिकके सद्भावसे क्रियावान् आत्माकी सिद्धि होती है। जैसे यंत्रमय प्रतिमाकी-कठपुतलीकी जो चेष्टा होती है वह किसी नचानेवाले पुरुषसे होती है। बिना उसके वह यंत्रप्रतिमा चेष्टा नहीं करती। वैसे प्राणापानादिककी क्रियाकी अपेक्षासे आत्माकी सिद्धि होती है ॥ ६९–७२ ॥

(पुद्गलके और भी उपकार।)– अन्तरंग कारण सद्वदनीय कर्मका उदय होनेपर तथा स्त्री पुष्पमालादिक बाह्य कारण प्राप्त होनेपर जीवके अन्तःकरणमें जो प्रसन्नता-प्रीति उत्पन्न होती है, उसे सुख कहते हैं। इस प्रीतिसे मैं सुखी हूं ऐसा अभिमान जीवमें उत्पन्न होता है। भवधारणका कारण आयुकर्म है। उसके उदयसे जीवको भवस्थिति प्राप्त होती है। और प्राण अपानका सद्भाव रहता है इसकोही जीवित कहते हैं। भवधारणका कारणरूप आयुकर्म जब अनुभव देकर समाप्त होता है तब प्राणअपानका सद्भाव नहीं रहता है अर्थात् जीवनक्रियाका उच्छेद होता है। इसको मरण कहते हैं। अन्तरंग कारण असद्वेद्यका उदय और बाह्यकारण विष, कण्टक, शत्रु आदिक

जीवस्याजीवद्रव्याणामुपकारो निवेदितः । जीवे जीवोपकारस्तु कीदृशोऽसौ निगद्यते ॥ ७४
परस्परोपकारस्तु जीवानामुदितो जिनैः । स्वामी भृत्यस्तथाचार्यः शिष्य इत्येवमादिकः ॥ ७५
अजीवद्रव्यनिर्देशोऽप्युद्देशेन निवेदितः । अन्यैरन्यत्र सिद्धान्ते ज्ञातव्यः सूत्रवेदिभिः ॥ ७६
इदानीमास्रवं किञ्चित्स्वरूपादवबुध्यते । समासाद्वच्मि भव्यानामुपकाराय चात्मनः ॥ ७७
यस्तु वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमतो भवेत् । कायवाङ्मानसापेक्षो व्यापारो ह्यात्मनश्च सः ॥ ७८
आस्रवोऽभाणि सूत्रज्ञैः कर्मास्रवनिमित्ततः । यथा सरसि तोयस्यास्रवणद्वारमात्मनः ॥ ७९
शुभाशुभभवाद्भेदात्कर्म द्वेधा व्यवस्थितम् । शुभः शुभस्य विज्ञेयोऽशुभस्याशुभ एव सः ॥ ८०

प्राप्त होनेपर जो अप्रीतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे दुःख कहते हैं। ये अजीव द्रव्यके जीवपर उपकार बतलायें हैं। अब जीवके ऊपर जीवका उपकार कैसा होता हैं ? इसका उत्तर दिया जाता है ॥ ७३ ॥

(जीवके ऊपर जीवका उपकार।)– जिनेश्वरोंनें जीवोंका अन्योन्य उपकार कहा है। वह उपकार स्वामी और नोकरसंबंधी आचार्य और शिष्यसंबंधी इत्यादि अनेक रूपका होता है। मालिक नोकरको धन देकर उपकार करता है। नोकरभी हितकार्य करना, अहितकार्यसे मालिकको दूर रखना इत्यादि रूपसे मालिकपर उपकार करता है। आचार्य इहलोकमें और परलोकमें सदाचार दुराचारसे भला बुरा फल मिलता है ऐसा उपदेश देकर शिष्यके ऊपर उपकार करते है; तथा शिष्यभी उनके अनुकूल चलते हैं यह शिष्योंका आचार्यके ऊपर उपकार है ॥७४–७५॥

हमने यहां अजीव द्रव्यका नाममात्र कथन किया है अन्य सूत्रज्ञ विद्वानोंको अन्य सिद्धान्त ग्रंथोंसे इसका स्वरूप जानना योग्य है ॥ ७६ ॥

(आस्रवतत्त्वकथनकी प्रतिज्ञा।)– अब आस्रवतत्त्वका कुछ स्वरूप, जो कि मैं जानता हूं, संक्षेपसे भव्योंके उपकारके लिये और मेरे उपकारके लिये कहता हूं ॥ ७७ ॥

(आस्रवका लक्षण।)– वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे शरीर, वचन और मनकी अपेक्षा लेकर जो आत्माकी चेष्टा होती है, उसे सूत्रके ज्ञाताओंने कर्मास्रवोंका निमित्त होनेसे आस्रव कहा है। जैसे सरोवरमें पानी आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं, वैसे आत्मामें कर्मागमनके कारण ऐसी जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति उसे आस्रव कहते हैं ॥ ७८–७९ ॥

स्पष्टीकरण– वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे औदारिकादि सात प्रकारकी वर्गणाओमेंसे किसी एक वर्गणाके साहाय्यसे जो आत्मप्रदेशमें चंचलता उत्पन्न होती है उसे काययोग कहते हैं।

वचनयोग – शरीरनामकर्मके उदयसे आई हुई वचनवर्गणाओंका आलंबन प्राप्त होने-पर वीर्यान्तराय तथा मत्यक्षराद्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्मामें बोलनेकी लब्धि - शक्ति प्राप्त होती है, जिससे आत्मा जब बोलनेकी चेष्टा करता है तब उसके प्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न होती है, उसे वचनयोग कहते हैं।

प्राणातिपातनादत्तादानमैथुनसेवनात् । अशुभः काययोगोऽयं कथितो मुनिपुङ्गवैः ॥ ८१
असत्याद्यशुभोऽभाणि वाग्योगो गतिनायकैः । अशुभस्तु मनोयोगो वधेर्ष्यान्यचिन्तनादितः[1] ॥ ८२
तस्मादन्यस्त्रिधाप्येष शुभोऽवाचि विचक्षणैः । आत्मनस्तु तथाभूतस्वभावैर्विनिवर्तते[2] ॥ ८३
संसारहेतुः[3] कोपादिः सकषायस्य सूरिभिः । इतरश्चाकषायस्य[4] कषायस्तेन वर्ज्यते ॥ ८४

मनोयोग–अभ्यन्तर वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे तथा नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे मनोलब्धि प्राप्त होती है, और बाह्य कारणरूप मनोवर्गणाका आगमनभी होता हैं। तब मनकी परणतिके सम्मुख हुए आत्माके प्रदेशोंमें चंचलता होती है, उसे मनोयोग कहते हैं।

(शुभयोग और अशुभयोग।) – शुभपरिणामोंसे उत्पन्न होनेवाली मन, वचन और शरीरकी चेष्टासे आत्मामें शुभ कर्मका आगमन होता है और अशुभपरिणामोंसे उत्पन्न होनेवाली मन, वचन और शरीरकी चेष्टासे अशुभ कर्मका आगमन होता है। इस प्रकारसे कर्मके शभकर्म और अशुभकर्म ऐसे दो भेद होते हैं। शुभयोग शुभास्रवका–पुण्यास्रवका कारण है, और अशुभयोग अशुभास्रवका–पापका कारण है ऐसा समझना चाहिये ॥ ८० ॥

प्राणिहिंसा करना, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करना, मैथुनसेवन करना ऐसे अकार्यको मुनिश्रेष्ठ अशुभकाययोग कहते हैं। असत्य भाषण करना, निन्दा करना, द्वेषवचन बोलना यह अशुभ वचनयोग है, ऐसा पंचमगतिके नायक जिनेश्वर कहते हैं। किसीके वधका विचार करना, ईर्ष्या करना, परगुणोंको सहन न करना इत्यादिसे अशुभ मनोयोग होता है, और इन अशुभ मन वचन काययोगोंसे उलटे स्वरूपको धारण करनेवाले शुभ मन वचन और शुभकाययोग ऐसे तीन शुभयोग हैं। परोपकार करना, देवपूजा करना इत्यादि शुभ काययोग हैं। सत्यभाषण करना, धर्मोपदेश देना शुभ वचनयोग है और किसीको जिलानेका विचार करना, गुणोंका मनसे आदर करना आदि शुभ मनोयोग है, ऐसा चतुर पुरुष कहते हैं। ये शुभयोग वैसे शुभ परिणामोंसे उत्पन्न होते हैं ॥ ८१–८३ ॥

(आस्रवके भेद।) – क्रोध, मान, माया और लोभसे उत्पन्न हुए आस्रवको–कर्मागमनको सांपरायिक आस्रव कहते हैं। सांपरायका अर्थ संसार है। संसार जिसका प्रयोजन है, ऐसे आस्रवको सांपरायिक आस्रव कहते हैं। यह आस्रव कषायवाले जीवको होता है और ईर्यापथआस्रव अकषाय जीव–कषायरहित जीवको होता है। इसलिये आचार्य कषायोंका त्याग करते हैं जिससे सांपराय आस्रव उनको होते नहीं ॥ ८४ ॥

१ आ. चिन्तया मतः　२ आ. अभिवर्तिनः　३ आ. संसारहेतुकोऽवादि　४ आ. इतरस्त्वकषायस्य

स चतुर्धा मतः क्रोधलोभमायादिमानतः[1]। कषाय इव जीवानां कर्मरागैकहेतुकः ॥ ८५
संज्वलनस्तथान्यश्च प्रत्याख्यानः स इष्यते। अप्रत्याख्यान इत्येवं तथानन्तानुबन्धिकः ॥ ८६
प्रत्येकमिति चत्वारो भेदाः क्रोधादिना मताः। सर्वे सम्मिलिताः सन्ति षोडशैतेऽतिदुर्धराः ॥ ८७
संज्वलनोऽथ[2] क्षणध्वंसी विलास[3] इव विद्युताम्। यः प्रत्याख्यायते कालात्स प्रत्याख्यान ईरितः ॥८८
कियत्कालेन यो याति विनाशं स्वत एव हि। अप्रत्याख्याननामानं तमाहुर्गणनायकाः ॥ ८९
अनन्तसंसृतेर्हेतोः कर्मबन्धैकहेतुकः। यश्चानन्तानुबन्ध्याख्यः[4] कषायः स निगद्यते ॥ ९०
कषायास्रव इत्थं यश्चतुर्द्धा गदितो जिनैः। वर्जयन्ति त्रिधाप्येनं भव्याः संसारभीरवः ॥ ९१

स्पष्टीकरण – सांपरायिक आस्रव कषायसहित जीवोंके होते हैं और वे दसवे गुणस्थानतकके जीवोंको होते हैं। ग्यारहवे गुणस्थानमें कषायोंका उपशम होता है तथा बारहवे आदिक गुणस्थानोंमें जीवोंके कषाय पूर्ण नष्ट हुए हैं; अतः उन गुणस्थानवर्ती जीवोंको ईर्यापथ आस्रव होते हैं। ईर्याशब्दका अर्थ योग होता है, और पथ शब्दका अर्थ मार्ग-द्वार ऐसा होता है। अर्थात् केवल योगके द्वारा कर्मागमन जिससे होता है ऐसे आस्रवको इर्यापथास्राव कहना चाहिये। इर्यापथास्रव संसार-परिभ्रमणका कारण नहीं है; क्योंकि उससे जो कर्म आता है वह प्रकृतिबंधसे और प्रदेशबंधसे युक्त होता है। तथा सांपरायिकास्रव स्थितिबंध और अनुभागबंधको उत्पन्न करनेवाला होता है।

(कषायकी निरुक्ति भेद और स्वरूप।) – वह कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे भेदसे चार प्रकारका है। जैसे कषाय– अर्थात् वटवृक्षकी छाल, हर्रे और बेहडाके कषाय रससे धोये वस्त्रपर रंग जम जाता है, वैसे ये क्रोधादि कषाय कर्मरूपी रंगको जमानेमें कारण होते है। अतः क्रोधादिकोंका कषाय यह नाम अन्वर्थक है। कषायोंके संज्वलन, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और अनंतानुबंधी ऐसे चार भेद हैं और प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं। मिलकर सर्व भेद सोलह होते हैं। ये भेद अतिशय दुर्धर हैं; क्योंकि इनसे आत्मा अलग होना महाकठिन कार्य है ॥ ८५–८७ ॥

संज्वलन कषाय जल्दी नष्ट होता है जैसे विद्युत्का प्रकाश क्षणके अनंतर नष्ट होता है। सं–सम्यक् शीघ्र ज्वलन–जलनेवाला–नष्ट होनेवाला ऐसी संज्वलन शब्दकी निरुक्ति हैं। प्रत्याख्यान-जो कषाय कालसे त्यागा जाता है उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। कुछ परिमित कालसे जो स्वयं नष्ट होता है उसे गणनायक–गणधर अप्रत्याख्यान कषाय कहते है। अनंत संसारका जो हेतु है तथा जो कर्मबंधका मिथ्यात्वके समान मुख्य हेतु है ऐसे कषायको अनंतानुबंधी कहते हैं। इस प्रकारसे जो कषायास्रव चार प्रकारका जिनेन्द्रोंने कहा है, संसारसे डरनेवाले भव्य जीव उसे मन वचन और शरीरसेभी छोडते हैं ॥ ८८–९१ ॥

---

१ आः मायाभिमानतः २ आ. संज्वलनः क्षणध्वंसी ३ आ. विस्फार ४ आ. यस्त्वनन्तानु

पञ्चेन्द्रियवशात्कर्म यदास्रवति दुर्धरम्[1]। स चेन्द्रियास्रवोऽभाणि पञ्चधा परमेश्वरैः ॥ ९२
क्रियास्रवस्तु विज्ञेयः पञ्चविंशतिसंख्यकः। जिनागमपयोऽम्भोधिपारगैः कथितो बुधैः ॥ ९३
चैत्यानां सुगुरूणां च सिद्धान्तस्यापि शक्तितः। पूजादिलक्षणाभाणि क्रिया सम्यक्त्ववर्धिनी ॥९४
कुलिङ्गदेवपाखण्डचारित्रस्तवनादिका। या क्रिया क्रियते विद्भिर्मता मिथ्यात्ववर्धिनी ॥ ९५
शुभाशुभनिमित्तैकगतप्रत्यागतक्रिया। प्रायोगिकी मता प्राज्ञैः प्रगताशेषकल्मषैः ॥ ९६
संयतस्य सतो यच्चाविरतिं प्रतिवर्तना। आभिमुख्येन सावादि समादानक्रिया बुधैः ॥ ९७
ईयापथविशुद्ध्यर्थं प्रवृत्तिर्या विधीयते। तामीर्यापथिकामाहुः क्रियां शश्वत्क्रियाविदः ॥ ९८
क्रोधावेशात्प्रवृत्तिर्या यत्र तत्राविचारतः। प्रादोषिकीं क्रियां दक्षाः कथयन्त्यतिदुःखदाम् ॥ ९९

(इन्द्रियास्रवके भेद।)– पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें लुब्ध होनेसे दुर्धर कर्म जीवमें आता है उसे इन्द्रियास्रव कहते हैं। इसके जिनेश्वरने पांच भेद कहे हैं। स्पर्शनेन्द्रियके वश होकर जो कर्मास्रव होता है उसे स्पर्शनेन्द्रियास्रव कहते हैं। इसी तरह रसनेन्द्रियास्रव, घ्राणेन्द्रियास्रव, चक्षुरिन्द्रियास्रव और श्रोत्रेन्द्रियास्रव ऐसे इन्द्रियास्रवके पांच भेद हैं ॥ ९२ ॥

(क्रियास्रवके पच्चीस भेद।)– जिनागमरूप समुद्रके दूसरे किनारेको पहुंचे हुए विद्वानोंने क्रियास्रवके पच्चीस भेद कहे हैं ॥ ९३ ॥

(सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया।)– जिनप्रतिमा, निर्ग्रन्थगुरु और जिनागमकी यथाशक्ति पूजा, आदर, भक्ति, विनय आदि करना सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया कही गई है ॥ ९४ ॥

(मिथ्यात्ववर्द्धिनी।)– मिथ्यात्वी साधु, हरिहरादिक मिथ्यादेव और पाखण्डियोंके चारित्रकी जो स्तुति – प्रशंसा आदि की जाती है उसे विद्वान् मिथ्यात्ववर्धिनी क्रिया कहते हैं ॥ ९५ ॥

(प्रायोगिकी क्रिया।)– शुभ और अशुभ कार्योंके निमित्त जो शरीरादिसे और वाहनोंसे जाना आना आदि क्रिया की जाती है उसे जिनका समस्त पाप नष्ट हुआ है ऐसे विद्वानोंने प्रायोगिकी क्रिया कहा है ॥ ९६ ॥

(समादान क्रिया।)– संयत अर्थात् मुनिका मुख्यतासे अविरतिके प्रति झुक जाना समादान क्रिया है ऐसा विद्वानोंने कहा है ॥ ९७ ॥

(ईयापथिका क्रिया।)– ईर्यापथकी विशुद्धताके लिये जो क्रिया की जाती है, उसे नित्यक्रियाके स्वरूपके ज्ञाता – ईर्यापथक्रिया कहते हैं। अर्थात् सूर्योदय होनेपर चार हाथ जमीन देखकर सावधानतासे गमन करना ईर्यापथ क्रिया है ॥ ९८ ॥

(प्रादोषिकी क्रिया।)– क्रोधके आवेशसे किसीभी कार्यमें विचार किये बिना जो प्रवृत्ति होती है उसे चतुर लोग अतिशय दुःख देनेवाली प्रादोषिकी क्रिया कहते हैं ॥ ९९ ॥

१ आ. दुर्धरः

प्रदुष्टस्य सतः कश्चिदत्युद्यमविधिर्महान्[1]। यत्र विज्ञायते निन्द्या क्रिया कायभवा हि सा ॥१००
हिंसोपकरणादानकारिणीं भवधारिणीम् । क्रियामाहुः क्रियावन्तस्तामाधिकरणीमिह ॥ १०१
यस्यां हि क्रियमाणायां दुःखोत्पत्तिः प्रजायते। जीवानां मुनिभिर्गीता सा क्रिया पारितापिकी ॥१०२
प्रमत्तयोगतः सर्वप्राणानां व्यपरोपणम् । यथा विधीयते सेयं क्रिया प्राणातिपातिकी ॥ १०३
रामारम्यैकरूपादिविलोकनपरा मतिः । यत्र तामिह गायन्ति प्रदुष्टां दर्शनक्रियाम् ॥ १०४
प्रमादैकवशाद्यस्याः स्पर्शनीयस्य वस्तुनः । स्पर्शे चिन्तानुबन्धः स्यात्सा हि संस्पर्शनक्रिया ॥ १०५
आधारादेरपूर्वस्योत्पादात्प्रात्ययिकी मता । क्रिया क्रियावतां मान्यैर्मुनिभिर्मलवर्जितैः ॥ १०६
स्त्रीपुरुषादिसम्पातिदेशे मलविसर्जनम् । क्रियते सा क्रियाभाणि समन्तादनुपातिनी ॥ १०७
अमृष्टादृष्टभूमौ यत्कायादीनां निवेशनम् । विधीयते क्रिया सैषा प्रोक्तानाभोगिता जिनैः ॥ १०८

(कायिकी क्रिया ।)– किसी कार्यमें लोभादिके वश होकर शरीरसे महान् उद्यम करना वह निन्द्य कायिकी क्रिया समझनी चाहिये ॥ १०० ॥

(आधिकरणिकी क्रिया)– हिंसाके उपकरणभूत शस्त्रादिग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है । यह क्रिया संसारको धारण करनेवाली है ऐसा क्रियावान्चारित्र पालनेवाले मुनिराज कहते हैं ॥ १०१ ॥

(पारितापिकी क्रिया)– जो क्रिया करनेसे जीवोंको दुःख उत्पन्न होता है उस क्रियाको मुनियोंने पारितापिकी क्रिया कहा है ॥ १०२ ॥

(प्राणातिपातिकी क्रिया)– आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण – श्वासोच्छवास ऐसे प्राणोंका वियोग करनेका यह कार्य जिससे होता है वह प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं ॥१०३॥

(दर्शनक्रिया)– जिस क्रियामें स्त्रियोंका रमणीयरूप उनके सुंदर अंग, हावभाव देखनेमें बुद्धि तत्पर हो जाती है ऐसी दुष्ट क्रियाको मुनि दर्शनक्रिया कहते है ॥ १०४ ॥

(स्पर्शनक्रिया)– रागभावसे युक्त होकर और प्रमादी बनकर स्पर्शयोग्य वस्तुको स्पर्श करनेका सतत मनमें चिन्तन होना स्पर्शनक्रिया है ॥ १०५ ॥

(प्रात्ययिकी क्रिया ।)– अपूर्व ऐसे अधिकरण– पदार्थ उत्पन्न करना वह प्रात्ययिकी क्रिया है ऐसा दोषरहित मान्य मुनि कहते हैं ॥ १०६ ॥

(समन्तानुपातिनी क्रिया ।)– जहां स्त्रीपुरुष आते जाते हैं ऐसे स्थानमें मलविसर्जन करना ऐसी क्रियाका नाम समन्तानुपातिनी है ॥ १०७ ॥

(अनाभोगक्रिया।)– जो जमीन झाडकर स्वच्छ नहीं की है, तथा जो आखोंसे सम्यक् नहीं देखी है ऐसी भूमिपर शरीरसे बैठना, सोना, हाथ पाँव फैलाना वह अनाभोगिता क्रिया हैं ॥१०८॥

१ आ. अभ्युद्यमः

परेणाङ्गीकृतां तावदङ्गीकृत्य करोति यः । क्रियां तामिह भाषन्ते स्वहस्तविनिर्वर्तिताम्[1] ॥१०९
पापादानप्रवृत्तेर्यदभ्यनुज्ञा विधीयते । निसर्गाख्यां क्रियामाहुर्मुनयोऽनयनिर्गताः ॥ ११०
परेण विहितछन्नसावद्यादिप्रकाशनम् । विदारणक्रिया दुष्टा कुर्वतां तत्प्रजायते ॥ १११
आज्ञाव्यापादिकीमाहुः क्रियां सच्चरणादिषु[2] । स्वयं कर्तुमशक्तो यो योजनं कुरुतेऽन्यथा ॥११२
शाठ्यालस्यवशे जीवे ह्यागमोद्दिष्टसद्विधेः । कर्तव्योऽनादरः सैषानादरादिक्रियाधमा ॥ ११३
छेदभेदादिदुःकर्मपरत्वं परतोऽपि वा । प्रारम्भे तस्य यो हर्षः सा प्रारम्भक्रिया मता ॥ ११४
परिग्रहाविनाशार्था सा पारिग्राहिकी क्रिया । ज्ञानदर्शनचारित्रनिन्दां[3] मायाक्रियां विदुः ॥११५
मिथ्यादर्शनविज्ञानक्रियाकरणकारणे तदाविष्टे प्रशंसा या सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥ ११६

(स्वहस्तक्रिया ।)– दूसरेसे करने योग्य क्रियाका स्वयं आचरण करना उसको विद्वान् स्वहस्तविनिवर्तन क्रिया कहते हैं ॥ १०९ ॥

(निसर्गक्रिया ।)– जिससे पापका आस्रव होता है, ऐसी क्रिया करनेके लिये सम्मति देना उसे मुनि, जोकि कुनयसे दूर हुए हैं, वे निसर्गक्रिया कहते हैं ॥ ११० ॥

(विदारणक्रिया ।)– दूसरे स्त्रीपुरुषोंने जो कुछ गुप्त पापादि किये होंगे उनको प्रकाशित करना विदारण क्रिया है। उसे प्रकाशित करनेवालोंसे यह क्रिया होती है ॥ १११ ॥

(आज्ञाव्यापादिकी क्रिया ।)– जमीनपर बैठना, चलना इत्यादि कार्योंके विषयमें जो आगमाज्ञा है, उसके अनुसार स्वयं चलनेमें असमर्थ है और दूसरोंको जो आगमाज्ञाविरुद्ध चलनादि क्रियाओंमें प्रवृत्त करता है उसकी वह प्रवृत्ति अज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ॥ ११२ ॥

(अनादर क्रिया।)– जो जीव सदा आलसी है, वह आगममें कही गई शुभक्रियाओंके कर्तव्यमें अनादर करता है । उसकी यह अधम अनादर क्रिया है ॥ ११३ ॥

(प्रारम्भक्रिया ।)– छेदनभेदनादि दुष्कर्म करनेमें स्वयं तत्पर रहना और दूसरे यदि ऐसी क्रिया करते हैं तो उसमें हर्ष मानना वह प्रारंभ क्रिया मानी गई है ॥ ११४ ॥

(पारिग्राहिकीक्रिया और मायाक्रिया ।)– अपने परिग्रहोंका नाश न होवें एतदर्थ जो संरक्षणादिमें तत्पर रहना वह पारिग्राहिकी क्रिया है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रकी निन्दा करना मायाक्रिया है ॥ ११५ ॥

(मिथ्यादर्शन क्रिया ।)– मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें स्वयं तत्पर होना और दूसरोंको तत्पर कराना, जो इनमें प्रविष्ट है उसकी प्रशंसा करना यह मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥ ११६ ॥

---

१ विनिर्वर्तितम्　२ आ. तच्चरणादिकम्　३ आ. निन्दा

उदयात्कर्मणो निन्द्यात्संयमस्य विघातिनः । या निवृत्तिर्भवत्यस्य सा प्रत्याख्यानकी[1] क्रिया ॥ ११७
पञ्चविंशतिसङ्ख्याकः क्रियास्रव इहेरितः । कर्मास्रवत्यनेनेति व्युत्पत्तेः पूर्वसूरिभिः ॥ ११८
आस्रवस्य विशेषोऽपि प्राणिनां जायते महान् । भावैस्तीव्रैस्तथा मन्दैस्तद्विशेषैरनेकधा ॥ ११९
ज्ञाताज्ञातैस्तथा वीर्यभावादिभिरयं[2] पुनः । आस्रवस्य विशेषोऽस्ति तारतम्यविशेषतः[3] ॥ १२०
बाह्याभ्यन्तरहेतुभ्यस्तत्कालुष्यमिवाम्भसि । आत्मन्युद्रेकबाहुल्यं तीव्रो भावो निगद्यते ॥ १२१
विपरीतो मतो मन्दो मन्दधर्मास्रवोऽपि[4] सः । तद्विशेषस्तु विज्ञेयस्तारतम्येन तत्परः ॥ १२२
अयं प्राणी निहन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवर्तनम् । ज्ञातभावोऽत्र जीवानां महास्रवनिबन्धनम्[5] ॥ १२३
यत्प्रमादवशाज्जीवो दुष्टाचारेषु[6] वर्तते[7] । अविज्ञातेषु सर्वेषु तमज्ञातं जगुर्बुधाः ॥ १२४

(प्रत्याख्यान क्रिया ।)– संयमका घात करनेवाले निंद्य अशुभ कर्मका उदय आनेसे संयमसे मुनिका निवृत्त होना प्रत्याख्यान क्रिया है ॥ ११७ ॥

जिसकी संख्या पच्चीस है ऐसा क्रियास्रव मैंने यहां कहा है । ' इन क्रियाओंसे कर्मका आस्रव होता है; इसलिये इनको क्रियास्रव कहते हैं ' ऐसी पूर्वाचार्योंने क्रियास्रव शब्दकी व्युत्पत्ति की है ॥ ११८ ॥

(आस्रवविशेषका वर्णन।)– तीव्रभाव, मंदभाव और उसके विशेष तीव्रतर, तीव्रतम, मंदतर, मंदतम आदि भावोंसे महान् आस्रवविशेष होता है। वैसे ज्ञातभाव, अज्ञातभाव तथा वीर्य इत्यादि भावोंसे पुनः तारतम्यादि प्रकारोंसे आस्रवोंमें विशेषता उत्पन्न होती है ॥ ११९–१२० ॥

(तीव्रभाव तथा मंदभावका लक्षण ।)– बाह्यकारणोंसे और अन्तरंगकारणोंसे जो आत्मामें अर्थात् आत्माके परिणामोंमें उत्कटता होती है, जो उद्रेककी अतिशयता उत्पन्न होती है, उसे तीव्रभाव कहते हैं । जैसे पानीमें कलुषता उत्पन्न होती है । तथा इससे विपरीत ऐसी जो आत्मामें परिणति होती है उसे मन्द कहते हैं । इस मंदपरिणामसे मंद आस्रव आता है । इस तीव्रभाव और मंदभावके जो विशेष प्रकार उत्पन्न होते हैं वे तारतम्यसे मंदभाव और तीव्रभावके समझने चाहिये ॥ १२१–१२२ ॥

(ज्ञातभाव और अज्ञातभाव)– यह प्राणी मारना चाहिये ऐसा समझकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है और वह महास्रवका कारण है ॥ १२३ ॥

प्रमादके वश होकर असावधानता, आलस्य आदिसे जिनका स्वरूप नहीं मालूम है ऐसे दोषयुक्त सर्व आचरणोंमें जीवकी जो प्रवृत्ति होती है उसे विद्वान् लोग अज्ञातभाव कहते हैं ॥ १२४ ॥

१ आ. ख्यानिका　२ आ. धारा　३ तारतम्यादेकशः　४ आ. कर्मा　५ आ. निबन्धनः
६ आ. जीवे　७ आ. वर्तनम्

भावरूपाधिकरणो[1] जीवाजीवाश्रयो मतः । वीर्यभावस्वसामर्थ्यं[2] द्रव्यस्य गदितं बुधैः ॥ १२५
तद्विशेषास्रवं किञ्चिन्निगदामि यथागमम् । यदि जानामि[3] जीवानां परिहारविशुद्धये ॥ १२६
कर्ममात्रास्रवाश्चैते ये सन्ति बहुधा पुनः । तद्विशेषाश्च विज्ञेयाः परमागमतो बुधैः ॥ १२७
तत्त्वज्ञानस्य सन्मोक्षसाधनस्य निवेदने । अन्तःपैशून्यमन्यस्य प्रदोष इह निश्चितः ॥ १२८
कुतश्चित्कारणान्नास्ति न जानामीति यः पुनः । विज्ञानस्यापलापोऽन्यं प्रत्यपह्नव इष्यते ॥१२९
विभावितमपि ज्ञानं दानयोग्यमपि ध्रुवम् । पैशुन्याद्दीयते नैतत्तन्मात्सर्यमुदीरितम् ॥ १३०
पठने पाठने चापि ज्ञानविच्छेदकारिता । अन्तरायो मतो दुष्टो विशिष्टज्ञानशालिभिः ॥ १३१
कायेन वचसा वापि ज्ञानज्ञानवतोरिह । प्रकाशव्याहतौ प्रोक्तमासादनमनिन्दितैः ॥ १३२

(अधिकरण और वीर्य)– ऐसे भाव होनेमें जो आधारभूत वस्तु है वह जीवरूप और अजीवरूप है । उनको क्रमसे जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण कहते हैं । वस्तुका द्रव्यका जो स्वसामर्थ्य उसको बुद्धिमान् वीर्यभाव कहते हैं ॥ १२५ ॥

जीवोंके वधके त्यागमें विशुद्धताप्राप्ति होनेके लिये इनके विशेष आस्रवोंको मैं जिनागमके अनुसार कहता हूं ॥ १२६

संपूर्ण कर्मोंके जो नाना प्रकारके आस्रव हैं और उनके जो विशेष हैं वे विद्वानोंके द्वारा परमागमसे जानने योग्य हैं ॥ १२७ ॥

(ज्ञानदर्शनावरणोंके आस्रव ।)– १ प्रदोष–साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिमें साधनभूत ऐसे तत्त्वज्ञानका कोई पुरुष निवेदन कर रहा हो तो उसके विषयमें मनमें जो दुष्ट भाव उत्पन्न होना, उसकी प्रशंसा तो दूरही रही उलटा मनमें दुष्ट भाव धारण करना ऐसे दुष्ट भावको प्रदोष कहते हैं ॥ १२८ ॥

२ निह्नव – कोई शास्त्रकी कुछ बातें जाननेके लिये पूछता है तो बतानेवाला पुरुष किसी कारणसे मुझमें वह ज्ञान नहीं है, मैं नहीं जानता हूं ऐसा कह कर ज्ञानको छिपाता है ॥ १२९

३ मात्सर्य – खूब परिश्रम करके जो ज्ञान प्राप्ति कर लिया है, तथा जो निश्चयसे दूसरोंको देनेके योग्य है, ऐसाभी ज्ञान कुछ कारणोंसे नहीं देना वह मात्सर्य है ॥ १३० ॥

४ अन्तराय – विद्यार्थियोंके पढनेमें तथा गुरुजीके पढानेमें ज्ञानका विच्छेद करना यह अन्तराय दोष है, ऐसा विशिष्ट ज्ञानवालोंने माना है ॥ १३१ ॥

५ आसादन – ज्ञान और ज्ञानी इनको प्रकाशमें लानेके कार्यमें मनसे, वचनसे और शरीरसे व्याघात उत्पन्न करना आसादन हैं, ऐसा प्रशंसनीय जनोंनें–गणधरादिकोंने कहा है ॥ १३२ ॥

---

१ आ. भावस्त्वाधिकरण्योऽपि　२ आ. श्च　३ आ. यदि जानामि

प्रशस्तस्यापि बोधस्य बाधाविरहितस्य च । दूषणं हृत्युपघातोऽयं मतो मतिमतामिह ॥ १३३
प्रदोषादय इत्येवं ज्ञानावृतिनिबन्धनम्[1] । दर्शनावरणस्यापि भवन्ति भविनामिह ॥ १३४
तुल्येऽप्यत्र प्रदोषादौ कारणे न विरुद्ध्यते । ज्ञानावृतिदृगावृत्योः कार्यत्वं हि प्रदीपवत् ॥ १३५
ज्ञानस्य विषयाः स्युर्वा ज्ञानावृतिनिबन्धनम् । यथा[2] दृग्विषयाः सर्वे दृगावृतिनिबन्धनम् ॥ १३६
दुःखैकशोकसन्तापवधाक्रन्दनदेवनैः । स्वपरात्मोभयस्थैः स्यादसद्वेद्यं नृणामिह ॥ १३७

---

६ उपघात – जो ज्ञान प्रशंसनीय है और बाधारहित निर्दोष है उसकाभी नाश करनेका विचार रखकर उसको दूषण लगाना उसे मतिमान् लोक उपघात कहते हैं ॥ १३३ ॥

ये प्रदोषादिक, जो कि संसारी प्राणियोंको ज्ञानावरण कर्मके आस्रवमें कारण हैं, वेही दर्शनावरण कर्मके आस्रवमेंभी कारण हैं ॥ १३४ ॥

ये प्रदोष निह्नवादि कारण समान होनेपरभी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवरूपी कार्य होना विरुद्ध नहीं है; क्योंकि एक कारणसे अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। जैसे एक प्रदीपसे प्रकाश मिलता है, अंधकारका नाश होता है, भय दूर होता है। उसके साहाय्यसे अध्ययन किया जाता है। ऐसे अनेक कार्य एक प्रदीपरूप कारणसे होते हैं वैसे प्रदोषादिक अनेक – ज्ञान और दर्शनके आवरणोंके आस्रवमें कारण होते हैं ॥ १३५ ॥

अथवा जब ये प्रदोषादिक ज्ञानके विषयमें होते हैं तब ज्ञानावरणके कारण होते हैं और जब दर्शन विषयके होते हैं तब दर्शनावरणके कारण होते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १३६ ॥

(असद्वेद्य कर्मके आस्रवके कारण।)– दुःख:शोक, सन्ताप, वध, आक्रन्दन और देवन अपनेमें, दूसरोंमें और दोनोंमें करना मनुष्योंको यहां असद्वेदनीयकर्मके आस्रवके कारण होते हैं।

१ दुःख–पीडारूप परिणामको दुःख कहते हैं।

२ शोक– जिसने अपने ऊपर उपकार किया था उस व्यक्तिका वियोग होनेपर जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे शोक कहते हैं।

३ संताप– किसीने अपनी निंदा की, किसीने मानभंग किया, किसीके कर्कश वचन सुने ऐसे कारणोंसे चित्त कलुषित होनेसे जो पश्चात्ताप-खेद होता है उसे संताप कहते हैं।

४ आक्रंदन– बहुत संतापसे अश्रुपात होना, प्रचुर विलाप होना इत्यादिकोंसे रुदन करना आक्रंदन हैं।

५ वध, आयुष्य, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वासका वियोग करना वध है।

---

१ आ. निबन्धनाः　२ आ. तथा

दानसंयमसच्छौचक्षान्तियोगानवक्रता । भूतव्रत्यनुकम्पा च सर्वे सद्वेद्यकारणम् ॥ १३८
केवलिश्रुतसङ्घानां देवे धर्मे तथा पुनः । जायतेऽवर्णवादेन कर्म दर्शनमोहकम् ॥ १३९
केवली कवलाहारं गृह्णात्येष तथा पुनः । नीहारं कुरुते पश्चाद्दोषः केवलिनो मतः ॥ १४०

६ परिदेवन – संक्लेशपरिणामोंसे गुणस्मरण और गुणवर्णनपूर्वक अपने ऊपर और अन्योंके ऊपर किया गया उपकार जिसका विषय है ऐसा दया उत्पन्न करनेवाला जो रोना उसे परिदेवन कहते हैं। अन्तरंगमें क्रोधादि आवेशसे युक्त होकर यदि ऐसे दुःखोंके प्रकार स्वपरोभयमें किये जाते हैं तो वे असद्वेद्य कर्मके आस्रवके निमित्त होते हैं। मुनि अथवा व्रतिक उपवासादिक शास्त्रविहित कर्म करते हैं परंतु उनमें संक्लेश परिणाम नहीं है संसारदुःखसे दूर होनेके लिये उनसे उपवासादिक किये जाते हैं, उनके करनेपर दुःख होता है तोभी संक्लेशपरिणाम न होनेसे असद्वेद्यकर्मास्रव उनके आत्मामें नहीं होते हैं। पापबंध नहीं होता है; प्रत्युत महान् पुण्यास्रव होते हैं ॥ १३७ ॥

(सद्वेद्यकर्मास्रवके कारण ।)– दान, संयम, शौच, क्षान्ति, योग, अवक्रता, भूतानुकम्पा, और व्रत्यनुकम्पा ये सब सद्वेद्यकर्मके कारण हैं।

दान – दूसरोंपर तथा अपने परभी अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे अपने धनका त्याग करना दान है।

संयम – प्राणियोंका रक्षण करनेकी प्रवृत्ति होना और इंद्रियोंको अशुभप्रवृत्तिसे रहित कर शुभ प्रवृत्तिमें लगाना।

सच्छौच– लोभका त्याग करना।

क्षान्ति– क्रोधादिकोंका त्याग। क्रोध, मान और मायाओंका त्याग।

योग– शुभध्यान।

अवक्रता– मनमें निष्कपट होना।

भूतानुकम्पा– कर्मोदयसे उन उन गतियोंमे उत्पन्न हुए प्राणियोंको भूत कहते है। उन भूतोंमें दया करना अर्थात् अनुग्रह करनेकी इच्छासे आर्द्रचित्त होकर दूसरोंको होनेवाली पीडा मानो स्वतःको हो रही है ऐसी भावना होना दया है।

व्रत्यनुकम्पा– अणुव्रत पालनेवाले गृहस्थ और महाव्रत धारण करनेवाले मुनिराज इनको व्रती कहते हैं। इनके ऊपर मन दयामुक्त होना ऐसी सर्व अच्छी प्रवृत्तियां जीवोंको सद्वेद्यकर्मास्रवके लिये कारण होती हैं। इन कार्योंसे जीव आगेके भवमें देवगतिमें तथा मनुष्यगतिमें नानाविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ १३८ ॥

(दर्शनमोहकर्मके आस्रवकारण ।)– केवली, श्रुत–जैनागम, संघ, इनमें दोष न होनेपरभी दोषारोपण करना केवल्यादिकोंका अवर्णवाद है। देव, धर्म – अहिंसात्मक धर्म, जो कि जैनागमका कहा हुआ है इनके ऊपर दोषारोपण करनेसे दर्शन–मोहकर्मके आस्रव उत्पन्न होते हैं।

सामान्यसंयतस्येहावर्णवादेन दुर्गतिं । यान्ति केवलिनस्तेन क्व ते लोका न वेद्म्यहम् ॥ १४१
मांसचर्मोदकादीनामनवद्यनिरूपणम् । शास्त्रे जैनेऽपि शास्त्रस्यावर्णवादः सतां मतः ॥ १४२
नग्नाश्चण्डाश्च बीभत्साः सर्वथा शुचिवर्जिताः । इत्याद्याभाषणं संघावर्णवादो विभाव्यते ॥१४३
आसुरोऽयं मतौ धर्मो जैनेन्द्रो निर्गुणस्तथा । इत्याद्याभाषणं धर्मावर्णवादोऽतिदुःसहः ॥ १४४
सुरामांसवधादीनामभावं निगदन्नयम् । तदेव[1] तस्य वर्णस्यावर्णवादो निगद्यते ॥ १४५
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते । चारित्रमोहनीयस्य स हेतुः कर्मणो मतः ॥ १४६
कषायोत्पादनं स्वस्य परस्य च तथा पुनः । क्लिष्टलिङ्गग्रहो वापि व्रतिनां व्रतदूषणम् ॥ १४७

केवली अवर्णवाद – जिनका ज्ञान आवरणरहित हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वर, सामान्य-केवली और गणधरकेवली ये कवलाहार करते हैं, तथा इनको नीहारभी है अर्थात् मलमूत्रभी है इनको रोग होता है, उपसर्ग होता है, वे नग्न होते हैं परन्तु वस्त्राभरणमंडित दीखते हैं इत्यादि ऐसे दोषोंका आरोपण करना केवली अवर्णवाद है। सामान्य मुनिके विषयमेंभी दोषारोपण करनेसे प्राणीको दुर्गतिकी प्राप्ति होती है फिर जो लोग केवलीके ऊपर उपर्युक्त झूठे आक्षेप करते हैं, उनको कौनसी दुर्गति प्राप्त होगी, मैं नहीं जानता ॥ १४१ ॥

श्रुतावर्णवाद – मांसभक्षण करना, चर्ममें रखा हुआ पानी पीना, मद्यपान करना, रात्रिभोजन करना, जलगालन नहीं करना, माता तथा बहनके साथ संभोग करना, कंदमूलभक्षण करना आदि पापोंकोभी जैनशास्त्र विधेय बतलाता है ऐसा जैनशास्त्रपरभी आक्षेप करना यह श्रुतावर्णवाद है ॥ १४२ ॥

संघावर्णवाद – रत्नत्रययुक्त मुनिसमूहको संघ कहते हैं उनके ऊपर इस प्रकारसे आक्षेप मिथ्यात्वी कहते है–ये जैनमुनि नग्न रहते हैं, अतिशय कोपी होते हैं और बीभत्स तथा अपवित्र रहते हैं, कलिकालमें ये उत्पन्न हुए हैं ऐसा आक्षेप करना संघावर्णवाद है ॥ १४३ ॥

धर्मावर्णवाद – यह जैनधर्म असुरोंका है, और गुणरहित है इत्यादि आक्षेप करना यह धर्मावर्णवाद अतिशय दुःखकारक है ॥ १४४ ॥

देवावर्णवाद – देव मदिरापान करते हैं, मांस सेवन करते हैं, यज्ञादिकमें आकर बली-ग्रहण करते हैं इत्यादि बातें देवोंका अवर्णवाद है। (श्रुतसागरी अध्याय छठा)

मदिरा, मांस, प्राणिवध आदिका अभाव कहनेवाला देव नहीं हो सकता ऐसा कहना यह देवदेवके ऊपर अवर्णवाद है ॥ १४५ ॥

(चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रव–कारण।)– कषायोंके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है ॥ १४६ ॥

अपनेमें तथा दुसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, संक्लेशपरिणाम युक्त होकर मिथ्यासाधुका

---

१ आ. न देवो देवदेवस्य वर्णवादो निगद्यते

इत्याद्यनेकधाभाणि जिनागमविशारदैः । कषायवेदनीयस्य ह्यास्रवद्वारमायतम् ॥ १४८
समानधर्मिणो[1] हास्यं दीनानामतिहासता । बहुधा विप्रलापश्च सोपहासैकशीलता ॥ १४९
इत्याद्यनेकदुर्वृत्तं कथितं पूर्वसूरिभिः । हास्यैकवेदनीयस्य कारणं दुःखधारणम् ॥ १५०
क्रीडैकपरता नित्यं व्रतशीलारुचिस्तथा । रत्यादिवेदनीयस्य कारणं कथितं जिनैः ॥ १५१
परस्यारतिकारित्वं तत्पापिजनसङ्गमः । अरतेर्वेदनीयस्य कारणत्वेन निश्चितम् ॥ १५२
स्वशोकोत्पादनं तावत्परशोकाभिनन्दनम् । शोकादिवेदनीयस्य ह्यास्रवद्वारमीरितम् ॥ १५३
आत्मनो भयभीरुत्वं परस्य भयकारिता । भयादिवेदनीयस्याप्यास्रवः श्रमणैर्मतः ॥ १५४
कालकौशलमाश्रित्य क्रियाचारविदस्तु या । जुगुप्सा सा जुगुप्सादिवेदनीयस्य कारणम् ॥ १५५
अलीकस्याभिधानादिपरत्वं वृद्धरागता । आस्रवोऽस्त्यादिवेदस्य[2] कर्मणः कथितो जिनैः ॥ १५६

भेष धारण करना, व्रतियोंके व्रतोंमें दूषण लगाना, संक्लेश परिणाम उत्पन्न करनेवाला लिंगग्रहण करना इत्यादि अनेक प्रकारसे कषायवेदनीयका दीर्घ आस्रवद्वार जिनागममें निपुण विद्वानोंने कहा है ॥ १४७–१४८ ॥

साधर्मिकोंकी हसी करना, दीनोंका अतिशय उपहास करना, अनेक प्रकारोंसे विरुद्ध भाषण करना, हमेशा विनोद हसी करनेका स्वभाव होना, इत्यादिक अनेक दुर्वृत्त–दुराचारोंमें प्रवृत्त होना ये हास्यवेदनीयके दुःख देनेवाले कारण हैं ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है ॥१४९–१५०॥

रतिवेदनीयके कारण– हमेशा क्रिडा करनेमें तत्पर रहना, व्रत और शीलमें अरुचि उत्पन्न होना, ये रतिवेदनीय कर्मके आस्रवके दुःखदायक कारण हैं ॥ १५१ ॥

अरतिवेदनीयके कारण– दूसरेमें अरति– अप्रेम उत्पन्न करना, पाप करनेवाले लोगोंके साथ सहवास रखना, ये अरतिवेदनीयके निश्चित कारण हैं ॥ १५२ ॥

शोकवेदनीयके कारण– अपनेमें शोक उत्पन्न करना, कोई शोकयुक्त हुआ हैं ऐसा देखकर आनंदित होना ये शोकवेदनीयके आस्रवद्वार कहे हैं ॥ १५३ ॥

भयवेदनीयके कारण– स्वयं भययुक्त होना, दूसरोंको भयभीत करना, ये भयवेदनीयके आस्रव हैं ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ १५४ ॥

जुगुप्सावेदनीयके कारण– काल और कुशलताका आश्रय लेकर जो कुशल आचारोंका पालन कर रहे हैं, उनकी ग्लानि करना जुगुप्सावेदनीयके कारण हैं ॥ १५५ ॥

स्त्रीवेदके कारण– अलीक–असत्य भाषण करनेकी आदत होना, दूसरोंको फंसाना, दूसरोंके दोष देखनेमें तत्पर रहना, तीव्र रागभाव उत्पन्न होना आदिक स्त्रीवेदके कारण हैं ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ १५६ ॥

---

१ आ. धर्मणो　२ आ. स्त्रीवेद्यकर्मणो हेतुमास्रवं

अनुत्सिक्तत्वं[1] स्वल्पक्रुत्स्वदारपरितुष्टता । आस्रवोऽभाणि सर्वज्ञैः पुंवेद्यस्य तु कर्मणः ॥ १५७
प्रचुरैककषायत्वं परगुह्यप्रकाशनम् । इन्द्रियोद्रेकिता नित्यं परस्त्रीसेवने रतिः ॥ १५८
इत्येवमादिकं सर्वं आस्रवद्वारमायतम् । नपुंसकादिवेदस्य गृणन्ति गरिमान्विताः ॥ १५९
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कथितो मया । आस्रवः साम्प्रतं तावदायुषो निगदामि तम् ॥ १६०
हिंसादिक्रूरकार्याणामजस्रं परिवर्तनम् । सर्वस्वहरणं निन्द्यविषयस्यातिगृद्धिता ॥ १६१
कृष्णलेश्याभिसंजातरौद्रध्यानैकतानता । नारकस्यायुषो हेतुर्मरणाद्बालबालतः ॥ १६२
प्रपञ्चबहुला वृत्तिर्मिथ्याधर्मोपदेशना[2] । अप्रियस्यातिसंधानं[3] नीलकापोतलेश्यता ॥ १६३
आर्तध्यानभवो मृत्युरित्यादिकमनेकधा । कथितं संयतैरेतत्तिर्यग्योनस्य[4] कारणम् ॥ १६४

पुंवेदवेदनीयके कारण– गर्व न धारण करना, अल्प क्रोध, स्वस्त्रीमें संतोष, ये पुंवेदकर्मके कारण हैं ऐसा जिनेश्वरोंने कहा है ॥ १५७ ॥

नपुंसकवेदनीयके कारण– प्रचुर कषाय होना, दूसरोंके गुह्य प्रगट करना, इंद्रियोद्रेक धारण करना– अत्यंत कामाकुल होना, हमेशा परस्त्री सेवनमें आसक्त होना इत्यादिक सर्व नपुंसकवेदके आस्रवके कारण हैं, ऐसा गरिमाको– माहात्म्यको धारण करनेवाले आचार्य कहते हैं ॥ १५८–१५९ ॥

यहांतक मैंने चारित्रमोहनीयके आस्रव कारण कहे हैं । अब आयुकर्मके आस्रव कारण मैं कहता हूं ॥ १६० ॥

(नरकायुके आस्रवकारण)– हिंसादिक क्रूरकार्योंमें सतत तत्पर रहना, लोगोंका संपूर्ण धन, स्त्री आदिक अत्यंत प्रिय वस्तुओंका हरण करना, जो कि अत्यंत निंद्य कार्य माना है, पंचेंद्रियोंके स्त्री आदिक विषयोंमें अत्यंत अभिलाषा– लंपटता रखना, कृष्णलेश्यासे उत्पन्न हुए रौद्रध्यानमें लवलीन होना, और बालमरणसे मरना । ये सब कारण नरकायुआस्रवके होते हैं । ऐसीही क्रिया नित्य करना जिसमें प्राणियोंको पीडा होती है और धनधान्यादि परिग्रहोंमें अत्यासक्ति होना ये नरकायुके आस्रवके कारण हैं ॥ १६१–१६२ ॥

(तिर्यगायुके आस्रवके कारण ।)– अतिशय धोखा देनेवाला स्वभाव होना, मिथ्यात्व युक्त धर्मोपदेश देना, अप्रिय लोगोंको फंसाना, नीललेश्या और कापोतलेश्यायुक्त स्वभाव होना, आर्तध्यानसे मरण होना इत्यादिक तिर्यंचायुके कारण हैं, ऐसा संयतोंने– जैन मुनियोंने कहा है । चारित्रमोहकर्मके उदयसे जो आत्मामें कुटिलभाव– कपटभाव उत्पन्न होता है उसे माया कहते हैं । इस मायासे अतिशय धोखा देना आदि स्वभाव जीवमें उत्पन्न होते हैं । ऐसे परिणामोंसे तिर्यंचायुका आस्रव जीवको होता है ॥ १६३–१६४ ॥

१ आ. स्तोकक्रोधानुसिक्तत्वम् २ आ. देशिता ३ आ. प्रियत्वस्या ४ आ. तैर्यग्योनस्य सर्वज्ञैरायुषः कारणं मतम्

विनीतैकस्वभावत्वमनौद्धत्यमनेकधा । अल्पसारम्भताक्लेशमरणं मानुषस्य च ॥ १६५
स्वभावमार्दवं चापि तस्यायुषो निबन्धनम् । सरागसंयमस्तावत्संयमासंयमोऽपि वा ॥ १६६
अकामनिर्जरा बालतपो दैवस्य कारणम् । तस्याप्यत्र विशेषेण सम्यक्त्वं यत्तु कारणम्[1] ॥१६७
अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषतः । आस्रवद्वारमाख्यान्ति प्रख्यातव्रतधारिणः ॥ १६८
योगस्य वक्रता धर्मविसंवादनमायतम् । मिथ्यात्वेनास्थिरत्वं च वञ्चनाबहुला स्थितिः ॥१६९

(मनुष्यायुके कारण ।)– प्राणिपीडाका आरंभ जिसमें अल्पप्रमाणमें होता है, मरणकालमें जिसके परिणाममें संक्लेश नहीं रहता है, उपदेशके विना अर्थात् स्वभावसेही जिसके मनमें मृदुभाव– दया रहती है, जो नम्र स्वभाववाला, सरलस्वभावी, नीतियुक्त व्यवहार करनेवाला, जिसके कषाय मंद हैं उसे मनुष्यायुके आस्रव होते हैं ॥ १६५ ॥

(देवायुके आस्रवकारण ।)-- सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आस्रवकारण हैं । तथा जो सम्यग्दर्शन– जीवादि सप्त तत्त्वोंपर यथार्थ श्रद्धान है, वह विशेषतासे देवायुके आस्रवका कारण समझना चाहिये । यद्यपि सम्यग्दर्शन सामान्यतया देवायुका कारण कहा है; तोभी यहां वह सौधर्मादि स्वर्गके देवायुका कारण समझना चाहिये । तथा सम्यक्त्वके होनेसेही चारित्रको सरागसंयम, संयमासंयम ऐसे नाम प्राप्त होते हैं । उसके अभावमें यदि चारित्र चारित्रस्वरूप नहीं माना जाता, तो वह सरागसंयम, संयमासंयम ऐसे नामवाला कैसे होगा ? सरागसंयम और संयमासंयम इनका लक्षण पूर्वमें कह चुके हैं । अब अकाम निर्जरादिका स्वरूप यहां कहते हैं-- जैसे कैदमें पडा हुआ कोई मनुष्य पराधीन होनेसे भूखको सहता है, प्यासकी वेदना सहता है, ब्रह्मचर्यसे रहता है, जमीनपर सोता है, इत्यादि बाधायें सहन करता है, सहनेच्छा– रहित होनेपरभी नाइलाजसे सहन करनेसे उसके थोडेसे कर्म निर्जीर्ण होते हैं । अपनी इच्छा न होते हुएभी कष्ट सहन करना अकाम निर्जरा है । बालतप– मिथ्यादृष्टि तापस, सांन्यासिक, पाशुपत, पारिव्राजक, एकदंडी, त्रिदंडी, परमहंसादिकोंके कायक्लेशादि– लक्षण युक्त जो तप, जिसमें कपटसे युक्त व्रत धारण होता है, उसे बालतप कहते है ॥ १६६–१६८॥

(अशुभनामके आस्रवकारण ।)– योगकी वक्रता, धर्ममें दीर्घकालतक विसंवाद, मिथ्यात्वके साथ मनकी अस्थिरता, अतिशय प्रतारणायुक्त स्वभाव ये अशुभनाम कर्मास्रवके कारण हैं, ऐसा आगमसमुद्रके मध्यमें अवगाहन करनेवाले जैनाचार्य कहते हैं । स्पष्टीकरण– योगवक्रता– मनवचन और शरीरसे कपटवृत्ति धारण करना । विसंवादन–अभ्युदय और मोक्षप्राप्तिकी क्रियाओंमें कोई प्रवृत्त हुआ है और वह सत्य मार्गमें तत्पर है, परंतु उसमें भ्रम उत्पन्न करके तू अयोग्य मार्गमें लगा हुआ है । इसको छोडकर मेरे कहे हुए सत्य मार्गपर तू चल; जिससे तेरा हित होगा,

---

१ आ. शुभकारणं　२ आ. मिथ्यात्वमस्थिरत्वं

नाम्नोऽशुभस्य विज्ञेयमित्येतत्कारणं पुनः । विपरीतं शुभस्याहुरागमाम्भोधिमध्यगाः[1] ॥ १७०
सद्दर्शनविशुद्धिश्च विनीतत्वमनिन्दनम्[2] । व्रतेषु सर्वथा शीलेष्वतीचारविवर्जनम् ॥ १७१
अभीक्ष्णज्ञानसंवेगौ शक्तितस्त्यागतापसी[3] । तथा साधुसमाधिश्च वैयावृत्त्यं सुनिर्मलम् ॥१७२
अर्हदाचार्यसद्भक्तिर्बहुश्रुते[4] तथा । जिनागममहाभक्तिः षडावश्यककारिता ॥ १७३
मार्गप्रभावना जैनवचोवत्सलता परा । इति तीर्थकरत्वस्य कारणानि भवन्ति च ॥ १७४
व्यस्तानि च समस्तानि चिन्त्यान्येतस्य कारणम् । तारतम्येन जायन्ते विहितानि महात्मनाम् ॥

ऐसा मिथ्या उपदेश देकर उसे मिथ्यामार्गमें लगाना विसंवादन है । मनकी अस्थिरता होनेसे श्रद्धानमें और चारित्रमें दृढता उत्पन्न नहीं होना, व्रतधारणकी प्रतिज्ञामें वारंवार परिवर्तन होना, प्रतिज्ञाको छोड बैठना इत्यादि कार्योंसे अशुभनाम कर्मका आस्रव होता है । अशुभनाम कर्मके आस्रव जिनसे आते हैं ऐसे जो योगवक्रतादिक कारण हैं उनसे विपरीत अर्थात् शरीर, मन वचनोंकी सरलता होना, दुसरोंको जो मिथ्यामार्गमें लगे हुए है उन्हें सन्मार्गमें– रत्नत्रयमार्गमें लगाना, सम्यग्दर्शनके साथ स्थिरचित्तता होना, प्रतारणा–स्वभावका सर्वथा अभाव होना इत्यादिक अच्छे कारणोंसे शुभनाम– कर्मास्रव जीवमें आते हैं ॥ १६९–१७० ॥

(तीर्थंकरत्व नामास्रवके कारण ।)– १ सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि– जिनेश्वरने कहे हुए निष्परिग्रहरूप मोक्षमार्गमें जो रूचि होना वह दर्शन– विशुद्धि है । २ विनीतत्व–मोक्षके साधनरूप सम्यग्ज्ञानादिकोंमें तथा सम्यग्ज्ञानादिकोंकी प्राप्ति जिनसे होती है ऐसे गुरु आदिकोंमें अपनी योग्यताके अनुसार प्रशंसनीय सत्कार– आदर करना । ३ व्रत और शीलमें अतिचाररहित प्रवृति करना अर्थात् अहिंसादिक व्रतोंमें तथा उनके पालनार्थ कोषादिकोंके त्यागरूप शीलोंमें निर्दोष प्रवृत्ति करना । ४ अभीक्ष्णज्ञानसंवेग–जीवादि पदार्थोंका तथा स्वस्वरूपका बोध करानेवाले सम्यग्ज्ञानमें हमेशा लवलीन होना तथा संसारदुःखोंसे सदा भयभीत रहना । ६–७ यथाशक्ति दान देना– आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान देना । अपनी शक्ति न छिपाते हुए रत्नत्रयमार्गके अविरुद्ध तप करना । ८ साधुसमाधि– जैसे भांडागारमें आग लगनेपर उसको बुझाते हैं, वैसे साधु अनेक व्रत और शीलोंका समूहरूप होनेसे बहुत उपकारी हैं; इसलिये उनके तपमें कुछ कारणोंसे संकट उपस्थित होनेपर उनका तप संकट हटाकर निर्विघ्न करके उसकी धारणा करना । ९ वैयावृत्यगुणिजनोंपर दुःख आनेपर निर्दोष उपायसे वह दूर करना । १०–११ अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति-अर्हन्तके तथा आचार्यके गुणोंमें अनुराग रखना । १२ बहुश्रुतभक्ति– स्वपरमतोंके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोंमें अनुरक्त रहना । १३ जिनागम– महाभक्ति–जिनप्रणीत सिद्धान्तागममें परिणाम विशुद्ध अनुराग होना । १४ आवश्यकापरिहाणि--सामायिक, प्रतिक्रमणादिक छह कर्तव्योंमें

१ आ. पारगाः २ आ. अनिन्दितम् ३ आ. सद्व्रते ४ आ. बहुश्रुतवतस्तथा ।

परनिन्दात्मनो नित्यं प्रशंसाकरणं सदा । सद्गुणोच्छादनं तावदसदुद्भावनं परम् ॥१७६
यः करोति नरो नीचो निजत्वोच्चैकवाञ्छया । नीचैर्गोत्रं स बध्नाति कुधीर्धीरविवर्जितः॥१७७
तद्विपर्ययतः प्राणी गुणोत्कृष्टेषु वत्सलः । सगुणो निर्मदः स स्यादुच्चैर्गोत्रस्य[1] साधनम्[2] ॥१७८
विघ्नस्य कारणं घोरं घोरदुःखप्रदायकम् । यः करोति नरो दीनः सोऽन्तरायसमन्वितः ॥१७९
आयुःकर्मविमुक्तानि सप्तकर्माणि देहिनाम् । युगपत्क्षणतस्तस्मान्नास्रवन्त्ययतात्मनाम् ॥१८०

यथाकाल अर्थात् जिसका जो काल नियत है, उसमें वह कार्य करना आवश्यकापरिहाणि है। १५ मार्गप्रभावना– ज्ञान, तप, जिनपूजा और विद्या आदिकोंके द्वारा धर्म प्रकाशित करना। १६ प्रवचनवत्सलता– गाय जैसे बछडेपर स्नेह करती है वैसा साधर्मिकोंपर प्रेम करना। ऐसे ये सोलह कारण तीर्थकरत्व प्राप्तिके हेतु हैं। ये व्यस्त अथवा समस्त कारण उत्तमतया तरतमरूपतासे चिन्तनमें लाने चाहिये ऐसा महात्माओंने कहा है ॥ १७१–१७५ ॥

(नीचगोत्रके आस्रवहेतु।) – परनिंदा-दोष वास्तविक हो अथवा न हो तोभी उसको प्रगट करनेकी जो इच्छा उसे निन्दा कहते हैं। दूसरोंके विद्यमान दोष प्रगट करना अथवा झूठे दोष कहना परनिंदा है। आत्मप्रशंसा-गुण प्रगट करनेका अभिप्राय होना प्रशंसा है। अपनेमें गुण न होते हुएभी मैं सत्य बोलता हूं, प्रामाणिक हूं, इत्यादिक गुणोंका वर्णन करना स्वप्रशंसा है। दूसरे लोगोंमें गुण होनेपरभी उनके गुणोंको ढक देना और अपनेमें गुण न होनेपरभी उनको प्रगट करना, उनकी वाहवा करना नीच गोत्रास्रवके कारण हैं। जो मनुष्य स्वयंकी उच्चत्वकी इच्छासे उपर्युक्त कारणोंको करता है, गंभीरता रहित वह कुमति नीचगोत्रका बंध कर लेता है ॥ १७६–१७७ ॥

(उच्चगोत्रके आस्रव कारण।) – जो नीचगोत्रके कारण कहे हैं, उनके विपरीत कारणोंसे उच्चगोत्रके आस्रव जीवमें आते है। अर्थात् आत्मनिंदा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन और स्वसद्गुणाच्छादन ऐसे कारणोंसे उच्चगोत्रके आस्रव आते हैं। तथा जो अपनेसे गुणोंसे अधिक श्रेष्ठ हैं उनके ऊपर स्नेह करना, उनके साथ विनयवृत्तिसे रहना, कदाचित् स्वयं विज्ञानादि गुणोंसे उत्कृष्ट होनेपरभी उनसे गर्वरहित होना ऐसे कारणोंसे उच्चगोत्रके आस्रव आते हैं ॥ १७८ ॥

(अन्तरायास्रवके कारण।) – जो दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्तिमें घोर विघ्न उत्पन्न करता है, उसे ऐसे कुकार्यसे घोर दुःख प्राप्त होता है। जो दीन–अज्ञान मनुष्य ऐसे दानादिकोंमें विघ्न करता है, वह अन्तरायकर्मसे युक्त होता है ॥ १७९ ॥

(एक समयमें कितनी कर्मप्रकृतियोंका आस्रव होता है इस प्रश्नका उत्तर।)–जिनको आयुकर्मका बंध हो चुका है उनको उसके बिना बाकीके सात कर्मोंका निरंतर बंध होता है। तथा जिनको आयुकर्मका बंध नहीं हुआ है उनको एकक्षणमें आठोंही कर्मोंका बंध होता है।

---

१ आ. निजोच्चत्वस्य　२ आ. भाजनम्

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादाश्च तथा पुनः । कषायाश्च ततो[1] योगा गदिता बन्धहेतवः ॥ १८१
मिथ्यात्वं पूर्वमाख्यातं क्रियायां[2] बन्धकारणम् । हिंसादिषु प्रवृत्तिर्या साऽभाष्यविरतिर्बुधैः ॥१८२
कुशलेष्वनादरो यस्तु प्रमादः स निगद्यते । कषायाः पूर्वमुक्ताः स्युः सर्वे बन्धस्य कारणम् ॥१८३
मनोवाक्कायकर्मादियोगाश्चापि निवेदिताः । आस्रवे ते च बन्धस्य हेतुभूता भवन्त्यमी ॥१८४
यद्यप्युक्तं हि मिथ्यात्वं पूर्वं किञ्चित्तथापि तत् । बन्धप्रस्तावतश्चात्र निगदामि विशेषतः ॥१८५
मिथ्यात्वं द्विविधं प्रोक्तं स्वभावादुपदेशतः । मिथ्याकर्मोदयाज्जातं स्वाभाविकमुदीरितम् ॥१८६
परोपदेशतो निन्द्यं तत्त्वश्रद्धानलक्षणम् । उपदेशजमाख्यातं[3] मिथ्यात्वं तच्चतुर्विधम् ॥१८७
क्रियावादाः[4] क्रियावादे तथा चाज्ञानिकं पुनः । वैनयिकं ततो दुष्टं चतुर्थं कथयन्ति तत् ॥१८८
अशीतिशतभेदं तत्क्रियामिथ्यात्वमुच्यते । अक्रियागतभेदः स्युरशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१८९

तथापि जो प्रदोषादि-कार्योंसे ज्ञानावरणादि सर्व कर्मप्रकृतियोंका प्रदेशबंध नियम नहीं हैं तोभी वे प्रदोषादिक ज्ञानावरणादिके अनुभाग बंधके लिये अवश्य कारण होते हैं ॥ १८० ॥

(बंधके कारण) – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, पुनः कषाय और योग के बंधके कारण कहे गये हैं। मिथ्यात्व जोकि बंधका कारण है, उसका वर्णन क्रियाओंमें किया हैं। हिंसादिकोंमें जो प्रवृत्ति होती है उसको विद्वानोंने अविरति कहा है। तथा कुशल कृत्योंमें-पुण्यकारक कार्योंमें ध्यान-स्वाध्यायादिकोंमें अनादर रहना प्रमाद है। कषायोंका वर्णन पूर्वमें किया गया है। सब कषाय बंधके कारण है। मन वचन और शरीर इनकी प्रवृत्तियांही योग हैं इनकाभी वर्णन पूर्वमें आस्रवके प्रकरणमें आया हैं। ये मिथ्यादर्शनादिक सब कारण आस्रव और बंधमें कारणभूत हैं ॥ १८१–१८४ ॥

(मिथ्यात्वके दो भेद।) – यद्यपि मिथ्यात्वका पूर्वमें थोडासा वर्णन किया है तोभी अब बंधप्रकरणमें इसका विशेषतः मैं कथन करता हूं ॥ १८५ ॥

मिथ्यात्वकर्मके स्वभावसे और उपदेशसे दो भेद कहे हैं। मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो निन्द्यतत्त्वोंका श्रद्धान होता है वह स्वाभाविक मिथ्यात्व है और उपदेशसे-कुगुरुके द्वारा किये गये कुतत्त्वोंके उपदेशसे जो निंद्यतत्त्वोंके प्रति श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह उपदेशज मिथ्यात्व कहा जाता है। इसके आचार्योंने चार भेद कहे हैं। क्रियावाद, अक्रियावाद, आज्ञानिक और वैनयिक ऐसे मिथ्यात्वके चार भेद हैं ॥ १८६–१८८ ॥

(चार मिथ्यात्वोंके उत्तर भेद।) – क्रियामिथ्यात्वके एकसौ अस्सी भेद हैं। अक्रियामिथ्यात्वके चौरासी भेद हैं। आज्ञानिक मिथ्यात्वके सदुसठ भेद हैं और वैनयिकके निश्चयसे बत्तीस भेद हैं। पुनः सबके भेद मिलकर तीनसौ तिरेसठ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवोंके बंधके कारण हैं ॥ १८९ ॥

---

१ आ. तथा २ आ. तक्रिया ३ आ. औपदेशिक ४ आ. क्रियावदक्रियावच्च

सप्तषष्टिर्मता भेदास्तथा चाज्ञानिनश्च[1] ते । द्वात्रिंशद्भेदभिन्नं स्याद्वैनयिकमिति ध्रुवम् ॥१९०
इति मिथ्यात्वभेदाः स्युः सर्वे समुदिताः पुनः । त्रिषष्टित्रिशतीसंख्या जीवानां बन्धहेतवः ॥१९१
विपरितमथैकान्तं संशयाज्ञानिके तथा । वैनयिकं च पञ्चैते भेदा वा तस्य निश्चिताः ॥१९२
ब्रह्मात्मकमिदं सर्वं नित्यानित्यैकमेव[2] च । ऐकान्तिकमतं[3] कान्तं मिथ्यात्वे बन्धकारणम् ॥१९३
यः सग्रन्थः स निर्ग्रन्थः केवली कवलाशनः । विपरीतमहामिथ्यादृष्टिरेवं वदन्त्यपि ॥ १९४
सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानचारित्रैर्मोक्ष इत्यपि । तथा न वेद स ज्ञेयो दृष्टिरज्ञानगोचरः ॥ १९५
प्रमाणनयनिर्णीतं तथा सर्वज्ञभाषितम् । ज्ञात्वापि संशयानानां तत्स्यात्सांशयिकं ध्रुवम् ॥१९६
देवाः सर्वेऽपि धर्माश्च सर्वशास्त्राणि तद्विदः । वैनयिकी समाः सर्वे पश्यतीति[4] दुराशयः ॥१९७

(अथवा मिथ्यात्वके पांच भेद ।)– विपरीतमिथ्यात्व, एकान्तमिथ्यात्व, संशय-मिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व ऐसे मिथ्यात्वके पांच भेद है ॥ १९२ ॥

(एकान्तमिथ्यात्वका स्वरूप ।)– यह सर्व जगत् ब्रह्ममय है, जो कुछ दिखता हैं वह ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं है, ऐसा जो आग्रह उसे एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं । वस्तु यही है अथवा ऐसीही है दूसरी नहीं है ऐसा जो आग्रह उसे एकान्त कहते हैं । वस्तु नित्यही है ऐसा आग्रह अथवा वस्तु अनित्यही है ऐसा आग्रह होना एकान्तमिथ्यात्व है । यह ऊपरसे कान्त-सुंदर दिखता है परंतु मिथ्यात्वप्रकृति का बंध करनेवाला है ॥ १९३ ॥

(विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप ।)– विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव, जो परिग्रहसहित है, उसे निर्ग्रंथ समझते हैं । केवली अनंत सुखी होनेपरभी वे कवलाहार ग्रहण करते हैं ऐसा बोलते हैं ॥ १९४ ॥

(अज्ञानमिथ्यात्व ।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका कारण है; परंतु जो वैसा नहीं समझता है वह अज्ञानमिथ्यादृष्टि है ॥ १९५ ॥

(संशयमिथ्यात्व ।)– सर्वज्ञसे कहा हुआ जीवादिकतत्त्वस्वरूप प्रमाण और नयोंसे निश्चित सत्य सिद्ध हुआ है ऐसा जानकरभी मनमें संशय धारण करनेवालोंका वह निश्चयसे सांशयिक मिथ्यात्व है ॥ १९६ ॥

(वैनयिक मिथ्यात्व ।)– सब देव, सब धर्म, सर्व शास्त्र उनके जानकार विद्वान् ये सब समान है ऐसा समझता है । ऐसा दुष्ट अभिप्राय धारण करनेवाला वैनयिकमिथ्यात्वी समझना चाहिये ॥ १९७ ॥

१ आ. चाज्ञानिकस्य ते　२ आ. नित्यत्वं वानित्यत्वमेव वा　३ आ. ऐकान्तिकमतं जैनैस्तद्धर्म्यैकान्तकारणम्　४ आ. पश्यतीह

तथ्यं न वेति सन्देहैर्दृष्टिः संशयगोचरा । सन्ति मिथ्यादृशः पंचाप्येते बन्धस्य हेतवः ॥ १९८
ततश्चत्वार एवामी त्रिषु सासादनादिषु । विरताविरते मिश्रं प्रमादाः सकषायकाः ॥ १९९
योगाश्च सन्ति बन्धस्य कारणं भवधारणम् । प्रमादाश्च कषायाश्च तथा योगा इति त्रयम् ॥२००
प्रमत्तसंयतस्यास्ति तद्बन्धस्यैककारणम् । अप्रमादादिकानां हि चतुर्णां द्वौ निवेदितौ ॥ २०१
कषायाश्च तथा योग इत्येतौ शान्तकल्मषैः[1] । एक एवमतो योगस्त्रयाणां बन्धकारणम् ॥ २०२
शान्तक्षीणकषायैकयोगकेवलिनां पुनः । अयोगिनां न सोऽप्यस्ति बन्धहेतुः क्रिया न च ॥ २०३
अत एव महात्मानः सिद्धिभाजो भवन्त्यमी । कषायत्वादयं जीवः कर्मयोग्यांश्च पुद्गलान् ॥२०४

ये पांच प्रकारके दुरभिप्राय मिथ्यात्वबंधके कारण हैं । तथा मिथ्यात्वगुणस्थानमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग पांच बंधकारण हैं । सासादन, मिश्र और असंयत सम्यग्दृष्टि ऐसे तीन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व नहीं होनेसे अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये चार बंधके कारण हैं ॥ १९८-१९९ ॥

विरताविरत नामक पांचवे गुणस्थानमें मिश्र अर्थात् अविरति विरतिसे मिश्र है और बाकीके प्रमादादि तीन बंधके कारण हैं । अर्थात् प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बंधके कारण जीवको भवधारण करनेवाले हैं । प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवाले मुनीश्वरको प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बंधकारण हैं । अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय ऐसे चार गुणस्थानवर्ती मुनियोंको योग और कषाय बंधके कारण है, । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इन तीन गुणस्थानवर्ति मुनीश्वरोंको एक योगही बंधका कारण है, ऐसा जिनका पापकर्म शान्त हुआ है ऐसे गणधर कहते हैं । अयोगकेवलगुणस्थानवर्ती मुनीश्वरको योग भी बंधका कारण नहीं है; क्योंकि वहां कुछभी क्रिया नहीं है । इसीलिये बंधका अभाव होनेसे ये महात्मा मुक्तिके भोगनेवाले होते हैं ॥ २००-२०३ ॥

(कषाय बंधका कारण है ।)- जीव कषाययुक्त होनेसे कर्मरूप परिणमन को धारण करने योग्य पुद्गलोंको-विस्रसोपचयको जब ग्रहण करता है, तब बंध होता है, ऐसा बंधरहित जिनेश्वरने प्रतिपादन किया है ॥ २०४ ॥

स्पष्टीकरण- जीव कषाययुक्त कैसे होता है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं, कि कर्मसे जीव कषाययुक्त होता है । जो कर्मरहित है उसे कषायलेप नहीं है । तथा जीव और कर्मका अनादि संबंध है । यदि यह संबंध बीचमेंही होता है तो संबंधके पूर्वमें आत्मा शुद्ध था । वह अशुद्ध कैसे हो गया ? बंध आदिमान् माननेपर आत्यन्तिक शुद्धि धारण करनेवाला आत्मा सिद्धके समान यदि है तो उसको बन्ध न होगा । अतः जीव कथंचित् मूर्तिक है और कर्मका संबंध अनादि है

---

१ इत्येतौ तीर्णकल्मषैः

आदत्ते स्म यतो बन्धः सर्वबन्धविवर्जितैः । अहस्तोऽपि स गृह्णाति तानायुःकर्मयोगतः ॥ २०५
जठराग्निवशाद्यद्वदाहारमुपढौकते[1] । आद्यः प्रकृतिबन्धोऽसौ द्वितीयः स्थितिरिष्यते ॥ २०६
अनुभागस्तृतीयश्च प्रादेशादिश्चतुर्थकः । स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता सा द्वेधा कथिता जिनैः ॥२०७
मूलोत्तरप्रभेदेन गुडादौ मधुरादिवत् । ज्ञानावृत्यादिभेदेन मूलप्रकृतिरष्टधा ॥ २०८
शतमष्टाधिकं तस्माच्चत्वारिंशत्तदुत्तरा । पञ्च ज्ञानावृतेः सन्ति नवैता दर्शनावृतेः ॥ २०९

ऐसा मानना योग्य है। जैसा वस्तुस्वरूप है वैसाही उसको जानना सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायोंसे आत्मा गीला होकर सर्व भवमें तीव्रमन्दमध्यादि योगविशेषोंसे सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही ऐसे अनंतानंत प्रदेशयुक्त पुद्गलोंके स्कंध, जो कि कर्मपरिणतियोग्य हैं, उनके साथ अविभागरूपसे मिल जाता है–संयुक्त होता है ऐसी आत्माकी जो अवस्था होती है उसको बंध कहना चाहिये ॥ २०५ ॥ (सर्वार्थसिद्धिटीका सकषायत्वात् सूत्र)

जैसे लोग जठराग्निकी तीव्रमन्दतादिकोंके अनुरूप आहार ग्रहण करते हैं, वैसे यह आत्मा हातके बिनाही आयुष्यके संबंधसे युक्त होकर उन कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है ॥ २०६ ॥

(बंधके भेद।)– पहला प्रकृतिबंध, दूसरा स्थितिबंध, तीसरा अनुभागबंध और चौथा प्रदेशबंध है ॥ २०७ ॥

स्पष्टीकरण – प्रकृति शब्दका अर्थ 'स्वभाव' है। जैसे निम्बका स्वभाव कटुक है। गुडका स्वभाव मधुर है। वैसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके स्वभाव इस प्रकार हैं–ज्ञानावरणका स्वभाव पदार्थोंका बोध नही होने देना। दर्शनावरण– पदार्थोंका अनालोचन अर्थात् पदार्थ है ऐसा सामान्य अवलोकनभी नहीं होने देनेवाला स्वभाव धारण करना। वेदनीय–सुख दुःखका अनुभव देनेका स्वभाव वेदनीयका है। दर्शनमोहका स्वभाव तत्त्वार्थमें अश्रद्धा उत्पन्न करना है। चारित्रमोहका स्वभाव असंयम उत्पन्न करनेवाला है। आयुष्यका स्वभाव भवधारण है अर्थात् जीवको जो मनुष्यादि अवस्था प्राप्त होती है उसमें कुछ कालतक आत्माको रोकना स्वभाव है। नारकी, पशु, मनुष्य, देव ऐसे नाम निर्माण करनेका स्वभाव नामकर्मका है। यह उच्च है, यह नीच है, ऐसा कहलानेवाला गोत्रका स्वभाव है। दानलाभादिकमें विघ्न करना अन्तरायका स्वभाव है। यह प्रकृतिबंध मूलप्रकृतिबंध और उत्तरप्रकृतिबंध ऐसे दो प्रकारका है। जैसे गुडका स्वभाव मधुर होता है तथा उस गुडके अनेक भेद होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे प्रकृतिके आठ भेद हैं। और इनके उत्तरभेद एकसौ अडतालीस होते हैं ॥ २०८ ॥ (सर्वार्थसिद्धिटीका 'आद्यो ज्ञानेति' सूत्रपरकी)

(उत्तरप्रकृति भेद।)– ज्ञानावरणादिके भेद इस प्रकार हैं– ज्ञानावरणके मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवरण और केवलज्ञानावरण ऐसे पांच भेद हैं। दर्शनावरणके चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, निद्रा,

१ आ. उपढौकितम्।

द्वे एव वेदनीयस्य मोहस्याप्यष्टविंशतिः । चतस्रश्चायुषो ज्ञेया नाम्नस्त्रिनवतिः पुनः ॥ २१०
द्वे गोत्रस्य पुनश्च स्तोऽन्तराये पञ्च[1] ता मताः । कालस्यावस्थितिस्तेषां स्थितिमाहुर्जिनेश्वराः॥२११
सा च सिद्धान्ततो ज्ञेया नेवात्र ग्रन्थगौरवात् । कर्मणां यो विपाकस्तु सोऽनुभागो निगद्यते ॥ २१२

निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि । वेदनीयके सातवेदनीय और असातवेदनीय । मोहनीयके मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ । अप्रत्याख्यानके चार क्रोधादिक, प्रत्याख्यानके तथा संज्वलनके चार क्रोधादिक हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ऐसे मोहनीयके अठ्ठावीस भेद हैं । आयुके नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ऐसे चार भेद हैं । नामकर्मके गति, आदिक तिरानवे भेद हैं । उच्चगोत्र, नीचगोत्र ऐसे गोत्रके दो भेद हैं । अन्तरायके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पांच भेद हैं । इन एकसौ अडतालीस प्रकृतियोंका स्पष्टीकरण ग्रंथकारने ग्रंथगौरवके भयसे नहीं किया है । उनका खुलासा सिद्धांतग्रंथोंमें किया है । वहांसे जानना चाहिये ॥ २०९–२१० ॥

(स्थितीबंधका स्वरूप ।)– एकसौ अडतालीस कर्म कुछ मर्यादित कालतक आत्मामें रहते हैं, उनका रहना स्थितिबंध है । स्थितिके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे भेद हैं; जिनका सविस्तर निरूपण आगमग्रंथसे जानना चाहिये । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय ऐसे चार कर्मोंका स्थितिबंध तीस कोटिकोटि सागरोपमका है । मोहनीयका सत्तर कोटिकोटि सागरोपम स्थितिबंध है । नामकर्मका वीस कोटिकोटि सागरोपम है । गोत्रकर्मका वीस कोटिकोटि सागरोपम है और अन्तरायका तीस कोटिकोटि सागरोपमका है । यह उत्कृष्ट स्थितिबंध कहा है । जो कर्म आत्मामें बंध जाता है वह आबाधिकालको छोडकर अपना फल अपनी स्थिति जितनी कालकी है उतने कालतक आत्माको देता है । जघन्य स्थितिबंध–ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तकी है । मोहनीयकी अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थानमें अन्तमुहूर्तकी है । आयुकी संख्यातवर्षवाले तिर्यंच और मनुष्योंमें जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्तकी है । वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तकी है और उसका बंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है । नामगोत्रकी दशमें गुणस्थानमें आठ मुहूर्तकी जघन्य स्थिति है । मध्यमस्थितिबंध असंख्य प्रकारका है आगममें उसका खुलासा है, वहांसे समझ लेना चाहिये । ग्रंथगौरव होगा इसलिए यहां नहीं लिखा है ॥ २११ ॥

(सर्वार्थसिद्धिटीका अध्याय आठवां)

(अनुभागबंध और प्रदेशबंध ।) – विशिष्ट और नाना प्रकारोंका जो फलानुभव आत्माको कर्मसे प्राप्त होता है उसको अनुभागबंध कहते हैं और वह कर्मोंका जैसा नाम है उसके अनुसार होता है, जैसा ज्ञानावरणका फल ज्ञानाभावरूप होता है, दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको

१ आ. द्वे गोत्रस्य च पञ्चैव ह्यन्तरायाश्रिता मताः

स प्रदेशगतो बन्धः प्रदेशः[1] परिपठ्यते । यो विशेषोऽस्य बन्धस्य स श्रीसर्वज्ञगोचरः[2] ॥ २१३
स कथं कथ्यते बन्धो नृकीटेन मयाधुना । आस्रवस्य निरोधोऽयं संवरः स मतः सताम् ॥ २१४
द्रव्यभावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह । संसारैकनिमित्तानां क्रियाणां विनिवर्तनम् ॥ २१५
भावसंवरमाख्यान्ति मुनीन्द्राः कृतसंवराः । तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युतिः ॥ २१६
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसंवरः । समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य[3] च ॥ २१७

प्रगट न होने देना है । इत्यादि । संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें अनंतानंत सूक्ष्म कर्मप्रदेशोंका सर्व भवोंमें एक क्षेत्रावगाही जो योगविशेषोंसे बंध होता है उसे प्रदेशबंध कहते हैं । योगविशेषसे आत्मा कर्मोंको ग्रहण करता है । वे कर्म सब सूक्ष्मही होते हैं, उन कर्मके स्कन्धोंमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श– शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ऐसे चार होते हैं । ये कर्मस्कंध आठ प्रकारोंके कर्म प्रकृतियोंके योग्य रहते हैं ॥ २१२--२१३ ॥

इस प्रदेशबंधका जो विशेष है वह सर्वज्ञका विषय है । मैं मनुष्यकीटक हूं, मुझसे वह बंध इस समय छद्मस्थावस्थामें-- अज्ञानावस्थामें कैसा कहा जायगा ? तात्पर्य यह है कि ये, चार प्रकारके बंध अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय हैं अर्थात् इनका स्वरूप वे प्रत्यक्ष ज्ञानसे जानते हैं । और उन्होंने जो आगम कहा है, उससे इन बंधके स्वरूपका ज्ञान किया जाता है अर्थात् अनुमानसे उनका स्वरूप जाना जाता है ॥ २१४ ॥

(संक्षेपसे संवरवर्णन ।)– आस्रवका जो निरोध है, वह सज्जनोंको मान्य ऐसा संवर नामका पदार्थ है । इसके यहां द्रव्यसंवर और भावसंवर ऐसे दो भेद हैं ।

स्पष्टीकरण– नवीन कर्मका आत्मामें आगमन होना आस्रवतत्त्व है और वह आगमन जिससे रुकता है ऐसे तत्त्वका नाम संवरतत्त्व है । यह संवरतत्त्व आस्रवका प्रतिपक्षी है, इसलिये आस्रवके लक्षणसे संवरका लक्षण बिलकुल उलटा है ॥ २१५ ॥

(भावसंवरका स्वरूप ।)– संसारके मुख्यनिमित्त ऐसी जो मन वचन शरीरोंकी प्रवृत्तियां– चेष्टायें होती हैं उनका निवारण करनेवाला जो आत्माका निर्मल परिणाम उसका नाम भावसंवर है, ऐसा जिन्होंने नये कर्मोंका निरोध किया है ऐसे मुनीन्द्र कहते हैं ॥ २१६ ॥

(द्रव्यसंवरका स्वरूप ।)– उनके निरोधसे अर्थात् नया कर्म जिनसे आता है ऐसी मनवचन शरीरकी चेष्टाओंका निरोध करनेसे तत्पूर्वक जो कर्मका आना होता था वहभी रुक जाता है । यतीन्द्रोंने उसको द्रव्यसंवर जाना है ॥ २१७ ॥

नये कर्म आत्मामें आनेका रुक जाना द्रव्यसंवर है, मनवचनशरीरकी जिन चेष्टाओंसे कर्म आता था उनका आगमन न होने देनेवाले जो आत्मामें निर्मल समित्यादिक परिणाम होते हैं

१ आ. प्रदेशपरिकल्पनम्　२ आ. श्रीसर्वज्ञस्य गोचरः　३ आ. परस्य च

सच्चारित्रवतः पुंसः संवरो जायते क्षणात् । परीषहजयेनासौ दशधा धर्मकारणः ॥ २१८
सुनिर्जरायुतस्यैष संवरो जायते परः । ये केचिद्धेतवः सन्ति संवरस्य विधायिनः ॥ २१९
तपसो निर्जरायास्तान्किंयतो निगदाम्यहम् । धार्ष्टर्यमेवमिदं सर्वं मदीयं यज्जिनागमे ॥ २२०
इदं करोमि नो वेदमिति वाचो निवर्तनम् । उक्तं युक्तमयुक्तं वा मदीयं मुनिपुङ्गवाः ॥ २२१
श्रुत्वा भवन्तु सर्वेऽपि सर्वदैवाधिकक्षमाः । आगमोऽनन्तपर्यायः कथ्यतेऽनन्तसद्गुणैः ॥ २२२
श्रीमत्समन्तभद्रादिगणेशैर्न तु मादृशैः । पद्मसेनादयो ये तु श्रीमेदार्यान्वये परम् ॥ २२३
बभूवुस्तत्प्रसादेन मच्चेतोऽप्यत्र भक्तिमत् ।

उनको भावसंवर कहते हैं । जो ईर्यासमित्यादिक समितियोंको पालता है, मनोगुप्त्यादिक गुप्तियोंका धारक है, अनित्यादिक बारह अनुप्रेक्षाओंमें तत्पर होता है, तथा जो सम्यक्चारित्रको धारण करता है, ऐसे पुरुषको– यतिराजको तत्काल संवर होता है उनके पास नये कर्म नहीं आते हैं । यह संवर परीषहजयसे होता है तथा उत्तम क्षमादिक दशधर्मोंका पालन करनेसे होता है । तथा जो अविपाका निर्जरासे युक्त है ऐसे मुनीश्वरको उत्कृष्ट संवर प्राप्त होता है ॥२१८॥

संवरको उत्पन्न करनेवाले जो कोई हेतु हैं, तथा निर्जराको करनेवाले जो तपश्चरण हेतु रूप हैं उनका मैं कितना वर्णन कर सकूंगा । अर्थात् संवरके और निर्जराके समग्र कारणोंका वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूं ॥ २१९ ॥

जो जिनागममें है, वही मैंने कहा है । अतः मेरा यह कहना सब हृदयमें धारण करना चाहिये । उसमें मैं यह हृदयमें धारण करूंगा और यह नहीं करूंगा ऐसा भाषण बोलना छोड देना चाहिये ॥ २२० ॥

(मुनिश्रेष्ठोंके प्रति ग्रंथकारकी क्षमा याचना ।)– मेरा युक्तियुक्त वचन सुनकर हे मुनिश्रेष्ठ ! आप सब सदैव मुझपर अधिक क्षमा धारण करें । अर्थात् मैं आपसे क्षमा याचना करता हूं क्योंकि मेरे वचन सदोषभी होंगे और निर्दोषभी होंगे मैं कुछ नहीं समझता हूं ॥ २२१ ॥

(समन्तभद्राचार्यकी प्रशंसा ।)– अनंतगुणवाले श्रीसमन्तभद्र गणधरसे अनंतपर्यायोंका प्रतिपादन करनेवाला आगम कहा गया है परंतु मुझ सरीखोंके द्वारा ऐसा विशाल आगम नहीं कहा जायगा ॥ २२२ ॥

(पद्मसेनादिकाचार्योंमें मेरा मन भक्तियुक्त है ।)– महावीरप्रभुके श्रीमेदार्य नामके गणधरकी गुरुपरंपरामें पद्मसेनादिक आचार्य हुए हैं । उनकी कृपासे मेरा मनभी इस आगममें भक्तियुक्त हुआ है ॥ २२३ ॥

श्रीमत्सामन्तभद्रं वचनमिति बुधः प्रीतिमन्तर्विनीतो ॥
धृत्वा संवृत्य कर्माप्यखिलभवभवोद्भूतिहेतोर्निशल्यः ।
योऽभूच्छ्रीवीरसेनो विबुधजनकृताराधनोऽगाधवृत्तिः ॥
तस्माल्लब्धप्रसादे मयि भवतु च मे बुद्धिवृद्धौ विशुद्धिः ॥ २२४ ॥
सो[1]ऽयं श्रीगुणसेनसंयमधरप्रव्यक्तभक्तिः सदा ।
सत्प्रीतिं तनुते जिनेश्वरमहासिद्धान्तमार्गे नरः ॥
भूत्वा सोऽपि नरेन्द्रसेन इति वा यास्यत्यवश्यं पदम् ।
श्रीदेवस्य समस्तसाधुमहितं तस्य प्रसादात्ततः[2] ॥ २२५ ॥
इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे [3]पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते अजीवतत्त्वआस्रवतत्त्व-
बन्धतत्त्वनिरूपणं नवमोऽध्यायः ॥

यह श्रीसमन्तभद्र स्वामीका वचन है ऐसा समझकर, अन्तःकरणसे नम्र होकर उस प्रिय वचनको धारण कर तथा अनेक भवोंमें उत्पत्ति होनेके कारण ऐसे संपूर्ण कर्मोंका संवर करके जो शल्यरहित हुए हैं, विद्वज्जनोके द्वारा आराधाना की जानेपरभी जिनका स्वभाव गंभीरही है ऐसे श्रीवीरसेनआचार्यसे मुझे प्रसाद प्राप्त हुआ है, इसलिये मेरी बुद्धिकी वृद्धिमें निर्मलता प्राप्त हो ॥ २२४ ॥

श्रीगुणसेन नामक संयमधारी आचार्यमें जिसने अतिशय व्यक्त ऐसी भक्ति हमेशा की है वह मनुष्य जिनेश्वरके महासिद्धान्तमार्गमें उत्तम प्रीति करता है तथा वह भी नरेन्द्रसेनके समान होता है और श्रीगुणसेन आचार्यके प्रसादसे संपूर्ण साधुओंसे पूज्य श्रीदेवसेन आचार्यके पदको अवश्य प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है, कि नरेन्द्रसेन आचार्यके गुरु गुणसेन थे उनकी भक्ति करनेसे नरेन्द्र सेनाचार्यको श्रीदेवसेन आचार्यके पट्टपर अभिषेक हुआ वे देवसेनपट्टके अधीश बने ॥ २२५ ॥

पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेन विरचित सिद्धान्तसार–संग्रहग्रंथमें अजीवतत्त्व, आस्रवतत्त्व और बंधतत्त्वका निरूपण करनेवाला नवमा अध्याय समाप्त हुआ ।

---

१ आ. योऽयं　२ आ. प्रसादादतः　३ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते नवमोऽध्यायः

दशमोऽध्यायः ।

निर्जीर्यते यया कर्म प्राणिना भववर्तिना । निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च ॥ १
या च कालकृता सेयं मता साधारणा जिनैः । सर्वेषां प्राणिनां शश्वदन्यकर्मविधायिनी ॥ २
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते । उपक्रमभवा सेयं सर्वेषां नोपजायते ॥ ३
येन तप्त्वा[1] नरः कर्मपुद्गलान्प्रविमुञ्चति । पुटापकाग्निसन्तप्तहेमवत्तत्तपो मतम् ॥ ४
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं तदुदीरितम् । षड्विधं बाह्यमन्यच्च तथैव मुनिपुङ्गवैः ॥ ५
वृत्तिसंख्यावमोदर्यमुपवासश्चतुर्विधः । रसत्यागो विविक्तं तच्छय्यासनमथापरम् ॥ ६
कायक्लेशश्च तद्बाह्यं षट्प्रकारमिदं तपः । कथयन्ति जिनाधीशाः कर्मणः क्षपणक्षमम् ॥ ७

दसवा अध्याय ।

(निर्जराके दो भेद ।)– संसारमें रहा हुआ प्राणी जिसके द्वारा कर्मकी निर्जरा करता है-कर्म अपनेमें थोडा थोडा निकालकर नष्ट करता है उसको निर्जरा कहते हैं । वह कालके द्वारा और उपक्रमके द्वारा होती है अर्थात् सविपाका निर्जरा और अविपाका निर्जरा ऐसे निर्जराके दो भेद होते हैं ॥ १ ॥

कालकृतनिर्जरा जिसे सविपाका निर्जरा कहते हैं । उसे जिनेश्वरोंने साधारण निर्जरा नाम दिया है । अर्थात् वह संपूर्ण प्राणियोंको हमेशा होनेवाली और हमेशा अन्यकर्मोको जीवमें लानेवाली है । तात्पर्य यह है, कि कर्मका उदय होकर कर्म अपना फल देकर निकल जाता है परंतु उसी समय आत्मा रागद्वेषवश होता है और बहुतसे नये कर्मोंका संग्रह तत्काल उसमें होता है । यह निर्जरा चतुर्गतिके सर्व प्राणियोंको होती है ॥ २ ॥

(अविपाका निर्जरा ।)– कर्मका उदयकाल प्राप्त होनेके पूर्वही अनेक प्रकारके तपश्चरणोंसे उदयमें लाकर उसको आत्मासे अलग करना अविपाका निर्जरा है । इस निर्जराके समयमें आत्मा रोगी–द्वेषी–मोही नहीं होता; जिससे नया कर्म आत्मामें प्रविष्ट नहीं होता । ऐसी निर्जराको औपक्रमिकी निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा सभी जीवोंको नहीं होती । अर्थात् वीतराग मुनियोंको यह निर्जरा होती है ॥ ३ ॥

(तप शब्दकी निरुक्ति अर्थात् अन्वर्थता ।)– मूसके अग्निमें सन्तप्त हुए सोनेसे इतर धातुका मिक्षण और मल नष्ट होता है, वैसे जिससे तप्त होकर मनुष्य कर्मपुद्गलोंको छोड देता है वह तप है, अर्थात् तपसे मनुष्य संतप्त होनेसे कर्ममल नष्ट होता है ॥ ४ ॥

(तपके दो भेद ।)– बाह्यतप और अभ्यंकर तप ऐसे तपके दो भेद कहे हैं । बाह्यतपके छह भेद हैं तथा अभ्यंतर तपकेभी छह भेद है, ऐसा श्रेष्ठ मुनियोंने कहा हैं । वृत्तिसंख्यान,

---

१ आ. तप्तो

भिक्षार्थिनो मुनेरत्र तद्गृहैः[1] परिसंख्यया । वर्तनं वृत्तिसंख्यानं कथयन्ति कथाविदः ॥ ८
अथाशाया निवृत्त्यर्थं एकागारादिचिन्तनम्[2] । यत्रैव कुरुते साधुर्वृत्तिसंख्या नु सा मता ॥ ९
तोषसंयमसिद्ध्यर्थं शमस्वाध्यायकारकम्[3] । निद्रादोषापहं साधोरवमोदर्यमीर्यते ॥ १०
विषयेभ्यो निवृत्त्याशु संयमस्तिमितात्मनः । अक्षप्रशमनार्थं[4] च सूपवासो निगद्यते[5] ॥ ११

अवमोदर्य, चतुर्विध उपवास, रसत्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ऐसा छह प्रकारका बाह्य तप कहा है । यह कर्मका क्षय करनेवाला है ऐसा जिनेश्वर कहते हैं ॥ ५–७ ॥

(वृत्तिपरिसंख्यान तपकी निरुक्ति ।)– भिक्षाग्रहण करनेकी इच्छा रखनेवाले मुनि दाताओंके घरोंका प्रमाण कर उनमेंसे किसी एक घरमें आहार लेते हैं । उनके इस तपका नाम वृत्तिपरिसंख्यान है ऐसा तपःकथाको जाननेवाले मुनि कहते हैं ॥ ८ ॥

स्पष्टीकरण– एक घर, सात घर, एक गली, आधा गाम आदिमें आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है । यह गृहविषयक वृत्तिपरिसंख्यान हुआ । इसी प्रकार दातृविषयक, पात्रविषयक आदि परिसंख्यानभी इसी तपमें समाविष्ट होते हैं । अमुक दाताने आहार दिया तो मैं ग्रहण करूंगा, अमुक पात्रमें– सोनेके पात्रमें, चांदीके पात्रमें इत्यादि पात्रमें आहार मिलेगा तो ग्रहण करूंगा इत्यादि प्रतिज्ञाको– संकल्पको वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं ॥ ८ ॥ (अनगारधर्मामृत अ. ७ वा श्लो. २६)

आशाका त्याग करनेके लिये ऊपरके श्लोकमें जैसा कहा है, उसके अनुसार जो साधु एक घर सात घर आदिका संकल्प करता है, उसका यह वृत्तिसंख्यान नामक तप है ॥ ९ ॥

(अवमोदर्य तप करनेके हेतु)– जिसमें थोडा अन्न खानेसे पेट पूर्ण नहीं भरता, खाली रहता है ऐसे तपको अवमोदर्य तप कहते हैं । यह तप संतोषकी प्राप्तिके लिये संयमसिद्धिके लिये, किया जाता है । यह तप वातादिक दोषोंका प्रशमन करके स्वाध्यायकी सिद्धि करता है, निद्राके दोषभी इस तपसे दूर होते हैं साधुके इस तपको अवमोदर्य कहते हैं ॥ १० ॥

स्पष्टीकरण– पुरुषका आहार बत्तीस घास प्रमाण हैं और स्त्रियोंका आहार अट्ठाईस घास प्रमाण होता है । इस आहारमेंसे इकतीस तीस आदिको लेकर एक घासतक जो आहार लेना वह सब अवमोदर्य तप है । (अनगारधर्मामृत अ. ७ वा श्लो. २२ वा)

(अनशन तप)– पंचेंद्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर संयमकी स्थिरताके लिये और इंद्रियोंका प्रशम होनेके लिये उपवास तप कहा है ॥ ११ ॥

---

१ आ. तद्वृत्तेः　२ आ. पाका　३ आ. सम　४ आ. अक्षाण्युपवसन्त्यस्यो　५ आ. स

नियम्य करणग्रामं तप्त्वा देहमशेषतः । कर्मात्मनोः पृथक्त्वं न[1] कर्तुमेनं विना क्षमः ॥ १२
इन्द्रियाणां महावीर्यविनिवृत्त्यर्थमेव[2] च । घृतादिवृष्यवस्तूनां त्यागो रसविवर्जनम् ॥ १३
विविक्तेषु प्रदेशेषु स्वाध्यायध्यानवृद्धये । यच्च शय्यासनं साधोः पञ्चमं तत्तपो महत् ॥ १४
आतापनमहायोगो वृक्षमूलाधिवासना । साधोर्निरावृतस्यापि कायक्लेशो महानयम् ॥ १५
बाह्यत्वं बाह्यभूतस्यापेक्षयास्य तपस्विनः । कथयन्ति मनोरोधादान्तरं हि तथेतरत् ॥ १६
प्रायश्चित्तं विनीतत्वं वैयावृत्यमनिन्दितम् । स्वाध्यायश्च तनूत्सर्गो ध्यानमन्तर्गतं तपः ॥ १७

यदि यह उपवास तप नहीं किया जायगा तो इंद्रियोंका समूह अपने स्वाधीन नहीं रहेगा । इन्द्रियोंका समूह स्वाधीन करके संपूर्ण देहको संतप्त कर कर्म और आत्माको भिन्न करनेके लिये उपवासके बिना कोई समर्थ नहीं है ॥ १२ ॥

(रसत्याग तप ।)– इंद्रियोंका जो विशाल सामर्थ्य है उसको घटानेके लिये घी, दही, गुड, तेल आदिक रसोंका, जो कि वीर्यवर्धक हैं त्याग करना रसविसर्जन– रसत्याग नामक तप है ॥ १३ ॥

(विविक्तशय्यासनत्याग ।)– स्वाध्याय और ध्यानमें वृद्धि होनेके लिये जहां जन्तुपीडा नहीं होती ऐसे एकान्त स्थानोंमें जो सोना और बैठना वह महान् पांचवा तप है ॥ १४ ॥

(कायक्लेश तप ।)– संपूर्ण परिग्रह त्यागी– दिगंबर मुनीश्वर आतापन नामक महायोग धारण करते हैं तथा वृक्षमूलाधिवास नामक महायोग धारण करते है उनका वह महान् कायक्लेश नामक तप है ॥ १५ ॥

स्पष्टीकरण– ग्रीष्मके दिनोंमें पर्वतके ऊपर खडे होकर तप करना और सूर्यका आताप सहन करना आतापन योग है । वर्षाकालके दिनोंमें वृक्षतलमें बैठकर जलवृष्टिआदिक क्लेश सहन करना तथा शरीरखेद सहन करना कायक्लेश तप है । सुखासक्ति नष्ट करनेके लिये, धर्म प्रभावनाके लिये और देहदुःख सहन करनेके लिये यह तप मुनि करते हैं ।

(तपके बाह्यत्व और अन्तरंगत्वकी सिद्धि ।)– अनशनादि तपोंमें तपस्वियोंको बाह्यभूत जो आहारादि पदार्थ उनके त्यागादिकी अपेक्षा होती है इसलिये अनशनादिक तप बाह्यतप कहे जाते हैं । प्रायश्चित्तादि तपोंको अंतरंगतप कहते हैं; क्योंकि उनमें मनको स्वाधीन करना पडता है । तथा अनशनादिक तप परप्रत्यक्ष होते हैं इसलिये भी उनको बाह्यतप कहते हैं । तथा अन्य धर्मीय साधु और गृहस्थभी अनशनादिक तप करते हैं इसलियेभी इनको बाह्य तप कहना चाहिये ॥ १६ ॥

(अन्तरंग तपके भेद ।)– प्रायश्चित्त, विनीतत्व– विनय, प्रशंसनीय वैयावृत्य, स्वाध्याय कायोत्सर्ग और ध्यान ये छह तप अन्तरंग तप है ॥ १७ ॥

---

१ आ. कः २ आ. दर्प

नमस्कृत्य महावीरं मेदार्यं च गणेश्वरम् । वीरसेनं च वक्ष्यामि प्रायश्चित्तं कियत्स्वतः ॥ १८
प्रायः प्राणी करोत्येव यत्र चित्तं सुनिर्मलं । तदाहुः शब्दसूत्रज्ञाः प्रायश्चित्तं यतीश्वराः ॥ १९
सति दोषे न चारित्रं कर्माभावो न तद्विना । निर्वृतिस्तदभावे न तस्माद्व्रतमनर्थकम् ॥ २०
अत एव प्रकुर्वन्ति तदेवादौ महत्तपः । प्रायश्चित्तमकुर्वाणो न नरः शुद्धिमृच्छति[1] ॥ २१
प्रायश्चित्तविधिं शुद्धमजानानो गणी पुनः । स्वात्मानं दूषयत्येव शिष्यं च प्रतिवर्तिनम् ॥ २२
गुरुमासस्तथा भिन्नमासो लघ्वादिमासकः । पञ्चकल्याणभेदश्च[2] भवन्त्येते सुनिर्मलाः ॥ २३
पञ्च चाम्लानि पूतानि नीरसाहारपञ्चकम् । एकस्थानानि पञ्चेति[3] पुरुमण्डलपञ्चकम् ॥२४
क्षपणानि तथा पञ्च सर्वैः संमीलितैर्भवेत् । पञ्चकल्याणकं नाम विशुद्धेः कारणं परम् ॥ २५
कालक्षेत्रे तथा भावद्रव्यसत्त्वाद्यपेक्षया । स एव सान्तरः प्राज्ञैर्गुरुमासो[4] निगद्यते ॥ २६

(प्रायश्चित्ततपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा ।) – श्रीमहावीरप्रभुको, मेदार्य नामक गणधरजीको और श्रीवीरसेन आचार्यको नमस्कार करके मैं खुद कुछ प्रायश्चित्त तपका वर्णन करता हूं ॥ १८ ॥

(प्रायश्चित्तकी निरुक्ति ।) – जिसमें प्रायः प्राणी अपने चित्तको–मनको निर्मल बनाता है, ऐसे तपको शब्दसूत्रके ज्ञाता मुनीश्वर प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ १९ ॥

(प्रायश्चित्तको प्रथम स्थान क्यों ?) – यदि दोष उत्पन्न होंगे तो चारित्र नहीं रहता और चारित्रके बिना कर्मका नाश नहीं होगा और कर्मोंका अभाव नहीं होनेपर मोक्षसुखकी प्राप्ती नहीं होती और व्रतोंका पालन व्यर्थ होगा । इसलिये मुनीश्वर वही तप प्रथमतः करते हैं । प्रायश्चित्ततप नहीं करनेवाला मनुष्य दोषोंका अभाव न होनेसे शुद्ध नहीं होगा । परिणाम निर्मल नहीं होंगे ॥ २०–२१ ॥

(प्रायश्चित्तके अज्ञाता आचार्य ।) – प्रायश्चित्तकी विधि और शुद्धि न जाननेवाला आचार्य अपनेकोभी तथा अपना अनुसरण करनेवाले शिष्यकोभी दोषयुक्त करता है ॥ २२ ॥

(प्रायश्चित्तोंके नाम ।) – गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, पञ्चकल्याण ये प्रायश्चित्तके प्रकारोंके नाम हैं और ये प्रायश्चित्त अतिशय निर्मल हैं ॥ २३ ॥

(पंचकल्याण प्रायश्चित्तका स्पष्टीकरण ।) – पांच आचाम्लभोजन–कांजीमिश्रित भात, पांच नीरस आहार, पांच एकस्थान, पांच पुरुमंडल–कांजी भोजन तथा पांच क्षमण–उपवास ये सब मिलकर पंचकल्याणक होता है और यह पंचकल्याणक नामक प्रायश्चित्त विशुद्धिका उत्तम कारण हैं ॥ २४–२५ ॥

जहां पानी बहुत है ऐसा प्रदेश, जिसमें कम वर्षा होती है ऐसा प्रदेश, काल-ग्रीष्म वर्षा, हिमकाल-क्षेत्र भाव-परिणाम, द्रव्यसत्त्व शरीरका सामर्थ्य इत्यादिकोंकी अपेक्षासे जब उपर्युक्त पंच-

---

१ आ. मिच्छति　२ आ. भेदा　३ आ. लघुमासा.　४ आ. लघुमासो

आचाम्ले क्षपणे वापि नीरसे वापि शोधिते । अन्तराये तथैवासौ यो विरम्य[1] विधीयते ॥ २७
एकैकेषु च पञ्चैषु सर्वेष्वपगतेषु च ॥ भिन्नमासः स एव स्याद्भिन्नबहुकल्मषः ॥ २८
उपवासैस्त्रिभिः प्रोक्तमपि कल्याणकं बुधैः । ऐकैकेनाथवा[2] तेषु निरन्तरकृतेषु तत् ॥ २९
नवधा सुनमस्कारैस्तनू[3]त्सर्गैर्विनिर्मितः[4] । एतैं[5] र्द्वादशभिस्तावदुपवासः प्रजायते ॥३०
पादोनं[6] काञ्जिकाहारात्पादैकः पुरुमण्डलात् । अर्धं निर्विकृतेस्तस्य स्यादेकस्थानतस्तथा ॥ ३१
मनोवाक्कायगुप्तः सन्नष्टोत्तरशतं जपेत् । योऽपराजितमाप्नोति स भव्यः प्रोषधं[7] फलम् ॥ ३२
दोषः[8] कालस्तथा क्षेत्रं छेदो भुक्तिः पुमानिति । षोढा विधिर्भवत्यत्र ज्ञातव्यः स मनीषिभिः ॥३३

कल्याणक प्रायश्चित्त कुछ कालके अन्तरसे किया जाता है तब विद्वान् उस प्रायश्चित्तको गुरुमास प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ २६ ॥

पांच आचाम्ल, पांच उपवास, पांच नीरस भोजन, इनमेंसे कुछ कम यदि किया जाता है अथवा पांचोंमेंसे एक एक कम यदि किया जाय तब उसको भिन्नमास कहते हैं । यह भिन्न मास प्रायश्चित्त बहुत पापोंका नाश करता है ॥ २७–२८ ॥

तीन उपवास करनेपरभी कल्याण प्रायश्चित्त होता है ऐसा विद्वानोंने कहा है । अथवा एक आचाम्लभोजन, एक नीरस भोजन, एक एकस्थान, एक पुरुमंडल और एक उपवास निरन्तर करनेपरभी वह कल्याण नामक प्रायश्चित्त होता है ॥ २९ ॥

एक कायोत्सर्गमें नौ पंचनमस्कार होते हैं और एकसौ आठ वार पंचनमस्कारोंका जप करनेसे उपवास होता है । अर्थात् बारह कायोत्सर्गोंका एक उपवास कहा है ॥ ३० ॥

काञ्जिकाहार करनेका जो फल है वह फल एकासी बार पंचनमस्कारका जप करनेसे प्राप्त होता हैं । तथा एकस्थानसे जो फल मिलता है वह चौवन बार पंचनमस्कारका जप करनेसे प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

(एक प्रोषधका फल ।)– मन, वचन और शरीरकी एकाग्रता कर जो भव्य एकसौ आठ बार पंचनमस्कार मंत्रका जप करता है उसे एक प्रोषध अर्थात् एक उपवासका फल प्राप्त होता है । अर्थात् एक प्रोषधसे जितनी कर्मनिर्जरा होती है उतनी कर्मनिर्जरा १०८ बार पंच मंत्र जपनेसे प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

इस प्रायश्चित्तके प्रकरणमें जो छह बातें विद्वानोंको जानना आवश्यक है वे इस प्रकार हैं– दोष, काल, क्षेत्र, छेद–प्रायश्चित्त, भुक्ति और पुरुष–दोषी । दोष–अपराध, काल ग्रीष्मादिकाल, क्षेत्र–जलप्राय, शुष्क, साधारण ऐसे देश, छेद-प्रायश्चित्त, भक्ति–प्रायश्चित्त

---

१ आ. विश्रम्य २ आ. नाथवैतेषु ३ आ. स्तत्तत्सर्गो ४ आ. विनिर्मितैः ५ आ. स तैः ६ आ. पादोनः ७ आ. प्रौषधं ८ आ. दोषं कालं तथा क्षेत्रं

निमित्तादनिमित्ताच्च दोषस्याचरणं द्विधा । अष्टौ भङ्गाः पुनः सन्ति द्वयोरपि विभाविताः ॥३४
सहेतुकोऽपरस्तस्य सकृत्कारी तथेतरः । सानुवीचिर्विपक्षोऽस्य सप्रयत्नोऽप्रयत्नकः ॥ ३५
एवमष्टौ विकल्पाः स्यु सनिमित्तानिमित्तयोः । सर्वे संमिलिताः सन्ति षोडशैते जिनागमे ॥ ३६
अन्येऽपि बहवो भङ्गाः सन्त्यत्रागमवर्णिताः । ज्ञात्वा तांस्तारतम्येन छेदं दद्याद्यतीश्वरः ॥ ३७
परिहर्तुमशक्यत्वाच्छोध्यते[1] यत्पुनः पुनः । परिस्पन्दादितद्दोषात्कायोत्सर्गेण शुध्यति ॥ ३८
अन्नपानादिहेतूत्थं यच्च दूषणमल्पकम् । तस्मादपि विशुद्ध्यन्ति कायोत्सर्गान्मुनीश्वराः[2] ॥ ३९
अप्रतिलेखितस्पर्शे तथा कंडूयनादिषु । मलोत्सर्गादिके वापि कायोत्सर्गेण[3] शुध्यति ॥ ४०

लेनेवालेका निर्मल परिणाम, भुक्ति–आहार और दोषी पुरुष–इन बातोंको विचारमें जो लेते हैं वे योग्य और आगममान्य होते हैं। अन्यथा अज्ञानसे प्रायश्चित्त देना योग्य नहीं है ॥ ३३ ॥

जो दोष मुनियोंके द्वारा किया जाता है वह निमित्तसे या अनिमित्तसे होता है इस प्रकारसे दोषके दो भेद होते हैं। निमित्तजात–दोष और अनिमित्तजात–दोष। इन दोनोंकोभी पुनः आठ आठ भेद होते हैं ऐसा आचार्योंने प्रगट किया है ॥ ३४ ॥

सहेतुक– हेतुपूर्वक दोष करना, अहेतुक–हेतुके बिनाही दोष करना, एकबार दोष करना, अनेकबार दोष करना, सानुवीचि–विचार करके दोष करना, अविचारसे करना, प्रयत्न पूर्वक दोष करना और अप्रयत्नपूर्वक दोष करना, इस प्रकार निमित्त और अनिमित्तके आठ आठ दोष होते हैं। सब मिलकर सोलह प्रकार जिनागममें कहे हैं। अन्यभी बहुतसे भंग अर्थात् दोषोंके प्रकार हो सकते हैं जिनको आगममें वर्जित माना है। उन सब दोषोंको जानकर यतीश्वर अर्थात् आचार-तारतम्यसे प्रायश्चित्त देवें ॥ ३५–३७ ॥

कायोत्सर्गसे निवृत्त होनेवाले दोष। कोई दोष ऐसे होते हैं, कि उनका परिहार–त्याग करना अशक्य होता है। इसलिये पुनः पुनः उनका प्रायश्चित्त लेकर उन दोषोंसे शुद्ध होना पडता है। जैसे गमनागमन करना पडता है और उसमें असावधानतासे दोष शुद्ध होते हैं। ऐसे दोषोंका परिहार कार्योत्सर्गसे होता है ॥ ३८ ॥

अन्नपानादि कारणोंसे जो अल्पसा दोष उत्पन्न होता है उससेभी मुनीश्वर कार्योत्सर्ग करके शुद्ध होते हैं। जो वस्तु पिच्छिकासे नहीं स्वच्छ की है, उसको स्पर्श होनेपर कार्योत्सर्गसे शुद्धि होती है। तथा शरीरके खुजानेसे जो दोष होता है वह कार्योत्सर्गसे होता है। मलोत्सर्गादिकमें शौचको जाना, मूत्र करके आना आदिक दोषनिराकरणके लिये कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥ ३९–४० ॥

स्पष्टीकरण– अन्न पानादिकके दोषमें पच्चीस उच्छ्वासतक कायोत्सर्ग करना चाहिये।

१ आ. भां. सेव्यते　२ यतीश्वराः　३ कायोत्सर्गे विशोधनम्

तृणलोष्टादिकच्छेदे स्तोके वा हस्तकर्मणि । कायोत्सर्गमितो दण्डो मनोमासिकसेवनात्[1](?)॥४१
मृत्तिकायवगोधूममुद्गमाषादिमर्दने । हरितत्रसकायानां संघट्टेऽपि तनूत्सृतिः ॥ ४२
उद्धूलितपदस्तोये तोयलिप्तपदोऽथवा । पांसुमध्ये विशेद्यस्तु तस्य स्यात्पुरुमण्डलम् ॥ ४३
यस्तु कर्दमलिप्ताङ्घ्रिर्जले विशति संयतः । कल्याणपञ्चकं तस्य जायते शुद्धिहेतवे ॥ ४४
आर्द्रैकतृणविच्छेदे छिन्ने वानंतकायिके । आचाम्लादि दिशेद्दंडं एकस्थानं द्वितीयके ॥ ४५
अनंतकायिनो ज्ञेयाः सूरणस्नुहिमूलिकाः[2] । अन्ये वा स्युर्गडूच्याद्या बहवोऽनंतकायिकाः ॥ ४६
यस्य मूलेषु शाखायां पत्रे वा सन्ति सर्वदा । अनन्तकायिनो जीवा म्रियन्ते तद्विघाततः ॥ ४७

तृण, मट्टीका डेला, आदिक पदार्थ हाथसे तोडने फोडने पर तथा हाथसे कुछ अन्य कार्य करनेपर कायोत्सर्ग मात्र दण्ड है अर्थात् कायोत्सर्ग करनेसे शुद्धि होती है। ('मनोमासिक सेवनात्' इसका अर्थ हमारे ध्यानमें नहीं आता है) ॥ ४१ ॥

मट्टी, जौ, गेहुं, मूंग, उडद आदि धान्योंका मर्दन करनेपर हरी–सचित्त वनस्पति और त्रसकायके आपसमें संघट्ट–मुनिके हाथ आदिके द्वारा होनेपर कायोत्सर्गसे शुद्धि होती है ॥४२॥

(पुरुमंडल प्रायश्चित्तका दोष।)– जिसके पांव धूलीसे भरे हुए हैं ऐसा मुनि पानीमें चला जाय अथवा पानीसे जिसके पांव भीगे हैं ऐसा मुनि धूलीमें प्रवेश करे तो पुरुमंडल नामक प्रायश्चित्तसे वह शुद्ध होता है। अर्थात् वह कांजीभोजन करनेसे शुद्ध होता है ॥ ४३ ॥

कीचडसे जिसके पांव भर गये हैं–लिप्त हुए हैं ऐसा मुनि यदि जलमें प्रवेश करेगा तो उसकी शुद्धिके लिये कल्याणपंचक नामका प्रायश्चित्त है। अर्थात् वह मुनि जिससे जिह्वा और मन विकारयुक्त न हो ऐसा आहार करें, जिसको निर्विकृति आहार कहते हैं। पुरिमंडल आहार, आचाम्ल आहार–भात इमलीका पानक खावें, एक स्थान करें और उपवास करें। एक निर्विकृति आहार, एक पुरुमंडल आहार–कांजी भोजन, एक आचाम्ल आहार, एक एकस्थान और एक उपवास ऐसे पांच प्रकारको कल्याणपंचक प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ४४ ॥

यदि मुनि गीली घास तोडेगा अथवा अनंतकायिक वनस्पति तोडेगा तो आचार्य उसे आचाम्लाहारका प्रायश्चित्त और एकस्थानका प्रायश्चित्त देवें ॥ ४५ ॥

(अनंतकायिक वनस्पति और उसका लक्षण।)– सूरण, स्नुही–तीन धारवाली नागफणी नामक वनस्पति, मूलक, गडूची–गिलोय आदि शब्दसे कुमारी आदिक अनेक अनंतकायिक वनस्पति हैं। जिसके मूलमें, शाखामें और पत्रोंमें सर्वदा अनंतकायिक जीव रहते हैं और उनके ऊपर आघात करनेसे–प्रहार करनेसे–मूल, शाखा, पत्रके ऊपर आघात करनेसे वे जीव मरते हैं ॥ ४७ ॥

---

१ मनोमासिकसेवने　२ आ. मूलिकाः

व्यापत्तौ त्रसजीवस्य सप्रमादाप्रमादयोः । एकं कल्याणकं तद्वा नीरसाहारपञ्चकम् ॥ ४८
पञ्चकल्याणकं दण्डे तस्मिन्नाभीक्ष्ण्ययोगतः । व्यापन्ने सति पञ्चाक्षे दर्पात्कल्याणपञ्चकम् ॥४९
पीठादिचलने वास्मिन्व्यापन्ने सति जायते । निःप्रमादवतश्छेद एककल्याणपञ्चकम् ॥ ५०
वसतेर्द्वारिदेशे चेत्पञ्चाक्षो दृश्यते मृतः । तन्निर्गतप्रविष्टानामेककल्याणकं भवेत् ॥ ५१
गृहस्थसंयतेभ्यो वा न यत्र कथिते सति । वृश्चिकादौ हतेऽन्येन क्षमणं पञ्चकं क्रमात् ॥ ५२
अनेनैव क्रमेणाऽपि सर्पादौ निहते सति । प्रयत्नेन तु कल्याणं मासिकं वा प्रयत्नतः ॥ ५३
यतीनामतियत्नेन विषीति प्रतिपादिते । अन्येन निहते तस्मिन्विशुद्धः समितो यतः ॥ ५४
भिषगादेशतो वह्नेः प्रज्वालनमतिव्यथम् । अनापृच्छचातुरं कुर्वन्पञ्चकल्याणभाग्भवेत् ॥ ५५
कारिणे ननु गृह्णाति हरीतकीवचादिकान् । यदि न दुष्यति तदा साधुरिति वाचो विपश्चिताम् ॥

.....

(त्रसजीवके नाशका प्रायश्चित्त ।)– असावधानतासे एक त्रसजीवका घात यदि मुनि करे तो उसे एक कल्याण नामक प्रायश्चित्त है अर्थात् एक निर्विकृति, एक पुरुमंडल, एक आचाम्ल, एक एकस्थान और एक उपवास । और अप्रमाद अवस्थामें त्रसजीवका घात यदि मुनिसे हो जाय तो पांच नीरसाहार ग्रहण करनेका प्रायश्चित्त आचरें ॥ ४८ ॥

मुनि प्रमादरहित है परंतु पीठादिके चलनेसे अथ अकस्मात् कोई जीव मर जाय तो एक कल्याणपंचक नामका प्रायश्चित्त है जिसका ऊपर उल्लेख आया है ॥ ४९ ॥

वसतिकासे बाहर निकलते समय अथवा वसतिकामें प्रवेश करते समय यदि वसतिका द्वारदेशमें पञ्चेन्द्रिय जीव मरा हुआ देखा जाय तो एक कल्याणक प्रायश्चित्त है अर्थात् निर्विकृति आदिक पांचोमेंसे कोईभी प्रायश्चित्त जो आचार्य बतावे मुनि उसका आचरण करें ॥ ५०–५१ ॥

(बिच्छुके नाशका प्रायश्चित्त ।)– गृहस्थ अथवा मुनियोंने बिछु आदिक जन्तु यत्नपूर्वक पकडो ऐसा नहीं कहा और किसीने उसका घात किया तो गृहस्थ और मुनिको क्रमसे पांच उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ ५२ ॥

इसी प्रकारसे सर्पादिकोंका घात कोई करे तो प्रयत्न पूर्वक उसको छोड दो ऐसा कहनेपरभी यदि कोई मारेगा तो कल्याणनामक प्रायश्चित्त है और अप्रयत्नपूर्वक घात किया होगा तो मासिक प्रायश्चित्त है अर्थात् पंचकल्याण नामक प्रायश्चित्त है । यतियोंने अतिशय प्रयत्नपूर्वक विषयका प्रतिपादन किया अर्थात् बहुत सावधानतासे बिच्छु, सर्प आदिक प्राणीका रक्षण कर उसे छोड दो ऐसा कहनेपरभी यदि किसीने उनको मार डाला तो मुनिको प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि मुनि विशुद्ध है–समितियुक्त हैं ॥ ५४ ॥

वैद्यकी आज्ञासे अग्निको बुझाना, आदि करे और रोगी मुनिको इस विषयमें कुछभी न पूछें तो मुनि पञ्चकल्याण प्रायश्चित्तको ग्रहण करें ॥ ५५ ॥

कुछ कारणसे हर्र, वचा आदिक यदि मुनि ग्रहण करे तो वह निर्दोष है ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ५६ ॥

बीजपूरकबिल्वादिग्रहणेन तु शुद्धयति । एककल्याणकेनैव यदि कारणमाश्रितः ॥ ५७
कन्दर्पकौतुकुच्ये वा स्तोके मिथ्या प्रजल्पने । मिथ्याकारेण शुद्धः स्यान्निषिद्धे मलसर्जने ॥ ५८
द्वादश योजनान्येष वर्षाकालेऽभिगच्छति । यदि सङ्घस्य कार्येण तदा शुद्धो न दुष्यति ॥ ५९
यदि वादविवादः स्यान्महामतविघातकृत् । देशान्तरगतिस्तस्मान्न च दुष्टो वर्षास्वपि ॥ ६०
धातुवादेऽथवा गन्धयुक्ते रसविपर्यये । सधर्मैरेककल्याणं दर्शनान्मासिकं परैः ॥ ६१
चित्तमैथुनसेवायां मिथ्याकारेण शुद्धयति । तत्र तीव्राभिलाषेण मासिकं लभते मुनिः ॥ ६२
मैथुनस्योपसेवायां यतीनां दण्ड इष्यते । मासांस्तु चतुरो यावदेकान्तरितभोजनात् ॥ ६३

किसी कारणसे बीजपूर-बिजौरा, बेलफल आदिका ग्रहण यदि मुनि करें, तो वह एक कल्याणसेही शुद्ध होता है ॥ ५७ ॥

(मिथ्याकारसे शुद्धि ।)- कंदर्पवचन-रागके उद्रेकसे प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचन-प्रयोग, कौत्कुच्य- हसीपूर्वक भाण्डवचन बोलना, भौंहें आंखें आदिकके अभिनयके साथ हसीपूर्वक भाण्डवचन बोलना, थोडासा झूठ वचन बोलना ऐसे कार्य यदि मुनिके द्वारा होंगे तो मिथ्याकारसे शुद्धि होगी अर्थात् मेरा यह कार्य अयोग्य हुआ ऐसा वह बोलें । तथा निषिद्ध स्थानपर यदि मलमूत्रक्षेपण मुनि करें तो मैंने यह कार्य मिथ्या किया है, ऐसा वचन बोलें, जिससे अपनी निंदा व्यक्त होती है ॥ ५८ ॥

(संघकार्यके लिये वर्षाकालमें गमन प्रायश्चित्तयोग्य नहीं ।)- वर्षाकालमें संघके कार्यके लिये यदि मुनि बारह योजन तक कहीं जायगा तो वह प्रायश्चित्तही नहीं है । यदि वाद विवादसे महासंघका नाश होनेका प्रसंग हो तो वर्षाकालमेंभी देशान्तरमें जाना दोषयुक्त नहीं है ॥ ५९-६० ॥

(धातुवादादिक कथनमें प्रायश्चित्त ।)- धातुवादका कथन-उपदेश करनेपर तथा गंधादिक तयार करनेका उपदेश, पारदका शोधन मारणका उपदेश करनेपर एक कल्याण और मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये । उपर्युक्त उपदेश देते हुए मुनिको साधर्मिक देखे तो उपदेश देनेवालेको एक कल्याण नामक प्रायश्चित्त और अन्य धर्मियोंके द्वारा देखे जाय तो मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ६१ ॥

(मैथुनसेवाका प्रायश्चित्त ।)- मनमें मैथुन सेवाका विचार आनेसे मिथ्याकारसे शुद्धि होती है । और उसमें तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई तो मासिक नामक प्रायश्चित्त है ॥ ६२ ॥

(मैथुनसेवन दोषके लिये प्रायश्चित्त ।)- यदि मुनि मैथुनसेवन करे तो उनको यह दण्ड है-चार महिनेतक एकान्तरित भोजनका प्रायश्चित्त है । अर्थात् एक दिन भोजन करें, दूसरे दिन उपवास करें, ऐसी प्रायश्चित्त विधि सतत चार महिने तक करनी चाहिये; तब इस दोषका परिहार होता है ॥ ६३ ॥

हरिदङ्कुरगर्तास्बुमृत्तिकाजन्तुसङ्कुले । पथि गच्छन्विशुद्धः स्यान्मार्गाभावे प्रयत्नतः ॥ ६४
विद्यमानेऽपि चेन्मार्गे तानेव यदि लङ्घते । प्रमादाल्लभते दण्डं कल्याणपञ्चकं यतिः ॥ ६५
ज्ञानादिमदमत्तो यः स्वयूथ्यानपमन्यते । पञ्चकल्याणतः शुद्धिस्तस्यावश्यं प्रजायते ॥ ६६
क्षणध्वस्तकषायो योऽमिथ्याकाराद्विशुद्धयति । अहोरात्रेण कल्याणं मासिकं लभते ततः ॥ ६७
तर्कव्याकरणादीनां ज्योतिर्गणितछन्दसां । महाकाव्यादिशास्त्राणां शिक्षायै यदि सेवते ॥ ६८
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पार्श्वकवर्तिनः । मिथ्याकारो मतस्तस्य पञ्चकल्याणमन्यथा ॥ ६९
मार्यमाणान्विलोक्यासून्पञ्चकं लभते नरः । भिन्नमासोऽथवानिंदान्म्रियमाणान्सरोगिणः[1] ॥ ७०
यूकादिमत्कुणादीनां धारणे स्यात्प्रतिक्रमः । तैश्च क्रीडापरस्यास्ति शुद्धिः कल्याणपञ्चकात् ॥ ७१

जिस मार्गमें हरे अंकुर ऊगे हुए खड्डे हैं, पानी, किचड और जन्तु है, ऐसे मार्गसे मुनि यदि प्रयत्नपूर्वक यानी जीवोंका रक्षण करते हुए दूसरा निर्जन्तुक मार्ग न हो तो गमन करें वह विशुद्ध प्रायश्चित्त योग्य नहीं ॥ ६४ ॥

और वैसा विशुद्ध मार्ग होनेपरभी यदि मुनि अंकुर, पानी, जंतु आदिको उल्लंघते हुए गमन करें तो प्रमादगमन करनेसे कल्याणपंचक नामका प्रायश्चित्त ग्रहण करें ॥ ६५ ॥

(ज्ञानादिमदसे साधर्मिकका अपमान करनेसे प्रायश्चित्त ।) – ज्ञानादि गर्वसे साधर्मिकोंका अपमान करनेवाले मुनिकी 'पंच कल्याण' प्रायश्चित्तसे शुद्धि अवश्य होती है ॥६६॥

(कषाय करनेवालेको प्रायश्चित्त ।)– कषाय उत्पन्न होकर जल्दी यदि नष्ट हो जावेगा तो वह मुनि मिथ्याकारसे शुद्ध होता है । यदि अहोरात्रतक कषाय रहेगा तो कल्याण–पंचकल्याण प्रायश्चित्त और अहोरात्रसेभी अधिक कालतक कषाय रहेंगे तों 'मासिक' प्रायश्चित्त है ॥ ६७ ॥

(तर्कादि अध्ययन पार्श्वस्थादि मुनियोंसे करनेसे प्रायश्चित्त ।)– तर्क, व्याकरणादिक, ज्योतिष, गणित, छंदःशास्त्र महाकाव्यादि शास्त्रोंका अध्ययन दर्शनज्ञानचारित्रके सन्निध रहनेवाले पार्श्वस्थ मुनिके पास यदि किया जायेगा तो उसका प्रायश्चित्त 'मिथ्याकार' है । अन्यथा पार्श्वस्थ मुनिसे भिन्न अन्य कोई अन्यधर्मी साधुके पास अध्ययन करें तो 'पंचकल्याण' प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥ ६८–६९ ॥

(प्राणीको मारते हुए जो देखें तो वह प्रायश्चित्तार्ह हैं ।)– कोई प्राणीको मारता है और कोई मुनि उनको देखता है तो उसको कल्याणपंचक प्रायश्चित्त है । और मरते हुए रोगीको कोई मुनि देखे तो भिन्नमास प्रायश्चित्त उसको है अथवा यदि वह निंदा करें तो दोषरहित होता है ॥ ७० ॥

जू, खट्मल आदिक छोटे जन्तुओंको मुनि पकडे तो प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है । और यदि वह मुनि उनसे क्रीडा करेगा तो कल्याणपंचकसे उसकी शुद्धि होती है ॥ ७१ ॥

आ. भां. १ सूरिसूर्यो न दूष्यति ।

शय्यागारादिकस्यापि सधर्मणां कृते कृतौ । कर्तुर्वात्सल्यतो यत्तन्नास्ति दोषो मनागपि ॥ ७२
वन्दारुः शुद्ध एवासौ पार्श्वस्थगणिनो गणी । संघमेलापकेऽन्यत्र मासिकं दण्मडश्नुते[1] ॥ ७३
राजादिराजलोकानां स्नेहमुत्पादयन्नपि[2] । नैव दुष्टो गणी कश्चित्तद्भृत्यपालनहेतुतः ॥ ७४
अभ्युत्थानादिकं कुर्वन्गृहस्थेष्वन्यलिङ्गिषु । दीक्षादिकारणाच्छुद्धो मासिकं चान्यथा भजेत् ॥७५
राजासन्नासनस्थोऽपि धर्मादिः कारणाश्रयात् । अभ्युत्थानेऽथवा तस्य सूरिसूर्यो न दुष्यति ॥ ७६
भूपत्याद्याः[3] समागत्य पूजयन्ति यतीश्वरम् । पूजितस्य च तैर्गर्वे मासिकं तस्य जायते ॥ ७७
निषद्यासेवनं[4] मिथ्याकारेच्छा- सुनिमन्त्रणं । यो न कुर्वन्नरस्तस्य पुरुमण्डलमीरितम् ॥ ७८

(साधर्मिकोंको शय्या और वसतिका देनेमें प्रायश्चित्तका अभाव ।)- तृणकी शय्या, फलककी शय्या तथा वसतिका साधर्मिकोंके लिये कोई दें अथवा करें तो वात्सल्यभाव होनेसे शय्यादिके देनेवालेको प्रायश्चित्त दोष हैही नहीं ॥ ७२ ॥

संघमें सब मुनियोंका समूह होनेसे पार्श्वस्थ गणीको यदि आचार्य वंदन करें तो वह शुद्धही है परंतु जब अकेले पार्श्वस्थ आचार्यको वंदन करें तो वह मासिक प्रायश्चित्तको योग्य है ॥ ७३ ॥

(संघपालनार्थ राजस्नेह करनेवाले आचार्य निर्दोष है ।)- राजादिक और उनके सेवकोंका स्नेह रखनेवाले आचार्य दोषी नहीं हैं, क्योंकि, वे संघका पालन राजादिकोंके साथ स्नेह रखनेसे होगा ऐसा उद्देश मनमें रखकर वैसा स्नेह पालन करते हैं ॥ ७४ ॥

कोई गृहस्थ दीक्षा आदि कार्यके लिये आया है, तो उसका अभ्युत्थानादिक यदि करें तो वह दोषी नहीं है और अन्यधर्मीय साधु दीक्षा ग्रहणके लिये आया हो तो उसकाभी आदर करनेमें आचार्य दोषी नहीं है । यदि इन कारणोंके बिना आचार्य आदर करें उठकर खडे होना आदि विनय करें तो वह मासिक प्रायश्चित्तके योग्य है ॥ ७५ ॥

राजा आसनपर बैठा है और धर्मादिक कारणसे आचार्य राजाकी सभामें आयें और राजा आदरके लिये आसनसे ऊठनेपर अथवा न ऊठनेपर आचार्यको दोष नहीं है । राजा, मंत्री आदिक आकर आचार्यकी पूजा करनेसे मेरी पूजा राजादिक करते हैं ऐसा गर्व यदि आचार्य करें तो उनको मासिक प्रायश्चित्त है ॥ ७६-७७ ॥

जो साधु निषद्यासेवन नहीं करता है अर्थात् जहां जैन मुनि समाधिमरण करते हैं उस स्थानकी वंदना नहीं करता हैं, जो मिथ्याकार, इच्छाकार और निमंत्रण नहीं करता है- नहीं बुलाता है उसको पुरुमंडल नामक प्रायश्चित्त होता है ॥ ७८ ॥

१ आ. छेद　२ आ. भ्रयं　३ आ. नृपाद्याः　४ आ. सेविका

उष्णकाले जघन्यं स्याद्वर्षाकाले तु मध्यमं । उत्कृष्टं शीतकाले तत्प्रायश्चितं विधीयते ॥ ७९
चतुर्थं ग्रीष्मकाले स्यात्षष्ठं[1] हि स्याद्धनागमे । प्रदेयं शीतकाले स्यादष्टमं[2] च विशोधनम् ॥८०
शरद्वसन्तो ग्रीष्मश्च त्रयोऽमी गुरवो मताः । प्रावृट्शिशिरहेमन्ता लघवो लघुकर्मभिः ॥ ८१
इति कालविभागेन तपो देयं मनीषिभिः । अन्यथा दातुरप्येतत्प्रायश्चित्तं प्रजायते ॥ ८२
अनूपं कथ्यते क्षेत्रं सिन्ध्वादिमलयादिकम् । जाङ्गलं जलसंयुक्तं समुद्रान्तं त्रसाधिकम् ॥ ८३
भक्तयुग्माषयुक्तावत्पञ्चमं सक्तुयुग्मतम् । रसधान्यपुलाकं च यवाग्वाद्युपभोजनम् ॥ ८४
सूरणादिमहाकन्दप्रचुरं कन्दयुग्मतम् । तन्मनाग्मूलिनीपूर्वं मूलयुग्मूलभुङ्मतम् ॥ ८५
क्षेत्राणि च दशैतानि ज्ञातव्यानि विशेषतः । समस्तवस्तुसात्म्यात्स्यात्सौम्यं साधारणं मतम् ॥८६

(कालकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त वर्णन ।)– उष्णकालमें जघन्य प्रायश्चित्त है । वर्षाकालमें मध्यम प्रायश्चित्त है और शीतकालमें उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है ॥ ७९ ॥

ग्रीष्मकालमें एक उपवासका प्रायश्चित्त, वर्षाकालमें दो उपवास और शीतकालमें तीन उपवासका प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ८० ॥

शरत्काल, वसन्त और ग्रीष्म ये तीन ऋतुकाल गुरु हैं और वर्षाऋतु, शिशिरऋतु और हेमन्तऋतु ये लघु–कार्यसे लघु है ॥ ८१ ॥

ऐसे काल विभागके अनुसार विद्वान् आचार्य मुनियोंको प्रायश्चित्त देवें । परंतु कालविभागका विचार न करते हुए आचार्य यदि प्रायश्चित्त देने लगे तो वेही प्रायश्चित्तार्ह हो जाते हैं ॥ ८२ ॥

(दश क्षेत्रोंके नाम ।)– जलप्राय क्षेत्रको अनूप कहते हैं जैसे सिंधु, मलयादिक देश । जाङ्गलक्षेत्र वह है जो जलसंयुक्त है । समुद्रके समीपका प्रदेश त्रसादिक रहता है, त्रसजीवोंसे भरा हुआ होता है । जहां भात और उडद ये धान्य प्रचुर उत्पन्न होते है ऐसा चौथा क्षेत्र पांचवा क्षेत्र सत्तु धान्यके उपयोगका होता है । छठा क्षेत्र रसधान्य और पुलाक धान्यसे युक्त है। यव और गोधूमगेहूँ इन धान्योंका जहांके लोक भोजन करते हैं ऐसा सातवा क्षेत्र । सूरणादि महाकंदोंसे भरा हुआ क्षेत्र जिसे कन्दयुक् कहते है वह आठवा क्षेत्र है । जहां मूलकादिक विपुल उत्पन्न होते हैं ऐसे क्षेत्रको मूलयुक् कहते हैं । जहां लोक मूलकादि पदार्थ भक्षण बहुत करते हैं उसको मूलभूक् कहते हैं । ये दश क्षेत्र विशेषतासे समझने चाहिये; क्योंकि ये दशक्षेत्र समस्त-वस्तुओंका सात्म्य धारण करते हैं अर्थात् इनका भक्षण करनेसे मनुष्योंको सुख होता हैं । जो आहार और पान प्रकृतिके विरुद्ध होनेपरभी बाधक नहीं होते हैं, सुखके लिये कारण होते हैं उनको सात्म्य कहते हैं । ऐसे आहारपानको सौम्य और साधारणभी कहते हैं ॥ ८३–८६ ॥

१ अष्टमं हि धनागमे　२ षष्ठमेव

शैत्यं यत्र रसाधिक्यभोजनं वा सुभोजनम् । तत्रोत्कृष्टं भवेत्तावच्छोधनं मुनिभिर्मतम् ॥ ८७
उष्णे चापि तथा रूक्षे हीनं देयं मनीषिभिः । यत्तु मध्यं[1] प्रदीयेत प्रायश्चित्तं च मध्यमे ॥ ८८
उत्कृष्टाहारयुक्तानामुत्कृष्टं तत्तपो मतम् । मध्यमाहारयुक्तानां ईषदूनं तदेव हि ॥ ८९
रूक्षाल्पभुक्तियुक्तानां क्षीणानामतिरूक्षिणाम् । प्रायश्चित्तं भवेन्नित्यं क्षमणेन विवर्जितम् ॥९०
चिरं यो दीक्षया गर्वी प्रायश्चित्तं[2] च दीयते । तपोबलीति गर्वेण गर्वितोऽपि तथा भवेत् ॥९१
छेदे वितीर्यमाणेऽपि मृदुर्यो हर्षमञ्चति । वन्द्योऽहमित्यनेनास्मिन्निति नैतेन शुद्धयति ॥ ९२
परिज्ञाय यथादोषं दातव्यानि मनीषिभिः । अकुर्वाणस्तपः प्राज्यं न शुध्येद्गुरुवाक्यतः ॥ ९३
अकुर्वाणस्तपः प्राज्यमश्रद्धो गुरुवाक्यतः । अश्रद्धावानयं घोरशोधनेनैव शुद्धयति ॥ ९४

(उत्कृष्ट प्रायश्चित्त कहां देना चाहिये ?)– जिस क्षेत्रमें शीत जादा है और जहांका भोजन दूध, घी, गुड, खांड इत्यादि रसप्रचुर होता है अथवा जहांका भोजन उत्तम होता है वहां मुनिओंको उत्कृष्ट प्रायश्चित्तका उपयोग करना चाहिये ऐसा कहा है । उष्ण क्षेत्रमें और रूक्ष क्षेत्रमें विद्वानोंका जघन्य प्रायश्चित्त देना चाहिये । मध्यमक्षेत्रमें मध्यम प्रायश्चित्त देना योग्य है ॥ ८७–८८ ॥

(आहारकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त वर्णन ।)– उत्कृष्टाहार जो करते हैं उनको उत्कृष्ट तपप्रायश्चित्त देना चाहिये । मध्यम आहार करनेवालोंको वही उत्कृष्टतप– प्रायश्चित्त किन्तु कुछ कम प्रायश्चित्त देना चाहिये । रूक्ष और अल्पभोजन करनेवालोंको– अर्थात् अशक्त मुनियोंको अतिरूक्ष प्रायश्चित्त देना चाहिये, अर्थात् असमर्थोंको उपवासरहित प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ ८९–९० ॥

(गर्व करनेवालेभी प्रायश्चित्तार्ह है ।)– जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए हैं और जो अपनेको पुराना साधु समझकर गर्व करता है, वह प्रायश्चित्तयोग्य है । उसको प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा जो अपने तपःसामर्थ्यका गर्व करता है वह तपोगर्वी मुनिभी प्रायश्चित्त योग्य है ॥ ९१ ॥

छेद– प्रायश्चित्त देनेपरभी जो मृदु मुनि– कोमलाचार पालनेवाले मुनि हर्षयुक्त होता है । मैं इस प्रायश्चित्तसे वन्दनीय हुआ हूं ऐसा अभिमान धारण करता है, वह उस प्रायश्चित्तसे शुद्ध नहीं होता ॥ ९२ ॥

दोषोंको जानकर विद्वान् आचार्य प्रायश्चित्त देवें । उत्कृष्ट तप नहीं करनेवाला गुरुदत्त प्रायश्चित्तसे शुद्ध नही होता है ॥ ९३ ॥

जो उत्तम तप नहीं करता और जो गुरुके वचनोंपर श्रद्धा नहीं करता वह श्रद्धारहित मुनि घोर प्रायश्चित्तसेही शुद्ध होता है ॥ ९४ ॥

आ. यत्तु मध्यं मतं क्षेत्रं तत्र मध्यं प्रदीयते । २ आ. संप्रायश्चित्तमञ्चति ।

प्रियधर्मादिकाञ्ज्ञात्वा पञ्चाशत्पुरुषान्सदा । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं यथोक्तं मुनिपुङ्गवैः ॥ ९५
अज्ञानपि[1] बहु ज्ञात्वा जिनागमनिवेदितान् । पुरुषान्दीयते दण्डो विविधागमपारगैः ॥ ९६
आलोचना प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं त्याग एव वा । व्युत्सर्गश्च तपच्छेदः परिहारोऽभिरोचनम् ।
मूलं वापि दशैतानि शोधनानि जिनागमे ॥ ९७
शोधयितुं न यो दोषः शक्यते तपसापि वा । दीक्षा विच्छिद्यते तेन क्लिन्नताम्बूलपत्रवत् ॥ ९८

जिनको धर्मप्रिय है ऐसे पचास पुरुषोंको (?) जानकर मुनिश्रेष्ठ सदा आगमोक्त-प्रायश्चित्त श्रद्धारहित मुनिको देवें ॥ ९५ ॥

नाना प्रकारके आगमके पारगामी मुनि जिनागममें कहे हुए अनेक अज्ञ पुरुषोंको जानकर प्रायश्चित्त देवें ॥ ९६ ॥

(प्रायश्चित्तके दशभेद ।)– आलोचना– आलोचनाके दस दोषोंका त्याग कर गुरुको अपने प्रमाद दोष कहना आलोचना है । प्रतिक्रमण– यह मेरा दोष मिथ्या हो जावें ऐसा कहकर दोष दूर करना । तदुभय– दोष होनेपर प्रतिक्रमण और आलोचना दोनोंके द्वारा जो नष्ट किये जाते हैं उन्हें तदुभय कहते हैं । विवेक– जिनके ऊपर ममत्व उत्पन्न हुआ है ऐसे अन्नपानादिक त्यागना विवेक है । अथवा अप्रासुक पदार्थ विस्मृतिसे ग्रहण किये जानेपर अथवा (त्याग किये हुवे) प्रासुक पदार्थका ग्रहण किया गया तो उसका स्मरण पूर्वक त्याग करनाभी विवेक हैं । मलमूत्रादि क्षेपण करते हुए जो दोष हुए हैं उनके निराकरणार्थ जो शरीरके ऊपर ममत्व छोडकर अन्तर्मुहूर्तादि कालपर्यन्त कायोत्सर्ग करना उसे व्युत्सर्ग तप कहते हैं । तप– कुछ अपराधोंके क्षालनार्थ उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति आदिक विधि करना वह तप प्रायश्चित्त हैं । छेद–अपराध होनेपर दीक्षामेंसे दिन, पक्ष, मास आदिक कम किये जाते हैं वह छेद प्रायश्चित्त है । मूल– पार्श्वस्थादिक मुन्याभासरूप अवस्था प्राप्त होनेसे संपूर्ण दीक्षा नष्ट होकर पुनः दीक्षा देना मूलप्रायश्चित्त है । परिहार– पक्ष मासादिक कालमर्यादाकी अपेक्षासे संघसे दूर करना परिहार कहते हैं । पारंचिक– अनेक महापराध करनेपर जो चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघसे यह महापापी है, यह जिनमतबाह्य है, इसको वन्दन मत करो ऐसी घोषणा देकर अनुपस्थापना नामक प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाला जाता है वह मुनिभी स्वधर्मरहितक्षेत्रमें जाकर आचार्यसे दिया हुआ प्रायश्चित्तका पालन करता है । ऐसे दस प्रायश्चित्त जिनागममें कहे हैं । विद्वान आचार्य दोषानुसार जानकर अपराधीको प्रायश्चित्त देवें ॥ ९७ ॥

(दीक्षाच्छेद कब किया जाता है ?)– जो दोष तपश्चरणसेभी निवारित नहीं किया जाता– दूर नहीं होता ऐसे दोषसे दीक्षा छेदी जाती है अर्थात् वह दोष दीक्षाकोभी नष्ट करता है । जैसे पानीसे भीगा हुआ ताम्बूलपत्र सड जाता है वैसे कोई दोष मुनियोंकी दीक्षाको नष्ट करता है ॥ ९८ ॥

---

१ आ. अन्यानपि बहून्ज्ञात्वा इत्यपि पाठः ।

आचार्यगणमुत्सृज्य भ्राम्यत्येको महीतले । यावत्क्रियामजानानस्तावद्दीक्षास्य छिद्यते ॥ ९९
पार्श्वस्थगणसंयुक्तः षण्मासान्यो व्यवस्थितः । तपस्तस्य भवेदूर्ध्वं छेद एव निगद्यते ॥ १००
न सन्त्यत्र पुनस्तस्य व्रतारोपणमीर्यते । श्रामण्योक्ता गुणा यस्य नश्यन्ति कात्स्न्र्यतोऽथवा ॥ १०१
आर्यिकासंयतानां च गृहस्थानामहेतुकम् । अभ्युत्थानं करोत्यस्य प्रायश्चित्तं भवेत्पुनः ॥ १०२
जिनसूत्रापरिज्ञानादुत्सूत्रं वर्णयेत्पुनः । स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्य मूलदण्डो विधानतः ॥ १०३
अत एव महात्मानो जिनसिद्धान्तवेदिनः । उपवासे परायत्तास्तपः कुर्वन्त्यहर्निशम् ॥ १०४
तत्पार्श्वस्थावसन्नैककुशीलमृगचारिषु । ये गृहीतव्रतास्तेषां दातव्यं मूलमेव च ॥ १०५

आचार्योंका गण छोडकर वह दोषी मुनि अकेला पृथ्वीपर विहार करता है, जबतक वह क्रिया नहीं जानता, नहीं करता तबतक उसकी दीक्षा छेदी जाती है ॥ ९९ ॥

पार्श्वस्थगण- भ्रष्ट मुनिसमूहके साथ जो मुनि छह महिनोंतक रहते हैं उनकी दीक्षा छेदी जाती है और यह छेदनामक प्रायश्चित्त है ॥ १०० ॥

जिसके मुनिपदयोग्य सब गुण नष्ट हुए हैं अथवा जिसके कुछभी गुण नहीं हैं उसको पुनः व्रतारोपण नहीं दिया जाता ॥ १०१ ॥

आर्यिका, असंयमी तथा गृहस्थ आनेपर बिनाहेतु जो अभ्युत्थान करता है उस आचार्यको प्रायश्चित्त कहा है ॥ १०२ ॥

जिनसूत्रका ज्ञान न होनेसे जो उत्सूत्र प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनिको शास्त्रोक्त विधिसे मूलदण्ड देना चाहिये । अर्थात् उसको पुनः दीक्षा देनी चाहिये ॥ १०३ ॥

इसलिये जो सत्पुरुष हैं और जैन-सिद्धान्तके वेत्ता होते हैं वे उपवासमें अधीन होकर हमेशा तपश्चरण करते हैं ॥ १०४ ॥

जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और मृगचारीके पास दीक्षा ग्रहण करते हैं उनको मूल-प्रायश्चित्तही देना चाहिये अर्थात् पुनः दीक्षा देनी चाहिये ॥ १०५ ॥

पार्श्वस्थ- जो वसतिकामें आसक्त रहता है, उपकरणोंसे उपजीविका करता है और श्रमणोंके- मुनियोंके पास रहता है ।

अवसन्न- जो चारित्र पालनमें आलस्य युक्त होता है । जिनवचनोंको नहीं जानता है, जिसने चारित्रभार छोड दिया है, ज्ञानसे व चारित्रसे जो भ्रष्ट है और क्रियाओंमें आलस्ययुक्त है ।

कुशील- क्रोधादिकोंसे कलुषित, व्रत गुण और शीलोंसे रहित संघका अपमान करनेवाला ।

मृगचारी- स्वच्छन्दी, गुरुकुलको छोडकर विहार करनेवाला, और जिनवचनको दूषित करनेवाला होता है ॥ १०५ ॥

आसादनं प्रकुर्वाणास्तीर्थेशगणयोरपि । श्रुतं जैनमतिक्रामन्भूयः पारञ्चिको भवेत् ॥ १०६
साधूनां श्रावकाणां च मूलोत्तरगुणेषु यत् । व्रतभङ्गेषु भग्नेन कथयामि यथागमम् ॥ १०७
मूलोत्तरगुणोपेते साधौ यत्नवति स्थिरे । वधे दण्डतनूत्सर्गा भवन्तीन्द्रियसङ्ख्यया ॥ १०८
अस्थिरस्यास्य जायेत कायोत्सर्गविशोधनम् । प्राणादिसङ्ख्ययोत्पन्ने वधे एकेन्द्रियादिनाम् ॥१०९
अप्रयत्नवतस्तस्य स्थिरस्येन्द्रियसङ्ख्यया । उपवासा भवन्त्येव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ ११०
अस्थिरस्यास्य जायन्ते हयुपवासा विशोधनम् । प्राणादिसंख्यया जाते वधे चैकेन्द्रियादिषु॥१११
अथवा जायते दण्डः क्षेत्रकालाद्यपेक्षया । योऽयं तमपि वक्ष्यामि श्रीगुरूणां प्रसादतः ॥ ११२
तदैकेन्द्रियजीवानां द्वादशानां वधे सति । उपवासो भवेत्साधोः शोधनं शुद्धिवर्तिनः ॥ ११३
स षड्भिर्द्वीन्द्रियैः साधोश्चतुर्भिस्त्रीन्द्रियैः पुनः । निहतेर्जायते[1] दण्डः सत्यमेकोपवासतः ॥११४

(पारंचिक प्रायश्चित्तका वर्णन ।)– जो मुनि तीर्थंकरोंका, गणधरोंका और गणका आसादन– अपमान करता है, जैनागमको उल्लंघता है– विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, राजस्त्री आदिका सेवन करता है वह मुनि पारंचिक प्रायश्चित्तके योग्य है ॥ १०६ ॥

(मूलगुण और उत्तर गुणोंके दोषोंमें प्रायश्चित्त– वर्णन ।)– साधु और श्रावकोंके जो मूलगुण और उत्तर गुण हैं, उनमें व्रतोंके प्रभेदोंका जो भंग होता है– व्रतनाश होता है, उसके लिये आगमानुसार मैं प्रायश्चित्तका वर्णन करता हूं ॥ १०७ ॥

मूलगुण और उत्तर गुणोंसे युक्त साधुके द्वारा यदि हिंसा हुई तो इंद्रियसंख्याके अनुसार उतने कायोत्सर्ग करने चाहिये ॥ १०८ ॥

जो साधु व्रतोंमें अस्थिर हैं उसको कायोत्सर्गका प्रायश्चित्त है अर्थात् एकेन्द्रियादि जीवोंका वध होनेपर उनके प्राणसंख्याके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ १०९ ॥

जो प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है ऐसे अस्थिर साधुको विशुद्धिके लिये इन्द्रिय-संख्याके अनुसार उपवास करने चाहिये ॥ ११० ॥

अप्रयत्नवान् और अस्थिर ऐसे साधुको एकेन्द्रियादिकोंका वध होनेपर प्राणादि संख्याके अनुसार उपवास करना चाहिये ॥ १११ ॥

अथवा क्षेत्रकालादिकोंकी अपेक्षासे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसकाभी श्रीगुरुके प्रसादसे मैं वर्णन करता हूं ॥ ११२ ॥

शुद्धिमें रहनेवाला जो साधु है उससे यदि बारह एकेन्द्रिय जीवोंका वध होवे तो एक उपवास प्रायश्चित्त है ॥ ११३ ॥

छह द्वीन्द्रिय जीव और चार त्रीन्द्रिय जीव इनका वध होनेसे एक उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ ११४ ॥

१ आ. व्रतं भग्नेषु भग्नेन ।

एकेन्द्रियेषु षट्त्रिंशन्मृतेष्वत्र प्रजायते । प्रायश्चित्तं प्रतिक्रान्तिः षष्ठमेकं निरन्तरम् ॥ ११५
द्वीन्द्रियेषु तथा चैवमष्टादशसु कथ्यते । त्रीन्द्रियेष्वेतदेव स्याद्द्वादशसु मृतेषु च ॥ ११६
चतुरिन्द्रियजीवेषु नवसु प्रणिगद्यते । पञ्चेन्द्रिये तदेकस्मिञ्जायते निःप्रमादिनाम् ॥ ११७
साधूनां श्रावकाणां च स्त्रीबालादिगवादिनाम् । विघाते जायते दण्डस्तं वक्ष्यामि यथागमम् ॥
साधुघाते भवेद्दण्डो मासान्द्वादश यावतः । षष्ठषष्ठोपवासेन नैरन्तर्येण सर्वथा ॥ ११९
श्रावकस्य तु घातेऽस्य षण्मासान् षष्ठषष्ठतः । पारणाविधिना सर्वे प्राणिनो दोषहारिणः ॥१२०
बालघाते भवन्त्येते त्रयो मासा निरन्तराः । सार्द्धो मासश्च षष्ठैः स्यात्स्त्रीसामान्यविघातिनाम् ॥
दिवसाश्च प्रजायन्ते त्रयोविंशतिरेव च । षष्ठोपवासतो दण्डो गवादीनां विशोधतः[1] ॥ १२२

छत्तीस एकेन्द्रिय जीवोंका घात होनेपर प्रतिक्रमण और दो उपवास निरंतर करने चाहिये ॥ ११५ ॥

द्वीन्द्रिय जीव अठारह और त्रीन्द्रिय जीव बारह इनका घात होनेपर यही प्रायश्चित्त है। (प्रतिक्रमण और दो उपवास) ॥ ११६ ॥

चतुरिन्द्रिय जीव नौ और पंचेन्द्रिय जीव एक इनका मरण प्रमादरहित साधुके द्वारा होनेपर प्रतिक्रमण और दो उपवास का प्रायश्चित्त है ॥ ११७ ॥

(साधु आदिके घातक प्रायश्चित्त ।)- साधु, श्रावक, स्त्री, बालक, गाय आदिका घात होनेपर जो प्रायश्चित्त है उसका वर्णन आगमानुसार मैं करता हूं ॥ ११८ ॥

(साधुघातका प्रायश्चित्त ।)- साधुका घात करनेपर निरन्तर दो दो उपवास बारह महिनोंतक करना चाहिये । अर्थात् दो उपवास अनंतर पारणा फिर दो उपवास पुनः पारणा ऐसा क्रम एक वर्षतक करनेसे साधुघातका प्रायश्चित्त पूर्ण होकर विशुद्धि होती है ॥ ११९ ॥

(श्रावकघातका प्रायश्चित्त ।)- श्रावकघात करनेपर छह महिनोंतक दो उपवासके अनंतर पारणा, दो उपवासके अनंतर पारणा ऐसा उपवास विधि करना चाहिये जिससे श्रावक-घातक पापमुक्त होकर शुद्ध होता है ॥ १२० ॥

(बालघात और स्त्रीघातका प्रायश्चित्त ।)- बालघात करनेपर निरंतर तीन मासतक दो उपवासके अनंतर पारणा करनी चाहिये और स्त्री सामान्यका घात करनेपर साडेतीन महिनों-तक निरन्तर दो उपवास और पारणा, दो उपवास और पारणा ऐसा प्रायश्चित्तका क्रम करनेसे शुद्धि होती है ॥ १२१ ॥

(गाय आदि पशुघातका प्रायश्चित्त ।)- गाय वगैरह प्राणियोंका घात करनेपर तेईस दिनोंका प्रायश्चित्त करना चाहिये अर्थात् दो दो उपवास और पारणा करना चाहिये ॥ १२२ ॥

---

१ आ. विघाततः ।

षण्मासान्यावदेतत्स्याद्दण्डः पाषण्डघातिनः । तद्भक्तानां त्रयोमासान् षष्ठयोगाद्विशोधनम्[1] ॥१२३
सार्धोर्यो[2]ऽसौ विघाते स्यात्तद्योनीनां तथा क्रमात् । कथ्यते मुनिभिर्मान्यैः शोधनं शुद्धिहेतवे ॥१२४
तृणभक्षविघाते स्युरुपवासाश्चतुर्दश । सिंहव्याघ्रादिजीवानां घाततोऽपि त्रयोदश ॥ १२५
मयूरकुक्कुटादीनां द्वादश स्युर्विघाततः । एकादशोपवासाश्च सर्पजातिवधे सति ॥ १२६
शुद्धिर्दशोपवासैः स्यात्सरटादिवधे सति । मत्स्यकच्छपपूर्वाणां विघातान्नवभिस्तकैः ॥ १२७
नीचःपैशुन्ययुक्तो[3] यो ह्यनृतं परिभाषते । प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा गणात्तस्य बहिः कृतिः ॥ १२८

(पाषंडिघात और तद्भक्तघातका प्रायश्चित्त ।)– पाषण्डी अर्थात् भस्मधारी भिक्षु, कापालिक, परिव्राजक आदि अन्य धर्मीय साधुओंका घात करनेपर छह महिनोंतक दो दो उपवास पूर्वक पारणा करनी चाहिये । और उनके भक्तोंका–माहेश्वर आदिकोंका घात करनेपर तीन महिनोंतक दो दो उपवास पूर्व पारणा करें तथा जो स्त्रीभक्त हैं, उनका घात होनेसे डेढ मासतक दो दो उपवासोंके अनंतर पारणा करनी चाहिये ॥ १२३ ॥

(आर्यिकाघातका प्रायश्चित्त ।)– जैन मुनिओंका घात करनेसे जो प्रायश्चित्तका क्रम कहा है वह प्रायश्चित्त-क्रम आर्यिकाओंका घात करनेमें समझना चाहिये । इस प्रकार मान्य मुनियोंने शुद्धिके लिये शोधन–प्रायश्चित्त कहा है ॥ १२४ ॥

(तृणभक्षक और मांसभक्षक पशुओंके घातका प्रायश्चित्त ।)– तृणभक्षकपशु–हरिण, खरगोश, बकरा आदि प्राणियोंका घात करनेसे चौदह उपवासोंका प्रायश्चित्त है । अर्थात् एक उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा इस क्रमसे चौदह उपवासोंका प्रायश्चित्त करना चाहिये । सिंह, व्याघ्र, आदि हिंस्र प्राणियोंका घात करनेसे तेरह उपवास पारणापूर्वक करने चाहिये अर्थात् एकान्तरोपवास पूर्वक तेरह उपवास और तेरह पारणा करना चाहिये ॥ १२५ ॥

(मयूरादिके घातका प्रायश्चित्त ।)– मोर, मुर्गा, कबूतर, तीतर आदि पक्षियोंके घातसे बारह एकान्तरोपवास करने चाहिये । और सर्पके जातिका वध किया जानेसे ग्यारह उपवास एकान्तरपूर्वक करने चाहिये ॥ १२६ ॥

गिरगिट आदिकोंका नाश करनेसे एकान्तरपूर्वक दस उपवास करना चाहिये । एक उपवास, एक पारणा ऐसा क्रम दसवे उपवास तक करना चाहिये । तथा मछली, कछुवा, मगर आदि जलचर प्राणियोंके घातसे नौ उपवास और नौ पारणायें करनी चाहिये । इस प्रकार अहिंसाव्रतका प्रायश्चित्त निरूपण किया है ॥ १२७ ॥

(असत्यभाषणका प्रायश्चित्त ।)– जो साधु नीच दुष्टतायुक्त–निंदायुक्त असत्य बोलता है वह चाहे प्रत्यक्ष बोले किंवा परोक्षतासे बोले उसको गणसे बाहर करना चाहिये ।

१ आ. विशोधकम् । २ आ. सार्धो मासो । ३ आ. नीचैः पैशुन्ययुक्तो यो । स (सोलापुर) प्रथमं नीचपैशुन्यं ह्यनृतं परिभाषते ।

जल्पतस्तस्य शृण्वाना तिष्ठन्ति समीपगाः । तस्य दोषस्य तद्भागं चतुर्थं प्राप्नुवन्ति च ॥ १२९
यो गृह्णाति[1] परस्यार्थं यतीनां मध्यवर्त्यपि । स गृहस्थोपधिः सोऽयं षण्मासक्षपणैः शुचिः ॥१३०
स्वप्ने[2] मैथुनसेवी च मद्यमांसाशनोऽपि वा । उपवासेन शुद्धः स्यात्स प्रतिक्रमणेन सः ॥ १३१
कन्दर्पोद्रेकमायाति रामारूपावलोकनात् । सोऽयमालोचनायुक्तः कायोत्सर्गेण शुद्धचति ॥ १३२
परिग्रहग्रहग्रस्तो[3] यः सदा जायते यदि । मूलं तस्य समायाति न याति परमां गतिम् ॥ १३३
मिथ्यादृष्टिजनानां[4] यः करोति कलहं पुनः । बहूपवाससंयुक्तं मौनं तस्य प्रदीयते ॥ १३४
मुनिमध्यगतो[5] यस्तु हस्ताभ्यां कुरुते कलिम् । तस्य षष्ठेन षण्मासान्प्रायश्चित्तमुपाश्रितः ॥१३५
असंयतजनानां हि बोधने विहिते सति । नृत्ये गाने च साधूनामष्टमं दण्ड इष्यते ॥ १३६

नीच, दुष्टता युक्त असत्यभाषण बोलनेवाले साधुके पास उसका भाषण सुनते हुए जो मुनि तिष्ठते हैं वे भी उसके असत्यभाषण दोषका चतुर्थांश दण्ड प्राप्त करते हैं ॥ १२८-२९ ॥

(अचौर्यव्रतका प्रायश्चित्त ।)- जो मुनियोंके बीचमें रहनेपरभी दूसरोंका धन ग्रहण करता है वह गृहस्थका परिग्रहण करता है ऐसा मुनि छह मासतक उपवास और पारणा करके पवित्र होता है ॥ १३० ॥

(ब्रह्मचर्यव्रतका प्रायश्चित्त ।)- जो साधु स्वप्नमें-अर्थात् निद्रामें मैथुनसेवन करता है किंवा मद्यपान और मांसाशन करता है वह प्रतिक्रमणपूर्वक उपवाससे शुद्ध होता है। जो साधु स्त्रीका रूप देखकर कामोद्रेकको प्राप्त होता है वह आलोचनायुक्त होकर कायोत्सर्गसे शुद्ध होता है ॥ १३१-१३२ ॥

(परिग्रहत्यागका प्रायश्चित्त ।)- जो साधु हमेशा परिग्रहोंसे ग्रस्त रहता है उसको मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अर्थात् उसे पुनर्दीक्षा धारणका प्रायश्चित्त है। ऐसा परिग्रहयुक्त साधु उत्तम गतिको-मुक्तिको प्राप्त नहीं होता है ॥ १३३ ॥

(मिथ्यादृष्टिसे कलह करनेका प्रायश्चित्त ।)- जो मिथ्यादृष्टि-जनोंसे कलह करता है उस मुनिको अनेक उपवाससहित मौनका प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं। मुनियोंके बीचमें जो मुनि हाथोंसे कलह करता है उस पापीको छह महिनोंतक दो उपवासपूर्वक पारणाका प्रायश्चित्त है ॥ १३४-१३५ ॥

(निद्रामेंसे उठाना, नृत्य और गायन आदिका प्रायश्चित्त ।)- जो साधु असंयमी लोगोंको निद्रामेंसे जगाता है, तथा साधुओंकोभी निद्रामेंसे जगाता है तथा तुम गाओ, नाचो ऐसा बोलता है उसको निरंतर तीन उपवासका प्रायश्चित्त है ॥ १३६ ॥

---

१ आ: द्वितीयः २ आ. तृतीयं ३ आ. चतुर्थं ४ आ. पञ्चमं ५ आ. गण

चतुर्विधस्य[1] संघस्य योऽपराधान्विभाषते । अभाष्योऽवन्दनीयश्च स गणो गणकोऽथवा ॥ १३७
स्वाध्यायापेक्षया साधुः सेवते यदि यत्नतः । औद्देशिकं[2] ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्तिः[3] स शुद्धयति ॥१३८
दुःशीलक्रोधमिथ्यात्वमानमायाविलैः सह । विहारे पञ्चकल्याणं जायते शुद्धिहेतवे ॥ १३९
अर्हदाचार्यसाधूनामुपाध्यायस्य वा पुनः । अवर्णे[4] वा प्रमादेन क्षमणेन विशुद्धयति ॥ १४०
क्रोधेन गर्वतो[5] वापि कृते तेषां विनिन्दने । कर्तुर्मिथ्यादृशो नास्ति दण्डः संसारभागिनः ॥ १४१
शिलायां भूमिदेशे वा जङ्घाया जठरेऽपि वा । विलिख्य पठतः सूत्रं प्रायश्चित्तं प्रजायते ॥१४२
अश्रावकगृहे भुंक्ते कुर्वन्वा च्युतधर्मिणः । सोपस्थानचतुर्थेन शुद्धत्यज्ञानतो यतिः ॥ १४३
अनाभोगान्मुहुस्तस्य मासिको दण्ड इष्यते । आभोगेन तु यात्येष मूलभूमिं नराधमः ॥ १४४

(संघापराध प्रगट करनेवालोंका प्रायश्चित्त ।)– चार प्रकारका संघ–ऋषि, यति, मुनि और अनगार यह चार प्रकारका संघ है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ऐसा चार प्रकारका संघ हैं । इनके जो मुनि दोष प्रगट करता है उसके साथ कोई नहीं बोले; तथा उसकी वन्दनाभी नहीं करें, तथा गणसे उसको निकाल देना चाहिये । यदि दूसरे गणमें वह जायगा तो उससेभी उसको हटाना चाहिये । यदि वह पश्चात्तापसे संतप्त होकर 'हे भगवन् मुझे प्रायश्चित्त दीजिये ऐसा कहेगा तो चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघमें उसकी विशुद्धि करनी चाहिये ॥१३७॥

(औद्देशिक प्रायश्चित्त ।)– यदि कोई मुनि स्वाध्यायकी अपेक्षासे उद्देशाशिक दोषोंका सेवन करता है तो वह प्रतिक्रमणसे शुद्ध होगा ॥ १३८ ॥

(मिथ्यात्वी–साधुके साथ विहारसे प्रायश्चित्त ।)– दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, मानी और मायावी ऐसे मनुष्योंके साथ साधु विहार करें तो उसकी शुद्धिके लिये पंचकल्याण प्रायश्चित्त कहा है ॥ १३९ ॥

(अर्हदादिकोंके अवर्णवादका प्रायश्चित्त ।)– अर्हन्त, आचार्य, साधु अथवा उपाध्याय इनके ऊपर प्रमादसे जो मुनि अवर्णवाद करता है–दोष न होते हुएभी दोषारोपण करता है वह एक उपवाससे शुद्धि प्राप्त करता है । क्रोधसे अथवा गर्वसे उनकी निंदा यदि साधुने की तो संसारमें घूमनेवाले उस मिथ्यादृष्टिको प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १४०–१४१ ॥

(शिलादिकोंमें सूत्र लिखनेवालेको प्रायश्चित्त ।)– शिलापर, भूमिपर, जांघोंपर और पेटपर कोई साधु सिद्धान्तसूत्र लिखकर यदि उसे पढता है उसको प्रायश्चित्त है अर्थात् शिला और भूमिपर सूत्र लिखनेसे उपवास प्रायश्चित्त है तथा उदरादिकपर लिखनेसे आलोचना प्रायश्चित्त है ॥ १४२ ॥

(अश्रावकोंके यहां आहारका प्रायश्चित्त ।)– जो श्रावक नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि–लोगोंके घरमें तथा जो धर्मच्युत है ऐसे लोगोंके घरमें अज्ञानसे यदि मुनि आहार लेंगे तो

---

१ आ. चतुर्वर्णस्य　२ आ. औद्देशिकादिकं　३ आ. प्रतिक्रान्तेः　४ आ. अवर्णादौ　५ आ. दर्पतो।

ज्ञानोपकणं किञ्चिद्दीयमानं महौषधम् । निषेधयेत्प्रमादेन पञ्चकल्याणमश्नुते ॥ १४५
तदेव च मुहुः साधोरावासमथवा पुनः । प्रत्याख्यातुर्भवेन्नित्यं मासिकं शोधनं मुनेः ॥ १४६
चाण्डालेन समं स्याच्चेच्छुप्तिर्यस्य प्रमादतः । पञ्चकल्याणकेनासौ शुद्धः स्यादिति निश्चितम् ॥१४७
ब्राह्मणक्षत्रियाणां च वैश्यानां च प्रकल्पते । जैनी मुद्रा निहीनाय दत्ता पापाय जायते ॥ १४८
मुलोत्तरगुणेष्वेषु साधूनां यानि कानिचित् । प्रायश्चित्तानि तानीह ज्ञातव्यानि जिनागमात् ॥१४९
वस्त्रप्रक्षालनात्तावदार्यिकाणां[1] विशोषणम् । वस्त्रयुग्ममतिक्रम्य तृतीये मूलमिष्यते ॥ १५०
अपनाययुता[2] (?) नित्यकल्पिता शून्यकारिणी । आज्ञाविवर्जिता देशान्निःसार्या या विधर्मिणी ॥

प्रतिक्रमणके साथ उपवासका प्रायश्चित्त लेना चाहिये । अनाभोगसे अप्रगटरूपसे वारंवार यदि मुनि आहार लेंगे तो उनको मासिक प्रायश्चित्त है और आभोगसे–प्रगटरूपसे यदि बार बार आहार लेंगे तो मूलभूमि नामक प्रायश्चित्तको पात्र है–मूलभूमि प्रायश्चित्तमें दिवसादि रूपसे दीक्षाच्छेद होता है ॥ १४३–१४४ ॥

(ज्ञानोपकरण और औषधनिषेधका प्रायश्चित्त ।)– ज्ञानका उपकरण अर्थात् शास्त्र और औषध देनेवालोंका जो साधु प्रमादसे निषेध करेगा वह पंचकल्याण प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है। यदि उसी ज्ञानोपकरणका और औषधका वारंवार निषेध करनेवाले साधुको मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये तथा यतिको आवास–वसतिका देनेका कोई साधु निषेध करता है तो उसकोभी वही मासिक प्रायश्चित्त देना चाहिये ॥ १४५–१४६ ॥

(चाण्डाल– स्पर्शका प्रायश्चित्त ।)– प्रमादसे जिस साधुको चाण्डालसे स्पर्श होगा उसको–साधुको पंचकल्याण तपसे शुद्धि होती है ऐसा निश्चित है ॥ १४७ ॥

(जैनदीक्षाके अधिकारी)– जैनी मुद्रा–दिगम्बर दीक्षाधारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकोही योग्य है। इनसे जो हीन शूद्रादिक हैं उनको यदि दीक्षा दी जायगी तो दीक्षादाता प्रायश्चित्तयोग्य होता है ॥ १४८ ॥

(अवशिष्ट प्रायश्चित्त आगमसे जानो ।)– मूलगुण और उत्तरगुणोंमें साधुओंके लिये जो अन्य कुछ प्रायश्चित्त कहे हैं वे जिनागमसे जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

(वस्त्रप्रक्षालनका प्रायश्चित्त ।)– यदि आर्यिका वस्त्रप्रक्षालन अप्रासुक जलसे करेगी तो उसे एक उपवासका प्रायश्चित्त है । आर्यिका अपने पास दो वस्त्र धारण करें । दोसे अधिक धारण करनेपर मासिक प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि होगी ॥ १५० ॥

जो आर्यिका आज्ञापालन नहीं करती अर्थात् अपनी गणिनीकी आज्ञा नहीं मानती और जिसने धर्मत्याग किया है अर्थात् जो स्वच्छंदचारिणी हुई है, जिनशासनका त्याग किया है (अपनाययुता नित्यकल्पिता शून्यकारिणी इस पदका अर्थ हमको मालूम नहीं है) जो आर्यिका यतिके

१ आ. प्रक्षालने । २ आ. अपज्ञापयुता नित्यं कलिपैः स्तन्यकारिणी ।

यतिना सह या वाच्यं गतार्या–नामधारिका । हा हा कष्टं वचोऽप्यस्या[1] महापापमिति[2] श्रुतम् ॥
तस्मान्नामापि[3] न ग्राह्यमुभयोरनयोरिह । अन्येनापि प्रयुक्तेऽस्मिन्पिधातव्ये श्रुतौ क्षणात् ॥ १५३
रजसो दर्शनाच्छुद्धिरार्याणां क्षमणैरथ । चतुर्भिर्नीरसाहारैर्यथाशक्त्या प्रजायते ॥ १५४
चतुर्थे दिवसे तस्या मौनेनावश्यका क्रिया । मता पश्चाद्गुरोः पार्श्वे व्रतं ग्राह्यं पुनस्तया ॥ १५५
मासे मासे च भङ्गः स्याद्रामाणां रजसा व्रते । अत एव न शुद्धयन्ति स्त्रियो हीनमयच्युताः ॥
स्नानं हि त्रिविधं प्रोक्तं व्रतान्मन्त्रजलात्पुनः । तोयात्स्नानं गृहस्थानां यतीनां व्रतमन्त्रतः ॥ १५७
एकादशविधाः सन्ति श्रावका गुणभेदतः । तेषामागमतः किञ्चिच्छोधनं निगदाम्यहम् ॥ १५८
आद्यो दर्शनमात्रेण द्वितीयो व्रतयुक्ततः । सामायिकी तृतीयः स्याच्चतुर्थः प्रोषधी पुनः ॥ १५९
सचित्ताहारनिर्मुक्तो दिनब्रह्मचरः पुनः[1] । ब्रह्मचारी सदान्यश्च निरारम्भोऽपरिग्रहः ॥ १६०

साथ निंदाको– अपकीर्तिको प्राप्त हुई है वह केवल आर्यिका नाम धारण करनेवाली है, वह भावार्यिका नहीं रही । भावार्यिकाके गुण उसमें कुछभी नहीं हैं । अरेरे उसका नामभी महाकष्ट-कारक है । उसका नामश्रवणभी महापापका कारण है। इसलिये उन दोनोंका नामभी नहीं ग्रहण करें । यदि किसीने उनके नामका उच्चारण किया तो अपने दो कान हाथोंसे ढकने चाहिये ॥ १५१–१५३ ॥

(रजस्वला आर्यिकाकी शुद्धि ।)– रजके दीखनेपर आर्यिकाकी शुद्धि चार उपवासोंसे अथवा चार नीरस आहारोंसे होती है । अपनी शक्तिके अनुसार आर्यिका चार उपवास करें अथवा चार नीरसाहार करें । चौथे दिन वह मौनसे सामायिक, प्रतिक्रमणादिक करें । तदनन्तर गुरुके पास व्रतारोपण– व्रतग्रहण करना चाहिये । रजोधर्मसे प्रतिमास स्त्रियोंके व्रतोंका नाश होता है । अतः रजोदर्शनके समय वे शुद्ध नहीं होती ॥ १५४–१५६ ॥

(स्नानके तीन प्रकार ।)– स्नानके व्रतस्नान, मंत्रस्नान और जलस्नान ऐसे तीन भेद हैं । जलसे स्नान गृहस्थ करते हैं और मुनियोंका स्नान व्रतोंसे और मंत्रोंसे होता हैं ॥१५७॥

(श्रावकोंके प्रायश्चित्तोंका वर्णन ।)– गुणोंकी अपेक्षासे श्रावकोंके ग्यारह प्रकार है । आगमके अनुसार उनका प्रायश्चित्त संक्षेपसे मैं कहता हूं ॥ १५८ ॥

पहला श्रावक दर्शन– सम्यग्दृष्टिधारक हैं । और वह मूलगुणोंको निरतिचार पालता है । उसको दर्शन–प्रतिमाधारक कहते हैं । दूसरी व्रतप्रतिमा है । इसका धारक श्रावक अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रतोंका पालक होता है । तिसरी प्रतिमा धारण करनेवालेको सामयिकी कहते हैं । वह त्रिकाल सामायिक करता है । चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास है । इसका धारक श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको धारणा और पारणासहित उपवास कर अपना इन दिनोंका समय सामायिक, धर्म ध्यान, धर्मोपदेशमें बिताता है । पांचवी प्रतिमाका श्रावक सचित्ताहार वर्ज्य करता है । कच्चे फल, शाक भाजी, आदि नहीं खाता । छठी प्रतिमाधारक श्रावक दिवाब्रह्मचारी

---

१ आ. वचोऽप्यस्यां ।　२ आ. पापमपि ।　३ न स्यान्नामापि संग्राह्यम् ।

निरनुज्ञस्तथोद्दिष्टवर्जो वर्यो निगद्यते । एकादश मता जैने शासने श्रावका इति ॥ १६१
यतीनामर्धदण्डः स्यात्तेषामन्तद्वयोरपि । तस्याप्यर्धं त्रये तस्याप्यर्धं षण्णामुदीरितम् ॥ १६२
श्रावकाणां विशेषेण प्रायश्चित्तं जिनागमात् । परिज्ञाय प्रदातव्यं नान्यथा मुनिपुङ्गवैः ॥ १६३
ये तु जीवाश्रिताः सन्ति भावास्तीव्रादयः पुनः । तद्दशाद्वहुधा देयं शोधनं शुद्धिहेतवे ॥ १६४
पूर्वाचार्यैः प्रणीतं यत्प्रायश्चित्तमनेकधा । तदंशांशो मयाप्यत्र तत्प्रासादाज्जिनेदितः ॥ १६५
यद्यत्र जायते किञ्चिद्विरुद्धं श्रीजिनागमात् । न मे दोषो यतः किञ्चिन्न जानामि विशेषतः ॥१६६
केवलं जिनराद्धान्तश्रद्धानावाप्तिहर्षतः । स्तोतुमेनं तदालम्बाद्यदुच्छावचनोऽभवम् ॥ १६७

रहता है । अर्थात् दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करता है । सातवी प्रतिमावाला पूर्ण ब्रह्मचारी होता है । जिसमें हिंसा होती है ऐसे आरंभका पूर्ण त्यागी आठवी प्रतिमावाला होता है । उसको निरारंभ श्रावक कहते हैं । बाह्य दश प्रकारोंके परिग्रहोंका त्याग करनेवाला नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमाका पालक श्रावक है । आरंभ, परिग्रह और विवाह आदिक ऐहिक कर्मोंमें पुत्रादिकोंको जो श्रावक सम्मति नहीं देता है वह अनुमतित्यागी श्रावक है । उद्दिष्ट आहारका त्यागी जो श्रावक उसे उद्दिष्टाहारत्यागी कहते है । इस प्रकार जैनशासनमें ग्यारह प्रकारके श्रावक होते है ॥ १५९–१६१ ॥

(श्रावक प्रायश्चित्तकी व्यवस्था ।)– जो यतियोंको प्रायश्चित्त दिया जाता है उसका आधा प्रायश्चित्त दसवी व ग्यारहवी प्रतिमावालोंको है । इनके प्रायश्चित्तसे आधा प्रायश्चित्त सातवी, आठवी और नौमी प्रतिमावालोंको है । और इनके प्रायश्चित्तसे आधा प्रायश्चित्त पहली प्रतिमासे छठी प्रतिमावालोंको होता है ॥ १६२ ॥

श्रेष्ठ मुनियोंको श्रावकोंका जो विशेष प्रायश्चित्त है यह जिनागमसे जानकर देना चाहिये । बिना जाने देना योग्य नहीं है ॥ १६३ ॥

जीवके आश्रयसे तीव्र मंदमध्यमादिक भाव होते हैं और जिन्होंसे दोषोंमें तीव्र मंदादिक भेद होते हैं और उनसे प्रायश्चित्तभी अनेक प्रकारके कोमल मृदु आदि भेदवाले होते हैं । ऐसे प्रायश्चित्त शुद्धिके लिये देने चाहिये ॥ १६४ ॥

पूर्वाचार्योंने जो प्रायश्चित्त अनेक प्रकारोंसे लिखा है उसके अंशका अंश मैंने इस प्रकरणमें पूर्वाचार्योंके प्रसादसे कहा है ॥ १६५ ॥

(ग्रंथकारकी लघुता)– इस प्रायश्चित्तका वर्णन करते समय मुझसे जिनागमके विरुद्ध कुछ लिखा गया होगा । परंतु मेरा वह दोष नहीं है, क्योंकि, मैं कुछ विशेष नहीं जानता हूं ॥१६६॥

केवल जिनसिद्धान्तके ऊपर श्रद्धा करनेसे जो मुझे आनंद प्राप्त हुआ है उसके आश्रयसे मैंने जिनसिद्धान्तकी स्तुति करनेके लिये कुछ वचन कहे हैं ॥ १६७ ॥

अतुलसत्त्ववतां सुमहात्मनां चरितमेतदनिन्द्यमनेकधा ।
कथयितुं न हि संप्रति साधवो धृतधियः किमुताचरितुं पुनः ॥ १६८
असमसंयमनाय जिनेश्वरव्रतमिदं हृदये विधृतं सताम् ।
भवति निर्वचनीयपदप्रदं कृतवतां बत तत्किमिहोच्यते ॥१६९

इति[२] श्रीसिद्धान्तसारसङ्ग्रहे पण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते निर्जराप्रायश्चित्तनिरूपणं दशमोऽध्यायः ।

(प्राचीन मुनियोंके चारित्रका पालन करनेमें आजके मुनि असमर्थ हैं ।)– अनुपम धैर्य और सामर्थ्य धारण करनेवाले महापुरुषोंका चारित्र प्रशंसनीय और अनेक प्रकारका है । आज स्थिर बुद्धिवाले आजके साधु उस चारित्रके कथनमें समर्थ नहीं है फिर आचरण करनेमें वे कैसे समर्थ होंगे ? ॥ १६८ ॥

असम संयम–अनुपम चारित्रके लिये जिन सज्जनोंने यह जिनेश्वरका व्रत हृदयमें धारण किया है, उनको यह व्रत अनिर्वचनीय अकथनीय उत्कृष्ट पद देनेवाला है । परंतु जो यह व्रत धारण किये हुये हैं उनको जो पद प्राप्त होगा उसकी महिमा यहाँ कौन कह सकता है ? ॥ १६९ ॥

श्रीपंडिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचित–सिद्धान्तसारसंग्रहमें निर्जरा और प्रायश्चित्तका वर्णन करनेवाला दसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

२ आ. इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

एकादशोऽध्यायः ।

दर्शन[1]ज्ञानचारित्रोपचारप्रविभेदतः । सूरिसूर्या जगुः पूतं विनयं तं चतुर्विधम् ॥ १
शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं श्रद्धानं यदहर्निशम् । तत्त्वतत्त्वार्थदृष्टीनां विनयो दर्शनस्य सः ॥ २
ज्ञानस्य ज्ञानयुक्तस्य बहुमानमनेकधा । स्मरणाभ्यासपूजाद्यैर्ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥ ३
चारित्रस्य तथा तावत्तद्वतो बहुभेदतः । स्मरणं पूजनं दक्षैश्चारित्रविनयोऽकथि ॥ ४
आचार्यादिषु दृष्टेषु यावत्कालं विधीयते । अभ्युत्थानाभिगम्यादि यत्सोऽध्यक्षौपचारिकः ॥ ५
आचार्यादिष्वदृष्टेषु सर्वदा गुणकीर्तनम् । कुर्वन्ति यदमी भव्यः स परोक्षौपचारिकः ॥ ६
आचार्याध्यापकादीनां वैयावृत्यमनिन्दितम् । दशधाभाणि सूत्रज्ञैर्बहुधा पुण्यकारकम्[2] ॥ ७
स्वयं चरन्ति एवास्मिन्नन्यानाचारयन्ति ये । पञ्चधानेकधाचारमाचार्यास्ते भवन्त्यमी ॥ ८

ग्यारहवा अध्याय ।

(विनयतपका वर्णन ।)– पूज्य अर्हदादि व्यक्तियोंका और सम्यग्दर्शनादिक सद्गुणोंका आदर करना विनय है । इस पवित्र तपके दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय ऐसे चार भेद आचार्य सूर्योंने कहे हैं ॥ १ ॥

(दर्शनविनय ।)– जीवादिक सप्ततत्त्व और उनके ऊपर श्रद्धा करनेवाले साधर्मिक व्यक्तिके ऊपर अहोरात्र अर्थात् हमेशा शंकादि-दोषरहित जो श्रद्धा करना वह दर्शनविनय है ॥२॥

(ज्ञानविनयका लक्षण ।)– सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानयुक्त मुनियोंका अनेक प्रकारसे स्मरणपूजन आदिक करना वह ज्ञान विनय है ऐसा दक्ष मुनियोंने कहा है ॥ ३ ॥

(चारित्रविनय ।)– चारित्रका और चारित्रके धारक पुरुषोंका अनेक प्रकारसे दक्ष-चतुर पुरुषोंसे स्मरण पूजन किया जाता है उसे चारित्र विनय कहा है ॥ ४ ॥

(प्रत्यक्षोपचार विनय, परोक्षोपचार विनय ।)– आचार्यादिक दृष्टीगोचर होनेपर आदरसे ऊठना, उनका स्वागत करना, हाथ जोडना इत्यादिक आदर यावत्काल किया जाता है उसको अध्यक्षोपचार अर्थात् प्रत्यक्षोपचार विनय कहते हैं । जब आचार्यादि परोक्ष हैं ऐसे समय उनका भव्यजीव गुणकीर्तन करते हैं वह परोक्षऔपचारिक विनय है ॥ ५–६ ॥

(दसप्रकारका वैयावृत्य ।)– शरीरकी क्रियाओंसे और औषधादिकसे जो उपासना करना वह वैयावृत्य है । उसके आचार्यवैयावृत्य, उपाध्यायवैयावृत्य आदि दस प्रकार हैं । यह प्रशंसनीय वैयावृत्य अनेक प्रकारोंसे पुण्यकारक है ऐसा सिद्धान्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य कहते हैं ॥७॥

१ आचार्य– जो पांच प्रकारोंके आचारोंमें स्वयं प्रवृत्ति करते हैं और जो दूसरोंको– शिष्योंको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य हैं । ये आचार्य दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार

---

१ आ. ज्ञान दर्शनेति । २ आ. पुण्यकारणम् ।

उपेत्याधीयते येभ्यो मोक्षार्थं शास्त्रमुत्तमम् । उपाध्याया भवन्त्येते ज्ञानध्यानधनाः सदा ॥ ९
धर्मादेशं[1] न कुर्वन्ति परेभ्यो वितरन्ति न । ये दीक्षामात्मनः[2] सिद्धिं साधयन्तीति साधवः ॥१०
घोरवीरतपोयुक्तस्तपस्वी स निगद्यते । शिक्षाशीलः[3] सुशैक्षोऽसावार्जिकाक्षुल्लिकादिकः ॥ ११
रुजाक्लान्तशरीरोऽसौ[4] ग्लान इत्यभिधीयते । योऽयं सुचिरसन्तानः[5] साधूनां स गणो मतः ॥१२
दीक्षाचार्यस्य या शिष्यसन्ततिस्तत्कुलं मतम् । श्रवणादिचतुर्वर्णसंस्त्यायः[6] सङ्घ उच्यते ॥ १३
लोकानां सम्मतो यस्तु मनोज्ञः स निगद्यते । इत्येषां हि दशानां तद्वैयावृत्यमुदीरितम् ॥ १४
वाचना प्रच्छनाम्नायोऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना । स्वाध्यायः पञ्चधा ज्ञेयः सदा स्वाध्यायकारिभिः॥१५

और तप आचार इन पांच प्रकारके आचारोंको और उनके भेदप्रभेदोंको स्वयं आचरते हैं तथा शिष्यादिकोंको उनके आचारमें प्रवृत्त कराते हैं ॥ ८ ॥

२ उपाध्याय– जिनके पास जाकर मोक्षके लिये उत्तम– निर्दोष रत्नत्रय प्रतिपादक शास्त्रका अध्ययन किया जाता है तथा जिनके पास ज्ञान और ध्यानरूपी धन सदा रहता है ऐसे मुनीश्वरको उपाध्याय कहते हैं ॥ ९ ॥

३ साधु – जो मुनि दूसरोंको धर्मोपदेश नहीं देते हैं और जो दीक्षा नहीं देते हैं, जो आत्मध्यान करके आत्मसिद्धिके मार्गमें लगे हैं वे साधु मुनि हैं ॥ १० ॥

४ तपस्वी– जो घोरवीर तप करते हैं वे तपस्वी मुनि हैं ।

५ शैक्ष्य– शास्त्राभ्यास करनेवाले आर्यिका, क्षुल्लिका, आदिकोंको शैक्ष्य कहते हैं ।

६ ग्लान– रोगोंसे जिनका शरीर थक गया है कृश हुआ है वे ग्लान– मुनि हैं ।

७ गण– साधुओंका जो दीर्घकालीन समूह अर्थात् वृद्धमुनियोंका जो समूह उसे गण कहते हैं ।

८ कुल– दीक्षा देनेवाले आचार्यका जो शिष्यसमुदाय उसको कुल कहते हैं ।

९ संघ– ऋषि, मुनि, यति, अनगार ऐसे चार प्रकारके मुनि अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनका समूह संघ है ॥ ११–१३ ॥

१० मनोज्ञ– वक्तृत्वादि गुणोंसे शोभनेवाले लोकमान्य विद्वान् मुनिको मनोज्ञ कहते हैं। ऐसे दस प्रकारके मुनियोंकी औषधसे और शरीरचेष्टासे जो शुश्रूषा करना वह वैयावृत्य है । रोग, परिषह, मिथ्यात्व आदिक संकट आनेपर उनको औषधादिकसे दूर करना वैयावृत्त्य है ॥१४॥

(स्वाध्यायतपके भेद ।)– वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मदेशना ऐसे स्वाध्यायके पांच भेद सदा स्वाध्याय करनेवाले मुनियोंको जानने योग्य है ॥ १५ ॥

---

१ आ. धर्माख्यानं　२ आ. दीक्षाद्या　३ आ. भिक्षाशीलस्तु भैक्षोऽ　४ आ. यो　५ आ. स्थविर　६ आ. मेलापः ।

सन्देहहन्तृशास्त्रस्यानुवादो[1] वाचना मता । ससन्देहपरिप्रश्नः[2] प्रच्छनार्थदृढाय वा ॥ १६
निश्चितार्थस्य शास्त्रस्य मनोऽभ्यासः सतां मतः । यो वाचासावनुप्रेक्षा[3] भवदुःखविनाशिनी ॥१७
परिघोषविशुद्धं यत्परिवर्तनमुत्तमम् । तदाम्नाय इति प्राज्ञाः कथयन्ति यतीश्वराः ॥ १८
महाधर्मकथानां यत्प्रख्यापनमनारतम् । धर्माख्यानं मतं तद्धि संसारासातशातनम् ॥ १९
सर्वेभ्यो[4] यद्व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः । यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायो मूलमादितः[5] ॥ २०
स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्तत्त्वार्थसङ्ग्रहः । तत्त्वार्थसङ्ग्रहादेव श्रद्धानं तत्त्वगोचरम् ॥२१
तन्मध्यैकगतं पूतं तदाराधनलक्षणम् । चारित्रं जायते तस्मिंस्त्रयीमूलमयं मतम् ॥ २२
प्रशस्ताध्यवसायस्य स्वाध्यायो वृद्धिकारणं । तेनेह प्राणिनां निन्द्यं सञ्चितं कर्म नश्यति ॥ २३

ज्ञानकी भावनासे आलस्यका त्याग करना स्वाध्याय है ।

१ वाचना– संदेह दूर करनेवाले शास्त्रका अनुवाद कहना ।

२ पृच्छना– मनमें उत्पन्न हुए संदेहको दूर करनेके लिये जो प्रश्न करना उसको पृच्छना कहते हैं अथवा जो अभिप्राय मनमें निश्चित किया है उसको पुष्ट करनेके लिये प्रश्न करना ।

३ अनुप्रेक्षा– जिसका अर्थ निश्चित जाना है ऐसे शास्त्रका जो मनसे अभ्यास करना उसे सज्जनोंको मान्य अनुप्रेक्षा कहते हैं ।

४ आम्नाय– घोषशुद्धतासे शास्त्रको अच्छी तरह बार बार पढना आम्नाय है ऐसा विद्वान् यतीश्वर कहते हैं ।

५ धर्मदेशना– लोकोद्धारक ऐसे महान् जैनधर्मका जो हमेशा उपदेश करना उसको धर्मदेशना कहते हैं । वह संसारका दुःख नष्ट करनेवाली है ॥ १६–१९ ॥

(स्वाध्यायकी श्रेष्ठता ।)– सर्व व्रतोंकी अपेक्षासे देखा जाय तो यह स्वाध्यायव्रत मूल माना है । तथा यह स्वाध्याय उत्तम तप है । क्योंकि सर्वव्रतोंका स्वाध्याय आदिमूल है ॥ २० ॥

स्वाध्यायसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे जीवादिक तत्त्वार्थोंका संग्रह होता है । तत्त्वार्थका संग्रह होनेसे तत्त्वविषयक श्रद्धान होता है । रत्नत्रयके बीचमें पवित्र सम्यग्ज्ञान है और वह ज्ञानाराधनात्मक है । सम्यग्ज्ञान होनेसे चारित्र होता है अतः यह स्वाध्याय रत्नत्रयका मूल माना है ॥ २१–२२ ॥

जो जीवके उत्तम परिणाम होते हैं– शुभ और शुद्ध परिणाम होते हैं उनकी वृद्धिका कारण स्वाध्यायही है । इस स्वाध्यायसे प्राणियोंका निंद्य पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट होता है ॥ २३ ॥

---

१ आ. निःसन्देहस्य　२ आ. ससन्देहे　३ आ. योऽसावनुप्रेक्षा　४ आ. सर्वेभ्योऽपि व्रतेभ्योऽयं
५ आदिमं

संवेगो जायते यस्मान्मोहध्वान्तविनाशकः। मोहादपगतानां हि क्व संसारः क्व तत्फलम् ॥ २४
स्वाध्यायेन समं किञ्चिन्न कर्मक्षपणक्षमं। यस्य संयोगमात्रेण नरो[1]मुच्येत कर्मणा ॥ २५
बह्वीभिर्भवकोटीभिः व्रताद्यत्कर्म नश्यति। प्राणिनस्तत्क्षणादेव स्वाध्यायात्कथितं बुधैः ॥ २६
पदार्थान्स्थूलसूक्ष्मांश्च यन्न जानाति मानवः। तज्ज्ञानावृतिमाहात्म्यं नात्मभावो हि तादृशः ॥२७
आजन्म मृत्युपर्यन्तं तपः कुर्वन्तु साधवः। नैकस्यापि पदस्येह ज्ञानावृतिपरिक्षयः ॥ २८
सर्वशास्त्रविदो धीरान्गुरूनाश्रित्य कुर्वतः। स्वाध्यायं तत्क्षणाच्छुद्धैः पदार्थानवगच्छति ॥ २९
तपोवृद्धिकरश्चासौ स्वाध्यायः शुद्धमानसैः। कथ्यतेऽनेकधा तावदतीचारविशुद्धितः ॥ ३०
चित्तमर्थनिलीनं स्याच्चक्षुरक्षरपङ्क्तिषु। पत्रेऽस्य संयमः साधोः स स्वाध्यायः किमुच्यते ॥ ३१

इस स्वाध्यायसे संवेग–संसारसे भय उत्पन्न होता है जिससे मोहरूप अंधकारका नाश होता है। और जो मोहसे दूर भाग गये हैं अर्थात् जिनका मोह नष्ट हुआ है उनका संसार कहांसे रहेगा और उसका फलभी कैसे प्राप्त होगा ?

(स्वाध्याय कर्मनाशक है।)– स्वाध्यायके समान कोईभी अन्य तप कर्मक्षय करनेके लिये समर्थ नहीं है। इस स्वाध्यायके संयोगमात्रसे मनुष्य कर्मसे मुक्त होता है ॥ २५ ॥

(व्रत और स्वाध्यायमें महान् अन्तर है।)– जो कर्म खिपानेके लिये कोट्यवधि भव तक मनुष्यको व्रत धारण करने पडते है वह प्राणीका कर्म स्वाध्यायसे तत्काल नष्ट होता है ऐसा बुद्धिमंतोंने कहा है ॥ २६ ॥

जब कि मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंको नहीं जानता है वह सब ज्ञानावरणकाही माहात्म्य है। ज्ञानके बिना स्वपरपदार्थोंका विचार करनेवाला दूसरा आत्मभाव नहीं है। अर्थात् शक्ति आदिक आत्मगुणोंमें यह विचार नहीं है। जन्मसे मरणतक साधु तपश्चरण करें परंतु किसीभी तपसे एक पदकेभी ज्ञानावरण कर्मका क्षय नहीं होता ॥ २७–२८ ॥

संपूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता ऐसे धीर गुरुका आश्रय लेकर स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य तत्काल शुद्ध पदार्थोंको जानता है ॥ २९ ॥

यह स्वाध्यायतप तपोंमें वृद्धि करनेवाला है। इससे व्रतोंके अतिचार शुद्ध होते हैं अर्थात् नष्ट होते हैं। शुद्धचित्तवाले विद्वानोंने इस स्वाध्यायके अनेक भेद कहे हैं ॥ ३० ॥

(स्वाध्यायमें सब इंद्रिया तत्पर होती हैं।)– साधुका चित्त अर्थमें एकाग्र होता है और ग्रंथके पत्रमें जो अक्षरोंकी पंक्तिया होती हैं उनमें उसकी आखें लगती हैं। इसलिये स्वाध्यायसे चित्त और नेत्रको संयम प्राप्त होता है ऐसे स्वाध्यायका हम कैसे वर्णन कर सकेंगे ?

---

१ नरो मुञ्चति कर्मणः

श्रद्धावान्यदि सत्साधुः स्वाध्यायं कुरुते सदा । परः [1]स्याद्ध्यानवान्वेगात्स[2] याति परमां गतिम् ॥३२
साधुसंहननस्येह यदेकाग्रनिरोधनम्[3] । चित्तस्यान्तर्मुहूर्तं स्याद्ध्यानमाहुर्मनस्विनः[4] ॥ ३३
आर्तं रौद्रं मतं धर्मं[5] शुक्लं चापि चतुर्विधम् । ध्यानं भवति जीवानां शुभाशुभगतिप्रदम् ॥ ३४
शस्ताशस्तादिभेदेन तद्द्वेधा पुनरीरितम् । आद्ये प्रशस्तमेवेदं परे शस्तं सुनिमलम् ॥ ३५
यत्प्रशस्तं तदेवेह मोक्षहेतुनिवेदितम् । अप्रशस्तं पुनर्गीतं संसारस्यैककारणम् ॥ ३६
विषकण्टकशत्रूत्थबाधाविच्युतिचिन्तनम् । अमनोज्ञभवं चैतदाद्यमार्तं निगद्यते ॥ ३७
माद्यन्मित्रकलत्रादिधनधान्यादिलब्धये । संकल्पो यस्तु तज्ज्ञेयं मनोज्ञाख्यं[6] द्वितीयकम् ॥ ३८

(स्वाध्यायसे मोक्षकी प्राप्ती ।)– श्रद्धावान् होकर यदि साधु हमेशा स्वाध्याय करेगा तो वह उत्तम ध्यानवान् होगा अर्थात् वह आत्मस्वरूपके चिन्तनमें तत्पर और कुशल होगा जिससे वह शीघ्रही उत्तम गतिको–मोक्षको प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

(ध्यानतपका वर्णन ।)– जो उत्तम संहननवाला है अर्थात् वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और अर्धनाराचसंहननका धारक है ऐसे विद्वानको अन्तर्मुहूर्ततक ध्यानतप होता है । अर्थात् उसका मन एक पदार्थपर स्थिर होकर अन्तर्मुहूर्तकालतक उसका विचार करता है । अन्य सब पदार्थोंसे अलग होकर एक पदार्थमें मन निश्चल होना एकाग्रचिन्तानिरोध है । अनेक पदार्थोंमें मन भ्रमण करता है और उनका बोध आत्माको होता है उस बोधको ज्ञान कहते हैं परंतु वह ज्ञान जब अग्निकी स्थिर ज्वालाके समान एकही विषयपर स्थिर होता है तब उसे ध्यान कहते हैं ॥ ३३ ॥

(ध्यानके भेद ।)– आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ऐसे ध्यानके चार भेद हैं । ये जीवोंको अशुभगति देनेवाले और शुभगति देनेवाले हैं । इनकेही प्रशस्त ध्यान और अप्रशस्त ध्यान ऐसे दो भेद कहे हैं । जो ध्यान पापास्रवके कारण हैं उन्हे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं । ये अप्रशस्तध्यान जीवको नरक तिर्यग्गतिके कारण हैं और प्रशस्तध्यानसे जीवको सुगतिकी प्राप्ति होती है और संपूर्ण कर्मका क्षय होनेसे मोक्षप्राप्ति होती है । पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्तही हैं । और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान निर्मल हैं । इसलिये वे मोक्षके कारण हैं तथा प्रशस्त हैं । जो अप्रशस्त ध्यान हैं संसारके मुख्य कारण हैं ॥ ३४–३६ ॥

(अमनोज्ञ संयोगज आर्तध्यान ।)– विष, कण्टक, शत्रु इनसे जो पीडायें उत्पन्न होती हैं उनसे पीडित होकर ये पीडायें कब दूर हो जावेंगी ऐसा संतत चिन्तन वह अमनोज्ञ–अनिष्ट संयोगज नामका पहला आर्तध्यान है ॥ ३७ ॥

(मनोज्ञ–वियोगज आर्तध्यान ।)– हर्षयुक्त मित्र, पत्नी, आज्ञाधारक पुत्र इत्यादिकोंकी तथा धन्यधान्यादिकोंकी प्राप्ति मुझे होवे, ऐसा जो मनमें संतत संकल्प उत्पन्न होता है उसे मनोज्ञ

---

१ आ. पदस्थध्यानं　२ आ. योगात्　३ आ. यदेकाग्रे निरुन्धनम्　४ आ. तद्ध्यान　५ आ. धर्म्यं
६ मनोज्ञार्तं

वातपित्तादिसंभूतविकाराणां समागमे । तस्यापायविकल्पो यस्तृतीयं समुदाहृतम् ॥ ३९
अनागतपदार्थस्य प्राप्त्यर्थं चित्तकल्पनम् । निदानाख्यं तुरीयं स्यादार्ता[1] यान्ति भवं भुवि ॥४०
चतुर्विधमिदं तावदार्तध्यानं प्रजायते । प्रमत्तसंयतान्तानां जीवानामतिदुःखदम् ॥ ४१
वधे बन्धे च सर्वस्वहृतौ दुष्टमिमं कदा । मारयामीति[2] संकल्पो हिंसारौद्रं निगद्यते ॥ ४२
अनेनानृतवाक्येन वधं बन्धं गमिष्यति । दुष्टात्मेति मनोरोधो रौद्रं चासत्यसंभवम् ॥ ४३
परकीयस्य वित्तस्य ग्रहायोपधिचिन्तनम् । स्तेयरौद्रं मतं दक्षैर्दुर्गतेः कारणं परम् ॥ ४४

वियोगज आर्तध्यान कहते हैं । प्रिय वस्तुओंको– मित्रादिकोंको मनोज्ञ कहते हैं । उनका वियोग होनेसे जो संक्लेश मनमें पैदा होकर मित्रादिकोंकी, धनधान्यादिकोंकी कब प्राप्ति होगी ऐसा चिन्तन होता है ॥ ३८ ॥

(वेदनाजात आर्तध्यान ।)– वातपित्तादिकोंसे जो शरीरमें रोग और बाधायें उत्पन्न होती हैं उनसे मुझे कब मुक्ति मिलेगी ऐसा जो चिन्तन होता है वह वेदनासंयोगज आर्तध्यान है ॥ ३९ ॥

(निदाननामक आर्तध्यान ।)– अनागत पदार्थ– भावी राज्यादिक, स्वर्ग आदिक सुखोंकी प्राप्तिकी आशा करना निदान है । भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य उसकी प्राप्तिके लिये मनकी एकाग्रता सतत करता है । ऐसे ध्यानका नाम निदान है । यह चौथा ध्यान है । ऐसे चार ध्यानोंसे इस लोकमें भ्रमण करना पडता है ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे चार आर्तध्यानोंका वर्णन किया है । यह मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत– सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत ऐसे छह गुणस्थानवाले जीवोंको होता है । यह ध्यान अतिशय दुःखदायक है ॥ ४१ ॥

विशेषता– पांच गुणस्थानोंतक असंयम परिणाम होनेसे ये चार आर्तध्यान होते हैं परंतु प्रमत्त गुणस्थानमें निदानको छोडकर तीन आर्तध्यान कदाचित् प्रमादके उदयसे होते हैं ।

(हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान ।)– इस दुष्टने वध, बंध, सर्वस्वहरण किया हैं अतः इस दुष्टको मैं कब मारूंगा ऐसा जो संतत चिन्तन होता है वह हिंसानंद नामक रौद्रध्यान है ॥ ४२ ॥

(अनृतानंद रौद्रध्यान ।)– यह दुष्टात्मा हमेशा असत्य बोलकर मेरा नाश करता है । इसलिये असत्य भाषणसे यह दुष्टात्मा वधबंधको प्राप्त होगा तो अच्छा होगा ऐसा मनमें विचार करना अनृतानंद रौद्रध्यान है ॥ ४३ ॥

(चौर्यानंद रौद्रध्यान ।)– परकीयोंका धन किस उपायसे ग्रहण किया जा सकता है इसका जो बार बार चिन्तन करना उसे चौर्यानंद रौद्रध्यान कहते हैं । यह दुर्गतिका मुख्य कारण है ॥ ४४ ॥

---

१ आर्तमार्तिभवंभुवि　२ आ. योजयामीति

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दसंरक्षणाय च । क्रूरभावे मनोरोधश्चतुर्थं रौद्रमुच्यते ॥ ४५
संयतासंयतान्तानां जीवानामुपवर्णितम् । चतुर्विधमिदं रौद्रं श्वभ्रभूमिप्रवेशकम् ॥ ४६
आज्ञाविचारणा तस्मादपायविचयः परः । विपाकविचयश्चान्यः संस्थानविचयः पुनः ॥ ४७
इत्थं चतुर्विधं धर्म्यं धर्माधारैर्निगद्यते । येन प्राप्नोति जीवोऽयं सिद्धिसौख्यं निरन्तरम् ॥ ४८
उपदेष्टुरभावेन मन्दबुद्धितयाथवा । पदार्थानां हि सूक्ष्मत्वात्कर्मोदयवशादथ ॥ ४९
सद्दृष्टान्ताद्यभावेन सर्वज्ञाज्ञाप्रमाणतः । अर्थावधारणं धर्म्यं स्यादाज्ञाविचयः स्फुटम् ॥ ५०

(परिग्रहानंद रौद्रध्यान ।)– गंध, रूप, रस, शब्द, स्पर्शयुक्त पदार्थोंका संग्रह–रक्षणके लिये अतिशय संक्लेश परिणाम होकर उनमें मनकी एकाग्रता होना चौथा रौद्रध्यान है ॥ ४५ ॥

(रौद्रध्यानके स्वामी ।)– यह चार प्रकारका रौद्रध्यान पहले गुणस्थानसे पांचवे संयतासंयत गुणस्थानतक होता है और यह नरकभूमिमें प्रवेश करनेवाला है ॥ ४६ ॥

विशेष– अविरत जीवको रौद्रध्यान होना योग्य है, क्योंकि वह व्रतरहितही होता है। उसको हिंसादिकोंका त्याग नहीं है। परंतु जो देशव्रतोंको पालता है उसे रौद्रध्यान कैसे होगा? उत्तर– उसकोभी कदाचिद् हिंसादिकोंका आवेश होता है और धन, स्त्री, कुटुंबवर्गका संरक्षण करनेसे संक्लेश परिणाम होंगे जिससे रौद्रध्यान कदाचिद् हो सकता है। परन्तु वह नरकगति आदिका कारण नहीं होता। क्योंकि सम्यग्दर्शनका सामर्थ्य उसको रहता है। संयतको अर्थात् मुनिको रौद्रध्यान नहीं होता। यदि वह होगा तो उसका संयम नष्ट होगा ॥ ४६ ॥ (सर्वार्थसिद्धि हिंसानृतादि सूत्र)

(धर्मध्यानका भेदसहित विवेचन ।)– धर्मध्यानका पहला भेद आज्ञाविचारणा नामक है। दूसरा भेद अपायविचय है। तीसरा भेद विपाकविचय और चौथा भेद संस्थानविचय है। इस प्रकारसे धर्मके आधारभूत आचार्य धर्म्यध्यानके चार भेद कहते हैं। जिससे यह जीव निरंतर सिद्धिका सुख प्राप्त करता है ॥ ४७–४८ ॥

(आज्ञाविचय धर्मध्यान ।)– उपदेशकका अभाव होनेसे अर्थात् जीवादिक तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप कहनेवाले गुरुका अभाव होनेसे, तथा अपनी बुद्धि मंद होनेसे, पदार्थोंका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे तथा कर्मोदय होनेसे, उत्तम निर्दोष दृष्टान्तादिकोंका अभाव होनेसे सर्वज्ञके आगमको प्रमाण समझ कर जीवादि पदार्थोंका निश्चय करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण कर यह वस्तुस्वरूप ऐसाही है, जिनेश्वर अन्यथाभाषी– असत्यभाषी नहीं हैं ऐसा मानकर गहनपदार्थोंपर श्रद्धान करके जीवादि पदार्थोंका निश्चय करना यह आज्ञाविचय है। अथवा स्वतः सिद्धान्तके अविरुद्ध जीवादिक पदार्थोंको जाननेमें जो प्रवीण है तथा शिष्यादिकोंको सिद्धान्तसे अविरुद्ध तत्त्वसमर्थनके लिये तर्क, नय और प्रमाणकी योजना करके निवेदन करनेकी इच्छासे जो

तत्त्वार्थवेदिना[1] वाचा स्वसिद्धान्ताविरोधिना[2]। परं प्रति प्रमाणेन निवेदयितुमिच्छता ॥ ५१
जायते यः स्मृतेः पूतः समन्वाहार इत्यथ[3]। सोऽयमाज्ञाप्रकाशार्थं वरमित्यादिचिन्तनम्[4] ॥५२
ये मिथ्यादृष्टयः सर्वे सर्वज्ञाज्ञाबहिःस्थिताः। सम्यङ्मार्गादपेतास्ते दूरमित्यादि चिन्तनम् ॥५३
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रेभ्यश्च्युता अमी। कथं जीवा भवन्त्यत्रेत्यवधारणमुत्तमम् ॥ ५४
अपायविचयो धर्मध्यानमाहुर्मनीषिणः। येनावाप्नोति भव्यात्मा कर्मापायं क्षणादपि ॥ ५५
कर्मणां हि विपाकेन फलानुभवनं प्रति। प्रणिधानं विपाकैकधर्मध्यानं निगद्यते ॥ ५६
लोकसंस्थानचिन्तायां संस्थानविचयो महान्। धर्मध्यानं मतं प्राज्ञैः कर्माष्टकविनाशनम्[5] ॥ ५७
अप्रमत्तान्तजीवानां तद्धचानं जायते परम्। अनन्तसौख्यसंप्राप्तिहेतुभूतं महात्मनाम् ॥ ५८
शुक्ले पृथक्त्ववीतर्कमवीचारि[6] द्वितीयकं। सूक्ष्मक्रियैकसम्पाति समुच्छिन्नक्रियं ततः ॥ ५९

बार बार जिनाज्ञाकी– जीवादितत्त्वोंकी चिन्ता करता है उसका वह पवित्र– प्रशस्त आज्ञाविचय नामक पहला धर्मध्यान है। जिनेश्वरकी आज्ञा प्रकाशित करनेके लिये जो उत्तम चिन्तन है वह आज्ञाविचय है ॥ ४९–५० ॥

(अपायविचय धर्मध्यान।)– जो मिथ्यादृष्टि हैं वे सर्वज्ञकी आज्ञाके बाहर रहते हैं, अर्थात् सर्वज्ञ जिनेश्वरकी आज्ञाको प्रमाण नहीं मानते हैं, वे यथार्थ मोक्षमार्गसे दूर रहे हैं इत्यादि चिन्तन करना अपायविचय है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे च्युत होकर ये जीव यथार्थ मोक्षमार्गमें कैसे प्रवृत्त होंगे, ऐसा जो बार बार स्मरण करना विद्वान लोग उसे अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं। इस धर्मध्यानसे भव्यात्माके कर्मोंका अपाय-नाश तत्काल होता है ॥ ५१–५५ ॥

(विपाकविचय धर्मध्यान।)– ज्ञानावरणादि कर्मोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदिक कारणोंसे विपाक– उदय होता है और उसका नानाविध फल मिलता है ऐसा बार बार चिंतन करना विपाकविचय है ॥ ५६ ॥

(लोकसंस्थानविचय।)– लोककी आकृतिका बार बार विचार करनेको विद्वान लोग संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान आठ कर्मोंका विनाश करनेवाला है। यह चार प्रकारका धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थानतक जीवोंको होता है अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयतोंको होता है। यह चार प्रकारोंका धर्मध्यान महात्माओंको अनंतानंत सौख्यकी प्राप्ति करानेमें कारण है ॥ ५७–५८ ॥

(शुक्लध्यानके भेद।)– शुक्लध्यानमें पृथक्त्ववितर्कसविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियासम्पाति, समुच्छिन्नक्रिय ऐसे चार भेद हैं ॥ ५९ ॥

---

१ आ. वेदिनो वाथ　२ आ. स्वसिद्धन्ताविरोधतः　३ आ. इत्ययं　४ आ. आज्ञाविचय उच्यते　५ आ. विनाशकम्　६ आ. अपृथक्त्वादिकं च तत्।

श्रुतकेवलिनः साधोराद्ये शुक्ले तु शोभने । धर्मध्यानं च तस्येति कथयन्ति जिनेश्वराः ॥ ६०
परे द्वे भवतस्तावदतिशुद्धेऽतिनिर्मले । केवलज्ञानयुक्तस्य सयोगायोगिनः पुनः ॥ ६१
यत्पृथक्त्ववितर्कं तत्त्रियोगेषु प्रजायते । एकयोगस्य चैकत्ववितर्कं चारुतान्वितम् ॥ ६२
केवलकाययोगस्य ध्यानं सूक्ष्मक्रियं मतम् । समुच्छिन्नक्रियं तावदयोगस्य महात्मनः ॥ ६३
सवितर्कप्रवीचारमाद्यध्यानं[1] भवेदिह । सवितर्काप्रवीचारं द्वितीयमतिदुर्लभम् ॥ ६४
श्रुतज्ञानं वितर्कः स्यात्प्रवीचारस्तु यः पुनः । अर्थव्यञ्जनसद्योगसंक्रान्तिरतिशोभना ॥ ६५

विशेष– जैसे मलरहित होनेसे कपडा शुक्ल कहा जाता है, वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप परिणति इस ध्यानसे प्राप्त होती है । इसलिये इसे शुक्ल कहते हैं । आत्माकी निर्मलतामें शुक्लगुणकी सदृशता समझकर इस ध्यानको शुक्ल कहते हैं ।

(शुक्लध्यानके स्वामी ।)– श्रुतकेवली मुनिराजको पहले दो उत्तम शुक्लध्यान होते हैं । धर्मध्यानभी उसी श्रुतकेवली साधुको होता है ऐसा जिनेश्वर कहते हैं । तीसरा और चौथा शुक्लध्यान निर्मल हैं, और अतिशय निर्मल हैं; क्योंकि, संपूर्ण कषाय और घातिकर्मका नाश होनेसे वे उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे ध्यान अत्यंत निर्मल और विशुद्ध हैं । सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनेश्वरको ये दो ध्यान होते हैं ॥ ६०–६१ ॥

पहला पृथक्त्ववितर्क– नामक ध्यान तीन योगोंके धारकोंको होता है । एकत्ववितर्क नामक दूसरा सुंदर ध्यान तीन योगोमेंसे किसी एक योगके धारकको होता है । केवल काययोगके धारकको तीसरा सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान होता है और चौथा समुच्छिन्नक्रिय नामका ध्यान अयोगी महात्माको– चौदहवे गुणस्थान धारक महापुरुषको होता हैं । विशेष–सकल श्रुतधरको अपूर्वकरणके पूर्वमें चौथे गुणस्थानसे सातवे गुणस्थानतक धर्मध्यान है । अपूर्वकरणसे लेकर उपशांतकषायतक चार गुणस्थानोंमें पहला पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान है । क्षीण कषाय गुणस्थानमें एकत्ववितर्क अविचार नामक दूसरा शुक्लध्यान हैं ॥ ६२–६३ ॥

(वितर्क और विचारका स्पष्टीकरण ।)– पहली पृथक्त्ववितर्कविचार नामक ध्यान वितर्कसे युक्त और प्रविचार युक्त है । और दुसरा शुक्लध्यान अतिशय दुर्लभ है तथा वह वितर्कके साथ होता और अप्रवीचार है ॥ ६४ ॥

श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और शोभना– निर्मल ऐसी अर्थसंक्रान्ति, व्यंजनसंक्रान्ति और योगसंक्रान्ति होती है । अर्थात् पहले शुक्लध्यानमें वितर्क और विचार होता है । विशेष– श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है । मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय– मनःपूर्वक होता है । मतिज्ञानके अनन्तर नो इन्द्रियके प्राधान्यसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । यद्यपि ईहादिक

---

१ आ. आद्यं

अर्थो ध्येयः सुद्रव्यं वा पर्यायो वा निगद्यते । व्यञ्जनं वचनं योगः कायवाक्चित्तलक्षणः ॥ ६६
द्रव्यं विहाय पर्यायं परिहृत्य त्वतोऽपि तत् । द्रव्यं यातीति संक्रान्तिर्द्रव्यस्य कथिता बुधैः ॥६७
श्रुतस्य वचनं तावदेकमादाय तत्क्षणात् । गृह्णात्यन्यत्ततोऽप्यन्यद्व्यञ्जनस्येति वर्तनम् ॥ ६८
काययोगं परित्यज्य गृह्णात्याग्रहवर्जितः । योगान्तरं मता सेयं योगसंक्रान्तिरुत्तमैः ॥ ६९
यत्परिवर्तनं चैतत्प्रवीचारः स उच्यते । स्वाध्यायाहितसच्चित्ततर्कसामर्थ्यसंभवः ॥ ७०
पृथक्त्वादिति वीचारसामर्थ्यप्रगतं मनः । यस्यापर्याप्तबालस्योत्साहवच्चाव्यवस्थितम् ॥ ७१

मतिज्ञानभी– नोइंद्रियसे उत्पन्न होते हैं तो भी अवग्रहके विषयकोही वे विशेषतया जानते हैं। वैसा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके विषयकोही यदि जानता तो वह अलग ज्ञान नहीं माना जाता। श्रुतज्ञानका विषय मतिज्ञानसे अपूर्व है। एक घडेको इंद्रिय और मनके द्वारा जानकर उसके जातिके देश, काल, रूप आदिकसे विलक्षण घडेको जो जानता है वह ज्ञान श्रुतज्ञान है। अथवा अनेक प्रकारोंसे युक्त अर्थका निरूपण करनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा इंद्रिय और अनिंद्रयसे एकजीव वा अजीव पदार्थको जानकर उसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व आदि प्रकारोंसे पदार्थ निरूपण करनेमें जो ज्ञान समर्थ है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसे श्रुतज्ञानको यहां वितर्क कहा है– विशेष प्रकारोंसे जीवादिक पदार्थोंका ऊह करना, व्याप्ति आदिका निर्णय करना वितर्क है। प्रवीचार– अर्थ संक्रान्तिको, व्यंजनसंक्रांतिको और योग संक्रान्तिको वीचार कहते है। परिवर्तनको संक्रान्ति कहते है ॥ ६४–६५ ॥ (राजवार्तिक प्रथम अध्याय सूत्र मतिश्रुतावधीति)

(संक्रान्तिका स्पष्टीकरण ।)– अर्थ – ध्येयवस्तुको अर्थ कहते हैं। वह ध्येय द्रव्य और पर्यायरूप हैं। व्यंजन– वचन, शब्द, वाक्य आदिको व्यंजन कहते हैं। योग– शरीर, वचन और मनकी प्रवृत्तिसे जो आत्मप्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न होती है उसे योग कहते हैं। अर्थसंक्रान्ति द्रव्यको छोडकर पर्यायको ध्येय समझकर उसका विचार करना, पर्यायको छोडकर द्रव्यकी चिन्ता करना हैं। अर्थात् शुक्लध्यानका विषय कभी द्रव्य होता है और कभी पर्याय होता है, कभी द्रव्यांतर होता है। एक विषयमें स्थिरता नहीं होती। बार बार परिवर्तन होता है। इसको अर्थसंक्रान्ति कहते हैं ॥ ६६–६७ ॥

व्यंजनसंक्रान्ति– श्रुतका एक वचन लेकर उसका विचार कर फिर अन्य श्रुतवचनका चिन्तन करना, उसे छोडकर तीसरे श्रुतवचनका विचार करना, उसेभी छोडकर चौथे श्रुतवचनका अवलंब करना, ऐसे विचारको व्यंजनसंक्रान्ति कहते हैं। आग्रहवर्जित योगिराज काययोगको छोडकर अन्ययोगका आश्रय करते हैं इसको उत्तम पुरुषोंने योगसङ्क्रान्ति माना हैं ॥६८–६९॥

इस प्रकार इन तीन प्रकारके परिवर्तनोंको प्रवीचार कहते हैं। यह प्रवीचार स्वाध्यायसे उत्तम मनमें उत्पन्न हुए तर्कका फल है ॥ ७० ॥

पहले शुक्लध्यानमें योगीका मन वीचारके सामर्थ्यसे अधिक उत्पन्न होता है। परंतु जैसे बालकका उत्साह अल्प होता है वैसे उस योगीका मन मोहकर्मप्रकृतियोंका शनैः शनैः क्षपण

तस्य क्षपयतस्तत्र प्रशमं नयतोऽपि च । मोहस्य प्रकृतीः कुण्ठकुठारात्तरुभेदवत् ॥ ७२
तत्पृथक्त्वसुवीतर्कवीचारं ध्यानमुत्तमम् । जायते जितकर्मौघमघविध्वंसकारिणः ॥ ७३
दुरन्तं मोहजालं तन्निर्मलं निकषन्निह । स एवातिविशुद्धात्मा ज्ञानावृतिनिरुन्धनात् ॥ ७४
स्थितिन्हासक्षयौ कुर्वञ्श्रुतज्ञानोपयोगवान् । अर्थव्यञ्जनयोगानां सत्संक्रान्तिविवर्जनात् ॥ ७५
स्थिरचित्तैकवृत्तिश्च कषायपरिवर्जितैः[1] । वैडूर्यमणिवन्नित्यं निर्मलं[2] हि यतो महान् ॥ ७६
ध्यात्वा निवर्तते नैव तस्य ध्यानं सुनिर्मलम् । यदेकत्ववितर्कं तत्तत्र केवलमश्नुते ॥ ७७
तेन ध्यानाग्निना चैव घातिकर्मेन्धनानि सः । दग्ध्वाप्नोति रुचिं[3] धर्मे कर्मयुक्तः शुभानि च ॥७८
स यदान्तर्मुहूर्तायुः शेषकर्मसमस्थितिः । बादरं काययोगं तं परिहृत्यावलम्बते ॥ ७९

अथवा उपशम करता है । जैसे अतीक्ष्ण कुल्हाडीसे वृक्ष शनैः शनैः काटा जाता है वैसे पहले शुक्लध्यानधारकके द्वारा शनैः शनैः मोहकी प्रकृतियां क्षीण या उपशान्त की जाती हैं ॥७१-७२॥

यह पृथक्त्ववितर्कविचार- ध्यान पापनाश करनेवाले योगिसे उत्तमतया किया जाता है और इससे कर्मसमूहका नाश होता है ॥ ७३ ॥

दुसरे शुक्लध्यानको जब योगी प्रारम्भ करता है तब जिसका नाश करना अतिशय कठिन है ऐसा मोहकर्म नष्ट होता है । तथा योगी श्रुतज्ञानोपयोगसे युक्त होकर ज्ञानावरण कर्मको रोकता है । अर्थात् ज्ञानावरण कर्मकी स्थितीका ऱ्हास प्रथमतः कर अनन्तर उसका नाश करता है । उस समय अर्थसङ्क्रान्ति, व्यञ्जनसङ्क्रान्ति और योगसङ्क्रान्तियोंका अभाव होता है ॥ ७४-७५ ॥

(एकत्ववितर्क- ध्यानका विवरण ।)- जब यतिराजकी चित्तवृत्ति प्रथम शुक्ल-ध्यानसे अधिक स्थिर होती है और जब वे कषायरहित होते हैं तब वैडूर्यमणिके समान निर्मल होकर वे नहीं लौटते हैं अर्थात् दूसरे ध्यानमें वे तत्पर होते हैं प्रथम ध्यानके तरफ वे नही आते । ऐसे निर्मलध्यानको एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं । इस शुक्लध्यानसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है । इस ध्यानरूपी अग्निसे ज्ञानावरणादि घातिकर्मरूपी इन्धन जलाकर यतिराज अतिशय प्रकाशमान होते हैं । अघातिकर्महीं अब अवशिष्ट रहे हैं । इसके अनंतर वे केवली भगवान् आयुष्यकर्म जबतक कुछ अवशिष्ट रहा है तबतक विहार करते हैं ॥ ७६-७७ ॥

उस ध्यानाग्निसे वे मुनि घातिकर्मरूप इन्धनको जलाकर मेघोंसे मुक्त हुए सूर्यके समान महाज्योतिको अर्थात् केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

जब योगीके बाकी कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मके समान अन्तर्मुहूर्त रह जाती है तब बादरकाय योगको छोडकर योगी सूक्ष्मकाय योगका अवलम्ब करते हैं ॥ ७९ ॥

---

१ आ. कषायप ऱ्वर्जितः　२ आ. निर्मलत्वयुतो महान्　३ महाज्योतिर्मेघमुक्तांशुभानिव

परमेष्ठी परञ्ज्योतिर्ध्यानमास्कन्तुमर्हति । तस्मादुद्ध्वस्तयोगी स समुच्छिन्नक्रियाभिधम् ॥८०
सत्सूक्ष्मं काययोगं तं तत्र सूक्ष्मक्रियाभिधम् । प्राणापानादिकस्पन्दक्रियाव्यापारवर्जनात् ॥ ८१
तत्र ध्याने भवत्यस्य सत्सामर्थ्यमयोगिनः । कर्मसंतानविच्छित्तेः कारणं भववारणम् ॥ ८२
यथाख्यातं च चारित्रं तदा तस्य प्रजायते । साक्षान्मोक्षैकसत्तत्त्वहेतुभूतं महात्मनः ॥ ८३
एतन्महातपः पूतं कर्मनिर्जरणक्षमम् । अस्माच्च निर्जरा पूता सैवोपक्रमजा मता ॥ ८४
अथावसरसंप्राप्तं मोक्षतत्त्वं निगद्यते । साक्षाच्च केवलं तस्य हेतुस्तद्घातिनां क्षयात् ॥ ८५
ज्ञानस्यावरणं तावद्दर्शनावरणं तथा । मोहनीयान्तराये च घातिकर्माणि तज्जगुः[1] ॥ ८६

(तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान ।)– जब काययोग सूक्ष्म होता है तब परमेष्ठी, उत्कृष्ट ध्यानरूपी ज्योतिके धारक वे केवली सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान धारण करते हैं। इस ध्यानसे योग सब नष्ट होते हैं और वे 'समुच्छिन्नक्रिया' नामक चौथा ध्यान धारण करते हैं। उस समय श्वासोच्छ्वासादि क्रिया बंद होती हैं। इस ध्यानमें इस अयोगकेवलीका सामर्थ्य बढता है, जो कि कर्मसमूहका नाश करनेवाला और संसार नष्ट करनेवाला है ॥ ८०–८२ ॥

(यथाख्यात–चारित्रकी प्राप्ति ।)– उस समय उस महात्माको साक्षात् मोहरूपी उत्तम निर्दोष तत्त्वका कारणरूप यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है। इस प्रकार यह महातप पवित्र और कर्मकी निर्जरा करनेमें समर्थ है। ऐसे तपसे पवित्र निर्जरा होती है। इस निर्जराको उपक्रमजा निर्जरा कहते हैं। उपक्रम शब्दका अर्थ तप होता है। उससे होनेवाली निर्जराको उपक्रमजा कहते हैं। इस निर्जराकेद्वारा कर्म उदयमें आनेके पूर्वकालमेंही तपश्चरणके सामर्थ्यसे उदीर्ण करके उदयावलीमें प्रवेशित किया जाता है, और आम्र आदिके फलकी पक्वताके समान उपभोगमें लाया जाता है। यथाख्यात चारित्र संपूर्ण मोहकर्मके क्षयसे और उपशमसे आत्मस्वभावमें जो स्थिरता प्राप्त होती है वह यथाख्यात चारित्र है। चौथे ध्यानसे योग पूर्ण नष्ट होते हैं और आत्मामें अपूर्व स्थिरता प्राप्त होती है। इसलिये इसमें पूर्णता प्राप्त होती हैं ॥ ८३–८४ ॥ (राजवार्तिक अ. ९ वा)

(मोक्ष-तत्त्वका निरूपण ।)– अब सरल–अनंतसौख्ययुक्त मोक्षतत्त्वका प्रतिपादन किया जाता हैं। उस मोक्षप्राप्तिका कारण साक्षात्केवलज्ञान है और वह घातिकर्मोंके क्षयसे होता है ॥ ८५ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग ये पांच बंधनकारण। (इनका स्वरूप पूर्वमें कहा गया है।) इनका जब नाश होता है, तब आत्मामें नवीन कर्मबंध होना पूर्णतया रुक जाता है, तथा पुराने कर्म उदयमें आकर तथा उनकी उदीरणा होकर नष्ट होते हैं। उनकी निर्जरा होती है। तब

१ आ. ते जगुः

बन्धहेतोरभावेन निर्जरायाश्च सर्वथा। सर्वकर्मविमोक्षोऽयं मोक्षोऽभाणि पुरातनैः ॥ ८७
शरीरेण[1] विमुक्तस्य कलङ्करहितस्य च। आत्मनोऽनन्तसौख्यादिभावान्तरमयं पुनः ॥ ८८
कर्माष्टकविनिर्मुक्तास्त्रिलोकाग्रव्यवस्थिताः। अनन्तसुखनिर्मग्ना भाविनं कालमासते ॥ ८९
ये ते सिद्धाः प्रयच्छन्तु मम भक्तिमतोऽचिरात्। सिद्धिं विशोध्य कर्माणि कुक्षेत्रपतितस्य च ॥९०
अज्ञानेनापि यत्प्रोक्तं श्रीसिद्धान्तमतं[2] कियत्। तत्तदाराधनायैव निर्गुणां ख्यातिमीप्सुना[3] ॥९१
अगाधस्त्वागमाम्भोधिः श्रीसर्वज्ञनिवेदितः। गौतमादिगणेन्द्रैर्योऽवगूढः स कथं पुनः ॥ ९२
मादृशैर्दुरभिप्रायैर्दुष्टकालसमस्थितैः[4]। नृकीटैः शक्यते ज्ञातुं सदुपाध्यायवर्जितैः ॥ ९३
केवलं सांप्रतं जाते[5] दुःषमाकालयोगतः। म्लेच्छान्ते भारते क्षेत्रे जैनी वागतिदुर्लभा ॥ ९४

आत्मामें कर्म बिल्कुल नहीं रहता। ऐसी जो कर्मरहित, शुद्ध, अनंतज्ञानादि गुणपरिपूर्ण आत्माकी अवस्था उसे पुरातन महर्षि मोक्ष कहते हैं ॥ ८६-८७ ॥

उस समय आत्मा औदारिकादि पांचों शरीरोंसे रहित होता है। तथा कलंक-कर्मरहित होता है। और आत्मा अनन्त सौख्य, अनंत ज्ञान-दर्शन वीर्य संपन्न होता है। पूर्वकी संसारावस्था नष्ट होकर वह उपर्युक्त शुद्ध अवस्थान्तर प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

(सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप।)- ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे सिद्ध परमेष्ठी रहित होते हैं। त्रैलोक्यके अग्रभागमें सिद्धशिलापर अन्तिम तनुवातवलयमें वे विराजमान होते हैं। वे अनन्त सुखोंमें सदा निमग्न रहते हैं। और भावी कालमेंभी वे अनन्तसुखीही रहेंगे। क्योंकि, बंधके कारण मिथ्यात्वादिक उत्पन्न करनेवाला कर्म अब उनके पास नहीं है। कर्मका अत्यन्त अभाव हो गया है। जैसे बीज जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसा कर्मबीज नष्ट होनेसे अब संसारांकुर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८९ ॥

(ग्रंथकारकी सिद्धोंको विज्ञप्ति।)- हे सिद्धपरमेष्ठिन्! मैं कुक्षेत्रमें पडा हूं, भक्ति तत्पर ऐसे मेरे कर्मोंको नष्ट कर मुझे आप सिद्धिपद दें। हे प्रभो! निश्चयसे ज्ञानादि गुणोंके साथ कीर्तिको चाहनेवाले मैंने यह सिद्धान्तका मत अज्ञानसे थोडासा कहा है ॥ ९०-९१ ॥

(आगमसमुद्रका स्वरूपबोध मुझे नहीं है।)- श्रीसर्वज्ञ महावीरप्रभुने जिसका स्वरूप कहा है, वह आगमसमुद्र अगाध है। उसके तलका स्पर्श करना शक्य नहीं है। ऐसे आगमसमुद्रमें गौतमादि गणेशोंने प्रवेश किया है। परंतु जो उत्तम उपाध्यायसे-सिद्धान्तज्ञ गुरुसे रहित हैं, तथा पंचमकाल, जो कि दुष्ट है, उसमें उत्पन्न हुए हैं और खोटे ज्ञानसे युक्त हम सरीखे मनुष्य हैं, उनके द्वारा यह सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम जानना शक्य नहीं है ॥ ९२-९३ ॥

(अब जिनवाणीका पाना दुर्लभ है।)- दुःषमाकालके संबंधसे यह भारतक्षेत्र म्लेंच्छोंसे व्याप्त हुआ है। इसमें अब जिनेश्वरकी वाणी प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥ ९४ ॥

---

१ आ. अशरीरस्य सतः　२ आ. गतं　३ आ. लिप्सया　४ समाश्रितैः　५ आ. याते

गतं शीलं गतं ज्ञानं गतं दानं गतं तपः । गतं शौचं गतं सत्यं गतं ध्यानं[1] गता क्रिया ॥ ९५
भव्यानामपि चित्तानि धर्मादपगतानि च । जैनी मुद्रापि दुःप्राप्या यास्मिन्कालेऽतिदुर्धरे ॥ ९६
तत्र जातोऽहमत्युच्चैः स्थानमानविवर्जितम् । ज्ञानाराधनतः किञ्चित्करोम्यस्यानुवर्तनम् ॥९७
जिनेन्द्रस्य मतस्यास्याचिन्त्यमाहात्म्यवर्तिनः । श्रद्धानादपि सिद्धयन्ति सन्तः संसारनिर्गताः ॥९८
यदि जैनेश्वरे मार्गे निदानमतिनिन्दितम् । सद्रत्नत्रयलाभो मे तथाप्यस्तु भवे भवे ॥ ९९
ये शृण्वन्ति महाधियः शुभमतं सामन्तभद्रं वचो ।
वैचित्र्यं बहुमानमावहदिदं भ्रान्तेर्विमुक्ता जनाः ॥

इस कलिकालमें शील-व्रतोंका पालन जिनसे होता है ऐसे सदाचार नष्ट हुए हैं। ज्ञान नष्ट हुआ, दान नष्ट हुआ और तप नष्ट हुआ, निर्लोभता नष्ट हुई, सत्य चला गया, ध्यान नष्ट हुआ और विनयादिक क्रिया नष्ट हुई ॥ ९५ ॥

(भव्यभी धर्ममें मंद आदर हुए हैं।)– इस कलिकालमें भव्योंके चित्तभी धर्मसे हट गये हैं। यह कलिकाल महाकठिन है। इसमें जिनमुद्राभी प्राप्त होना कठिन है ॥ ९६ ॥

इस कलिकालमें मैं उत्पन्न हुआ हूं। मैं उच्च स्थान और मानसे रहित हूं। मैं ज्ञानकी आराधना कर इस ज्ञानका कुछ अनुसरण करुंगा ॥ ९७ ॥

(जिनमतका श्रद्धान संसारनाशका कारण है।)– अचिन्त्यमाहात्म्य धारण करनेवाले इस जिनेंद्रमतका श्रद्धान करनेसेभी सज्जन संसारसे पार हो गये हैं अर्थात् उनका संसार अनंतानंत कालका नहीं रहा है। अर्द्धपुद्गल कालतक संसारमें अधिकसे अधिक रहकर जीव मुक्त होता है। यद्यपि जिनेश्वरके मार्गमें निदान–भावि सुखोंकी आशा करना अतिशय निन्दित माना है तोभी मुझे भवभवमें उत्तम रत्नत्रय लाभ होवे ऐसी मैं इच्छा करता हूं। निदान यद्यपि संसारवर्धक है परंतु वह भोगोंकी चाह करनेसे निंद्य है और उससे संसार बढता है। रत्नत्रयलाभ, बोधिलाभ आदिकी चाह संसारवर्धक नहीं है; क्योंकि, वह प्रशस्त निदान है ॥ ९८–९९ ॥

(समन्तभद्रका वचन मुक्तिका कारण है।)– जैनमत अर्थात् शास्त्र और अतिशय आदरको उत्पन्न करनेवाला, नानाविषयोंका प्रतिपादन जिसमें है ऐसा समन्तभद्र मुनिराजका वचन जो महाबुद्धिमान् पुरुष सुनते हैं वे भ्रान्तिसे रहित हो जाते हैं। कलासमूहमें अतिशय कुशल ऐसे वे पुरुष दो तीन भव धारण करके सुखसे–मुक्तिके सुंदर नगरमें शीघ्र प्रवेश करते हैं ॥ १०० ॥

---

१ आ. मानं

अप्यत्यन्तकलाकलापकुशलाः सम्प्राप्य द्वित्रान्भवान् ।
सौख्येनाशु विशन्ति वैभवयुताः सिद्धेः पुरं सुन्दरम् ॥ १००
यो जिनशासनभक्तिं मनसा वचसा च कायतो वापि ।
कुरुते तस्य समीहितसिद्धिस्त्वचिरेण कालेन ॥ १०१
इति श्रीपण्डिताचार्य[1]श्रीनरेन्द्रसेनविरचिते चतुर्विधध्यानं मोक्षतत्त्वनिरूपणं एकादशोऽध्यायः ।

(जिनशासन-भक्तिसे इच्छित सिद्धि होती है ।)- जो पुरुष मनसे, वचनसे और शरीरसेभी जिनशासनमें भक्ति करता है उसे शीघ्रही इच्छित सिद्धि होती है ॥ १०१ ॥

श्री पण्डितनरेन्द्रसेनाचार्य-विरचित सिद्धान्तसार-संग्रहमें मोक्षतत्त्वका निरूपण करनेवाला ग्यारहवा अध्याय समाप्त हुआ ।

१ आ. इति सिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनविरचिते एकादशोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

प्रणिपत्य गुरून्पञ्च पञ्चकल्याणभागिनः । आराधनां प्रवक्ष्यामि पञ्चमज्ञानहेतवे[1] ॥ १
दर्शनज्ञानचारित्रतपःपञ्चगुरूनिति । आराध्य जीव एवायं भव्यस्त्वाराधको भवेत् ॥ २
उपसेवा क्रिया पूता यामीषामतिभक्तितः । भव्यजीवस्य साभाणि जिनैराराधना[2] घना ॥ ३
तत्त्वार्थाभिरुचिः पूता दर्शनं तद्विबोधनम् । ज्ञानं भवति चारित्रं यत्सावद्यनिवर्तनम् ॥ ४
यस्त्रयीविषये वर्ये महोद्योगः प्रजायते । कायक्लेशावहोऽसह्यस्तत्तपस्तापकारणात् ॥ ५
घातिकर्मक्षयावाप्तकेवलज्ञानसंपदः । पूजामर्हन्ति सर्वेभ्यस्तेऽत्रार्हन्तः प्रकीर्तिताः ॥ ६
प्रविधूताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसंपदः । स्वस्वरूपस्थिता नित्यं सिद्धास्ते सिद्धिभागिनः ॥ ७

बारहवां अध्याय ।

गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ऐसे पंचकल्याणोंके इन्द्रादिदेवकृत महोत्सवोंके धारक अर्हदादि पंचपरमेष्ठियोंको वन्दन करके मैं पांचवे ज्ञानके लिये– केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये मैं आराधना करता हूं ॥ १ ॥

(आराध्य और आराधक ।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और पंचपरमेष्ठियोंकी वन्दना ये आराध्य हैं और यह भव्यजीवही उनका आराधक अर्थात् आराधना करनेवाला है ॥ २ ॥

(आराधना ।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और पंचपरमेष्ठियोंकी स्तुति इनकी अतिशय भक्तिसे जो पवित्र सेवा करना वह भव्यजीवकी दृढ आराधना है ऐसा जिनेश्वरने कहा है ॥ ३ ॥

जीवादिक तत्त्वार्थोंपर जो पवित्र रुचि है वह सम्यग्दर्शन है । जीवादिक पदार्थोंका जो ज्ञान, उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं । तथा हिंसादि पापोंसे जो परावृत्त होना– हिंसादिकोंका त्याग करना सो चारित्र है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप, तीन श्रेष्ठ विषयोंमें जो महान् प्रयत्न किया जाता है तथा उष्णकाल, वर्षाकालमें परीषह सहन किया जाता है वह तप आराधना है । यह आराधना कर्णके समान हैं । अर्थात् जैसा नौकाका कर्ण नौकाको चलानेमें सहाय्यक है, वैसी यह तप आराधना सम्यग्दर्शनादि आराधनाओंको प्रबल बनानेमें सहाय्यक है ॥ ५ ॥

(अर्हत्परमेष्ठीका स्वरूप ।)– जिन्होंने घातिकर्मका क्षय करके केवलज्ञानसम्पत्ति प्राप्त की है, जो इंद्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ति आदिकोंसे पूजा योग्य हैं, वे अर्हन्त कहे गये हैं । वे आराधने योग्य हैं ॥ ६ ॥

(सिद्धपरमेष्ठियोंका स्वरूप ।)– जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश किया है और जिनको ज्ञानादि आठ गुणोंकी प्राप्ति हुई है जो अपने स्वरूपमें नित्य स्थित हैं, जिनको

---

१ आ. पञ्जज्ञानैकहेतवे २ आ. जैनैः

आचारज्ञाः समाचारमन्येषां कथयन्ति ये । आचार्यास्ते भवन्त्यत्र गुरवो गरिमान्विताः ॥ ८
मोक्षार्थं मोक्षसच्छास्त्राण्यन्यानध्यापयन्ति ये । ज्ञानध्यानधना नित्यमुपाध्याया भवन्त्यमी ॥९
अन्येभ्यो नैव यच्छन्ति दीक्षां तीव्रतपस्विनः । साधयन्ति स्वसिद्धिं ये साधवस्तेऽत्र कीर्तिताः ॥ १०
भव्यैराराधनायां तेऽद्याराध्याः परमेष्ठिनः । तैरेवाराधितैः सर्वमन्यदाराधितं भवेत् ॥ ११
भव्यः क्षान्तिकरो[1] नित्यं हिताहितविचारकः । जिनशासनसिद्धान्तवेदी श्राद्धः सुसंयतः ॥ १२
माद्यन्मित्रकलत्राद्या भवभ्रान्तिविधायकाः । सर्वेऽप्यमी न मे किञ्चिदिति यो हृदि मन्यते ॥ १३

मुक्तावस्था प्राप्त हुई है वे सिद्ध परमेष्ठी आराधनेके लिये योग्य हैं । विशेष– ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश होनेसे जो आठ गुण प्राप्त हुए हैं उनके नाम– अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अव्याबाध, सम्यक्त्व, सौक्ष्म्य, अवगाहन, अगुरुलघु और अनंतवीर्य ॥ ७ ॥

(आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप ।)– जो पांच प्रकारके ज्ञानादि आचारोंका पालन करते हैं और जो उसके ज्ञाता है, दस प्रकारके इच्छाकारादि समाचारोंका शिष्योंको बोध करते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं । वे माहात्म्यके धारक प्रभावी गुरु हैं । विशेष– आचारवत्वादिक आठ गुण, बारह तप, दस स्थितिकल्प और छह आवश्यक ऐसे छत्तीस गुण आचार्यके कहे हैं ॥ ८ ॥

(उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप ।)– जो ज्ञान और ध्यानरूप धनके स्वामी हैं, जो मोक्षप्राप्तिके लिये शिष्योंको मोक्षप्रद उत्तम सिद्धान्तशास्त्र हमेशा पढाते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं ॥ ९ ॥

(साधुपरमेष्ठीका स्वरूप ।)– जो अन्योंको– श्रावक श्राविकाओंको दीक्षा नहीं देते, जो तीव्र तपश्चरण करते हैं और जो अपनी सिद्धिको आत्मसिद्धिको–रत्नत्रयको साधते हैं वे इस लोकमें साधु कहे गये है ॥ १० ॥

भव्यजीव सम्यग्दर्शनादिक चार आराधनाओंमें पंचपरमेष्ठियोंकी आराधना करें। क्योंकि इनकी आराधना करनेसे सब अन्य आराधित होते हैं । अर्थात् सम्यग्दर्शनादिक चार आराधनायें पंचपरमेष्ठीयोंकी आराधना करनेसे आराधित होती हैं । क्योंकि इनका वैयावृत्य करना, इनका उपदेशा हुआ आचार– चारित्र पालना, इनके ऊपर श्रद्धान करना आदिक बातोंके पालनसे चारों आराधनाओंका पालन हो जाता है ॥ ११ ॥

(भव्यका स्वरूप ।)– भव्य क्षमाशील होता है । सदा अपने हिताहितका विचार करता है । जिनशासनके सिद्धान्तको वह जानता है, पंचपरमेष्ठियोंपर श्रद्धा करता है । और उत्तम निर्दोष संयम पालन करता है– जितेन्द्रिय होता है ॥ १२ ॥

(भव्य जीवकी चिन्तना अर्थात् अनुप्रेक्षायें ।)– वह भव्य उन्मत्त मित्र, पत्नी आदिक पदार्थ संसारभ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले हैं । ये सभी मेरे कुछ संबंधी नहीं हैं, ऐसा हृदयमें समझता

---

१ आ. क्षान्तिपरो

शरदभ्रसमाकारं जीवनं यौवनं धनम् । आराध्य[1] च वनं नित्यमित्थं यस्य सदा मतिः ॥ १४
मुक्त्वा जैनेश्वरं धर्मं शरणं मम गच्छतः । दुर्गतिं नोपजायन्ते पुत्राद्या वेत्ति यस्त्वदः ॥ १५
पञ्चप्रकारसंसारसरणं सरता मया । दुःखान्याप्तान्यनन्तानि ह्यधर्मादिति वेत्ति यः ॥ १६
सुखं वा यदि वा दुःखं सुगतिं वाथ दुर्गतिम् । एक एवाभिगच्छामि न सम्बन्धभवाः परे ॥१७
यो जानाति महाप्राज्ञः शरीरमपि नान्तरम् । मदीयं यत्र किं तत्र धनधान्यादिकं पुनः ॥ १८
सप्तधातुमयं चास्थिचर्मनद्धं कुसंस्थिति । शरीरं क्षणविध्वंसि धर्म एव[2] हि शाश्वतः ॥ १९
मनोवाक्कायकर्मेति[3] योगोऽसावास्रवो महान् । कर्मास्रवत्यनेनेति यो जानाति स[4] तत्त्ववित् ॥२०

है । यह जीवन, तारुण्य और धन शरत्कालके मेघके समान हैं। अब मुझे वनही आराध्य है– सेवने योग्य हैं ऐसी उस भव्यकी बुद्धि होती है। ऐसा विचार कर वह धनादिकसे विरक्त होता है ॥ १४ ॥

दुर्गतिको जानेवाले मुझको जिनेश्वरका धर्म छोडकर अन्य पुत्रादिक शरण नहीं है अर्थात् जिनधर्मही मेरा दुर्गतिसे रक्षण करनेवाला है ॥ १५ ॥

संसारानुप्रेक्षा– पांच प्रकारके संसारमें भ्रमण करनेवाले मुझे अधर्मसे अनन्त दुःख प्राप्त हुए हैं ऐसा भव्य मनमें विचार करता है ॥ १६ ॥

सुख अथवा दुःख, सुगति अथवा दुर्गतीको मैं अकेलाही जाऊंगा। मेरे संबंधसे उत्पन्न हुए पुत्रादिक मेरे साथ सुखी और दुःखी नहीं होंगे। सुगति अथवा दुर्गतिमें मेरे साथ चलेंगे ऐसा नहीं ॥ १७ ॥

जो महाबुद्धिवान् पुरुष अपने अतिशय अभिन्न शरीरकोभी यह मेरा है ऐसा नहीं समझता है, वह धन-धान्यादिक पदार्थ, जो सर्वथा भिन्न हैं, अपने कैसे मानेगा ?॥ १८ ॥

यह शरीर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ऐसे सात धातुओंसे बना हुआ है। अस्थि और चर्मसे बंधा हुआ है। इसकी आकृतिभी कुत्सित है। यह शरीर क्षणविध्वंसि– क्षणविनाशी है परन्तु धर्मही नित्य है ॥ १९ ॥

मन, वचन और शरीरसे होनेवाली जो आत्माके प्रदेशोंकी चंचलता उसे योग कहते हैं। यह योगही महान् आस्रव है। कर्मोंके आगमनका द्वार होनेसे इसे आस्रव कहते हैं। इस योगसे कर्म आत्मामें आ जाता है। इस आस्रवतत्त्वको जो जानता है वह तत्त्ववेदी है ॥ २० ॥

जो उत्तम क्षमा मार्दवादि दश धर्मोंका पालन करनेमें तत्पर रहता है, जिसका मन तपमें नित्य तत्पर रहता है, जो कर्मोंको अपनेमें नहीं आने देता है, वह बुद्धिमान् इस प्रकारका

---

१ आ. आराध्याराधनं　२ आ. एवेह　३ आ. कर्मैकयोगो　४ आ. सुतत्त्ववित्

दशधर्मरतो नित्यं तपस्तन्निष्ठमानसः । संवृणोति च कर्माणि यस्त्वेवं चिन्तयेद्बुधः ॥ २१
मिथ्यात्वाराधनायुक्तः कर्म बध्नाति चेतनः । निर्जीर्यते पुनस्तेन सम्यक्त्वाद्युपसेवनात् ॥ २२
लोकः सर्वोऽपि जीवेन कर्मणां वशवर्तिना । अवगाह्य विमुक्तोऽस्ति यस्येति हृदि वर्तते ॥ २३
वैभवं सर्वलोकानां सुलभं भववर्तिनाम् । श्रीजिनेन्द्रमहाधर्मलब्धबोधिस्तु[1] दुर्लभा ॥ २४
इत्थं परात्मविज्ञानं यस्य स्यादनिवारितम् । तं [2]सदात्मानमाख्यान्ति सम्यगाराधकं जिनाः॥२५
पञ्चैव मरणान्याहुः साराधारा[3] यतीश्वराः । शुभाशुभगतिर्येभ्यो जानन्तीह विचक्षणाः ॥२६
आद्यः केवलिनः प्रोक्तो मृत्युः पण्डितपण्डितः । साधूनां संयमोक्तानां पण्डितं मरणं पुनः ॥२७

विचार करता है कि यह आत्मा मिथ्यात्वकी आराधनासे युक्त होकर कर्म बांधता हैं। परंतु जब यह आत्मा सम्यक्त्वकी सेवा करता है तब बंधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है ॥ २१–२२ ॥

यह जीव कर्मवश होकर संपूर्ण लोकको अपने जन्मसे व्याप्त करके छोड देता है ऐसा विचार इस संयतके मनमें सदा रहता है ॥ २३ ॥

संसारमें भ्रमण करनेवाले संपूर्ण मनुष्योंको सर्व प्रकारका वैभव प्राप्त होता है, परंतु जिनेन्द्रके महाधर्मसे होनेवाली रत्नत्रयकी प्राप्ति, जिसको बोधि कहते हैं, वह अतिशय दुर्लभ है ॥ २४ ॥

इस प्रकारसे जिसको अपने स्वरूपका और परपदार्थोंका ज्ञान हुआ है, तथा जो अनिवारित है अर्थात् परको आत्मा समझकर जिसके मनमें अब कभीभी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होगी, जो परको परही मानता है, उसमें आत्मीय-बुद्धिको धारण नहीं करता है ऐसे आत्माकोही जिनेश्वर सदात्मा-प्रशस्त आत्मा और वही उत्तम आराधक है ऐसा कहते हैं ॥ २५ ॥

(मरणोंके पांच भेद।)– सार–रत्नत्रय जिनको आधार है अथवा रत्नत्रयके आधारभूत मुनीश्वर मरण पांच प्रकारसे है ऐसा कहते हैं तथा विद्वज्जन उन मरणोंसे शुभाशुभगति जानते हैं ॥ २६ ॥

विशेष– उत्पन्न हुए पदार्थका नाश होना मरण है। देवपना, पशुपना, नारकीपना और मनुष्यपना ऐसे पर्यायोंका नाश होना मरण है। पूर्व आयुके नाशसे जीव मरता है और अन्य आयुके उदयसे वह नया पर्याय–देव मनुष्यादि पर्याय धारण करता है। ऐसे मरणके आचार्योंने पांच भेद कहे हैं। १ पण्डितपण्डित-मरण, २ पण्डितमरण, ३ बालपण्डित-मरण- ४ बालमरण और ५ बालबाल मरण।

(पण्डितपण्डित मरण और पण्डित मरण।)– क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शनादि नव-केवल लब्धिके धारक ऐसे केवलिके मरणको पण्डितपण्डित–मरण कहते हैं। जिनको संयमी कहा है ऐसे साधुओंको अर्थात् महाव्रत, गुप्ति और समितियोंके पालकोंको संयमी मुनि कहते हैं। इनके

१ आ. लब्धिर्बोधिः २ आ. महात्मानं ३ आ. सारोद्धाराद्यतीश्वराः

संयतासंयतानां तद्बालपण्डितसंज्ञिकम् । बालं चासंयतस्येह[1] सम्यग्दृष्टेर्निवेदितम् ॥ २८
मिथ्यादृष्टिजनानां तत्पञ्चमं बालबालकम् । [2]जायतेऽनन्तदुष्टैकमरणं भवधारिणाम् ॥ २९
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालेनैव[3] तु कर्मणाम् । क्षयं कृत्वा शिवं याति केवली तदिहादिमम् ॥३०
समाराधयतोऽनर्घं[4] सद्रत्नत्रयमुत्तमम् । सत्समाधियुतस्येह साधोर्मृत्युः स पण्डितः ॥ ३१

मरणका नाम पण्डितमरण है । स्पष्टीकरण– ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोंमें जिनको सीमातीत पाण्डित्य प्राप्त हुआ है, उनको पण्डित कहते हैं अर्थात् अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनंतशक्ति आदिक प्राप्त हुए, वे केवलिजिन पण्डितपण्डित कहे जाते हैं । इनसे भिन्न जो हैं उनको पण्डित कहते है अर्थात् प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक जो साधु– मुनि हैं उनको ' पण्डित ' कहते हैं । पण्डा– रत्नत्रय– परिणत बुद्धिको पण्डा कहते हैं, ऐसी बुद्धि जिसको उत्पन्न हुई है वह पण्डित है । मुनियोंमें रत्नत्रय– पण्डितबुद्धि होनेसे वे पण्डित कहे जाते हैं ॥ २७ ॥

(बालपण्डित मरण और बालमरणका विवेचन ।)– संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं । श्रावक जो अणुव्रतके धारक हैं अर्थात् दर्शनादि– प्रतिमाओंके धारक हैं उनको संयतासंयत कहते हैं । स्थावर जीवके घातरूप असंयमसे निवृत्त न होनेसे वे श्रावक बाल कहे जाते हैं । तथा त्रसजीवोंका संरक्षणरूपसंयम और रत्नत्रयमें तत्पर होनेसे पण्डित कहे जाते हैं । असंयम होनेसे बाल व रत्नत्रय होनेसे पण्डित ऐसे दो गुणोंके धारक होनेसे बालपण्डित कहे जाते हैं ।

दर्शनज्ञान ये दो जिनमें है परंतु जो सर्वथा चारित्ररहित हैं ऐसे असंयतसम्यग्दृष्टीके मरणको बालमरण कहते हैं ॥ २८ ॥

(बालबालमरणका स्वरूप ।)– मिथ्यादृष्टियोंके मरणको बालबालमरण कहते हैं । संसारको धारण करनेवाले जीवोंको यह पांचवा मरण अनन्त दोषोंसे भरा हुआ और जिसका साम्य कोई मरण नहीं कर सकेगा ऐसा मरण है । इस मरणसे मरनेवाला जीव सम्यक्त्वसेभी रहित है, दर्शन और चारित्र तो उसे है ही नहीं । इसलिये मिथ्यादृष्टिको बालबाल कहते हैं॥ २९॥

(पण्डितपंडित मरणवाला मुक्त होता है ।)– अ, इ, उ, ऋ, ऌ ऐसे पांच ह्रस्व-स्वरोंका उच्चार करनेमें जितना समय लगता है उतनेमें अघातिकर्मोंका क्षय करके केवली भगवान मोक्षको जाते हैं वह मरण पहिला मरण है ॥ ३० ॥

(पंडितमरणका खुलासा)– उत्तम, प्रशंसनीय और अमूल्य ऐसे रत्नत्रयकी आराधना करनेवाला उत्तम ध्यान युक्त–धर्मध्यान और शुक्लध्यान युक्त ऐसे साधुका जो मरण वह पंडितमरण है ॥ ३१ ॥

---

१ आ. वा.　२ आ. दुःखैककारणं भवधारणम्　३ आ. नैष स्वकर्मणां　४ आ. ऽनर्घ्यं

तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं पण्डितं मरणं यतेः[1] । प्रायोपगमनं[2] चाद्यमिङ्गिनीमरणं पुनः ॥ ३२
भक्तत्यागस्तदर्थः[3] स्यादात्मनः स्वपरस्य च । वैयावृत्त्यस्य सापेक्षं सद्गतेः कारणं परम् ॥३३
प्रायोपगमनं[4] यत्तद्वैयावृत्त्यविवर्जितम् । स्ववैयावृत्यसापेक्षमिङ्गिनीमरणं मतम् ॥ ३४
काले संन्यस्य वेगेन सर्वग्रन्थविवर्जितः । आराधयन्गुरुन्पञ्च म्रियते बालपण्डितः[5] ॥ ३५
संन्यासादिविनिर्मुक्तमाकस्मिकविघाततः । शुद्धदृष्टेर्भवेन्मृत्युस्तद्बालो[6] गदितो बुधैः ॥ ३६

(पंडितमरणके तीन भेद ।)- यतिका यह पंडितमरण तीन प्रकारका है । प्रायोपगमन मरण, इंगिनीमरण, भक्तत्याग-मरण । इंगिनीमरणवाला केवल अपने वैयावृत्त्यकीही अपेक्षा करता है अर्थात् आहारका त्याग करके स्वयं उठता बैठता है अन्योंका साहाय्य नहीं चाहता । इसमें तीसरा मरण जिसको भक्तत्यागमरण कहते हैं वह अपने और अन्योंके वैयावृत्त्यकी अपेक्षा रखता है ।

भक्तत्यागमरणको भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं । भक्त शब्द आहारका वाचक है और प्रतिज्ञा शब्दका अर्थ प्रत्याख्यान त्याग ऐसा है । जिसमें क्रमशः आहारका त्याग किया जाता है ऐसे मरणको भक्तप्रतिज्ञा मरण कहते हैं ॥ ३२-३३ ॥

(प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका विवरण ।)- प्रायोपगमन मरण वैयावृत्त्यसे रहित होता है और इंगिनीमरण स्ववैयावृत्त्यकी अपेक्षा करता है । प्रायः अर्थात् अनशन-आहारोंका त्याग करना । पादोपगमन ऐसाभी इस मरणका नाम है । इसका खुलासा-पावोंसे गमन करना अर्थात् अपने संघका त्याग कर उस संघसे निकलकर योग्य स्थानका आश्रय लेना । अथवा प्रायोग्य-संसार नाशके लिये योग्य ऐसे संस्थान और संहननके गमन प्राप्तिसे जो मरण किया जाता है उसको प्रायोग्य मरण कहते हैं । इंगिनीमरण-स्ववैयावृत्यकी अपेक्षा करता है । इंगिनी शब्द अपने अभिप्रायका वाचक है । अपने अभिप्रायके अनुसार स्वयंही स्वतःकी शुश्रूषा कर जो मरण किया जाता है उसे इंगिनी मरण कहते हैं । परिचारक मुनिकी शुश्रूषा इसमें क्षपक नहीं चाहता है ॥ ३४ ॥

(बालपण्डित-मरणका विवरण ।)- बालपण्डित पंचमगुणस्थानी क्षुल्लकादिक, प्रतिमाधारी श्रावक अंतकालमें रागद्वेषादिकोंका त्याग कर संपूर्ण परिग्रहोंसे रहित हो जाता है । और पंचपरमेष्ठीयोंकी आराधना करके मरण प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

(बालमरणका स्वरूप ।)- संन्यासादिकोंसे रहित आकस्मिक कुछ प्रहारादिक होनेसे जो शुद्ध सम्यग्दृष्टिका मरण होता है वह बालमरण है ऐसा सुज्ञोंने कहा है ॥ ३६ ॥

---

१ आ. यतः २ आ. पादो ३ आ. स्तृतीयः ४ पादो ५ पण्डितात् ६ आ. तद्बालं गदितं

आर्तरौद्रवतां मृत्युर्जायते बहुदुःखतः । सर्वेषां बालबालानां[1] मरणं कथयन्ति ते ॥ ३७
आवीचिमरणं चान्यत्समयं समयं प्रति । आयुषः [2]संक्षयात्प्रोक्तं मुनीन्द्रैर्हृतकल्मषैः ॥ ३८
भुज्यमानायुषश्चान्ते मृत्युस्तद्भवसंभवः[3] । कथ्यते श्रीजिनाधीशैरनेकगुणसंयुतैः ॥ ३९
येनैव ये मृतःपूर्वं तेन तस्य[4] पुनर्भवेत् । मृत्युर्वावधिनामानं तमुशन्ति यतीश्वराः ॥ ४०
येन पूर्वं मृतस्तेन न मृत्युर्जायते पुनः । यस्मात्तन्मरणं प्राहुराद्यन्तमिह रूढितः ॥ ४१
मायामिथ्यानिदानादिशल्यैर्यन्मरणं भवेत् । सशल्यमरणं तद्धि दुष्टं दुर्गतिकारणम् ॥ ४२
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमुत्सृज्य जायते । मरणं तत्समुत्सृष्टं दुःखपाथोधिवर्धकम् ॥ ४३
गृद्धपृष्ठभवो मत्युः कथ्यते यस्य जायते । हस्त्यादेरुदरस्थस्य महादुःखविधायकः ॥ ४४
घ्राणादिकनिरोधेन यो मृत्युर्भवर्वातनाम् । विघ्रासमरणं तद्धि कथयन्ति कथाविदः ॥ ४५

(बालबालमरणका स्वरूप ।)– आर्तध्यानसे और रौद्रध्यानसे अतिशय दुःखित होकर जो मरण होता है वह सब बालबालोंका मरण है ऐसा कहते हैं ॥ ३७ ॥

(आवीचिमरण तथा तद्भव मरण ।)– प्रत्येक समयमें जो आयुका क्षय होता रहता है उसको, नष्ट किया है पाप जिन्होंने ऐसे मुनीश्वरोंने आवीचिमरण कहा है। वर्तमानकालमें जिस आयुष्यका प्राणी उपभोग ले रहा है उसको भुज्यमान आयु कहते हैं। उसका अन्त होनेपर जो मृत्यु आती है वह तद्भवमरण है, ऐसा अनेक गुणोंसे संयुक्त श्रीजिनेन्द्रोंने कहा है ॥३८–३९॥

(अवधिमरण ।)– जो जिस मरणसे पूर्वभवमें मरा था उसी मरणसे वह पुनः इस भवमेंभी यदि मरेगा तो उसके इस मरणको यतीश्वर अवधिनामका मरण कहते हैं ॥ ४० ॥

(आद्यन्तमरणका स्वरूप ।)– जिस मरणसे प्राणी पूर्वभवमें मरा था उस मरणसे पुनः मरण न होना उसको रूढिसे आद्यन्त मरण कहते हैं ॥ ४१ ॥

(सशल्यमरणका विवरण ।)– माया, मिथ्यात्व और निदान आदि शल्योंसे जो मरण होता है उसको सशल्य मरण-शल्यभाव-सहित मरण कहते हैं और वह दुष्ट तथा दुर्गति प्राप्तिका कारण है ॥ ४२ ॥

(समुत्सृष्ट–मरणका विवरण ।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रका त्याग करके जो मरण होता है उसको समुत्सृष्ट मरण कहते हैं। यह मरण दुःखरूपी समुद्रको बढानेवाला है ॥ ४३ ॥

(गृद्धपृष्ठ–मरण ।)– हाथी आदिके पेटमें घुसकर जो मृत्यु होती है उसको गृद्धपृष्ठ मरण कहते हैं, यह मरण महान् दुःखको उत्पन्न करता है ॥ ४४ ॥

(विघ्रास मरण ।)– नाक, कण्ठ आदि दबाकर-श्वासोच्छ्वासका निरोध कर जो संसारी जीवोंका मरण होता है वह विघ्रास मरण है ऐसा उसका यथार्थस्वरूप जाननेवाले विद्वान् कहते हैं ॥ ४५ ॥

१ आ. बालबालं तन्मरणं　२ आ. संक्षये　३ आ. संभव　४ आ. यस्य

दर्शनज्ञानचारित्रत्रय[1]संक्लिष्टयोगतः । मृत्युर्भवति जीवानामप्रशस्तः स एव हि ॥ ४६
पार्श्वस्थादिकरूपेण बलाकामरणं[2] मतम् । सप्तदशेति सन्त्यत्र मरणानि शरीरिणाम् ॥ ४७
ज्ञात्वेति विबुधेनात्र त्यक्त्वासाधूनि सर्वथा । धीरेण च निजप्राणास्त्याज्याः पण्डितमृत्युना ॥४८
अधीरेणापि मर्तव्यं प्राणिनामायुषः क्षये । तस्माद्धैर्यवता[3] प्राणसर्जनं दुःखभर्जनम् ॥ ४९
जैनराद्धान्तसूत्राणामभिप्रायेण धीधनाः । क्रियाकाण्डं प्रकुर्वन्ति तानि वक्ष्येधुना ततः ॥ ५०
अर्हा लिङ्गं च शिक्षा च विनयं च तथा पुनः । समाध्यनियतावासौ परिणामस्ततः परम्[4] ॥५१
उपधेर्वर्जनं श्रेणिसमारोहणमुत्तमम् । तपसो भावना पूता सल्लेखनमनिन्दितम् ॥ ५२
दिशा परस्परं क्षान्तिरनुशासनमुत्तमम् । चर्या च मार्गणा चेति सुस्थितः स्वसमर्पणम् ॥ ५३
परीक्षाराधनायाश्च निर्विघ्नेनावलोकनम् । आपृच्छा प्रतिपृच्छा च गुरोरालोचना पुनः ॥ ५४

(अप्रशस्त मरण ।)– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें संक्लेश परिणाम उत्पन्न होकर जो मृत्यु होती है वह अप्रशस्त मरणही है ॥ ४६ ॥

(बलाकामरण ।)– पार्श्वस्थादिक रूपसे जो मरण प्राप्त होता है उसे बलाका मरण कहते हैं अर्थात् पार्श्वस्थादिक जो मुन्याभास हैं उनके स्वरूपमें मरण होना, भ्रष्ट मुनि होकर मरण करना बलाकामरण है। इस प्रकार यहां सत्रह प्रकारके मरणोंका वर्णन किया है ॥४७॥

बालबाल मरणादिक मरण असाधु हैं अर्थात् संसारमें घुमनेवाले हैं ऐसा समझकर विद्वान् धीर व्यक्ति उनका त्याग कर अपने प्राण पण्डितमृत्युसे छोडे ॥ ४८ ॥

(धैर्यसे मरण दुःखनाशक हैं।)– आयुष्य जब समाप्त होता है तब धैर्यगलित होनेपरभी मरनाही पडता है। इसलिये-धैर्यवान् लोगोंका जो मरण है वह दुःखको जलानेवाला है। तात्पर्य–धैर्यसे प्राणत्याग करनाही श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

(क्रियाकाण्डका वर्णन।)– जैन सिद्धान्तसूत्रोंके अनुसार विद्वज्जन (मुनि) क्रियाकाण्ड करते हैं इसलिये उस क्रियाकाण्डका अब मैं वर्णन करता हूं ॥ ५० ॥

(सविचारभक्तप्रत्याख्यानके सुत्रोंका विवरण।)– अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतावास (अनियतविहार) परिणाम, उपधित्याग, उत्तम श्रेणिसमारोहण, पवित्र तपकी भावना, प्रशंसनीय सल्लेखना, दिशा, परस्परक्षान्ति (क्षमा), उत्तम अनुशासन, चर्या, मार्गणा, सुस्थित, स्वसमर्पण, परीक्षा, निर्विघ्नतासे अवलोकन करना, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, आलोचना, गुणदोषालोचना पवित्र संस्तरोपस्था, निर्यापकगण, प्रकाशन, अवहानि, प्रत्याख्यान, पुनः क्षमा, क्षमण, सारण, शुद्धि, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, वास और देहत्याग। इन सूत्रोंके

१ आ. त्रये २ आ. बालाक ३ आ. धैर्यवतां ४ आ. परः

शय्या च संस्तरोपस्था[1] निर्यापकगणस्तथा । प्रकाशना च हानिश्च प्रत्याख्यानं क्षमा पुनः ॥ ५५
क्षमणं सारणा शुद्धिः कवचः समता पुनः । ध्यानं लेश्या फलं वासो देहत्यागस्ततः परम् ॥ ५६
आराधना विधातव्या ह्येतत्सूत्रानुसारतः । अन्यथा जायते जन्तुर्मिथ्यात्वाराधनाधमः[2] ॥ ५७

अनुसार आराधना करनी चाहिये । यदि ऐसा नहीं किया जायगा, इनसे उलटा क्रियाकाण्ड किया जायेगा, तो वह यति-श्रावक आराधक मिथ्यात्वकी आराधनासे अधम होगा ॥५१-५७॥

इन चालीस सूत्रपदोंका स्पष्टीकरण इस क्रमसे है-

१ अर्ह- सविचारभक्त प्रत्याख्यानके योग्य व्यक्तिको अर्ह कहते हैं । जो मुनि अथवा गृहस्थ उत्साह और बलसे युक्त है, जिसको मरणकाल अकस्मात् प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका विधिपूर्वक परगणमें विहार होता है तथा वहां जाकर आहारका और कषायोंका त्याग विधीपूर्वक करता है ऐसे साधु तथा गृहस्थके मरणको भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं अर्हप्रकरणमें उपर्युक्त लक्षणोंका व्यक्ति सल्लेखनाके योग्य है ।

२ लिंग- शिक्षा, विनय, समाधि वगैरह क्रिया भक्तप्रत्याख्यानकी सामग्री है । उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है । सर्व परिकर सामग्री जुडनेपर जैसे कुंभकार घट निर्माण करता है, वैसे योग्य व्यक्तिभी साधन सामग्री पाकर सल्लेखना कार्य करता है । लिङ्ग शब्दका अर्थ चिन्ह होता है । संपूर्ण वस्त्रोंका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच- हाथसे केश उखाडना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, प्रतिलेखन प्राणिदयाका चिन्ह अर्थात् मयूरपिच्छिको हाथमें धारण करना इस तरह चार प्रकारका लिंग है ।

३ शिक्षा- शास्त्राध्ययन । ज्ञानके बिना विनयादिक करना अशक्य है; अतः शास्त्राध्ययन करना चाहिये । जिनेश्वरका शास्त्र पापहरण करनेमें निपुण है; अतः उसको पढना चाहिये ।

४ विनय- मर्यादा पालन करना । गुरुओंकी उपासना करना ।

५ समाधि- मनको एकाग्र करना, मनको शुभोपयोगमें अथवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना ।

६ अनियतावास- अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोंमें रहना ।

७ परिणाम- अपने कर्तव्यका सदा विचार करना ।

८ उपधित्याग- परिग्रहका त्याग करना ।

९ श्रेणिसमारोहण- उत्तरोत्तर शुभपरिणामोंकी उन्नति करना ।

१० भावना- परिणामोंमें संक्लेश नहीं उत्पन्न होनेका अभ्यास करना ।

११ सल्लेखना- शरीर और कषायोंको कृश करना ।

१ आ. संस्तरः पूतो　२ आ जन्तोः

१२ दिशा- आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्योंको स्थिर करता है, जिसको बालाचार्य कहते हैं, यह शिष्य आचार्यके समान गुणोंका धारक होता है।

१३ परस्पर क्षान्ति- अन्योन्य क्षमाकी याचना करना।

१४ अनुशासन- आगमके अविरुद्ध उपदेश देना।

१५ चर्या- अपना संघ छोडकर परगणमें- अन्यसंघमें गमन करना।

१६ मार्गणा- रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमें समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमें समर्थ ऐसे आचार्यको ढूंडना, शोधना।

१७ सुस्थित- परोपकार करनेमें तथा स्वकीय आचार्यपद- योग्य कार्य करनेमें प्रवीण गुरुको सुस्थित कहते हैं।

१८ स्वसमर्पण- आचार्यके चरणमूलमें गमन करना, आचार्यके स्वाधीन होना।

१९ परीक्षा- गण, शुश्रूषा करनेवाले मुनि समाधिमरणाराधक, उत्साहशक्ति, आहारकी अभिलाषा इत्यादिककी परीक्षा करना।

२० निर्विघ्न अवलोकन- आराधनामें विघ्न उपस्थित होनेसे आराधनाकी सिद्धि नहीं होती है। अतः उसकी निर्विघ्नताके लिये राज्य, देश, गांव, नगर वगैरहका शुभाशुभावलोकन।

२१ आपृच्छा- यह आराधक भक्तप्रत्याख्यानके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं ऐसा संघसे प्रश्न करके उनसे सम्मति प्राप्त करना।

२२ प्रतिपृच्छा- परिचारक मुनियोंकी सम्मति मिलनेपर एक आराधकको स्वीकारना।

२३ आलोचना- गुरुके आगे अपने पूर्वापराध कहना।

२४-२५ गुणदोष- आलोचनाके गुणदोषोंका वर्णन करना।

२६ संस्तरोपस्था- समाधिमरण साधनेके लिये आराधककी योग्य वसतिका निवास। संस्तर- अर्थात् आराधकके लिये आगमोक्त शय्या।

२७ निर्यापकगण- आराधकको समाधिमरण साधनेमें सहायता करनेवाले आचार्यादिक।

२८ प्रकाशन- आहारको दिखाना।

२९ अवहानि- क्रमसे आहारका त्याग करना।

३० प्रत्याख्यान- तीन आहारोंका त्याग।

३१-३२ क्षमा क्षमण- आचार्यादिकोंको क्षमाकी याचना करना तथा दूसरोंके किये हुए अपराधोंकी क्षमा करना।

३३ सारणा- दुःखसे पीडित हुए और मोहसे बेसुध हुए मुनिराजको सावधान करना सचेत कर देना।

असाध्ये च महाव्याधौ दुर्भिक्षे वातिदारुणे । उपसर्गप्रवृत्तौ वा साधुर्योग्यः प्रजायते ॥ ५८
गृहीत्वा लिङ्गमत्युच्चं कृत्वा शान्तं मनोऽधिकम् । सर्वसंगपरित्यागो विधातव्यः प्रयत्नतः ॥५९
मृत्योर्भीतिं[1] परित्यज्य स्थिरचित्तेन धीमता । शुभैकभावनायां हि स्थातव्यं शुभलेश्यया ॥ ६०

३४ शुद्धि– समाधिमरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको आचार्य उपदेश देते हैं ।

३५ कवच– जैसे कवच– बख्तर सैंकडों बाण पडनेपर उत्पन्न हुए दुःखोंसे वीर-पुरुषको बचाता है, वैसे आचार्यका किया हुआ धर्मोपदेश आराधकको दुःखोंसे बचाता है । चतुर्गतिमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने दुःसह दुःखोंका अनुभव लिया है, परंतु वह सब व्यर्थ हुआ । वह दुःखसहन आत्म–हितकारी नहीं हुआ । परंतु हे आराधक इस समय जो दुःख तेरे द्वारा सहा जा रहा है वह तेरे कर्मकी निर्जरा करेगा । वर्तमान दुःखोंको नष्ट करके अतीन्द्रिय, निश्चल, उपमारहित, बाधारहित सुख देगा । इस प्रकार कहा हुआ आचार्यका उपदेश आराधकके दुःखोंका नाश करनेवाला होनेसे कवचके तुल्य है । अतः इसको कवच नाम देना योग्यही है । जैसे किसी तेजस्वी बालका शौर्यगुण सूचित करनेके लिये उसमें सिंह शब्दका आरोपण करते हैं वैसे यहांभी कवचगुणोंका अध्यारोपण उपदेशमें करके उसको कवच शब्दसे गौरवित किया है ।

३६ समता– जीवित, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख और दुःख इनमें रागद्वेषोंका त्याग करके उपेक्षाबुद्धि धारण करना ।

३७ ध्यान– अन्यपदार्थोंसे चित्तको हटाकर उसको एकविषयमें नियुक्त करना ।

३८ लेश्या– मन-वचन और शरीरके व्यापार कषाययुक्त होना ।

३९ फल– आराधनासे प्राप्त हुए साध्यको फल कहते हैं ।

४० देहत्याग– आराधकका देह छोडना । इस प्रकार भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोंका संक्षिप्त विवेचन किया है। इसका विस्तृत विवेचन मूलाराधनामें पाठक देखें ॥५१–५७॥

(सल्लेखनाधारण करने योग्य परिस्थितिका वर्णन ।)– जब किसी साधुके संयम-समुदायको नष्ट करनेवाला और महाप्रयत्नसेभी जिसकी चिकित्सा न हो सके ऐसा रोग होनेसे वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है । जिसमें जीनेकी संभावना नहीं है ऐसा अतिशय भयंकर दुर्भिक्ष पडनेपर, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत उपसर्ग होनेपर साधु सल्लेखनाके लिये योग्य होता है ॥ ५८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अत्यन्त श्रेष्ठ–महान्– जिनलिंग धारण कर, तथा मन अधिक शान्त करके संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग प्रयत्नसे करना चाहिये ॥ ५९ ॥

मृत्युका भय हृदयसे निकाल देना चाहिये । जिसका स्थिरचित्त हुआ है, ऐसे विद्वान् मुनिवर्यको शुभलेश्या धारणकर (पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंको शुभलेश्या कहते हैं । इनके लक्षण गताध्यायमें दिये हैं) शुभभावनाओंमेंही तत्पर रहना चाहिये ॥ ६० ॥

१ आ. मरणस्य भयं त्यक्त्वा
S. S. 37.

आराधनामहाशास्त्रवाचनादत्तमानसैः । स्थातव्यं श्रीजिनागारे भव्यनिर्यापकान्विते ॥ ६१
असंक्लिष्टा च संक्लिष्टा भावना द्विविधा मता । संक्लिष्टां च परित्यज्य भावयेदपरां बुधः ॥६२
संसर्गाःसन्ति ये केचिद्रागद्वेषस्य बृंहकाः । वर्जनीया भवन्त्येतैः संक्लिष्टा भावना यतः ॥ ६३
कन्दर्पकौत्कुचालादि[1] भावयञ्जायते यदि[2] । कन्दर्पभावनोपेतो ह्यपेतः शुभसन्ततेः ॥ ६४
ज्ञानस्य ज्ञानयुक्तस्य धर्माचार्यस्य साधुषु । मायाद्यवर्णवादी स्यात्किल्बिषी[3] भावनान्वितः ॥ ६५

(सल्लेखनाधारक जिनमंदिरमें रहें ।)– आराधना– महाशास्त्रके पढनेमें जिन्होंने अपना मन एकाग्र किया है, ऐसे मुनियोंको (सल्लेखना धारक मुनिको) भव्य और निर्यापक जिसमें हैं ऐसे श्रीजिनमंदिरमें निवास करना चाहिये ॥ ६१ ॥

(भावनाके भेद ।)– असंक्लिष्ट-भावना और संक्लिष्ट-भावना ऐसे भावनाके दो भेद हैं । परंतु संक्लिष्टभावनाओंको छोडकर असंक्लिष्टभावनामें विद्वान् मुनि स्थिर रहें–शुभ और शुद्ध भावनाओंका हमेशा चिन्तन-अभ्यास करें ॥ ६२ ॥

रागद्वेषको वृद्धिगत करनेवाले जो संग–मिथ्यादृष्टि कामी आदि पुरुषोंकी संगति है उसे त्यागना चाहिये । यदि इनका त्याग नहीं किया जायेगा तो इनसे संक्लिष्ट भावनाओंकी प्रसूति होगी ॥ ६३ ॥

(कन्दर्पभावनाका लक्षण ।)– कंदर्प–प्रीतिकी उत्कटतासे–तीव्रस्नेहसे हास्यसहित असभ्य वचन बोलना, भंडवचन बोलना कंदर्पवचन है । अतिशय रागवश होकर, हसकर दूसरोंके प्रति शरीरके असभ्य अभिनयके साथ असभ्य वचनोच्चार करना कौत्कुच्य है, कुचाल है । इत्यादि भावनाओंका यदि कोई साधु चिंतन करता है तो वह कन्दर्पभावनाओंसे युक्त है । ऐसी भावनाओंसे वह शुभकार्योंसे और शुभपरिणामोंसे दूर होता है ॥ ६४ ॥

(किल्बिषभावनाका स्वरूप ।)– जो मुनि ज्ञानका, ज्ञानयुक्त केवली भगवंतका, धर्मका तथा उसका प्रतिपादन करनेवाले गणधरादि श्रुतकेवलियोंका, उपाध्याय मुनियोंका और रत्नत्रयाराधक साधुओंका अवर्णवाद प्रगट करता है अर्थात् उनमें दोष न होते हुएभी दोष दिखाता है तथा जो ज्ञानमें-श्रुतज्ञानमें कपट करता है अर्थात् जो उसमें प्रेम तो नहीं रखता है; परंतु ऊपरसे विनय करता है वह ज्ञानविषयक मायावी है । केवलियोंमें मानो आदर दिखा रहा है परंतु मनमें उनकी पूजा करना जिसे पसंत नहीं है वह केवलिविषयक मायावी है । चारित्रको धर्म कहते है इस धर्मकी मैं अतिशय भक्ति करता हूं ऐसा बाह्य धर्माचारसे लोगोंको दिखाता है, परंतु मनमें धर्मके प्रति जिसका अनादर–अरुचि है, वह धर्म मायावी है । आचार्य,

१ आ. कौतुकुच्यादि २ आ. यतिः ३ आ. कैल्बिषी

हृद्यास्वादनिमित्तं[1] यो मन्त्रतन्त्रादितत्परः । आभियोगिकनिन्द्यायां भावनायां स जायते ॥६६
अनुबद्धमहारोषो बद्धवैरः सविग्रहः । सुतीव्रतपसा युक्तोऽप्यासुरीभावनावहः ॥ ६७
अप्रपन्नं जिनेन्द्रेण समुन्मार्गं प्रकाशयन् । मोहेन मोहयंल्लोकं योऽयं संमोहभावकः ॥ ६८
इत्यादिभावनोपेतो यस्तीव्र[2]तपसा[3] युतः । देवदुर्गतिमाप्नोति तदृते भवभागिह ॥ ६९
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यादि भावयेत्[4] । प्रशस्तभावनोपेतो यः स याति शुभां गतिम् ॥ ७०

उपाध्याय और साधुओंकी ऊपरसे भक्ति करता है, परंतु हृदयमें उनके प्रति अरुचि रखता है वह आचार्यविषयक, उपाध्यायविषयक और साधुविषयक मायावी है। ऐसी भावनाओंसे युक्त मुनिको किल्बिषभावनावाला मुनि कहते हैं ॥ ६५ ॥

(अभियोगि–भावनाका स्वरूप ।)– मृष्ट आहारके आस्वादनके लिये जो मंत्रतंत्रादिकोंमें तत्पर रहता है, जो इन्द्रियसुखके लिये मंत्रतंत्रादिक करता है, वह अभियोगिक-नामक निन्द्यभावनासे युक्त है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

(आसुरीभावनावाले साधुका स्वरूप ।)– जिसका महाकोप अन्य भवमेंभी जानेवाला है ऐसे महाकोपी मुनिको अनुबद्धमहारोष धारण करनेवाला मुनि कहते हैं। तथा जो कलह करता है, तथा जो संक्लेशपरिणाम धारण करता हुआ तीव्र तप करता है वह आसुरी-भावनाओंका धारक मुनि माना जाता है ॥ ६७ ॥

(संमोहभावनावाले मुनिका स्वरूप ।)– जिसने जिनेश्वरका बताया हुआ मोक्षमार्ग नहीं माना है अर्थात् जिससे रत्नत्रयमार्गमें दूषण दिखाये जाते हैं ऐसे मोहसे–मिथ्यात्वसे जो लोगोंको मोहित करता है तथा आप्ताभासों–हरिहरादिकोंद्वारा चलाया हुआ यज्ञमें पशुवध करना धर्म है इत्यादि कुमार्गोंको प्रगट कर जो लोगोंको मोहित करता है वह मुनि संमोह-भावनावाला समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

जो मुनि कान्दर्पी आदिक भावनाओंसे युक्त होकर तीव्र तपश्चरण करता है वह देव-दुर्गतिको प्राप्त होता है। अर्थात् मरणोत्तर कंदर्प जातिके देवोंमें, आभियोग्य देवोंमें, तथा किल्बिषिक देवोंमें यानी हीन देवोंमें जन्म लेता है ॥ ६९ ॥

(प्रशस्त भावनायुक्त मुनिको शुभगतिकी प्राप्ति ।)– उपर्युक्त कुभावनाओंसे भिन्न जो शुभभावनायें हैं उनकी भावना करनेवाला मुनि प्रशस्त भावनावाला है। अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप और वीर्य आदिक गुणोंका आदर, मनन करनेवाली भावनाओंमें जो तत्पर रहता है उसको प्रशस्त–शुभगतिकी प्राप्ति होती है। अर्थात् वह इन्द्र सामानिकादि श्रेष्ठ देवोंमें जन्म लेता है ॥ ७० ॥

---

१ आ. गृद्धया　२ आ. यतिः　३ आ. तपोयुत·　४ आ. भावयन्　५ आ. उत्तमभावनोपेतः

एवमागमतः[1] सर्वं ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः । न ह्यत्रावगतं किञ्चिच्चतः सारं प्रगृह्यते ॥ ७१
अत्र युक्तमयुक्तं वा मयाज्ञानेन भाषितम् । सन्तः संशोध्य शृण्वन्तु सौजन्यमिति[2] संश्रिताः ॥७२
सत्यं मधुरमाख्यान्ति ह्यमृतादिरसं बुधाः । परं सुजनवाक्यस्य माधुर्यमपरं कियत् ॥ ७३
अनर्घ्यं मणिनैर्मल्यं जडस्यापि भवेदिह । अजाड्यस्वच्छवृत्तीन सौजन्येन कथं सताम् ॥ ७४
ये सन्तः सर्वदा सन्ति साधवः शुभसंयुताः । ते साधर्म्यं समालोक्य हृष्यन्ति न गुणैर्मम ॥ ७५
सन्तः श्रीजिनराद्धान्तनामतोऽप्यतिवत्सलाः । भवन्ति किं पुनर्यत्र किञ्चिच्चित्रं निशम्यते ॥७६
ये तु दुर्जनभावेन भवन्ति भविनो भुवि । ते च सर्वे[3] स्वभावेन दूषयन्ति दुराशयाः ॥ ७७
विषाद्दुःखमवाप्नोति सत्यं प्राणी सुदुःसहम् । दुर्जनादाप्तदुःखस्यानन्तभागो न तत्पुनः ॥ ७८

.....

तत्त्वोंके ज्ञाताओंको आगमसे सर्व जानना योग्य है । मेरे पास ऐसा कुछ विशेष ज्ञान नहीं जहांसे आप बुद्धिमान पुरुष सारग्रहण करेंगे ॥ ७१ ॥

(ग्रंथकारकी नम्रता ।)– इस सिद्धान्तसारसंग्रह ग्रंथमें अज्ञानी ऐसे मुझसे जो कुछ युक्तियुक्त अथवा अयुक्त कहा गया हो उसे सौजन्यबुद्धिका आश्रय करनेवाले सज्जन संशोधन करके सुने । अर्थात् यह ग्रंथ युक्तियुक्त हैं या अयुक्त है इसका निर्णय करें । दोषोंको त्यागकर गुणग्रहण करें ॥ ७२ ॥

(सज्जनोंके वचन अमृतके समान हैं ।)– बुध-विद्वज्जन अमृतादिके समान जिसका रस है–स्वाद है ऐसा मधुर सत्य भाषण बोलते हैं । सज्जनोंका भाषण अत्यंत मधुर है ऐसा हम कहते हैं । इससे अधिक हमसे क्या कहा जा सकता है ॥ ७३ ॥

जिनमें जाड्य–मूर्खता–अज्ञान नहीं है तथा जिनकी मनोवृत्ति निर्मल–निष्कपट है ऐसे सज्जनोंकी सज्जनतासे जो जड–अचेतन है ऐसे रत्नकी निर्मलता क्या अनर्घ्य–अमूल्य–श्रेष्ठ हो सकती है ? कदापि नहीं ॥ ७४ ॥

जो सज्जन सर्वदा शुभविचारोंसेयुक्त ऐसे साधुस्वभावको धारण करते हैं वे यहभी हमारे समान हैं ऐसा समझकर हर्षित होते हैं । परंतु इसमें मेरा कुछ गुण कारण नहीं है । अर्थात् उनकाही सज्जनता गुण होनेसे वे हर्षित होते हैं ॥ ७५ ॥

सज्जनगण श्रीजिनसिद्धान्तके नामसेभी अतिशय आल्हादित होते हैं । इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ७६ ॥

(दुर्जनोंका स्वभाव ।)– जो प्राणी इस जगतमें दुष्टोंका स्वभाव धारणकर उत्पन्न होते है वे सब अपने दुरभिप्रायसे स्वाभाविकतया सबको बिगाडनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ७७ ॥

प्राणी विषसे सुदुःसह दुःखको प्राप्त होते हैं, यह बात सत्य है । परंतु दुर्जनके संगसे जो दुःख होता है उसका व अनन्तवां भाग है अर्थात् दुर्जनसंगका दुःख विषसे उत्पन्न होनेवाले दुःखसे अनंतगुणित अधिक है ॥ ७८ ॥

.....

१ आ. शेषः २ आ. अधिसंश्रितः ३ आ. सर्वं

वह्निर्दहति संस्पर्शाद्दुर्जनो दर्शनादपि । कथं वह्निसमं निन्द्यं कथयन्ति महाधियः ॥ ७९
सर्पा व्याघ्रा गजाः सिंहाः वश्या जगति धीमताम् । तेषामपि न ते दुष्टा दुर्जना वशवर्तिनः ॥ ८०
भवन्ति दवदग्धा ये फलिताः पुष्पिताः पुनः । दुष्टदावाग्निदग्धानां प्ररोहोऽपि न दृश्यते ॥८१
मन्त्रतन्त्रप्रयोगेण कालदष्टोऽपि जीवति । दुष्टसर्पप्रदष्टा ये न ते जीवन्ति जातुचित् ॥ ८२
भिषग्वरविधानेन गदादपगतो नरः । दुष्टवाक्यविकाराणां चिकित्सापि न विद्यते ॥ ८३
यदि वाग्देवता जैनी प्रसादं कुरुते नरः[1] । गुणान्दोषांश्च शक्नोति वक्तुं सदसतोरिह ॥ ८४
दुष्षमाकालयोगेऽस्मिञ्ज्ञानवानिति गर्वितः । यःस्यात्सोऽस्तु सतां मध्ये[2] सोऽहं मूर्खोऽस्मि केवलम्॥
पुरा जाताः केचित्सकलभुवनाभासिमतयः । ततस्त्रिज्ञानाढ्याः कति कतिचनाङ्गेषु निपुणाः ॥
इदानी ते देशादपि लवलवाद्यैकचतुराः । चरन्तो मन्यन्ते त्रिभुवनपाण्डित्यमहह ॥ ८७

अग्नि स्पर्शसे आदमीको जलाता है परंतु दुर्जन दर्शनसेही मनुष्यको जलाता है। महाबुद्धिमान् पुरुष उस निंद्य दुष्टको क्या अग्निसमान समझते हैं ? अर्थात् अग्निसेभी दुर्जन-अधिक दुःखदायक है ॥ ७९ ॥

सर्प, वाघ, हाथी, सिंह ये जगतमें बुद्धिमानोंके वश होते हैं परंतु दुष्ट दुर्जन उनकेभी (बुद्धिमानोंकेभी) वश नहीं होते हैं ॥ ८० ॥

जो वृक्ष अग्निसे दग्ध हुए हैं वे पुनः पुष्पित और फलोंसे लद जाते हैं परंतु दुर्जन-रूपदावाग्निसे जले हुए पुरुष तो भस्मही हो जाते हैं, उनका अंकुरभी दृष्टिगोचर नहीं होता। कृष्णसर्पसे डसा हुआ मनुष्य मंत्रप्रयोगसे तथा तंत्रप्रयोगसे पुनः जीवित होता है परंतु जो दुर्जनरूप सर्पसे डसे हुए हैं वे कदापि नहीं जीयेंगे ॥ ८१-८२ ॥

उत्तम वैद्यके इलाजसे मनुष्य रोगसे रहित होता है परंतु दुष्टोंका उपदेश सुनकर जिसमें विकृति पैदा हुई है उसके लिये चिकित्सा नहीं है अर्थात् दुष्ट उपदेशसे बिगडा हुआ मनुष्य सज्जन नहीं होता है ॥ ८३ ॥

यदि जिनेश्वरके मुखसे उत्पन्न हुई सरस्वती देवता प्रसाद देगी अर्थात् जिसके ऊपर प्रसन्न होगी वह मनुष्य सज्जन दुर्जनोंके गुण और दोषोंका विवेचन करनेमें समर्थ होगा ॥८४॥

(पंचमकालका दोष ।)- पंचमकालका संयोग प्राप्त कर ज्ञानवान मनुष्य सज्जनोंके समूहमें अतिगर्वयुक्त होता है लेकिन मैं तो वास्तविक मूर्ख हूं ॥ ८५ ॥

पूर्वकालमें चतुर्थकालमें संपूर्ण जगतको प्रकाशित करनेवाली मति जिनकी थी ऐसे महापुरुष अर्थात् केवली भगवान होते थे। तदनंतर मति श्रुत और अवधिज्ञानके धारक हुए तदनंतर कुछ कुछ अंगोंमें निपुण ऐसे आचार्य हुए । अब उन अंगकाभी कुछ भागका भाग और उसकाभी आधा भाग जाननेमें चतुर ऐसे लोक इस जगतमें हैं इतना तुच्छज्ञान होनेपरभी वे संपूर्ण त्रैलोक्यको अपने सामने अपण्डितोंसे भरा हुआ समझ रहे हैं ॥ ८६-८७ ॥

---

१ आ. नरे　२ आ. दुःखमा　३ आ. मान्यः

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिपद्यानि ।

श्रीवर्धमानस्य जिनस्य जातो मेदार्यनामा दशमो गणेशः ।
श्रीपूर्णतल्लान्तिकदेशसंस्थो यत्राभवत्स्वर्गसमा धरित्री ॥
कल्पोर्वीरुहतुल्याश्च हारकेयूरमण्डिताः ।
जाता झाटा (लाटा) स्ततो जातः संघोऽसौ झाट (लाट) बागडः ॥ ८८
श्रीधर्मसेनोऽजनि तत्र संघे दिगम्बरः श्वेततरैर्गुणैः स्वैः ।
व्याख्यासु दन्तांशुभिरुल्लसद्भिर्वस्त्रावृतो वा प्रतिभासते स्म ॥
भञ्जन्वादीन्द्रमानं पुरि पुरि नितरां प्राप्नुवन्नुद्घमानम् ।
तन्वञ्शास्त्रार्थदानं कृतिरुचिरुचिरं सर्वथा घ्नन्निदानम् ॥ ८९
विद्यादर्शोपमानं दिशि दिशि विकिरन्स्वं यशो योऽसमानम् ।
तस्माच्छ्रीशान्तिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूलीसमीरः ॥
यत्रास्पदं विदधती परमागमश्रीरात्मन्यमन्यत सतीत्वमिदं विचित्रम् ।
वृद्धा च संततमनेकजनोपभोग्या श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत्स तस्मात् ॥ ९०

(कवि प्रशस्ति मेदार्य गणधर ।)– श्रीवर्धमान जिनेश्वरके मेदार्य नामक दसवे गणधर हुए। उनका देह लक्ष्मीसे पूर्ण और उत्तम सामुद्रिक चिह्नोंसे युक्त था। वे प्रभु मेदार्य जहाँ हुए वह भूमि स्वर्गके समान थी ।

(लाट और लाटबागड संघ ।)– वहां हार-केयूर-भूषणोंसे मंडित कल्पवृक्षके समान लाट हुए और उनसे लाट बागड संघ उत्पन्न हुआ ॥ ८८ ॥

(श्रीधर्मसेन मुनिराज ।)– उस लाट बागड संघमें श्रीधर्मसेन नामक दिगम्बर मुनि उत्पन्न हुए । वे जब आगमकी व्याख्याओंका प्रतिपादन करते थे उस समय वे अपने अतिशय शुभ्र गुणोंसे तथा चमकनेवाले दन्तकिरणोंसे मानो वस्त्रसे आच्छादित हुएसे दीखते थे ।

(शान्तिषेण गुरु ।)– प्रत्येक नगरमें वादियोंके इन्द्रोंका अर्थात् अन्यमतीय महाविद्वानोंका मान तोडनेवाले, ग्रंथरचनाकी कांतिसे सुंदर ऐसे शास्त्रार्थके सारको सर्वत्र फैलानेवाले, निदान शल्यको नष्ट करनेवाले, सरस्वतीका मानो निर्मल दर्पण है ऐसा अपना अनुपम यश परमार्थतया सर्व दिशाओंमें फैलानेवाले ऐसे शान्तिषेण मुनि धर्मसेन यतिसे उत्पन्न हुए हैं। जो कि पापरूपी धूलीको उडानेमें वायुके समान थे और सद्गुरु थे ।

(गोपसेन गुरु ।)– इस शान्तिषेण मुनिराजमें वसनेवाली परमागमरूप लक्ष्मी वृद्ध होकरभी हमेशा अनेक जनोंसे उपभोगी जाती थी, तथापि वह अपनेको पतिव्रता समझती थी यह बडा आश्चर्य है। परिहार–शान्तिषेण मुनिमें परमागमका ज्ञान अतिशय बढ गया था। वे अपना आगमज्ञान अनेक लोगोंको देते थे, उनका वह ज्ञान पवित्र था, ऐसे शान्तिषेण गुरुसे गोपसेन नामक गुरु–आचार्य उत्पन्न हुए हैं ॥ ८९–९० ॥

उत्पत्तिस्तपसां पदं च यशसामन्यो रविस्तेजसाम् ।
आदिः सद्वचसां विधिः श्रुतरमासान्निध्यनिःश्रेयसाम् ॥
आवासो गुणिनां पिता च शमिनां माता च धर्मात्मनाम् ।
अज्ञातः कलिना जगत्सु बलिना श्रीभावसेनस्ततः ॥ ९१
ख्यातस्ततः श्रीजयसेननामा जातस्तपःश्रीक्षतदुष्कृतौघः ।
सत्तर्कविद्यार्णवपारदृश्वा विश्वासगेहं करुणास्पदानाम् ॥
आचार्यः प्रशमैकपात्रमसमः प्रज्ञादिभिः स्वैर्गुणैः ।
पट्टे श्रीजयसेननामसुगुरोः श्रीब्रह्मसेनोऽजनि ॥ ९२
यज्जल्पाम्बुधिमध्यमग्नवपुषः शश्वद्विकल्पोर्मिभिः ।
जल्पाकाः परवादिनोऽत्र विकलाः के के न जाताः क्षितौ ॥
तस्मादजायत गणी गुणिनां वरिष्ठो भव्याम्बुजप्रतिविकासनपद्मबन्धुः ।
कन्दर्पदर्पदलने भुवनैकमल्लो विख्यातकीर्तिरवनौ कविवीरसेनः ॥ ९३

(श्रीभावसेन यतिराज ।)– गोपसेन आचार्यसे भावसेन यतिराज उत्पन्न हुए । वे तपोंका उत्पत्तिस्थान थे । यशोंका निवासगृह थे । दूसरे सूर्यके समान तेजका आश्रम थे । शुभ सुंदर वचनोंको वे आदि थे । अर्थात् शुभ सुंदर उपदेश वे भव्यजनोंको देते थे । श्रुतलक्ष्मीका सांनिध्य धारण करनेवाले निःश्रेयस्का–मोक्षमार्गका वे निधि थे । वे गुणियोंके आश्रयदाता, शम धारण करनेवाले मुनियोंके पिता और धर्मात्माओंके लिये माताके समान थे । इस जगतमें बलवान् कलहोंका जिन्हें ज्ञान नहीं था ऐसे भावसेन मुनि श्रीगोपसेन गुरुसे प्रगट हुए ॥ ९१ ॥

(श्रीजयसेन गुरु ।)– तपोलक्ष्मीके द्वारा जिन्होंने पापसमूह नष्ट किया है, जो निर्दोष तर्कविद्यारूप समुद्रके पारगामी थे और करुणासे स्थानरूप मुनिजनोंके लिये विश्वासगृह थे ऐसे प्रसिद्ध जयसेन नामक गुरु भावसेन मुनीश्वरके अनंतर हुए ।

(ब्रह्मसेन गुरु ।)– श्रीजयसेन नामक सद्गुरुके पट्टपर श्रीब्रह्मसेन नामक मुनिराज हुए; जो कि प्रशमके अद्वितीय पात्र थे । तथा स्वसमयज्ञान, परसमयज्ञान और न्यायादिक शास्त्रोंका ज्ञान इत्यादि गुणोंसे शोभते थे । निर्दोष जल्परूप समुद्रमें उनका देह मग्न हुआ था वे हमेशा विकल्परूप तरंगोंको धारण करते थे । उनके सामने इस भूतलपर कुत्सितवाद करनेवाले कौन कौन अन्यमतीय विद्वान् वादसामर्थ्यसे हीन नहीं हुए हैं ? ॥ ९२ ॥

(कवि वीरसेन ।)– जो भव्यकमलोंको विकसित करनेके लिये पद्मबंधु सूर्य हैं, जो मदनका गर्व दलित करनेमें जगतमें अद्वितीय मल्ल हैं, जो गुणियोंमें महान् हैं, जिनकी कीर्ति भूतलमें प्रसिद्ध है ऐसे श्रीवीरसेन आचार्य ब्रह्मसेन गुरुसे उत्पन्न हुए अर्थात् ब्रह्मसेनके शिष्य वीरसेन उनसे पट्टपर आरूढ हुए ॥ ९३ ॥

श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जातः सुशिष्यो गुणिनां विशेष्यः ।
शिष्यस्तदीयोऽजनि चारुचित्तः सदृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेनः ॥
गुणसेनोदयसेनौ जयसेनो संबभूवुरतिवर्याः ।
तेषां श्रीगुणसेनः सूरिर्जातः कलाभूरिः ॥ ९४
आदुष्षमानिकटवर्तिनि कालयोगे, नष्टे जिनेन्द्रशिववर्त्मनि यो बभूव ।
आचार्यनामनिरतोऽत्र नरेन्द्रसेनः । तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥ ९५

इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे[1] पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्यविरचिते द्वादशोऽध्यायः ।
समाप्तोऽयं सिद्धान्तसारसंग्रहः ।

(गुणसेन मुनि और नरेन्द्रसेन ।)– श्रीवीरसेनाचार्यके शिष्य गुणसेन हुए जिनमें शास्त्राभ्यासकी विशेषता थी । तथा गुणसेनसूरिके नरेन्द्रसेन नामक शिष्य हुए, उनका चित्त सुंदर था अर्थात् कोपादिकषायोंसे दूर था और जिनवाणीके ज्ञानसे भूषित तथा वे सम्यग्दृष्टि थे ।

(गुणसेन, उदयसेन और जयसेन आचार्य ।)– श्रीवीरसेनसूरीके शिष्य गुणसेन, उदयसेन और जयसेन सूरी हुए । उनमें श्रीगुणसेन सूरि अनेक कलाओंके धारक हुए ॥ ९४ ॥

(सिद्धान्तसार–सङ्ग्रह ग्रंथके कर्ता श्री नरेन्द्रसेनाचार्य ।)– दुष्षमाके निकटवर्ति कालके योगसे श्रीजिनेश्वरका कहा हुआ मोक्षमार्ग नष्ट होनेपर जो आचार्योंके नाममें तत्पर हैं ऐसे नरेन्द्रसेन आचार्य हुए और उन्होंने इस विशद आगमवचनकी रचना की अर्थात् ' श्री सिद्धान्तसारसंग्रह ' ग्रंथ रचा है ॥ ९५ ॥

श्री पण्डिताचार्य श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य विरचित सिद्धान्तसारसङ्ग्रहमें
बारहवा अध्याय समाप्त हुआ ।

---

१ आ. इति सिद्धान्तसारसङ्ग्रहे आचार्यश्रीनरेन्द्रसेनविरचिते द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ।